॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१००

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरचिता

वेदान्तपरिभाषा

सविवरण 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकार :
वेदान्त-मीमांसा-साहित्याचार्य–
डॉ० श्रीगजाननशास्त्री मुसलगांवकर
एम. ए., साहित्यरत्न
अध्यक्ष—
मीमांसा-धर्मशास्त्रविभाग, प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान-संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक :
श्री श्रीरामशास्त्री मुसलगांवकर

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी २२१००१

क्रुपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१००

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरचिता

वेदान्तपरिभाषा

सविवरण 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकार
वेदान्त-मीमांसा-साहित्याचार्य-
डॉ० श्रीगजानन शास्त्री मुसलगांवकर
एम. ए., पी-एच्. डी.
अध्यक्ष—
मीमांसा-धर्मशास्त्रविभाग, प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान-संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
सम्पादक
श्री श्रीरामशास्त्री मुसलगाँवकर

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१
१९८३

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
100

VEDĀNTAPARIBHĀṢA

OF

SRĪ DHARMARĀJĀDHWARĪNDRA

With

NOTES AND 'PRAKĀŚA' HINDI COMMENTARY

By

Dr. Shri Gajanan Shastri Musalgaonkar

M. A., Ph. D.

Vedanta-Mimansa-Sahityacharya, Sahityaratna,

Head of Department of Mimansa & Dharmashastra

Faculty of Oriental Learning & Theology, B. H. U.

Edited by

Sri Shreeram Shastri Musalgaonkar
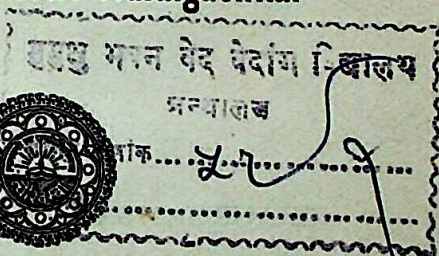
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

श्रीगुरुचरणनामाशीर्वचनम्

आयुष्मता श्रीगजाननशास्त्रिणा निर्मिता वेदान्तपरिभाषाव्याख्या प्रकाशाख्या तत्र तत्र मयाऽवलोकिता । अनेन अद्वैतवेदान्ते प्रविविक्षूणां छात्राणां महानुपकारः सम्भाव्यते । भगवतो विश्वनाथस्य कृपया एतादृशेनास्य कार्येणोत्तरोत्तर-मुन्नतिर्भवत्वित्याशिषा संवर्धयामि ।

श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविडः

श्रीहरिरामशुक्लः

ब्रह्मभावमवाप्ताः पूजनीयाः श्रीगुरुचरणाः

पद्मभूषण-पण्डितराज-राजेश्वरशास्त्रिचरणाः

श्रद्धाञ्जलिः

याते दिवं गुरुवरे द्रविडावतंसे
राजेश्वरे जगति पण्डितराजनाम्नि ।
वात्सल्यमात्मनि दधन्मधुरं तदीयं
श्रद्धाञ्जलिं चरणयो र्भृशमर्पयामि ॥

गुरुचरण-वियोग-जनित शोक-सन्तप्तमना
मुसलगाँवकरोपनामा गजाननः

पूजनीयाः श्रीपितृचरणाः

महामहोपाध्याय-श्रीसदाशिवशास्त्रिचरणाः

समर्पणम्

विद्याव्रतं तपसि संस्थितमाशुतोषं
जोषं प्रबोधगिरिमूर्ध्नि विराजमानम् ।
कण्ठे नियम्य गरलं ददतं सुधां न-
स्तातं सदाशिवमहं शिवमानतोऽस्मि ॥

संस्कृत्य मे मतिभुवं भवतैव शास्त्र-
बीजं यदुप्तमथचात्मरसेन सिक्तम् ।
तस्यैव बोधसुतरोः फलमेतदद्य
नैवेद्यमर्पयति तात ! गजाननोऽयम् ॥

वेदान्तपरिभाषाया व्याख्यां विख्यातकीर्तये ।
अर्पयँस्तातपादाय प्रीतिं विन्दामि चेतसि ॥

विनयावनतो

गजाननः

॥ श्रीः ॥

शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वानों के आशीर्वाद

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य श्रीमच्छंकर भगवत्पाद-प्रतिष्ठित श्रीकाञ्ची कामकोटि पीठाधिप जगद्गुरु श्रीमच्चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती श्रीपादादेशानुसारेण श्रीमज्जयेन्द्रसरस्वतीश्रीपादैः क्रियते नारायणस्मृतिः ।

अद्वैतवेदान्तशास्त्रप्रमेयजिज्ञासूनामुपकाराय महाविदुषा श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रेण रचितायाः वेदान्तपरिभाषायाः वाराणसीक्षेत्रवास्तव्येन मीमांसाचार्येण श्रीगजानन-शास्त्रिमुसलगांवकरमहोदयेन कृता प्रकाशाख्य-हिन्दीव्याख्या उचितविवरण-शङ्का-समाधानसहिता अत्र उपहृता ।

हिन्दीज्ञाः साधारणजनाः छात्राश्च एतद्ग्रन्थसाहाय्येन अद्वैतवेदान्त-प्रमेयाणि जानन्तः, यथार्हं भाष्यादिग्रन्थ-पठनेन आत्मज्ञानप्राप्तियोग्यतां संपादयेयुरिति, श्रीमुसलगांवकरमहोदयाश्च एवंविधसद्ग्रन्थान् रचयन्तो भगवत्प्रसादात् प्रेयः श्रेयःपरम्पराः अवाप्नुयुरितिचाऽऽशास्महे ।

—नारायणस्मृतिः

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीशंकरावतार अनन्त-श्रीविभूषित स्वामी करपात्रीजीमहाराज

पण्डित मुसलगांवकर, श्री गजानन शास्त्री न्याय, वेदान्त, मीमांसा, सांख्य-योगादि शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित हैं। विशेषतः उनकी लेखन शैली बहुत ही अच्छी है, विविध युक्तियों के द्वारा कठिन से कठिन ग्रन्थों के विषयों को सरल एवं सुबोध बना देने की कला उनमें ईश्वर की देन है। उनके अनेक ग्रन्थों में यह वेदान्त परिभाषा की हिन्दी प्रकाशव्याख्या अन्यतम ग्रन्थ है। इसमें विषय का स्पष्टीकरण बहुत सुन्दर ढङ्ग से किया गया है तथा विषमस्थलों की टिप्पणियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। आशा है जिज्ञासु सज्जन इससे पर्याप्त लाभ उठायेंगे।

—करपात्र स्वामी

परमहंस-परिव्राजकाचार्य

श्री १००८ स्वामी श्री महेशानन्दगिरिजी महाराज

महामण्डलेश्वर

(श्री दक्षिणामूर्ति संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी)

वेदान्त परिभाषा वेदान्त का उत्कृष्ट प्रकरण ग्रंथ है। इसकी हिन्दी विवरण सहित 'प्रकाश' व्याख्या का पूर्ण प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध कराकर पण्डित श्रीगजाननशास्त्री मुसलगांवकर जी ने अद्वैतजगत् का अद्भुत उपकार किया है। स्थान-स्थान पर दुरूह स्थलों पर अनेक दार्शनिक पक्षों को समझाने का भी स्तुत्य प्रयास किया है। अन्य दर्शनों को जिसने नहीं भी पढ़ा है इससे अवश्य लाभ उठा सकेंगे। भगवान् शंकर से प्रार्थना है कि वे पण्डितजी को दीर्घायु प्रदान करें, जिससे प्रस्थानत्रयी भाष्यों का भी ऐसा ही उत्कृष्ट अनुवाद उपस्थित कर सकें।

—महेशानन्दगिरि

विद्वन्मूर्धन्य स्वामी योगीन्द्रानन्द जी महाराज

(अध्यक्षः : उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी)

प्रायः सभी दर्शनों की परिभाषाओं को सुस्पष्ट करने के लिए परिभाषा ग्रंथों की रचना की गई है। ऐसे ग्रन्थों में "वेदान्त-परिभाषा" का प्रमुख स्थान है। यह अपने कार्य में सर्वाधिक सफल माना जाता है। ग्रन्थ की सफलता ग्रन्थकार की योग्यता पर निर्भर होती है। इस महान् ग्रन्थ के रचयिता श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि के प्रकाण्ड विद्वान् थे। श्रीगंगेशोपाध्याय के "चिन्तामणि" ग्रन्थ पर इन्होंने एक ऐसी विशिष्ट व्याख्या लिखी थी, जिसमें पूर्ववर्ती दश टीकाओं का मानमर्दन किया गया था। इसका कुछ अंश गायकवाड़ पुस्तकालय में सुरक्षित पाया गया है।

ग्रन्थकार के समकक्ष विद्वान् की व्याख्या में ही ग्रन्थ का हृदय खुला करता है। प्रकृत 'प्रकाश' नामक हिन्दी व्याख्या के लिए गर्व एवं उदात्तस्वर से कहा जा सकता है कि यह वेदान्त-परम्परा की एक ठोस कृति है। समग्र व्याख्या मैंने देखी है। कई स्थलों पर सचमुच मूल से भी अधिक विषय का प्रतिपादन किया गया है। हिन्दी जगत् में ऐसी अनुपम और अमूल्य रचना प्रस्तुत करने के लिए मैं न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि के प्रख्यात मर्मज्ञ पण्डित प्रवर श्री गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर को अनन्त धन्यवाद देता हूँ।

—योगीन्द्रानन्द

राष्ट्रगुरु श्री १००८ श्री स्वामीजी महाराज

(श्री पीताम्बरा पीठ परिषद्, दतिया)

भवत्प्रेषितं सविवरण प्रकाशाख्यं सारगर्भितं वेदान्त-परिभाषा-ग्रन्थस्य व्याख्यानं दृष्ट्वा अतिमोदं लब्धवानस्मि ।

सांख्यतत्त्वकौमुदीग्रन्थस्यापि तत्त्वप्रकाशिकाख्य हिन्दीव्याख्यानं भवन्निर्मितं तत्सदृशमेव ।

दर्शनशास्त्राध्येतृणां विद्यार्थिनां तथा विदुषां च समानमेवोपयोगित्वं यास्यति ग्रन्थद्वयम् इति ।

श्री स्वामीजी महाराज, दतिया

महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

वाचस्पति (का० हि० वि० वि०), साहित्य-

वाचस्पति (हि० सा० स०) भारतशासन

द्वारा सम्मान-पत्र-प्राप्त ।

(सम्मानित प्राध्यापक : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर के द्वारा विरचित 'वेदान्तपरिभाषा' की 'प्रकाश' नाम की हिन्दी भाषामयी व्याख्या के कुछ अंशों को मैंने सुना । व्याख्याकार ने 'वेदान्तपरिभाषा' में कहे हुए अर्थों को बहुत विस्तार से समझाया है । इससे अल्पबुद्धिवाले लोगों की समझ में भी वेदान्त-परिभाषा के गूढ तत्त्व भली भाँति आ सकते हैं । वास्तव में 'वेदान्तपरिभाषा' छोटा सा ग्रन्थ होने पर भी अत्यन्त जटिल है । इस पर ऐसी ही विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता थी । उस आवश्यकता को व्याख्याकार श्री गजानन शास्त्री ने पूर्ण किया है ओर अपनी व्याख्या द्वारा इस जटिल ग्रन्थ को भी सब के लिए सुबोध बनाने का यत्न किया है, इस यत्न में वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं यह निस्संकोच कहा जा सकता है ।

मैं इस व्याख्या के संस्कृतप्रेमी जनता में पूर्ण प्रचार होने की आशा रखता हूँ ।

—गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

महामीमांसक

विद्यासागर श्री पट्टाभिरामशास्त्री

(संचालक, वेदमीमांसानुसन्धान केन्द्र)

डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर मीमांसा-वेदान्ताचार्य अध्ययन व अध्यापन कार्यों में व्यापृत रहते हुए लेखन कार्य में भी व्यस्त रहते हैं। कुशल अध्यापक का यह कार्य अनुरूप ही नहीं बल्कि आवश्यक भी है। आजकल संस्कृत अध्ययन में लोगों की रुचि कम होती जा रही है, किन्तु कुशल अध्यापक का यह कर्त्तव्य है कि लोगों में इसके प्रति रुचि उत्पन्न करना एवं अध्ययन में प्रवृत्त कराना है। इसका उत्कृष्ट साधन संस्कृत-ग्रन्थों को राष्ट्र भाषा में अनूदित कर प्रकाश में लाना भी है। राष्ट्रभाषा के माध्यम से भी संस्कृत सीख सकते हैं और दार्शनिक तत्त्वों से अभिज्ञ हो सकते हैं। इस प्रकार के कार्यों को संस्कृत का प्रचार ही समझना चाहिए। इस दृष्टि को रखते हुए डा० शास्त्री ने अनेक दार्शनिक ग्रंथों का अनुवाद प्रस्तुत किया है, उनमें 'वेदान्त-परिभाषा' भी है। अद्वैत वेदान्त में प्रवेश करने वालों का यह प्रकरण ग्रन्थ वेदान्त-परिभाषा उपादेयतम है। गम्भीर विषयों को संस्कृत से समझना अतिकठिन है। श्री शास्त्री ने उन गम्भीर विषयों को सरल भाषा से विवेचन करते हुए समझाया है। ग्रन्थ के विषयों को विभिन्न प्रकरणों में वर्गीकरण करते हुए प्रश्न, शंका, समाधान के रूप से अपने विवरण को प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ के सम्पादन में शास्त्रीजी का अथक परिश्रम अभिव्यक्त होता है।

मेरी आन्तरिक इच्छा है कि शास्त्री जी के इस अनुवाद से लाभ उठाकर शास्त्रीजी के परिश्रम को सफल बनावें। —पट्टाभिरामशास्त्री

विद्वन्मूर्द्धन्य वे० सु० रामचन्द्रशास्त्री

(प्रिंसिपल, संस्कृत कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

अद्वैतवेदान्तशास्त्रं प्रविविक्षूणां सौलाभ्याय धर्मराजाध्वरीन्द्रनाम्ना पण्डितपुण्डरीकेण वेदान्तपरिभाषा व्यरचि यत्रोपनिषदां ब्रह्मसूत्रभाष्यादीनाञ्चाध्ययनोपयोगिनो बहवो विषया न्यरूप्यन्त। पठनसम्प्रदायोस्या आसेतोराच हिमाद्रेस्सर्वत्र दरीदृश्यते। सन्ति चास्या व्याख्यास्संस्कृतभाषामय्यो विस्तृतास्संक्षिप्ताश्च मुद्रणपथं प्रापिताः।

छात्रमनोरञ्जिनी हिन्दीभाषामयी प्रकाशाख्या काचन व्याख्या वेदान्तपरिभाषाया मन्मित्रवरैः काशीहिन्दूविश्वविद्यालये मीमांसाप्राध्यापकैः श्रीगजाननशास्त्रि मुसलगाँवकरमहोदयै रचिता तत्र तत्र मया पर्यशील्यत। या मूलानुसारिणी तत्तात्पर्यप्रकाशिनी छात्रवर्गस्योपकारिणी चेत्यभिप्रैमि।

—वे० सु० रामचन्द्रशास्त्री

पण्डित-प्रवर श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदः, एम. ए.

साहित्य-व्याकरणाचार्यः

(प्राध्यापक—प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

निखिलागमस्वतन्त्रो गजाननोऽसौ विभाति संसारे ।
वेदान्तशास्त्रग्रंथे हिन्दी-व्याख्या विनिर्मिता येन ॥ १ ॥

व्याख्येयं सरलतमा सरसा सारैर्विभूषिता भाति ।
विस्तारेष्वपि यस्या विलोकनीयाऽस्ति माधुरीकाऽपि ॥ २ ॥

विद्वांसोऽपि तथास्यां व्याख्यायां सुप्रसन्नतमाः ।
येषां हृदयाकाशे दीव्यति वेदान्त-सिद्धान्तः ॥ ३ ॥

छात्राणामुपकारस्तथा विधो जायतेऽनयानूनम् ।
करतल-धृतमिव तेऽत्र हि सारं जानन्ति शास्त्रस्य ॥ ४ ॥

शास्त्रीयग्रन्थानां भाषाभेदे कथं व्याख्या ।
सम्पाद्येत्येतस्मिन्निदर्शनं ग्रन्थरत्नमिदम् ॥ ५ ॥

ग्रन्थ-ग्रन्थिविभेदे पटुतात्राऽस्ते पदे पदे रम्या ।
दूरीकृता कठिनता विद्वद्वर्यैर्मुसलगांवकरैः ॥ ६ ॥

वेदान्ते शास्त्रेऽस्मिन् ये मतभेदाः समुल्लसिताः ।
सूक्ष्मतमा ये भेदाष्टीकायां ते सुसंस्पष्टाः ॥ ७ ॥

सर्वागमनिष्णातैरेभिर्या भूमिकात्र संरचिता ।
स्वर्णे सौरभरूपा सेयं नितरां मनो हरति ॥ ८ ॥

केवलमप्येतस्या मनने सम्यक्कृते विमलधियः ।
वेदान्तानां तत्त्वं सारल्येन प्रपत्स्यन्ते ॥ ९ ॥

मा भूत् संस्कृत-भाषा-विज्ञानं चेत्तथापि वेदान्ते ।
जिज्ञासास्ते चेतसि तदात्वियं भूमिका ध्येया ॥ १० ॥

मन्ये हिन्दीविज्ञा ग्रन्थेनानेन तत्त्वविज्ञाने ।
सकलं शास्त्ररहस्यं जटिलतरं नैव जानन्ति ॥ ११ ॥

धन्याः श्रीमन्त इमे गजाननाःशास्त्रिवर्या, यैः ।
कान्तारेऽप्यतिगहने विनिर्मितः शोभनः पन्थाः ॥ १२ ॥

—शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदः

प्रकाशकीय निवेदन

वेदान्त परिभाषा की 'सविवरण-प्रकाश' व्याख्या अप्राप्य हो गई थी, किन्तु वेदान्तरसिक विद्वान् तथा छात्रों के द्वारा उसकी माँग बराबर बढ़ती जा रही है, यह देखकर उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित कराने का संकल्प किया।

इस द्वितीय-संस्करण में कुछ परिवर्तन परिवर्धन भी कर दिया गया है। यह संस्करण सभी के लिये अधिक लाभप्रद होगा।

—प्रकाशक

प्राक्कथन

भारतीय दर्शनों का प्रारम्भकाल वेदों के प्रादुर्भावकाल से शुरू होता है। विद्वान् ऐतिहासिक, ज्योतिष आदि प्रमाणों द्वारा ऋग्वेद का प्रादुर्भावकाल ईसा की उत्पत्ति के पूर्व पाँच हजार वर्षों से दस हजार वर्षों तक मानते हैं। दर्शनों का काल भी उतना ही प्राचीन मानना उचित है क्योंकि ऋग्वेद में ही अनेक जगह (इस समय परस्पर विभिन्न) अनेक दर्शनों के स्रोत मूल अवस्था में उपलब्ध होते हैं। वे ही यजुर्वेद, अथर्ववेद एवं अनेक ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदों द्वारा अब समुद्र के समान गम्भीर और समृद्ध हो गए हैं। उनका प्रवाह धर्म, देश, काल, जाति आदि भेदों से अवरुद्ध न होता हुआ, मनुष्य मात्र को शान्ति, आनन्द, ज्ञान, करुणा और सर्वात्मभावदर्शन आदि के अनेक अमूल्य उपदेश देता हुआ सर्वदा अखण्ड रूप से बहता ही रहेगा। अतः वे उपदिष्ट तत्त्व मनुष्य मात्र के लिये सर्वदा आचरणीय और प्रचारणीय हैं।

ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र कुछ दर्शनों के मूल स्रोतों का सूचक है, वह मन्त्र इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

१, १६४, २०

संसार रूप वृक्ष पर मित्रभूत दो पक्षी बैठे हैं जीव तथा ईश्वर, एक सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है और दूसरा विषयों का उपभोग न करता हुआ केवल संसार का नियन्त्रण—शासन—करता है। यही मन्त्र शङ्कराचार्यादि द्वारा उपबृंहित अद्वैतदर्शन को छोड़कर सभी दर्शनों का मूलस्रोत है। इसके और उपनिषद् एवं श्रीभगवद्व्यासविरचित ब्रह्मसूत्रादि के आश्रय से अनेक वादियों ने अपने-अपने द्वैतादि दर्शन खड़े किये हैं।

ऋग्वेद में वागाम्भृणीसूक्त दशम मण्डल में आता है, उसमें सर्वत्र एक तत्त्व का अनुभव करने के बाद की स्थिति का वर्णन मिलता है। उसका प्रारम्भ इस प्रकार है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। १०। १२५। १

इसी प्रकार सर्वत्र एक आत्मतत्त्व का अनुभव करनेवाले ऋषि गौतमवामदेव का एक सूक्त है जिसका प्रारम्भ इस प्रकार है—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। ४।२६।१

यह ऋग्वेद सूक्त श्रीभगवान् व्यासविरचित ब्रह्मसूत्र द्वारा पल्लवित, श्रीगौड़पादाचार्यरचित माण्डुक्यकारिका द्वारा पुष्पित एवं श्रीशंकराचार्य रचित भाष्य द्वारा सुफलित दर्शनमूर्धन्य अद्वैतदर्शन का मूलस्रोत है, ऐसा कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। एवंच हमारे कहने का भाव यह है कि अनेक दर्शन रूप प्रासादों की भित्तियाँ एवं ईंट-प्रस्तरादि के समान तत्त्व समूह सर्वप्रथम प्रकट हुए ऋग्वेदादि ग्रन्थों में बीज रूप से मिलते हैं, अतएव ऋग्वेदादिकों के समान हमारे वर्तमान दर्शन भी मूलतः सूत्र रूप से अति प्राचीन हैं, अस्तु।

शाङ्करदर्शन को दर्शनों में मूर्धन्यभूत कहने का हमारा तात्पर्य यह है कि सर्वतः सब प्रकार से भेद एवं तन्मूलक भयादिकों को मिटानेवाला अद्वैतदर्शन को छोड़कर दूसरा दर्शन नहीं है। "द्वितीयाद्वै भयं भवति"।

इस शांकरदर्शन के तत्त्वों का विशद विवरण एवं उसके ऊपर किये हुए अनेक आक्षेपों का निराकरण करने वाले अनेक ग्रन्थ, जैसे भामती, विवरण, संक्षेपशारीरक, सिद्धान्तलेश, चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि, खण्डनखण्डखाद्य आदि-आदि सैकड़ों ग्रन्थ विशिष्ट विद्वानों ने बनाये हैं। थोड़े में एवं सरल रीति से बोध हो इस हेतु साक्षात् श्रीशंकराचार्यजी के वनाये हुए छोटे-छोटे उपदेशसाहस्री, तत्त्वबोध, आत्मबोध, वाक्यवृत्ति आदि ग्रन्थ एवं श्रीविद्यारण्यविरचित पञ्चदशी, वैयासिकन्यायमाला आदि ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं एवं जिज्ञासुओं का उपकार करने वाले हैं। इन ग्रंथों से अधिकारी एवं कुछ व्युत्पन्न जिज्ञासु लाभ उठा सकते हैं, श्रीशङ्कराचार्यजी के तत्त्वबोध आदि छोटे ग्रंथों से तो अव्युत्पन्न शंकारहित परन्तु जिज्ञासु अवश्य ही लाभ उठा सकता है इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं, बल्कि शास्त्रार्थ के अंशों को छोड़कर केवल प्रमेय पदार्थों के वर्णनपरक ग्रंथ खास शंकारहित अधिकारी, अव्युत्पन्न एवं जिज्ञासुओं के लिये ही परम दया से श्रीशङ्कराचार्यजी ने बनाये हैं।

परन्तु जो अनेक शास्त्रार्थों द्वारा सिद्ध प्रमेय तत्त्वों को युक्ति एवं उपपत्ति से अनेक शंकाओं के निरासपूर्वक जानना चाहता है उसके लिये सर्वत्र प्रचलित अतः प्रसिद्ध तीन ग्रंथ हैं—श्रीविद्यारण्यरचित पंचदशी, श्रीसदानन्दकृत वेदान्तसार एवं श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्ररचित वेदान्तपरिभाषा। उनमें पञ्चदशी श्लोकबद्ध तथा कुछ शास्त्रार्थयुक्त होने से प्राथमिक जिज्ञासुओं के लिये कुछ कठिन मालूम होती है, वेदान्तसार एवं वेदान्तपरिभाषा ये दो ग्रंथ शंकालु एवं कुछ व्युत्पन्न जिज्ञासुओं के लिये अधिक उपयुक्त हैं। वेदान्तसार और वेदान्तपरिभाषा की तुलना हम मीमांसा के ग्रंथ मीमांसापरिभाषा या अर्थसंग्रह या आपदेवी या व्याकरण की लघुकौमुदी एवं सिद्धान्तकौमुदी के साथ कर सकते हैं। मीमांसापरिभाषा या अर्थसंग्रह द्वारा कुछ मीमांसा के पदार्थों का बोध होकर आगे विशिष्ट

बोध एवं शास्त्रार्थज्ञान के लिये जिस प्रकार आपदेवी उपयुक्त होती है, जिस प्रकार लघुकौमुदी द्वारा बोध होने पर व्याकरण का विशेष शास्त्रार्थयुक्त बोध सिद्धान्तकौमुदी द्वारा होता है, उसी प्रकार वेदान्तसार द्वारा कुछ वेदान्त-प्रमेयों एवं शास्त्रार्थ का बोध होने पर अनेक शंका-निराकरणपूर्वक विशिष्ट प्रमेयों का एवं शास्त्रार्थपद्धति का बोध वेदान्तपरिभाषा से होता है। अतएव प्रायः वेदान्त-सार के पठन-पाठन के बाद वेदान्तपरिभाषा का पठन-पाठन शुरू करते हैं।

वेदान्तपरिभाषा में अनेक अपूर्व विषयों—प्रायः जो वेदान्तसार एवं पञ्च-दशी में नहीं मिलते हैं—का बड़े अच्छे ढङ्ग से युक्तियों से विचार किया है, जैसे—मन के इन्द्रियत्व का निराकरण, जातिरूप तत्त्व का निराकरण, वृत्ति के चार भेद, 'सोऽयम्' इस ज्ञान के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का उपपादन, भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय रजतपदार्थ की उत्पत्ति, प्रातिभासिक और व्यावहारिक रूप से पदार्थों के भेद का वर्णन, ब्रह्म के द्रव्यरूपत्व का निराकरण, वाक्यों में लक्षणा-वृत्तिकी सिद्धि, सिद्धार्थबोधक वाक्यों का प्रामाण्य, वेदों का नित्यत्व, शब्द के केवल आकाशगुणत्व का निराकरण, सृष्टि की उत्पत्तिका एवं प्रलय का विचार, प्रलयभेद आदि-आदि पदार्थों का अनेक युक्तियों द्वारा रोचक ढङ्ग से निरूपण किया है।

वेदान्तपरिभाषा पर संस्कृत, अंग्रेज़ी तथा हिन्दी में अनेक टीकाएँ मिलती हैं, जैसे—आशुबोधिनी व्याख्या (कलकत्ता रामायणयन्त्र मुद्रित), पदार्थ-मञ्जूषाव्याख्या (बड़ौदा गुजरात) तथा पञ्चानन भट्टाचार्यकृत परिभाषासंग्रह-व्याख्या, आदि-आदि व्याख्यायें संस्कृत में विद्यमान हैं। श्रीसूर्यनारायण शास्त्री आदि ने अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है। हिन्दी में स्वामी श्रीगोविन्दसिंह का बनाया अनुवाद भी मिलता है। श्रीगोविन्दसिंह का हिन्दी में वेदान्तपरिभाषा का अनुवाद है अवश्य, और उससे जिज्ञासु जनता का उपकार भी होता है, परन्तु अब वह पुस्तक दुर्लभप्राय हो गयी है। उसके अनुवाद की भाषा भी कुछ पुराने ढङ्ग की है एवं उसमें आवश्यक स्थलों पर विशेष विवरण की भी अपेक्षा है, अतः एक ऐसी व्याख्या की अत्यन्त आवश्यकता थी, जिसमें सरल हिन्दीभाषा प्रयुक्त हो, मूलग्रन्थ का अर्थ कहीं छोड़ा न गया हो, अनुवाद सरल हो एवं आवश्यक कठिन स्थलों पर विशद किन्तु सरल विवरण हो। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर हाल ही में पूर्वोत्तरमीमांसाचार्य एम० ए० श्री पण्डित गजानन-शास्त्री मुसलगाँवकर, (प्राध्यापक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने बड़ी योग्यता से वेदान्तपरिभाषा की सरल हिन्दी व्याख्या की है। उन्होंने मूलग्रन्थ को कहीं भी छोड़ा नहीं है एवं आवश्यक कठिन स्थलों पर बड़े विस्तार से स्वतन्त्र विवरण भी लिखा है, जिससे मूलग्रंथ का अभिप्राय समझने में बड़ी सरलता होगी।

कहीं-कहीं विवरण बहुत लम्बा हुआ है परन्तु शास्त्रीय शब्दों से परिपूर्ण एवं वेदान्त जैसे कठिन विषय के प्रतिपादन में विस्तृत विवरणों की आवश्यकता होती ही है। कहीं-कहीं हिन्दी विवरण में अनेक स्थलों पर शंकाएँ उत्पन्न कर उनका समाधान भी अपने ढङ्ग से किया गया है, जिससे मूलग्रन्थ का अभिप्राय विशद रूप से समझने में सहायता मिलती है। इस प्रकार हिन्दी टीकाकार प्रा० श्री गजानन शास्त्री जी ने बड़ी योग्यता से अपना काम निभाया है, जिससे हिन्दी में वेदान्तपरिभाषा पर अच्छी टीका की जो कमी थी वह पूरी हो गयी है। इस ग्रंथ की सहायता से परीक्षार्थी छात्रों का एवं संस्कृत न जाननेवाले परन्तु वेदान्त में रुचि रखनेवाले जिज्ञासुओं का भी बड़ा उपकार होगा। छात्रों एवं जिज्ञासु जनता से मेरा अतिस्नेह सहित अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ को अपनाकर ग्रन्थ-कर्ता के परिश्रम को सफल करें।

श्रीमदनन्तशास्त्री फडके

अधिक आश्विन व० ९।२०२०
ता० ११। १०। १९६३
वाराणसी

व्या० आ०, मी० तीर्थ, वेदान्तकेसरी
भूतपूर्व अध्यक्ष : इतिहास-पुराण-विभाग
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय।

दो शब्द

सत्त्वैकमूर्तिः प्रथितः पृथिव्यां श्रीशारदायाः पुरुषावतारः ।
विद्वत्सु राजेश्वरशास्त्रिपादः दद्याद् गुरुः सद्बलमाशिषां मे ॥
विश्वविख्यात-वदुष्य-श्रीसदाशिव-शास्त्रिणाम् ।
पुत्रोऽयं मुसल-ग्रामकरोपाह्वो गजाननः ॥
राष्ट्रभाषां समाश्रित्य लोककल्याणकाम्यया ।
वेदान्त परिभाषाया व्याख्यानं कुरुते मुदा ॥

वेदान्त परिभाषा का सविवरण प्रकाश मूलार्थ तथा टिप्पणी सहित द्वितीय हिन्दी संस्करण, विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को लक्ष्य में रखकर तैयार किया गया है। इस ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन आसेतु-हिमाचल हो रहा है, एवं अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी यह निर्धारित है। तथापि इस ग्रन्थ का ऐसा कोई संस्करण अभी तक उपलब्ध नहीं, था जो हिन्दी के माध्यम से—अध्ययनशील जिज्ञासुओं की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके।

व्याख्या लिखते समय वेदान्त-परिभाषा के प्रायः सभी संस्करणों का यथेष्ट अध्ययन किया गया है। विवादग्रस्त विषयों को सुलझाने तथा सरलता के साथ विषय-विवेचन के लिए इन संस्करणों से विशेष सहायता प्राप्त हुई है—म० म० श्री अनन्तकृष्ण शास्त्रीकृत व्याख्या (कलकत्ता), श्री शिवदत्तकृत 'अर्थदीपिका' व्याख्या (चौखम्भा, वाराणसी), 'शिखामणि मणिप्रभा' व्याख्या, 'प्रकाशिका' व्याख्या, स्वामी गोविन्दसिंहजी निर्मित 'आर्यभाषाविवृति', आचार्य भक्त श्री विष्णुशास्त्रीजी का 'वेदान्तपरिभाषार्थ', वेदान्तपरिभाषा का श्री एस० माधवानन्द कृत आंग्ल अनुवाद और वेदान्तपरिभाषा का श्री सूर्यनारायण शास्त्रिकृत आंग्ल अनुवाद, श्री पञ्चाननभट्टाचार्यशास्त्री का 'परिभाषासंग्रह।' उपर्युक्त प्रथितकीर्ति महानुभाव लेखकों की अनुपम कृतियों से जो सहायता प्राप्त हुई है, तदर्थ इन उपकारक लेखकों का मैं अत्यंत आभारी एवं चिरऋणी हूँ। इनके लिए वाचिक धन्यवाद-अर्पण करना भी मुझे न्यून प्रतीत हो रहा है। अतः कृतज्ञता के सुरभित पुष्पों को उपर्युक्त विद्वानों के चरणों पर चढ़ाकर मैं स्वयं अपने को धन्य मान रहा हूँ।

इस संस्करण में छात्र कल्याणार्थ दिए गए चित्रपट तथा संकेतस्थल सहित उद्धरण-सूची का निर्माण आयुष्मती मेरी छात्रा डा० (कु०) विमला कर्णाटक

ने किया है। साथ ही साथ लेखन, प्रूफ संशोधन, प्रेस कापी आदि आवश्यक कार्यों में सहायता तथा समय-समय पर उत्तम सूचनाएँ देकर प्रस्तुत संस्करण को सुसज्जित करने में अथक परिश्रम किया है। तदर्थ हार्दिक आशीर्वाद देते हुए भक्तकामकल्पद्रुम भगवान् के चरणारविन्द में उसके अभ्युदय की प्रार्थना कर रहा हूँ।

अन्त में चौखम्भा विद्याभवन के सञ्चालक गुरुकुलभूषण प्रियबन्धुवर्ग श्री वल्लभभाई तथा श्री व्रजदासभाई प्रभृति स्नेहभाजन सभी प्रकाशक बन्धुओं एवं मुद्रक बन्धुओं को अनेकानेक धन्यवाद हैं, जिनके सत्प्रयत्न से यह द्वितीय संस्करण जनता-जनार्दन के कर-कमलों तक पहुँच रहा है।

—स्नेह-प्रार्थना —

प्रमादेनाप्रबोधेनाऽयुक्तञ्चेल्लिखितं यदि ।
परिशोध्य तदस्मासु दयां कुर्वन्तु साधवः ॥

विद्वज्जनकृपाकांक्षी

गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

भूमिका

अखिल-ब्रह्माण्ड की रची सृष्टि में सम्पूर्ण-प्राणिवर्ग सुख को ही परम-पुरुषार्थ समझता है। सभी मनुष्य सुख की प्राप्ति के लिए ही सांसारिक तथा पारलौकिक कार्यों के सम्पादन में सदा लगे रहते हैं। वे समझते हैं कि इच्छाओं की पूर्ति होना ही सुख की वास्तविक परिभाषा है। किन्तु समस्त इच्छाओं की पूर्ति होना उनके निःशेष होने में ही है, क्योंकि जब तक कोई इच्छा बनी रहेगी तब तक सुख की न्यूनता ही भासित होती रहेगी सांसारिक या पारलौकिक सुख के साधनों से तो इच्छा की वृद्धि होती दिखाई देती है, कमी नहीं, निःशेष होने की बात तो दूर रही। सांसारिक सुखसाधनों की प्राप्ति से कामनाओं की वृद्धि-अतिवृद्धि होती जाती है, यानी 'निन्यानबे के चक्र में' आदमी फँस जाता है। पारलौकिक सुखसाधनों से उत्तमोत्तम स्वर्गादि सुख की प्राप्ति होने पर भी 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' पुण्य के क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में आना पड़ता है। एवञ्च 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में कामनाएँ नाचती रहती हैं। अतः वास्तविक सच्चा सुख तभी समझना चाहिये जब कामनाओं का अन्त हो जाय और उसका होना पूर्णकाम होने पर ही संभव हो सकता है। अतएव **श्रीगौड़पादाचार्य** ने कहा है—**'आप्तकामस्य का स्पृहा'**। पूर्णकाम होना आत्मसाक्षात्कार के बिना कथमपि संभव नहीं, क्योंकि आत्मा ही सुख एवं आनन्द का सागर है। उसके अतिरिक्त सुख या आनन्द अन्य किससे उपलब्ध हो सकता है? यह केवल कल्पना नहीं है, शास्त्र, युक्ति तथा अनुभव से भरा हुआ तथ्य है। जिस व्यक्ति के पास अखण्ड प्रकाश देनेवाली मणि (रत्न) हो, उसे किसी भी दीपक आदि बाह्यसाधनों की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसके समीप तो रात-दिन एक-सा प्रकाश रहता है। एक बार सर राधाकृष्णन् ने अपने व्याख्यान में बताया था कि उनके पास किसी महाराजा से उपहार-प्राप्त छोटा-सा हीरा है, जिसके दिव्य प्रकाश में उन्हें अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती। उसी के प्रकाश में वे पुस्तक अच्छी तरह से पढ़ लेते हैं और लेखनादि कार्य करते रहते हैं। अतः यह स्वीकार करना ही होगा कि सुख या आनन्द-स्वरूप ब्रह्मात्मा का प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म (आत्म) साक्षात्कार होने पर बहिर्भूत साधनों की कोई अपेक्षा या आवश्यकता नहीं रह जाती। उस स्थिति में

मानव की स्वाभाविक इच्छा तथा उसकी समस्त इच्छाओं की पूर्ति का स्वरूप तथा उपाय

आत्मीयता सांसारिक सुख का मूल

उस व्यक्ति को कौन-सी कामना घेर सकती है ? बाह्य साधनों से जो सुख-सा प्रतीत होता है, वह सब आत्मीयता के सम्वन्ध से ही प्रतीत होता है। जिस स्थावर-जङ्गम सम्पत्ति के साथ आत्मीयता के लेश का भी सर्वथा अभाव हो, उसके द्वारा सुख-प्राप्ति की आशा कभी भी नहीं की जा सकती। लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि जिसके साथ जिस तारतम्य से आत्मीयता का सम्बन्ध रहता है, तदनुसार ही उसमें सुख की मात्रा पाई जाती है।

भारतीय चिन्तन की अखण्ड दृष्टि और वेदान्तदर्शन का मूल स्रोत

भारतीय-मनीषा नितान्त कुशाग्र (सूक्ष्म) तथा मर्मस्पर्शिनी है। आत्मद्रष्टा भारतीय ऋषिवर्ग इसीके वल पर विश्वद्रष्टा हो पाया। इसी मनीषा के बल पर विश्वरूप से स्थित पदार्थ की केवल आकृति का ज्ञान ही नहीं, अपितु उसकी प्रकृति एवं सञ्चालिका चेतना-शक्ति के संयोगात्मक ज्ञान का दर्शन भी उसने पाया। भारतीय-चिन्तन की अखण्ड-दृष्टि के मूल अंकुर आज भी उपनिषद्वाङ्मय में उपलब्ध हैं। उस आनन्दमय ब्रह्मात्मा के साक्षात्कार में एकमात्र उपायभूत उपनिषद् भाग का अपनी दिव्यदृष्टि द्वारा प्रकाश पाकर हमारे भारतीय ऋषियों ने वेदान्तदर्शन का आविर्भाव किया।

ब्रह्मसूत्रों की निर्मिति की आवश्यकता तथा उस पर विभिन्न आचार्यों के दृष्टिकोण

शास्त्र की गम्भीरता तथा शनैः शनैः बुद्धि की क्षीणता होती देखकर परम-कारुणिक बादरायण वेदव्यास ने वेदान्तशास्त्र के तात्पर्यनिर्णयार्थ वेदान्तमीमांसा (ब्रह्ममीमांसा) के रूप में ब्रह्मसूत्रों का निर्माण किया, जिनपर भगवत्पूज्य-पाद आचार्य श्रीशङ्कर ने भाष्य की रचना की। उसी तरह भगवान् रामानुज, निम्बार्क, मध्व और भगवान् वल्लभ आदि आचार्यो ने भी अपनी दृष्टि से गम्भीर भाष्यों की रचना की। आचार्य शङ्करने 'ब्रह्माद्वैत', आचार्य रामानुजने 'विशिष्टाद्वैत', आचार्य निम्बार्क ने 'द्वैताद्वैत', आचार्य मध्व ने 'द्वैत' और आचार्य वल्लभ ने 'शुद्धाद्वैत' का प्रतिपादन बड़े ऊहापोह के साथ किया है। तदनन्तर उस पर अनेक व्याख्याएँ, टीका-टिप्पणियों एवं स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी हुई।

सभी वेदान्तियों का एक लक्ष्य

मोक्षप्राप्ति और उसके उपाय बताना ही सभी का एकमात्र लक्ष्य रहा। सभी ने आत्मसाक्षात्कार को ही मोक्ष का साधन बताया है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रुतिवाक्यों ने आत्मसाक्षात्कार को लक्ष्य कर श्रवणादि का विधान किया है। वह श्रवण अन्य कुछ न होकर 'वेदान्त-विचार' ही है। श्रीमद् बादरायणव्यास ने भी

प्रथमसूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' के द्वारा उक्त तथ्य की ओर ही संकेत किया है। स्मृतियों ने भी 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥' कहकर उक्त तथ्य का समर्थन किया है।

वेदान्त-विचार में प्रमाण-प्रमेयादि की आवश्यकता

उक्त श्रवणादिरूप वेदान्तविचार के लिये प्रमेय एवं प्रयोजन की भी आवश्यकता रहती है। प्रमेय एवं प्रयोजन का निश्चय करके ही सब लोग विचार किया करते हैं। इस तथ्य को भट्टपाद कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक में

"ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥"

के द्वारा स्पष्ट रूप से बताया है। उस प्रमेय, प्रयोजन का ज्ञान प्रमाणाधीन है। अतः प्रमाण, प्रमेय, प्रयोजन का ज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये।

वेदान्तपरिभाषा ग्रन्थ-निर्माण की आवश्यकता तथा महत्त्व

वेदान्त के सूत्र-भाष्य उसके व्याख्यानादि ग्रन्थों में वेदान्तसम्मत प्रमाण, प्रमेय, प्रयोजन आदि का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु सुकुमार शेमुषी-सम्पन्न मानवों के लिये उन ग्रन्थों से उनकी अवगति होना कठिन है, क्योंकि उन ग्रन्थों में **'यह प्रमाण है', 'यह प्रमेय है', 'यह प्रयोजन है'** इस प्रकार से स्पष्टतया प्रमाण, प्रमेय, प्रयोजनों को नहीं बताया गया है। इस कठिनाई को देखते हुए सुकुमार मतिवाले वेदान्तजिज्ञासु छात्रों पर करुणार्द्र हुए पण्डित-पुण्डरीक श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने **प्रमाण, प्रमेय, प्रयोजन** को स्पष्टतया बताने के लिये प्रस्तुत **'वेदान्त-परिभाषा'** नामक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है। यद्यपि यह स्वल्पकाय ग्रन्थ है, तथापि इसमें उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भाष्यादि ग्रन्थों के अध्ययनोपयोगी अनेक विषयों का प्रतिपादन सुचारुतया किया गया है, जिसके अध्ययन से जिज्ञासु छात्रों को अद्वैतवेदान्त में सुलभता से प्रवेश पाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्व में इस ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन अक्षुण्ण रूप से होता आ रहा है।

रहस्यपूर्ण ग्रन्थों पर व्याख्याओं की आवश्यकता

इस ग्रन्थ पर अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने संस्कृत तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनेक उत्तमोत्तम व्याख्याएँ एवं टिप्पणियाँ भी लिखी हैं। जैसे रत्नपरीक्षक (जौहरी) बिखरे रत्नों में से एक-एक को चिमटी से पकड़-पकड़कर एक जगह रख देता है तब प्राकृत लोग उन रत्नों को अच्छी तरह देख पाते हैं, उसी तरह रहस्यपूर्ण ग्रन्थों में बिखरे तत्त्व-रत्नों को व्याख्याकाररूप जौहरी जब तक व्याख्यानरूपी चिमटी से पकड़-पकड़कर अपनी व्याख्या में एकत्रित नहीं करता, तब तक जिज्ञासु साधारणजन उन तत्व-रत्नों को समझ नहीं पाते। अतः रहस्यपूर्ण ग्रन्थों पर व्याख्याओं का होना अत्यन्त अपेक्षणीय माना जाता है।

सभ्यता तथा संस्कृति को गौरवान्वित करने का श्रेय 'दर्शन' को प्राप्त है।

संस्कृति के कारण प्रायः सभी दर्शनों का समान लक्ष्य

विद्वत्समाज में प्रचलित विचारों पर ही दर्शन की उत्पत्ति का होना निर्भर है। भिन्न-विभिन्न दर्शनों में मतभेद रहने पर भी उनपर भारतीय-संस्कृति का प्रभाव रहने के कारण उनमें समानता भी पाई जाती है। हम पहले बता चुके हैं कि सभी का लक्ष्य एकमात्र परम-पुरुषार्थ-मोक्ष की प्राप्ति करा देना है। बन्धन से छूटने के अनेक उपाय भिन्न-भिन्न प्रकार से बताये गये हैं। मानवजीवन में 'दर्शन' का महान् उपयोग है। जीवन का लक्ष्य 'दर्शन' के परिशीलन से ही अवगत हो पाता है।

विचारशील मानव सृष्टि को देखकर आश्चर्य-चकित हो उठता है और सृष्टि की पहेली को सोचने लगता है कि यह सृष्टि किसने की ? कैसे की ? कब की ?

और क्यों की ? प्रायः सभी दर्शनों ने इन पहेलियों पर अपनी-अपनी दृष्टियों से विस्तृत विचार किया है।

न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध और जैन दर्शनों का अपना मत है कि

न्यायदर्शन का दृष्टिकोण

अत्यन्त सूक्ष्म 'परमाणु' ही इस सृष्टि के आदि कारण हैं।

सांख्य दर्शन का कहना है कि उपर्युक्त न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों का मत इसलिये उचित नहीं है, कि भौतिक परमाणुओं से स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति यद्यपि हो सकती है, तथापि मन, बुद्धि, अहंकार जैसे सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो

सांख्य-योग दर्शन का दृष्टिकोण

सकती। अतः उसका (सांख्य और योग दर्शन का) अपना मत है कि **'प्रकृति'** इस स्थूल-सूक्ष्म 'सृष्टि' का आदि कारण है। सम्पूर्ण सृष्टि के निर्माण में प्रकृति ही पर्याप्त है। ईश्वर को भी सृष्टि का कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है। और कारण ही परि-णाम में परिणत होता है, अतः कारण को परिणाम से अभिन्न माना जाता है। ईश्वर परिवर्तनशील न होने से वह सृष्टि में परिणत नहीं हो सकता। **सांख्यदर्शन** ने 'प्रत्ययसर्ग और 'तन्मात्र (भौतिक) सर्ग' के भेद से **दो प्रकार** की 'सृष्टि' कही है और पुरुष को 'भोगापवर्गरूपी पुरुषार्थ' प्राप्त करा देना उसका प्रयोजन बताया है।

किन्तु **वेदान्तदर्शन** को उपर्युक्त दर्शनों में से किसी का भी सिद्धान्त अभिमत नहीं है। उसका अपना मत है कि **'ब्रह्म'** ही सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म सृष्टि का **उपादान**

वेदान्तदर्शन का दृष्टिकोण

कारण तथा **निमित्तकारण** भी है। इसके मत का समर्थन श्रुति तथा युक्ति से भी होता है। इस विषय में उपनिषद् ने **'ऊर्णनाभि'** का दृष्टान्त भी प्रस्तुत किया है। जैसे मकड़ी बिना किसी उपकरण के अपने शरीर

से अभिन्नतन्तुओं को अपने शरीर के बाहर फैलाती है और फिर उन्हें अपने शरीर में मिलाकर अभिन्न बना देती है, उसी प्रकार **यह सृष्टि** (विश्व) उस 'ब्रह्म' से उत्पन्न हुई है। अतः वह **'ब्रह्म' उपादानकारण** तथा **निमित्तकारण** भी है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार जगत् की असत्यता

वेदान्तदर्शन के अनुसार **'जगत्'** नितान्त **मिथ्या है। नित्य परिवर्तनशील है।** आचार्य शंकर के द्वारा की गई **'सत्य'** की परिभाषा— 'यद्रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्'—जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सतत समभाव से विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं।—के अनुसार 'संसार की कोई भी वस्तु' सत्य की कोटि में नहीं आ सकती !

अन्यदर्शनों की दृष्टि में जगत् की सत्यता का आधार

किन्तु अन्य दर्शन प्रत्यक्षज्ञान की यथार्थता के आधार पर 'जगत्' और उसके 'समस्त विषयों' को सत्य मानते हैं। वे **बौद्धों के** 'शून्यवाद' और 'क्षणिकवाद' को तथा **अद्वैतमत के** 'मायावाद' को नहीं मानते।

वेदान्तदर्शन के अनुसार सृष्टि की रचना और संहार

वेदान्तदर्शन की दृष्टि से 'सृष्टि की रचना' और 'संहार' मानव-शरीर के 'श्वास—निःश्वास' की तरह चलता रहता है। इसीलिये **पूर्वमीमांसादर्शनने** 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इस श्रुति के आधार पर कहा है कि **'न कदाचिदनीदृशं जगत्'।** **यह सृष्टिरचना** तो वेदान्त की दृष्टि से उस 'ब्रह्म' की **लीलामात्र** है। अर्थात् ब्रह्म की माया का विलासमात्र है। 'अज्ञान' को तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्ति के द्वारा 'ब्रह्म' इस सृष्टि की रचना करता है। अज्ञान की आवरण-शक्ति से ब्रह्म आवृत होता है और विक्षेपशक्ति से भ्रमरूप सृष्टि (जगत्) की उत्पत्ति होती है। यही बात 'विक्षेप-शक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्' के द्वारा कही गई है।

आचार्य शंकर की दृष्टि में सृष्टि

आचार्य शंकर 'सृष्टि' को **'ब्रह्म'** का 'विवर्त' मानते हैं। अतएव उनका **'विवर्तवाद'** है। किन्तु सांख्य का 'परिणामवाद' है। क्योंकि वह 'सृष्टि' को **प्रकृति का परिणाम** मानता है। **विवर्तवाद** को समझने के लिये वेदान्त ने रज्जु-सर्प का दृष्टान्त दिया है।

लोगों को यह जिज्ञासा होती है कि **आनन्दमय चेतन ब्रह्म** से दुःखमय, अचेतन (जड) जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में जैसे 'अचेतन गोमय' से 'चेतन वृश्चिक' आदि की तथा 'चेतन शरीर से' अचेतन केश, नखादि की उत्पत्ति होती है, वैसे ही 'चेतन ब्रह्म' से 'जड सृष्टि'

की उत्पत्ति होती है, यह बताया गया है। माया से मोहित यदि संपूर्ण विश्व होता है तो ज्ञानी लोग उस माया से मोहित क्यों नहीं होते ? यह शंका मन में उठती है, किन्तु जादूगर और उसके जादू पर सोचें तो समाधान हो जाता है। जादूगर के जादू से उसके रहस्य को न जाननेवाले समस्त दर्शक व्यामोह में पड़ जाते हैं, लेकिन जादू के रहस्य को जाननेवाला व्यक्ति व्यामोहित नहीं होता। उसी तरह अद्वैत तत्त्व को न जाननेवाले लोग, माया से मोहित होते हैं, किन्तु अद्वैत तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानी लोग उस माया से मोहित नहीं हो पाते।

माया से मोहित न होनेवाला व्यक्ति

वेदान्तदर्शन ने प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद से तीन प्रकार की सत्ता मानी है। **प्रातिभासिकसत्ता**—जैसे—रज्जु-सर्प प्रतिभास (प्रतीति) काल में सर्प की सत्यतया प्रतीति होती है। **व्यावहारिकसत्ता**—जैसे—जगत् के सभी पदार्थ। **पारमार्थिकसत्ता**—जैसे—ब्रह्म।

वेदान्त की दृष्टि से तीन सत्ताएँ

शुक्ति में रजत का जो प्रतिभास (प्रतीति) होता है, उसके सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। **अद्वैत वेदान्त** ने 'रज्जु + सर्प' जैसे स्थलों पर **अनिर्वचनीयताख्याति** को माना है। रज्जु पर 'सर्प' के ज्ञान को **'सत्'** इसलिये नहीं कह सकते कि दीपक के प्रकाश में वह बाधित हो जाता है। उसे **'असत्'** इसलिये नहीं कह सकते कि उस ज्ञान से भय पैदा होता है। अतः **उस सर्पज्ञान को** उभयविलक्षण होने से **अनिर्वचनीय** अथवा **मिथ्या** कहते हैं। अविद्या के कारण वैसा ज्ञान होता है। **मिथ्या** का अर्थ 'असत्' नहीं है किन्तु **'अनिर्वचनीय'** है। उसी तरह 'जगत् की कल्पना' भी **अनिर्वचनीय** है। **अद्वैत वेदान्ती** की दृष्टि से 'आरम्भवाद तथा परिणामवाद' दोनों **भ्रम पर** अधिष्ठित हैं। 'कार्य-कारण सम्बन्ध' पर दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से यथेष्ट ऊहापोह किया है। **बौद्धों** ने 'असत् से सत् की उत्पत्ति', **सांख्य** ने 'सत् से सत् की उत्पत्ति', नैयायिकों ने सत् से असत् की उत्पत्ति बताई है। **न्यायदर्शन** का कथन है कि 'कारण' में कार्य की सत्ता उत्पत्ति से पूर्व नहीं रहती, किन्तु सहायक कारण सामग्री का उपयोग करने पर मृत्तिका में 'घट' संज्ञक एक 'नवीन वस्तु' की उत्पत्ति होती है। सभी कार्य अपने-अपने 'उपादान कारणों' से नितान्त भिन्न हैं। कोई कार्य अपने कारणव्यापार के पूर्व कारण में

प्रातिभासिक सत्ता (भ्रमस्थल) के संबन्ध में दार्शनिकों के अपने-अपने विचार अद्वैत वेदान्त

कार्यकारण-संबंध पर दार्शनिकों में दृष्टिभेद

न्यायदर्शन की दृष्टि में कार्य-कारण सम्बन्ध

विद्यमान नहीं रहता । इस सिद्धान्त को **'असत्कार्यवाद'** या **'आरम्भवाद'** कहते हैं ।

सांख्यदर्शन का कहना है कि 'सभी कार्य' अपनी उत्पति से पूर्व अपने-अपने कारण में अव्यक्तरूप से विद्यमान रहते हैं । इस प्रकार 'कार्य-कारण में अभेद है । 'कार्य की' अव्यक्तावस्था का ही दूसरा नाम 'कारण' है । उसी तरह 'कारण' की व्यक्तावस्थाका नाम 'कार्य' है । अतः 'कार्य-कारण' का भेद व्यावहारिक है और उनका 'अभेद' वास्तविक है । इस सिद्धान्त को **सत्कार्यवाद** या **परिणामवाद** कहते हैं । यह 'सत्कार्यवाद' ही **परिणामवाद** और **विवर्तवाद** के आकार में अभिव्यक्त होता है । **परिणामवाद** के अनुसार कार्य की उत्पत्तिका अर्थ होगा कि कारण का वास्तविकरूप से रूपान्तरित होना । जैसे—दूध से दही या मिट्टी से घड़े का होना वास्तविक परिणाम है ।

सांख्यदर्शन की दृष्टि से कार्य-कारण सम्बन्ध

यह **परिणाम—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम** और **अवस्थापरिणाम** के भेद से तीन प्रकार का होता है । धर्मी के धर्मों का परिणाम होना—धर्मपरिणाम है । जैसे—धर्मी चित्त की वृत्ति का कभी नीलाकार तो कभी पीताकार, कभी श्वेताकार होना धर्मपरिणाम है । सुवर्ण का कटकधर्म-तिरोहित होकर मुकुटधर्म का प्रादुर्भाव होना अथवा मृत्तिका के पिण्डधर्म का तिरोहित होकर घटधर्म का प्रादुर्भाव होना, ये सब धर्मपरिणाम के ही उदाहरण हैं ।

त्रिविध परिणाम

उसी प्रकार प्रत्येक धर्मी का क्रमशः भविष्यत्व, वर्तमानत्व और भूतत्वरूप लक्षणों के (**काल के**) पात्र होना—लक्षणपरिणाम है । यह धर्मी का लक्षण परिणाम है । अर्थात् अवस्थित धर्मी एक लक्षण तिरोहित होकर उसकी जगह दूसरे लक्षण का प्रादुर्भाव होना—यह **लक्षणपरिणाम** है । सांख्य-योग दर्शन में भविष्यत्व, वर्तमानत्व और भूतत्व—इन तीनों को 'लक्षण' या 'अध्व' कहते हैं । उसी प्रकार नीलाकार, पीताकार आदि वृत्तियों के वर्तमानत्व लक्षण में अस्पष्टतरत्व, अस्पष्टत्व, स्पष्टत्व, स्पष्टतरत्व आदि अवस्थाओं के कारण तारतम्य का अनुभव होता है । वैसे ही सुवर्ण कटकादि धर्मों की या मृत्तिका के पिण्डादि धर्मों की नवत्व, पुराणत्व आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अनुभव होता है । सत्त्वादि गुणों का चञ्चल-स्वभाव होने से यह अवस्थाभेद प्रतिक्षण होता रहता है । इसी को लक्षणों का अवस्थाभेद कहते हैं । किसी लक्षण के एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को प्राप्त होना ही **अवस्थापरिणाम** है । ये सब परिणाम धर्मी (द्रव्य) में ही होते हैं । अतः धर्मी के इन त्रिविध परिणामों में केवल आकार में ही अन्यथात्व होता है । द्रव्य में किसी प्रकार का अन्यथात्व नहीं होता । उसके आकार में बदलाव होता है, स्वरूप में नहीं । इस कारण धर्म और धर्मी में अत्यन्त भेद भी नहीं और अत्यन्त अभेद भी नहीं ।

सांख्य का कहना है कि तीनों गुण निरन्तर परिवर्तनशील हैं। विकार या परिणाम उनका स्वभाव ही है। अतः वे एक क्षण भी अविकृत रूप में नहीं रहते प्रलयावस्था में प्रत्येक गुण दूसरों से खिंचकर स्वतः अपने में परिणत हो जाता है। अर्थात् सत्त्व-सत्त्व में, रजस्-रजस् में, और तमस्-तमस् में परिणत हो जाता है इस परिणाम को **सरूप-परिणाम** कहते हैं। इस अवस्था में गुणों से कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि वे पृथक्-पृथक् रहकर कुछ नहीं कर सकते। जब तक गुण आपस में नहीं मिलते और उनमें एक प्रवल नहीं हो पाता, तब तक उनसे किसी विषय की उत्पत्ति नहीं हो पाती। सृष्टि के पूर्व तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं अर्थात् अस्फुटित रूप से ऐसे अव्यक्त पिण्ड रूप में रहते हैं जिसमें न गति होती है न शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गन्ध होता है और न कोई विषय होता है। यही साम्यावस्था **'प्रकृति'** है।

सांख्यसम्मत प्रकृति अर्थात् गुणों का सरूप परिणाम

दूसरे प्रकार का परिणाम तब उत्पन्न होता है, जब गुणों में एक प्रवल हो उठता है और शेष दो उसके अधीन रहते हैं। इस स्थिति में विषयों की उत्पत्ति होती है। इस परिणाम को **विरूपपरिणाम** कहते हैं। इसी से सृष्टि का आरम्भ होता है। सांख्य ने सत्त्व, रजस् और तमस् के लिये 'गुण' संज्ञा का प्रयोग किया है। तथापि **नैयायिक, वैशेषिकोंके सम्मत** 'गुण,' ये नहीं हैं। ये संयोग विभागशाली और लघुत्वादि धर्मो से युक्त होने के कारण **द्रव्यरूप** हैं। **वाचस्पति मिश्र** के अनुसार इन्हेंगुण इस लिये कहा जाता है कि ये तीनों प्रकृति के स्वरूपाधायक **अङ्गरूप** हैं और पुरुष के अर्थ (प्रयोजन) को सिद्ध करनेवाले हैं। विज्ञानभिक्षु के अनुसार पुरुष को बन्धन में डालने वाले त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वादि के निर्माता होने से इन्हें 'गुण' कहा गया है। क्योंकि गुण का अर्थ रस्सी भी हैं।

गुणों का विरूप परिणाम

सांख्य-सम्मत 'गुण' द्रव्यरूप हैं

सृष्टि दशा में 'परिणाम' को नहीं किन्तु 'विकार' को उत्पन्न करते हैं विकार गुण 'परिणाम' हो सकता है, किन्तु परिणाम 'विकार' नहीं हो सकता। समानभाव से परिवर्तन को परिणाम कहते हैं और विषमभाव से परिवर्तन को 'विकार' कहते हैं। परिणामनित्यता में बौद्ध और सांख्य की समानता है। चित्त शक्ति को छोड़कर भौतिक जगत् के समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं—यह सांख्य का सिद्धान्त है।

परिणाम और विकार में भेद

आचार्य शंकर भी इस सत्कार्यवाद को स्वीकार करते हैं। क्योंकि कार्य,—'कारण' से भिन्न वस्तु नहीं है। क्योंकि सुवर्ण का अलंकार या मिट्टी का बर्तन

सुवर्ण से या मिट्टी से पृथक् कुछ नहीं है, वह भी सुवर्ण या मिट्टी मात्र ही है। सभी कार्य अपने उपादान कारण से अविच्छेद्य हैं। अपने-अपने उपादान कारण के बिना वे रह नहीं सकते। सुवर्ण या मिट्टी आदि द्रव्य केवल रूपान्तरित हो जाते हैं। सांख्य और वेदान्त दोनों ही सत्कार्यवाद के अनुयायी होने पर भी दोनों में अन्तर इतना ही है कि सांख्य "उपादान' में वास्तविक विकार या परिणाम मानता है क्योंकि वह नवीनरूप धारण करता है। अर्थात् जो आकार असत् था वह सत् हो जाता है। आचार्य शंकर का कहना है कि सांख्य की इस विचार-प्रक्रिया से 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त का भंग हो जाता है। आचार्य शंकर का कहना है कि आकार का वास्तविक परिवर्तन तब कह सकते हैं कि यदि 'आकार' अपनी सत्ता अलग रख पाता। आकार तो उपादानरूप द्रव्य की एक अवस्थामात्र है जो उस द्रव्यरूप उपादान से अविच्छेद्य है। अतः आकार के पृथक् अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। एवंच आकार या आकृति के परिवर्तन को देखकर उसे वास्तविक परिवर्तन समझना उचित नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति सोते, उठते, बैठते हुए भी वही समझा जाता है, अन्य नहीं। अतः भिन्न-भिन्न आकारों का जो प्रत्यक्ष होता है, उसे प्रत्यक्षाभास ही समझना चाहिये। इस युक्ति से विवर्तवाद सिद्ध होता है। इस विवर्तवाद के अनुसार हमें यह समझ में आता है कि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला अवास्तविक आकार-परिवर्तन केवल मानसिक आरोप या विक्षेपमात्र है। इसी को 'आचार्य शंकर ने 'अध्यास' शब्द से कहा है। इस 'अध्यासरूप मिथ्या कल्पना' का कारण एकमात्र 'अविद्या है जो हमें भ्रम में डाल देती है और असत् में सत् का आभास कराती है। इसी को आचार्य शंकर अविद्या, अज्ञान या माया कहते हैं। इसी के कारण संसार की प्रतीति होती है। भिन्न-भिन्न आकारों के रूप में दिखाई देनेवाली एक 'शुद्ध सत्ता' ही पारमार्थिकसत्ता है जो सम्पूर्ण संसार का मूल कारण है। वह नाना रूपों में प्रकट होने पर भी स्वयं 'निराकार' है। भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त होने पर भी यथार्थतः 'निरवयव' है। सान्त विषयों में भासमान होने पर भी वह वास्तव में 'अनन्त' है। इस रीति से आचार्य शंकर अनन्त 'निर्विशेष शुद्धसत्ता' को ही संसार का मूल कारण अर्थात् 'उपादान कारण' कहते हैं। इसी सत्ता को 'ब्रह्म' कहते हैं।

सत्कार्यवादी सांख्य और शंकर की विचारसरणि में अन्तर

विवर्तवाद की सिद्धि में युक्ति

अध्यास और उसका कारण

संसार का मूल कारण

अद्वैतवेदान्तियों का भ्रम-विषयक सिद्धान्त बौद्धों के 'शून्यवाद' या 'विज्ञानवाद' से भिन्न है। शून्यवादी का कहना है कि 'शून्य' (असत्) ही

जगत् के रूप में दीखता है। **विज्ञानवादी** कहता है कि 'मानसिक विज्ञान' ही जगत् के रूप में दीखता है।

भ्रम के सम्बन्ध में बौद्ध और शंकर के भिन्न विचार

किन्तु आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रत्येक विषय का आधार **'शुद्धसत्ता'** है। वह आधार न तो 'शून्य' है और न 'मन की भावना' ही है। यद्यपि यह दृश्यमान संसार 'भ्रम' के समान 'अविद्या' का परिणाम माना गया है तथापि **अद्वैतवादी** 'यथार्थ प्रत्यक्ष' और 'प्रत्यक्षाभास' का भेद करते हैं।

अज्ञान के दो भेद

इस कारण अज्ञान के भी दो प्रकार माने जाते हैं। जिस 'मूल अविद्या' के कारण व्यावहारिक जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसे **'मूलाविद्या'** कहते हैं। उसी के सदृश जिस अविद्या के कारण तात्कालिक भ्रम होता है, उते **'तूलाविद्या'** कहते हैं।

शंकर का अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

संसार-विषयक सभी प्रश्नों के उत्तर आचार्य शंकर के द्वारा स्वीकृत पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्रातिभासिक—इन तीन सत्ताओं के द्वारा दे दिये जाते हैं। इस रीति से संसार एकरूप नहीं है। जो यह जानना चाहता है कि समष्टि रूप में संसार क्या है? उसके लिये उनका यह उत्तर है कि सत् और असत् दोनों से विलक्षण **अनिर्वचनीय** है। यदि संसार को व्यावहारिक सत्ता के अर्थ में लिया जाय तो कहते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से वह सत्य है। अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा अधिक सत्य और पारमार्थिक की अपेक्षा कम सत्य है। यदि पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को देखा जाय तो वह सत्य ही है, क्योंकि कारणरूप **'ब्रह्म'** की सत्ता त्रिकाल में रहती है अर्थात् त्रिकालाबाधित है। कार्यरूपी जगत् में उस सत्ता का कभी अभाव नहीं रहता। नानारूप—नानात्मक विषय निर्विशेष रूप में **'सत्'** है और सविशेषरूप में **'असत्'** है। अतएव **अद्वैतवादियों ने** 'सृष्टि' को **अनिर्वचनीय** कहा है। इनके 'मायावाद' को **अनिर्वचनीयख्यातिवाद** भी कहते हैं। और 'मिथ्याज्ञान' को ही **अविद्या** कहते हैं।

ख्यातिवाद

शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध

व्यावहारिक भ्रम सभी को हुआ करता है। तथापि उसकी उत्पत्ति में भिन्न-भिन्नमत हैं **शून्यवादी बौद्धों ने** भ्रम का कारण **असत्-ख्याति** को माना है। उनका कहना है कि निद्रा की अवस्था में अर्थ का प्रतिभास नहीं होता। अर्थ का जो प्रतिभास होता है, वह भ्रम से होता है। उस प्रतिभास का विषय बाह्य **'सत्'** नहीं है, अतः वह **'असत्'** (निःस्वभाव) ही हो सकता है। **'माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध'** पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता मानकर उसकी परीक्षा करते हैं और अन्त में उनको **'असत्'** सिद्ध करते हैं। वे समस्त सविषयक ज्ञान को मिथ्या कहते हैं। रज्जु-सर्प आदि स्थलों

पर **'सर्प'** अत्यन्त असत् है। वहाँ पर जो उसकी प्रतीति हो रही है वह **'असत्य-ख्याति'** है। जिसका अर्थ अत्यन्त असत्य सर्प का भास है।

विज्ञानवादी बौद्ध 'आत्मख्याति मानते हैं। **विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध** के मत से भ्रम दो प्रकार का होता है। एक मुख्य और दूसरा प्रातिभासिक। व्यवहार में हम इन्द्रियों की प्रायः एक-सी शक्ति का अनुभव करते हैं। उसी

विज्ञानवादी बौद्ध

कारण हमारे कुछ ज्ञानों में भ्रमशून्यता रहती है। और कुछ ज्ञान भ्रान्त रहते हैं। व्यावहारिक अभ्रान्त ज्ञान भी पारमार्थिक दृष्टि से भ्रान्त ही है। भ्रान्त-अभ्रान्त का विवेक तो व्यावहारिक दृष्टि से किया जाता है। **'योगाचार'** का कहना है कि सभी प्रतिभासों में ज्ञान की अपनी ही ख्याति होती है। सम्पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान, **'वासना'** से जन्य है, अतः वह सब मिथ्या है। **इनके मत में** बुद्धि ही समस्त पदार्थों के आकार को धारण करती है। रज्जु-सर्पस्थल में रज्जु में सर्प है ही नहीं। यह बुद्धि (ज्ञान) क्षणिक विज्ञानरूप है। यह क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि ही प्रतिक्षण सर्प रूप से प्रतीत होती है। इसे ही **''आत्मख्याति'** कहते हैं। **आत्मख्याति** का अर्थ है—क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि (ज्ञान) का सर्परूप में भाव या कथन।

न्याय-वैशेषिक—अन्यथाख्याति (विपरीतख्याति) मानते हैं **न्याय-वैशेषिक और जैन दार्शनिकों का** कहना है कि बाह्य पदार्थ को 'शून्यरूप' या 'ज्ञानरूप' या 'सत् रूप' कहना उचित नहीं है। इन्द्रिय के

न्याय-वैशेषिक

गुण-दोष के बल पर पदार्थ (वस्तु) के यथार्थ या अयथार्थ ज्ञान का निर्णय किया जाता है। इनके मत में भ्रम विषयीमूलक है, विषयमूलक नहीं। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, किन्तु पदार्थ ज्यों-का-त्यों बना रहता है। **उद्योतकर** ने कहा है कि मृग-मरीचिक स्थल में रवि किरणों का सद्भाव तथा स्पन्दन व्यापार भी यथार्थ है। अतः 'अर्थ' का व्यभिचार नहीं है। बल्कि 'ज्ञान' का ही व्यभिचार होता है। मरीचि में जल की कल्पना करने में **बौद्धों** की 'असत्ख्याति' या 'आत्मख्याति का' कोई उपयोग नहीं होगा। किन्तु **इन्द्रियदोष** के कारण मरीचि में जल के धर्मों का स्मरण होता है। जल के धर्म का मानसिक उदय होते ही जहाँ-जहाँ जल का पूर्वानुभव हुआ है, वहाँ-वहाँ के जल का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष से देखे हुए जल के गुणों का आरोप समीपवर्ती मरीचि में कर दिया जाता है। इसी को **'अन्यथाख्याति'** अर्थात् दूसरे के (अन्य वस्तु के) धर्मों (गुणों) का दूसरी (अन्य) वस्तु में प्रतीत होना कहते हैं।

सांख्यदर्शन सदसत्-ख्याति मानता है। **सांख्यदर्शन** के मत में बाह्य पदार्थ का अनुभव बुद्धिवृत्ति के द्वारा होता है, किन्तु बाह्य पदार्थ की सत्ता उसे मान्य

है। **वह विज्ञानवादियों** के समान बाह्य पदार्थ की सत्ता का निषेध नहीं करता। **सांख्य** उसी ज्ञान को 'यथार्थ' कहता है जहाँ बुद्धि में आरोपित पदार्थ का स्वरूप बाह्य जगत् में विद्यमान उस पदार्थ के रूप के साथ एकाकार रहता है। 'भ्रम' के सम्बन्ध में **सांख्य** का कहना है कि **माध्यमिक बौद्ध, प्राभाकरमीमांसक, वेदान्ती** और **नैयायिकों** के सिद्धान्त अनुचित हैं। शुक्ति में रजत का ज्ञान 'इदं रजतम्' के रूप में होता है, तब 'इदम्' का **'सत्'** और 'रजत' का ज्ञान **'असत्'** होता है।

सांख्य

'इदम्' ज्ञान का आश्रय चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय रहता है। इसलिये वह **'सत्'** (विद्यमान) है। और 'रजत ज्ञान' का आश्रय हमारे इन्द्रियों के परे है अर्थात् उनका विषय नहीं है। तथा 'नेदं रजतम्' इत्याकारक ज्ञान के द्वारा उत्तरकाल (अग्रिम क्षण) में बाधित भी होता है, इसलिये वह **'असत्'** है। एवंच **भ्रम-ज्ञान**, सत्-असत् उभयविध पदार्थों पर आश्रित रहता है। यह **सदसत्ख्यातिवाद अनिरुद्ध** के अनुसार है। किन्तु **विज्ञानभिक्षु** के अनुसार सभी पदार्थ नित्य होने से स्वरूपतः उनका बाध नहीं है, परन्तु 'चैतन्य' में आरोपित होने पर संसर्गतः उनका बाध होता है। **जैसे**—सराफा बाजार में रजत सद्रूप से विद्यमान होने के कारण स्वरूपतः अबाधित है। परन्तु शुक्ति में 'अध्यस्त रजत' **असत्** है, क्योंकि संसर्गतः उसका बाध होता है। उसी तरह जगत् भी स्वरूपतः सत् है, परन्तु चैतन्य में अध्यस्त होने पर वह असत् है, एवंच **जगत् सदसदात्मक** है। इस तरह **सांख्य का सदसत्ख्यातिवाद** है।

प्राभाकर मीमांसक अख्याति मानते हैं। **'अख्यातिवाद'** को स्वीकार कर इन्होंने 'शून्यवादी' तथा 'क्षणिकविज्ञानवादियों' का खण्डन किया है। शून्यवादियों के द्वारा प्रतिपादित 'असत् (असत्य) ख्याति' शशशृङ्ग या आकाश-पुष्प या वन्ध्या-पुत्र के समान ही है। **क्षणिकविज्ञानवादी** के मत से यदि क्षणिक विज्ञान ही सर्प के आकार में प्रतीत होता है तो क्षणमात्र से अधिक उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। अतः उनकी **आत्मख्याति** भी उचित नहीं है। **प्राभाकर मीमांसकों** का कहना है कि सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं। तथापि शुक्ति में रजत का भ्रम अथवा रस्सी पर सर्प का भ्रम जो होता है, उसका कारण **विवेकाऽग्रह'** (भेद का अज्ञान) है। 'इदं रजतम्' इस भ्रम में 'इदम्' अंश तो प्रत्यक्षज्ञान का विषय है। चक्षुरिन्द्रिय तो 'इदम्' पदार्थ के अस्तित्व की सूचना देकर अपना काम समाप्त कर देता है। वहाँ पर 'रजत' पदार्थ के विद्यमान न रहने से 'रजत' अंश तो प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो पाता। तथापि वहाँपर 'रजत' का भान जो हो रहा है, वह वास्तव में अन्यत्र देखे गये रजत का स्मरण है। दोनों अपनी-अपनी जगह सत्य हैं, किन्तु स्मृतिप्रमोष (स्मरण-शक्ति के दोष) के कारण दृश्यमान 'इदम्' पदार्थ तथा स्मर्यमाण 'रजत' पदार्थ के पारस्परिक

प्राभाकर मीमांसक

विवेकाग्रह अर्थात् भेदग्रहण न हो सकने से (भेद के ज्ञान का अभाव होने से) ही यह **'भ्रम'** उत्पन्न होता है। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान के तुल्य ही रजत तथा शुक्तिरूप विषयों में विवेक-ग्रहण न हो पाने से भ्रमज्ञान को अवसर मिल जाता है। शुक्तिज्ञान तथा रजतज्ञान दोनों अपने-अपने विषयों में यथार्थ हैं। यह विवेकाग्रहरूप दोष केवल अभावात्मक है अर्थात् उभय ज्ञानों के भेद का अभाव-मात्र है। इसलिये इसे भ्रम नहीं कहा जा सकता। यदि इसे भ्रम कहा जाय तो इसकी भावात्मक (वास्तविक) प्रतीति होती। उसके न होने से उसे 'भ्रम' नहीं कह सकते। अतः **प्राभाकरमीमांसक** इस स्थिति को **अख्यातिवाद** के नाम से कहते हैं। इन्हें भ्रम की सत्ता मान्य नहीं है।

किन्तु भाट्टमीमांसक, और मुरारिमिश्र, दोनों 'नैयायिकों' के मत को स्वीकार करते हैं। वे **प्राभाकर मत** से सहमत नहीं हैं। **भाट्ट मीमांसकों** का कहना है कि 'भ्रम' केवल **विवेकाग्रह** (भेदज्ञान का अभाव) मात्र नहीं है। 'शुक्ति-रजत' स्थल में शुक्ति का ज्ञान **शुक्तित्वप्रकारक** होता है। और 'रजत का ज्ञान' **रजतत्व प्रकारक** होता है। 'शुक्तित्व' और 'रजतत्व ये धर्म-विशेष हैं। ये शुक्ति और रजत में तादात्म्य सम्बन्ध से रहते हैं। उन्हें अपने अपने धर्मी से कथमपि पृथक् नहीं किया जा सकता। किन्तु शुक्ति में रजतत्व प्रकारक ज्ञान होने लगता है अर्थात् अन्य विषय में अन्य प्रकारक ज्ञान होता है। वास्तव में विषय के अनुरूप ही प्रकार का ज्ञान होना चाहिये। इसलिये अन्यथा (भिन्न रूप से ज्ञान होने से इस 'ज्ञान' को **अन्यथाख्याति** नाम से नैयायिकों ने कहा है, इसे ही भाट्टमीमांसकों ने **विपरीतख्याति** नाम दिया है। क्योंकि इसमें 'अकार्य का कार्य रूप से' भान होता है। इसी को हम और सरल एवं स्पष्ट भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि कभी कभी मिथ्याविषय (रज्जु में कल्पित सर्प) भी प्रत्यक्ष की तरह भासित होने लगता है। नेत्र की कनीनिका (पुतली) को दबाकर देखने से दो **चाँद** दिखाई देने लगते हैं। अथवा मन्दान्धकार में 'रज्जु' में 'सर्प का भास' होने लगता है। **भाट्टमीमांसक** कहते हैं कि जल कोई 'रज्जु' में 'सर्प को देखता है और कहता है कि 'यह सर्प' है, तो वहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों ही सत्य हैं। संसार में 'रज्जु' और 'साँप' दोनों की सत्ता विद्यमान है। फिर भी भ्रम इस कारण होता है कि हम पृथक् पृथक रहनेवाले 'दो सत् पदार्थों' में **उद्देश्य-विधेय** का सम्बन्ध जोड़ देते हैं। इसी 'संसर्ग को लेकर भ्रम होता है। विषयों को लेकर भ्रम नहीं होता। क्योंकि विषय (पदार्थ) तो वास्तविक हैं। 'द्विचन्द्र ज्ञान' में भी 'आकाश' के दो वास्तविक भागों का सम्बन्ध 'चद्रमा' के साथ जोड़ दिया जाता है। उस कारण एक ही चन्द्रमा दो जगह भासित होने लगता है। इस विपर्यय के कारण लोग विपरीत आचरण कर बैठते हैं। इसलिये **भाट्टमीमांसकों** ने ऐसे स्थलों

भाट्ट मीमांसक

पर होनेवाले ज्ञान को **विपरीतख्याति** नाम से कहा है। इस **विपरीतख्याति** (ज्ञान) के कारण अकार्य में कार्यता का भान (अकार्यस्य कार्यतया भानम् अर्थात् जो नहीं करना चाहिये वह करने योग्य प्रतीत होता है) होने लगता है।

भ्रमज्ञान के सम्बन्ध में **भाट्ट** और **प्राभाकर मत** में अन्तर यह है कि **प्राभाकर मीमांसक** किसी भी ज्ञान में 'भ्रम' की सत्ता स्वीकार नहीं करते किन्तु **भाट्टमीमांसक** भ्रम की सत्ता' स्वीकार करते हैं। **भाट्टमीमांसकों** का कहना है

भाट्ट और प्राभाकर मत में अन्तर

कि '**भ्रम**' विषयों को लेकर नहीं, अपितु उनके संसर्ग को लेकर होता है। इनकी विपरीताख्याति और नैयायिकों की अन्यथाख्याति में बहुत कुछ सादृश्य उपलब्ध होता है। भाट्ट का कहना है कि भ्रम का प्रभाव ज्ञान की अपेक्षा व्यवहार पर अधिक पड़ता है। भ्रमज्ञान एक अपवाद है। सर्वसाधारण नियम तो यही है कि 'ज्ञान' सत्य का दर्शन कराता है। इसी विश्वास पर संसार के दैनिक व्यवहार चलते रहते हैं।

वेदान्त अनिर्वचनीयख्याति मानता है। इसका कहना है कि अन्तःकरण की वृत्ति चक्षुरिन्द्रिय के मार्ग से निकलकर विषय के साथ सम्बद्ध होती है और विषयाकार वन जाती है। रज्जु-सर्प स्थल में 'अन्तःकरण' की वृत्ति चक्षुरिन्द्रिय

वेदान्ती

के मार्ग से निकलकर रज्जु के साथ सम्बद्ध होती है, किन्तु 'मन्दान्धकार' प्रतिबन्धक होने से वह 'वृत्ति' रज्जु के वास्तविक स्वरूप को ग्रहण नहीं कर पाती। इसलिये रज्जु का 'आवरण' दूर नहीं हो पाता। 'आवरण दूर न हो पाने से' रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य में स्थित अविद्या में क्षोभ होकर वह 'अविद्या' ही सर्पाकार में परिणत हो जाती है। अविद्या से प्रतीयमान 'सर्प' यदि सत् होता तो रज्जु का ज्ञान होने पर उसका बाध न होता। बाध तो होता है। अतः वह सत् नहीं है। यदि वह सर्प असत् है तो शशशृङ्ग की तरह इसकी प्रतीति नहीं होतीं, किन्तु प्रतीति तो होती है। इसलिये उसे असत् भी नहीं कह सकते। एवं च 'सत्-असत् उभय विलक्षण' होने से वह **अनिर्वचनीय** है। इस प्रकार से 'पांच ख्यातियों' को **दार्शनिकों** ने बनाया है। इनका संग्रह एक पद्य में भी किया गया है--

"आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥'
योगाचारा माध्यमिकास्तथा मीमांसका अपि।
नैयायिका मायिनश्च पञ्च ख्यातीः क्रमाज्जगुः ॥

आचार्य शंकर ने 'जगत्' का **मिथ्यात्व** 'माया' के आधार पर ही सिद्ध किया है। **वेदान्त** में **माया अविद्या** और **अज्ञान** इन तीन शब्दों का प्रयोग अनेक बार होता दिखाई देता है। ये तीनों शब्द समानार्थक है, फिर भी

कुछ वेदान्तियों ने माया और अविद्या में भेद बताया है। **ईश्वर** की उपाधि को 'माया कहते हैं। 'माया' में शुद्ध सत्त्व की प्रधानता रहती है। 'जीव' की उपाधि को 'अविद्या' कहते हैं। 'अविद्या' में **मलिन सत्त्व** की **प्रधानता** रहती है। 'ईश्वर' की उपाधि रूप माया दृश्यमान संसार का उपादान कारण है। जीव की उपाधि रूप अविद्या एक अज्ञानावरण है, यह अज्ञानावरण जगत् के आधार ब्रह्म के अनुपहित (असली) स्वरूप को ढक लेता है। ढक जाने (आवृत होने) के कारण वह 'ब्रह्म' नित्यमुक्त होता हुआ भी अपने को वद्ध सा समझने लगता है। किन्तु कतिपय वेदान्तियों ने माया और अविद्या दोनों को समानार्थक ही माना है। ऐन्द्रजालिक की तरह 'ईश्वर' अविद्या (माया) के द्वारा दृश्यमान नामरूपात्मक संसार को पैदा करता है। इसी 'माया अथवा अविद्या' को 'संसार' का उपादान कारण कहते हैं। इस माया से हम सब लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। किन्तु ईश्वर के लिये वह एक इच्छा मात्र है। ईश्वर स्वयं उस माया से प्रभावित नहीं होता। और हम जैसे अज्ञानी उसे देखकर भ्रम में पड़ जाते हैं और ब्रह्म के बदले अनेक विषय देखने लग जाते हैं। इस प्रकार माया हम लोगों के भ्रम का कारण है। इस अर्थ में माया को अज्ञान या अविद्या भी कहते हैं। इस अविद्या की आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियां हैं। आवरण शक्ति से वह ब्रह्म के असली स्वरूप को छिपा देती है और विक्षेप शक्ति से उस 'आवृत ब्रह्म को दूसरी वस्तु (संसार) के रूप में आभासित कर देती है। इस विक्षेप शक्ति के कारण 'माया' को **भाव-रूप अज्ञान** कहते हैं। यह माया शक्तिरूप में ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह ब्रह्म से उसी तरह अभिन्न है जैसे अग्नि से उष्णता और मन से संकल्प। आचार्य शङ्कर के मत से 'ब्रह्म' में कोई **वास्तविक विकार** (परिवर्तन) नहीं होता, 'विकार केवल **प्रातिभासिक** होता है किसी द्रव्य के **विकार का आभास** ही विवर्त' शब्द से कहा जाता है। और **वास्तविक विकार** को 'परिणाम' शब्द से कहा जाता है। **आचार्य शङ्कर** ने इस 'माया' को कहीं कहीं 'अव्यक्त' या 'प्रकृति' भी कहा है जो त्रिगुणात्मक है, किन्तु उसे **सांख्य** की प्रकृति नहीं समझनी चाहिये। सांख्य की प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है। और वेदान्त की प्रकृति ईश्वर की माया है, और उसी ईश्वर पर सर्वथा आश्रित है।

शंकर के मत में जगत् के मिथ्यात्व का आधार

अविद्या की दो शक्तियाँ

शङ्कर के मत में ब्रह्म का अविकारित्व

वेदान्त और सांख्य की प्रकृति में भेद

निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म 'माया' के द्वारा अवच्छिन्न होने पर **सविशेष** या गुण हो जाता है। तब उसे **ईश्वर** कहते हैं। संसार की उत्पत्ति (सृष्टि) स्थिति,

संसार का कारण सगुण ब्रह्म

और लय का कारण यही ईश्वर है। सर्वकाम, सर्वज्ञ ईश्वर का यह सृष्टि व्यापार केवल उसका लीला-विलासमात्र है। नैयायिकों ने 'ईश्वर' को जगत् का केवल निमित्त कारण माना है, किन्तु वेदान्तियों ने 'ईश्वर' को जगत् का उपादान एवं निमित्तकारण दोनों ही माना है। उपादान

ब्रह्म और जगत् में व्यावहारिक भेद

कारण होने से एकता रहने पर भी दोनों (आत्मा-जगत्) में भोक्तृ-भोग्य भाव का समुद्र-लहरियों के समान या मिट्टी-घड़े के समान व्यावहारिक भेद भी रहता है। एवं च ब्रह्म और जगत् में वस्तुतः अभेद रहने पर भी व्यावहारिक भेद रहता ही है। अतएव आचार्य शंकर कहते हैं—

'यद्यपि भेदाऽपगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥'

एवञ्च जीव-ईश्वर की कल्पना व्यावहारिक होने से दोनों मायिक हैं। यह सब उपाधि का खेल है।

'अन्तः करणावच्छिन्न चैतन्य' को जीव कहते हैं। आचार्य शंकर के शब्दों में शरीर तथा इन्द्रियसमूह के अध्यक्ष और कर्मफलके भोक्ता आत्माको जीव कहतेहैं।

वैशेषिकदर्शनकार ने चैतन्य को आत्मा का कादाचित्क गुण माना है किन्तु वेदान्त ने आत्मा को चैतन्यरूप ही माना है। क्योंकि उपाधि के सम्पर्क से परब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त होता है। आत्मा का ब्रह्म के साथ स्वाभाविक

चैतन्य के सम्बन्ध में वैशेषिक और वेदान्तियों का मतभेद

ऐक्य है। कुछ लोग आत्मा को अणु कहते हैं। किन्तु आचार्य शंकर परब्रह्म के विभु होने से तद् व्यपदेश आत्मा का भी विभुपरिमाण मानते है। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने से कहीं-कहीं उसे सूक्ष्म के अर्थ में अणु कहा गया है। यह आत्मचैतन्य जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में तथा अन्नमय, मनोमय प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पांच में उपलब्ध होता है। किन्तु शुद्ध निर्विशेष चैतन्य

आत्मचैतन्य और शुद्ध चैतन्य की स्थिति

उक्त पांचों कोषों से परे है। यह शुद्ध निर्विशेष चैतन्य (शुद्धसत्ता) अपरिणामी रहता हुआ भी अनिर्वचनीय शक्ति के द्वारा अपने को अनेक रूपों में उद्भासित करता है। उसी को मायाशक्तिसम्पन्न सृष्टि-कर्ता ईश्वर कहते हैं। यही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर सगुण ब्रह्म है। समस्त संसार का यही ईश्वर संहारकर्ता भी है। सगुण ब्रह्म की तीन अवस्थाएँ और उनसे परे निर्गुण ब्रह्म की अवस्था समझनी चाहिये।

चैतन्य की चार अवस्थाएं

इस रीति से ब्रह्म चैतन्य की चार अवस्थाएं होती हैं:— (१) परब्रह्म (शुद्ध सत्-चित्स्वरूप), (२) ईश्वर,

(३) हिरण्यगर्भ और (४) वैश्वानर। आपाततः ये चार अवस्थाएँ क्रमिक-सी लगती हैं। तथापि ये एक साथ ही कही जा सकती हैं। क्योंकि शुद्धचैतन्य (शुद्धसत्ता) का कभी लोप नहीं होता। आचार्य शंकर का विशुद्ध अद्वैतवाद' है। इनके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय से भेद, ज्ञाता-ज्ञेय का भेद, जीव–ईश्वर का भेद—ये सब माया के खेल हैं। इनके मत से 'एक ही सत् तत्त्व' है और 'अनेकत्व' मिथ्या है। अतएव जीव-ब्रह्म की एकता को बार-बार वताया गया है।

शंकर का विशुद्ध अद्वैतवाद

प्रत्यक्ष दृश्यमान यह शरीर अन्यान्य भौतिक विषयों के समान माया की सृष्टि है, यह ज्ञात हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं, यह समझ में आ जाता है। 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ जब समझ में आ जाता है तब जीवात्मा और ब्रह्म में अभेद सम्वन्ध ज्ञात हो जाता है। अर्थात् जीवात्मा, ब्रह्म से अभिन्न है, यह ज्ञात हो जाता है। अतएव 'त्वम्' से जीव का अधिष्ठान शुद्ध-चैतन्य और 'तत्' से परोक्ष तत्त्व का अधिष्ठान भी शुद्ध-चैतन्य है। अतः दोनों में पूर्णतया अभिन्नता है, यही वेदान्त का सिद्धान्त है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यहाँ पर तत्कालिक और एतत्कालिक दो विरुद्ध विशेषणों से रहित देवदत्त आदि मनुष्य एक ही है, उसी तरह 'तत्' अर्थात् परोक्षत्व, सर्वज्ञत्व आदि उपाधियों (विशेषणों) से विशिष्ट चैतन्य (ब्रह्म) और 'त्वम्' अर्थात् अल्पज्ञत्व, अपरोक्षत्व आदि उपाधियों (विशेषणों) से विशिष्ट चैतन्य (जीव) इन दोनों के विरुद्ध अंशों को त्याग कर उभयनिष्ठ शुद्धचैतन्य का अभेद (ऐक्य) है—यही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्य समझना चाहिये। जीव और ब्रह्म आपाततः भिन्न प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः अभिन्न हैं। इस तादात्म्य का ज्ञान कराने के लिये ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश दिया जाता है।

वेदान्त का सिद्धांन्त

'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्य

अनन्त (असीम) आत्मा सीमित जीवात्मा की तरह भासित होने का कारण, शरीर के साथ उसका सम्बन्ध है, जो अविद्या का कार्य है। दृश्यमान स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर है, जो अन्तःकरण, प्राण और इन्द्रियों का समूह है। मृत्यु से स्थूल शरीर का नाश होता है, सूक्ष्म शरीर का नहीं। सूक्ष्म-शरीर आत्मा के साथ दूसरे स्थूल शरीर में चला जाता है। ये दोनों स्थूल–सूक्ष्म शरीर, माया के कार्य हैं। अनादि अविद्या के कारण आत्मा भ्रमवश अपने को ही स्थूल–सूक्ष्म शरीर समझ लेता है। इसी समझ को बन्धन कहते हैं। इस स्थिति में आत्मा अपने

असीम का ससीम के समान भान होने में हेतु

यथार्थ स्वरूप (वास्तविक स्वरूप) को भूल जाता है, और क्षणभंगुर सांसारिक विषयों के पीछे भागता फिरता है। उन विषयों की उपलब्धि होने पर अपने को सुखी और उपलब्धि न होने पर अपने को दुःखी समझता है। वह आत्मा अपने को शरीर या अन्तःकरण समझकर सोचता है कि 'मैं मोटा हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ।' इस तरह आत्मा में अहंकार (मैं हूँ) उत्पन्न होता है। यह अहम् (मैं) अपने को शेष संसार से पृथक् समझता है। इसी कारण इस 'अहम्' को शुद्ध आत्मा नहीं समझना चाहिये। उस शुद्ध आत्मा का यह एक अविद्याकृत बन्धनमात्र है। शुद्ध आत्मा तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त माना जाता है। यही उसका स्वरूप है। ऐसे शुद्ध आत्मा की उत्पत्ति जहाँ कहीं सुनाई देती है, उसका तात्पर्य शरीरादि उपाधियों की उत्पत्तियों से है। नित्य आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता।

बन्धन

आत्मस्वरूप

'आत्मस्वरूप के विषय में **विभिन्न दार्शनिकों के** विभिन्न मत हैं। निद्रित, मूर्छित, ग्रहाविष्ट पुरुषों में कुछ समय तक 'चैतन्याभाव' को देखकर प्रत्यक्ष अनुभव के पक्षपाती **वैशेषिक ने** 'चैतन्य' को आत्मा का **कादाचित्क गुण** माना है।

वैशेषिक के मत में

किन्तु **वेदान्तदर्शन** तो **आत्मा को चैतन्यरूप** ही मानता है। क्योंकि 'पर-ब्रह्म' ही उपाधि के सम्पर्क से 'जीवभाव' को प्राप्त होता है। अतः 'आत्मा' और 'ब्रह्म' का स्वाभाविक ऐक्य होने के कारण **नित्य–चैतन्य** का अनंगीकार नहीं किया जा सकता। भेद तो केवल **उपाधि** से प्रतीत होता है। जैसे–'स्थूल शरीर', 'सूक्ष्म शरीर', और 'कारण शरीर', की **व्यष्टि के अभिमानी जीब** को 'विश्व', 'तैजस', और 'प्राज्ञ' कहा जाता है। और **इन्हीं शरीरों को समष्टि के अभिमानी ईश्वर** को 'वैश्वानर' (विराट्) 'सूत्रात्मा' (हिरण्यगर्भ), और 'ईश्वर' कहा जाता है। **इसी स्थूल शरीर की समष्टि–व्यष्टि को** 'अन्नमयकोष' और 'जाग्रत अवस्था' कहते हैं। **सूक्ष्म-शरीर की समष्टि-व्यष्टि को** 'मनोमय', 'प्राणमय' 'विज्ञानमयकोष', और 'स्वप्न अवस्था' कहते हैं। **कारण शरीर की समष्टि-व्यष्टि को** 'आनन्दमयकोष', और 'सुषुप्तिअवस्था' कहते हैं। वास्तव में 'व्यष्टि' तथा 'समष्टि' के अभिमानी पुरुष आपस में **अभिन्न हैं**। किन्तु 'आत्मा' इन तीनों से परे **स्वतन्त्र सत्ता है**। **यह साक्षी आत्म-चैतन्य**, 'अहङ्कार', 'विषय' तथा 'बुद्धि' को प्रकाशित करता है और इनके अभाव में **स्वतः प्रकाशित** होता है।

वेदान्त के मत में

'जीव' और 'ईश्वर' के स्वरूप का निरूपण **वेदान्तियों** ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। कुछ लोग 'जीव'-'ईश्वर' में सामान्य रूप से रहनेवाले **चैतन्य**

जीव और ईश्वर के स्वरूप पर वेदान्तियों के भिन्न-भिन्न मत

संक्षेप शारीरककार

को **बिम्ब** मानकर उसी का **प्रतिबिम्ब** भिन्न-भिन्न 'उपाधियों' में गिरने से उन बिम्ब-प्रतिबिम्बोंको भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से कहते हैं। **बिम्ब चैतन्य** का वह 'प्रतिबिम्ब जो **माया** या **अविद्या** में गिरता है, उसे '**ईश्वर चैतन्य** कहा है और जो प्रतिबिम्ब **अन्तःकरण** में गिरता है उसे '**जीव-चैतन्य** कहा है। इस मत में जीव और ईश्वर में वही अन्तर है जो 'घट तथा 'जलाशय के जल में गिरनेवाले **सूर्य-प्रतिबिम्ब** में है। अर्थात् 'अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य को **ईश्वर** तथा बुद्धि में प्रतिबिम्ब चैतन्य को **जीव** कहा गया है। किन्तु **अज्ञानरूप** उपाधि से रहित 'विम्बचैतन्य' शुद्ध है । यह **संक्षेप शारीरककार** का मत है।

बिवरणकार प्रतिबिम्बवाद

किन्तु **विवरणकार** कहते हैं—'स्वतन्त्रतादिगुणों' से विशिष्ट होने के कारण **ईश्वर चैतन्य बिम्बस्थानापन्न** है और 'परतन्त्रतादिगुणों से विशिष्ट होने के कारण **अविद्या में चिदाभास** 'जीव' है। अर्थात् **ईश्वर बिम्बरूप** है और **जीव प्रतिबिम्ब-रूप** है। इसी को प्रतिबिम्बवाद कहते हैं।

भामतीकार का अवच्छेदवाद

भामतीकार वाचस्पति मिश्र का **अवच्छेदवाद** है। उनका कहना है कि 'प्रतिबिम्बवाद' के स्वीकार करने में यह दोष है कि 'जीवों का नाश' ही मुक्ति का अर्थ होगा। क्योंकि 'ज्ञान' के द्वारा 'अविद्या' का विनाश होने पर दर्पण के नष्ट होने से प्रतिबिम्ब के विनाश के समान 'अविद्या'-प्रतिबिम्बित जीव' भी नष्ट हो जायेंगे। अतः 'जीव' की सत्ता के सुरक्षार्थ घटाकाश का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। जैसे आकाश एक और सर्वव्यापक है, किन्तु भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण घटाकाश (घड़े के बीच का आकाश) मठाकाश आदि अनेक रूपों में भासित होता है और व्यवहारसम्पादनार्थ उसके विभाग की कल्पना कर लेते हैं। उसी तरह 'ब्रह्म' एक और सर्वव्यापक है। वही ब्रह्म 'अविद्यारूप उपाधिभेद के कारण नाना जीवों और विषयों के रूप में प्रतीत होता है। **वास्तव** में विषय-विषय में तथा जीव-जीव में कोई भेद नहीं है। क्योंकि सर्वत्र मूलभूत एक ही शुद्धचैतन्य की सत्ता स्थित हैं। नानात्व का केवल भ्रम हैं, क्योंकि उपाधिभूत माया के कारण उस अनन्त का सान्तरूप में आभास होता रहता है। प्रत्येक जीव सान्तरूप में प्रतीत होते हुए भी वास्तव में 'ब्रह्म' से अभिन्न है। अविद्या-रूप उपाधि को तोड़कर सान्तरूप को पा लेना ही मुक्ति (मोक्ष) हैं। इसी को अवच्छेदवाद कहते हैं।

कुछ वेदान्ती **आभासवाद** मानते हैं। इस मत में एक आत्मा ही सत्य है। आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं है। अतः आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्कारण है। तथापि अज्ञानरूप उपाधि से युक्त हुआ आत्मा

आभासवाद अज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त कर उसमें पड़े चिदाभास के कारण अन्तर्यामी, साक्षी, ईश्वर कहलाता है। इसे बुद्धि-उपहित तादात्म्य को प्राप्त कर बुद्धिगत 'स्वकीय चिदाभास' को न जानकर जीव कर्ता, भोक्ता, तथा प्रमाता कहा जाता है। इसे **आभासवाद** कहते हैं। इस मत के अनुसार '**जीव नाना**' हैं और ईश्वर एक है।

कुछ वेदान्ती **जीवैक्यवाद** मानते हैं। इनका कहना है कि 'अज्ञानरूप उपाधि से रहित शुद्धचैतन्य **ईश्वर** है, और अज्ञानरूप उपाधि से उपहित (युक्त) चैतन्य' **जीव** है। '**जीव**' ही अपने अज्ञान के अधीन होकर जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण बनता है। देहभेद से जीवभेद (नाना जीव) की प्रतीति केवल भ्रम है। वास्तव में **जीव** एक ही है। इस एक ही आत्मा (जीव) की गुरूपदेश से तथा शास्त्रविहित श्रवण-मननादि उपायों से मुक्ति (मोक्ष) होती है। शुक-वामदेवादि की मुक्ति का वर्णन अर्थवाद मात्र है। इस जीवैक्यवाद को ही '**दृष्टिसृष्टिवाद**' कहते हैं। उक्त प्रतिबिम्बवाद में भी कतिपय वेदान्तियों के प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं। विद्यारण्य 'प्रतिबिम्ब' को मिथ्या मानते हैं। क्योंकि इनके मत से दर्पण में अनिर्वचनीय मुखाभास की उत्पत्ति होती है उसे न छाया कह सकते हैं और न स्वतन्त्र द्रव्य ही कह सकते हैं तथा तद्गत 'तूला अविद्या' उसका उपादान कारण है। अतः आभास का ही नामान्तर प्रतिबिम्ब है, दर्पणावच्छिन्न चैतन्य अधिष्ठान है किन्तु विवरणकार प्रकाशात्मयति का कहना है कि 'प्रतिबिम्ब' का बिम्ब के साथ अभेद होने से प्रतिबिम्ब का स्वरूप सत्य है। इनके मत में मुखावच्छिन्न चैतन्य अधिष्ठान है और तद्गत 'तूला अविद्या' प्रतिबिम्ब का उपादान कारण है। आभासवाद ओर प्रतिबिम्बवाद में भेद इतना ही है कि आभासवाद में प्रतिबिम्ब अनिर्वचनीय है और उसका अधिष्ठान दर्पणादि उपाधि है, और विवरणकार के प्रतिबिम्बवाद में दर्पणस्थत्व और विपरीतदेशाभिमुखत्वादि धर्म अनिर्वचनीय हैं और उनका अधिष्ठान मुखादिक बिम्ब हैं इसलिये दोनों पक्षों में अनिर्वचनीयों का परिणामी उपादानकारण 'अज्ञान' ही है। यद्यपि प्रतिबिम्बवादी दोनों हैं तथापि प्रतिबिम्ब के मिथ्यात्व सत्यत्व के भेदमात्र से विद्यारण्यस्वामी 'आभासवादी' कहलाते हैं और प्रकाशात्मयति विवरणकार 'प्रतिबिम्बवादी' कहलाते हैं। संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्म मुनि भी प्रतिबिम्बवादी हैं। इनके मत में अज्ञान एक ही है नाना नहीं। जैसे अनेक अनित्य व्यक्तियों में एक नित्य जाति रहती है अर्थात् जो-जो व्यक्ति नष्ट होती जाती है, उस-उस व्यक्ति को छोड़कर जाति अन्य व्यक्तियों के आश्रित टिकी रहती है, वैसे ही अनेक व्यक्तियों में एक ही अज्ञान रहता है। अतः एक अज्ञान के पक्ष में एक जीव के ज्ञानी हो जाने पर सभी जीवों के ज्ञानी हो जाने की शंका नहीं की जा सकती।

(जीवैक्यवाद दृष्टि-सृष्टिवाद)

जो-जो व्यक्ति ज्ञानी होता जाता है, उस-उस को छोड़कर अन्य व्यक्तियों में अज्ञान बना रहता है। अर्थात् एक के ज्ञानी हो जाने पर सभी ज्ञानी नहीं होते।

कतिपय वेदान्तियों ने एक अज्ञान के होने पर भी उसके कार्य अनन्त माने हैं। उनका कहना है कि जैसे एक आकाश में पक्षी का भाव और अभाव दोनों रहते हैं, वैसे ही एक शुद्ध ब्रह्म में अज्ञान है और नहीं भी। अज्ञान एक होने पर भी वह सांश है। ज्ञान से उसका अंश नष्ट हो जाता है और अंशान्तर शेष रह जाता है। अतः वद्ध-मुक्त व्यवस्था बन जाती है। कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर बद्धजीवों के प्रति मायाजाल फैलाता है और मुक्तपुरुषों के प्रति उसे समेट लेता है। माया का संकोच और विकास स्वाभाविक है। वस्तुतः एक ही अखण्ड वस्तु सत् है। वद्ध-मुक्त व्यवस्था अविद्या का विलासमात्र है। विवरणकार ईश्वर को ही विम्ब मानते हैं। अतः इनके अनुसार अविद्यागत प्रतिबिम्ब जीव और विम्बचैतन्य 'ईश्वर' है। इस मत में जीव की स्वतन्त्रता और सर्वज्ञता पर कोई आँच नहीं आने पाती। जो लोग ईश्वर को प्रतिविम्ब मानते हैं, वे ईश्वर की सर्वज्ञता आदि की सुरक्षा नहीं कर पाते। क्योंकि उपाधि का प्रभाव सर्वदा प्रतिबिम्ब पर पड़ा करता है, विम्ब पर नहीं। अतः ईश्वर को प्रतिबिम्ब मानने के पक्ष में उसे नित्य निर्दुष्ट कैसे कहा जा सकेगा? अवच्छेदवादी वाचस्पति मिश्र के मत से मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है। वेदान्त-परिभाषाकार ने विवरणकार के प्रतिबिम्ववाद का ही आश्रय लिया है। क्योंकि जैसे जल में एक व्यापक रूप आकाश स्वतः रहता है और दूसरा महाकाश का प्रतिबिम्बरूप आकाश भी है, वैसे ही देहधारी प्राणियों में भी जीव और अन्तर्यामी रूप द्विगुणित चैतन्य की उपपत्ति हो सकती है। इस पक्ष में एक जीववाद को लेकर प्रतिकर्म की व्यवस्था जलसूर्यकादि दृष्टान्त से हो जाती है। एवम् इस मत में 'शब्द' से अपरोक्ष ज्ञान होता है। किन्तु वह होता है केवल अधिकारी को ही। अतएव 'दशमस्त्वमसि' आदि वाक्यों से ही भ्रान्त हुए दशम ने अपना प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) किया। दुर्योधन ने द्रौपदी के अन्धे का पुत्र अन्धा' इस वाक्य से ही उसके या पाण्डवों के अभिमान का तकाल ही साक्षात्कार किया था।

भामतीकार वाचस्पति मिश्र का कहना है कि 'गन्धस्पर्शरसादीनां कीदृशी प्रतिबिम्बता' के अनुसार नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्बत होना संभव नहीं। अतः घटाकाश के दृष्टान्त से अवच्छेदवाद ही उचित है।

यद्यपि ग्रीवा-स्थित मुख और दर्पणगत मुख में भिन्नता दीखती है, जैसे बिम्बभूत मुख पूर्वाभिमुख हो तो दर्पणगत पश्चिमाभिमुख दीख पड़ता है। तथापि दर्पणगत मुख के लिये यह मेरा ही मुख है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः उसमें भेद-प्रत्यक्ष को भ्रम मानना उचित है। क्योंकि दर्पण में बिम्ब से

अतिरिक्त मुख की उत्पत्ति का कोई साधन नहीं है। दर्पणादि उपाधि के अवयवों का वैसा परिणाम होना संभव नहीं। प्रथम तो प्रतिबिम्ब में दीखता हुआ निम्नोन्नत भाव दर्पण का स्पर्श करने से नहीं मालूम होता है, और बिम्ब की अपेक्षा उपाधि के तारतम्य के अनुसार छोटे या बड़े प्रतिबिम्ब दीख पड़ने से बिम्ब की मुहर भी प्रतिबिम्ब को नहीं कह सकते। मुहर की छाप में न्यूनाधिक परिणाम नहीं आ सकता। और बिम्ब से दर्पणादि उपाधि का मुहर की तरह अत्यन्त व्यवधानशून्य संयोग न होने पर भी प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। मुहर की छाप छिद्रशून्य संयोग के बिना नहीं हो सकती। किञ्च बिम्बसन्निधान के हटते ही प्रतिबिम्ब भी नहीं रह जाता। अतः प्रतिबिम्ब को

प्रतिबिम्बवाद का उपपादन

बिम्ब से अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु शुक्तिरजत की तरह उसे मिथ्या भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतीयमान वस्तु का मिथ्यात्व, बाध के पश्चात् ही सिद्ध होता है। शुक्तिरजत स्थल में तो 'यह रजत नहीं है' ऐसा बाध होता है। प्रकृत में 'यह मेरा मुख नहीं है' ऐसा बाध नहीं होता, किन्तु दर्पण में मेरा मुख नहीं है' इस प्रकार देशविशेष के संबन्ध का ही बाध होता है। अतः जीव और ब्रह्म के वास्तविक ऐक्य का होना असङ्गत नहीं है। अमूर्त आकाश का भी प्रतिबिम्ब दीखता है। अतः नीरूप होने पर भी आत्मा का प्रतिबिम्ब हो सकता है। ग्रीवास्थ मुख का दर्पण में दीख पड़ना स्वप्न में अपने शिरश्छेद के दीखने के तुल्य मायामय होने से असंभव नहीं है। जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य होते हुए भी जैसे देवदत्त आदि द्रष्टा प्रतिबिम्बगत मलिनतादि दोषों के सद्भाव का अपने बिम्बभूत मुख में अनुभव नहीं करता, वैसे ही जीवगत भ्रम आदि दोषों का अनुभव या संसर्ग ब्रह्म में नहीं हो सकता। उपाधि का स्वभाव प्रतिबिम्ब में ही दोषों का संसर्ग कर सकता है, बिम्ब में नहीं। इस उपाधि के विनाश से शुद्ध (बिम्ब-प्रतिबिम्बभावरहित) ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य से सिद्ध जीव ब्रह्मैक्य की सिद्धि हो जाती है। प्रतिबिम्बवाद का समर्थन 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि श्रुति तथा 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल-चन्द्रवत्' इत्यादि स्मृति एवं 'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' इत्यादि सूत्ररूप प्रमाणों से होता है। प्रतिबिम्बवाद के आगमप्रमाण द्वारा सिद्ध होने से 'नीरूप का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता' इत्यादि प्रत्यक्षादि विरोध बाधित हो जाते हैं, क्योंकि श्रुत्यादिरूप आगमप्रमाण सबसे प्रबल माना जाता है। आकाशादि दृष्टान्त का तात्पर्य तो केवल ब्रह्म की असंगता का बोधन करने के लिये है। प्रतिबिम्बवाद का खण्डन करके अवच्छेदवाद के समर्थन में नहीं है। यद्यपि सोपाधिक भ्रमस्थल में उपाधिरूप दोष की निवृत्ति से ही भ्रम की निवृत्ति देखी गई है, अधिष्ठान के ज्ञान से नहीं। अतः जीव और ब्रह्म के भेद की

निवृत्ति भी अधिष्ठानभूत ब्रह्म साक्षात्कार से मानना संगत न होगा। यह आशंका करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृत में अहंकाररूप उपाधि, जिसके कारण कर्तृत्व आदि धर्मविशिष्ट जीव की कल्पना होती है वह अधिष्ठान तत्त्वसाक्षात्कार से ही निवृत्त होने योग्य है, क्योंकि अहंकार मूल-अविद्या का कार्य होने से निरुपाधिक भ्रम ही है। इसलिये अहंकारोपाधिक कर्तृत्व आदि सोपाधिकभ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान तत्त्वस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार से अवश्य हो सकती है।

वस्तुतः प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद दोनों कल्पनामात्र है। आत्मा की वास्तविक असंगता घटाकाशादि दृष्टान्त से अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसलिये अवच्छेदवाद की कल्पना की गई है। और अल्पज्ञत्व, सर्वज्ञत्व, सांसारिकत्व, मुक्तत्वादि व्यवस्था प्रतिबिम्व पक्ष में सुगम होती है, इसलिये प्रतिबिम्बवाद की कल्पना की गई है।

साधन चतुष्टय सम्पत्ति की आवश्यकता तथा अध्यारोप और अपवाद का निरूपण

जीव ब्रह्मैक्यज्ञान की प्राप्ति के लिये साधन चतुष्टय-सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि साधन-चतुष्टय-सम्पन्न हुआ व्यक्ति ही वेदान्त श्रवण का अधिकारी है। वह अधिकारी व्यक्ति जब किसी शान्त, दान्त अहैतुककृपाकारी, ब्रह्मज्ञानी गुरु की शरण में जाता है और आत्मविषयक प्रश्न करता है, तब वे गुरु 'अध्यारोप और अपवाद' विधि से ब्रह्म का उपदेश करते हैं। निष्प्रपञ्च ब्रह्म में जगत् का आरोप करना अध्यारोप है। और आरोपित वस्तु का एक-एक करके निराकरण करना अपवाद है। आत्मा पर प्रथमतः शरीर का आरोप कर दिया जाता है। पश्चात् युक्तिपूर्वक आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंचकोशों से अतिरिक्त अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म कारण शरीरों से पृथक् सिद्ध करता है। इस रीति से आत्मस्वरूप का ज्ञान गुरु कराता है। गुरु अपने शिष्य को 'तत् त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा बताता है कि तुम (जीव) वही (ब्रह्म) हो। इस वाक्य से सोपाधिक अर्थात् क्लेशकर्मादिकों से बद्ध जीव की निरुपाधिक अर्थात् शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म के साथ एकता बताई जाती है। परन्तु यहाँ यह जिज्ञासा पैदा होती है कि ब्रह्म और जीव दोनों विरुद्धधर्मों के आधार हैं, अतः उनमें एकता कैसे हो सकती है। उसका समाधान वेदान्तिगण करते हैं कि अविद्या वृत्ति के द्वारा उक्त वाक्य का यथार्थ बोध नहीं हो सकता। अतः अगत्या तात्पर्य की अनुपपत्ति होने से लक्षणा करनी पड़ती है, जिससे यथार्थ बोध होता है।

लक्षणा भी तीन प्रकार की होतीं है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, और जहदजहल्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा)। उक्त वाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पद अपने अर्थ 'चैतन्य' का त्याग नहीं करते। अतः इस जहल्लक्षणा के द्वारा

'अभेद' अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। अजहल्लक्षणा के द्वारा 'अभेद' अर्थ इसलिये सिद्ध नहीं हो सकता कि इस लक्षणा में मुख्यार्थ का त्याग नहीं किया जाता। अतः मुख्यार्थ का त्याग न करने पर 'अभेद' अर्थ सिद्ध नहीं होगा। इसलिये तीसरे प्रकार की लक्षणा यहाँ की जाती है। यहाँ 'तत्' का अर्थ परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य है, और 'त्वम्' का अर्थ अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य है। यहां चैतन्यांश में विरोध नहीं है। केवल परोक्षत्व और अपरोक्षत्व इन अंशों में ही परस्पर विरोध है। अतः इन विरुद्ध अंशों का परित्याग कर अखण्ड चैतन्यांश का परिग्रह कर लिया जाता है। इस कारण इस लक्षणा को जहत्-अजहत्-लक्षणा कहते हैं तथा एक ही भाग (अंश) के ग्रहण या त्याग करने के कारण भाववृत्ति या भाग-त्याग लक्षणा भी कहते हैं।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य के मत से तीन सम्बन्धों की सहायता से यह महावाक्य अखण्डार्थ का बोध कराता है। (१) पदों का सामानाधिकरण्य, (२) पदार्थों का विशेषण-विशेष्यभाव, (३) आत्मा और ब्रह्म का लक्ष्य-लक्षण भाव।

किन्तु **वेदान्त परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने बिना लक्षणा के ही 'तत्त्व-मसि' महावाक्य से अखण्डार्थ का बोध माना है। उनका कहना है कि 'तत्त्व-मसि' महावाक्य में विशिष्टवाचक पदों को एकदेशपरत्व रहने पर भी लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शक्तिवृत्ति से उपस्थित हुए विशिष्टों का जब अभेदान्वय (अभेद) नहीं बन सकेगा तो शक्तिवृत्ति से ही उपस्थित हुए विशेष्य भागों में अभेदान्वयबोध का स्वयं पर्यवसान होगा, जैसे—'घटोऽनित्यः'

परिभाषाकार के मत में लक्षणा के बिना ही महावाक्यार्थ का बोध

इस स्थल में घटपद के वाच्य का एक देश जो घटत्व, वह अनित्य पदार्थ के साथ अन्वित होने के योग्य न होने पर भी अन्वय के योग्य जो घटव्यक्ति, उसके साथ 'अनित्यत्व' का अन्वय स्वयं हो जाता है। अतः लक्षणा की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। पदार्थ के एक देश की विशेषण रूप से स्वातंत्र्येण उपस्थिति कराने के लिये लक्षणा की आवश्यकता होती है। जैसे 'घटो नित्यः' में केवल घट पद से शक्तिवृत्ति द्वारा स्वतन्त्र रूप से 'घटत्व' धर्म की उपस्थिति न होने से उसे उपस्थित कराने के लिए 'घट' पद की 'घटत्व' में लक्षणा करनी पड़ती है। एवंच 'तत्त्वमसि' महावाक्य में शक्ति-वृत्ति से स्वातन्त्र्येण उपस्थित हुए तत्त्व पदार्थों के अभेदान्वय बोधन में कोई अड़चन नहीं है।

'तत् त्वम्' पदार्थ का अभेदज्ञान होने पर, जीव-ब्रह्म की भेदबुद्धि से पैदा हुए सम्पूर्ण क्लेशों की निवृत्ति ही नहीं, अपितु 'आनन्दरूपमोक्ष' की प्राप्ति होती है। एवंच 'सत्, चित्, आनन्दरूप ब्रह्म' की अनुभूति होती है। मुक्तात्मा

महावाक्यार्थ के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति तथा मुक्त की चर्या

पुरुष को किसी प्रकार की आकांक्षा न रहने पर भी वह लोक-कल्याणार्थ अनासक्त भाव से कर्म करता रहता है। क्योंकि आसक्तिपूर्वक किया हुआ कर्म ही 'वन्धन' का हेतु होता है। पूर्ण ज्ञानी एवं पूर्ण आनन्द को प्राप्त किया हुआ व्यक्ति आसक्ति से रहित हो जाता है। उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। वह लाभ, हानि, हर्ष, विषाद से प्रभावित नहीं होता। किन्तु जिसे पूर्णज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई हो उसे आत्म-शुद्धि के लिये निष्काम कर्म का अनुष्ठान अत्यावश्यक है। अहङ्कार और स्वार्थ के बन्धन से मुक्त होने के लिये निष्काम कर्म करना आवश्यक है, न कि निष्क्रियता। जीव ब्रह्मैक्य साक्षात्कार के होने से मोक्ष हो जाने पर भी शरीर रह सकता है, क्योंकि वह प्रारब्धकर्मों का फल है। संसाररूप मिथ्या प्रपञ्च उसके सामने रहने पर भी वह उससे ठगा नहीं जाता। सांसारिक विषयों में उसे तृष्णा नहीं रहती। अतएव उसे कोई दुःख नहीं होता। वह अपने को शरीररूप नहीं समझता। वह संसार में रहते हुए भी उससे बाहर है। ऐसे व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं। अर्थात् जीवित अवस्था में ही वह मुक्ति पा जाता है। स्वर्ग की तरह यह मुक्ति अज्ञात तथा भविष्य की कोई अलौकिक वस्तु नहीं है। शास्त्र में निष्ठा रखकर साधक को आगे बढ़ना पड़ता है, उसके विश्वास का फल उसे इसी जीवन में मिल जाता है।

ये कर्म भी तीन प्रकार के होते हैं (१) सञ्चित (पूर्वकाल के वे कर्म जो जमा हैं) (२) प्रारब्ध (पूर्वकाल के वे कर्म जिनका फलभोग हो रहा है) (३) क्रियमाण या सञ्चीयमान (वे नये कर्म जो इस जीवन में जमा हो रहे हैं)।

तत्त्वज्ञान से सञ्चित-क्रियमाण कर्मों का विनाश किन्तु प्रारब्धकर्म का भोग से ही विनाश और विदेह मुक्ति

तत्त्वज्ञान से अनारब्ध फलक का सञ्चित तथा अनारब्धफलक क्रियमाणकर्म का विनाश हो जाता है और पुनर्जन्म के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है परन्तु प्रारब्ध कर्म का निवारण नहीं किया जा सकता। उसका फलभोग करने के लिये यह शरीर (जो प्रारब्ध का फल है) विद्यमान रहता है। जब प्रारब्धफलभोग के द्वारा प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाता है तब शरीर का भी अन्त हो जाता है। जैसे कुलाल चक्र, दण्ड के हटा लेने पर भी कुछ देर तक घूमता रहता है और घूमते घूमते वेग शान्त होने पर अपने आप रुक जाता है, उसी तरह प्रारब्धकर्म का भोग के द्वारा विनाश हो जाने पर स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है तब विदेह मुक्ति कही जाती है।

वस्तुतः मुक्ति न तो उत्पन्न होती है और न पहले से अप्राप्त है। वह तो प्राप्त ही की प्राप्ति है। बन्धन की अवस्था में जो सत्त्य, अज्ञात रूप से विद्यमान

रहता है, उसका साक्षात् अनुभव ही मुक्ति है। जैसे कण्ठस्थित मुक्ताहार को विस्मरणवश इधर उधर ढूँढ़ते फिरते हैं अन्त में अपनी ओर देखनेपर वह हार मिल जाता है उसी तरह मुमुक्षु को मोक्षप्राप्ति के लिए इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है, केवल अपने को समझने की आवश्यकता है। बन्धन अज्ञातकृत है। उस अज्ञान रूप आवरण को दूर कर देना ही मुक्ति है।

वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ का स्वरूप परिचय

प्रस्तुत वेदान्तपरिभाषा नामक प्रकरण ग्रंथ में आठ परिच्छेद हैं। उनमें से छः परिच्छेदों में छः प्रमाणों का तथा सप्तम परिच्छेद में जीव-ब्रह्मैक्यरूप प्रमेय का और अष्टम परिच्छेद में सपरिकर मोक्ष का निरूपण किया गया है।

विवरण और भामती प्रस्थान में भेद

वेदान्त-शास्त्र में मुख्यतया विवरण प्रस्थान और भामती प्रस्थान प्रसिद्ध हैं। ये दोनों प्रस्थान व्याख्या उपव्याख्याओं से अच्छी तरह सुसमृद्ध हैं। दोनों का लक्ष्य अद्वैततत्त्व का निर्धारण करना ही है। तथापि उस अद्वैततत्त्व के निर्धारण में उपायभूत प्रसिद्ध व्यावहारिक प्रमेयों में कहीं-कहीं ऐकमत्य परिलक्षित नहीं होता है।

विवरणकार के मत से	भामतीकार के मत से
१. ब्रह्म-विचार श्रवण विधि प्रयुक्त है।	ब्रह्म-विचार अध्ययन-विधि प्रयुक्त है।
२. कर्म, विद्यार्थ है।	कर्म, विविदिषार्थ है।
३. मन, इन्द्रिय नहीं है।	मन, इन्द्रिय है।
४. श्रवण-मनन-निदिध्यासन में श्रवण विधेय और मनन-निदिध्यासन उसके अंग हैं।	श्रवण, विधेय नहीं है और श्रवण-मनन, निदिध्यासन के अङ्ग हैं।
५. जीव, प्रतिबिम्बरूप है।	जीव, अन्तःकरणावच्छिन्न है।
६. शुद्ध चैतन्य में अज्ञानाश्रयता है।	जीव में अज्ञानाश्रयता है।
७. अज्ञान, एक है।	अज्ञान, अनेक है।
८. शुद्ध ब्रह्म, वृत्ति का विषय है।	उपहित ब्रह्म, वृत्ति का विषय है।
९. अध्ययन-विधि का प्रयोजन अक्षर-ग्रहण है।	अध्ययन-विधि का प्रयोजन अर्थ-ज्ञान है।
१०. भौतिक पदार्थ पञ्चीकृत हैं।	भूतों को त्रिवृत्कृत बताया है।
११. सादृश्य, अध्यास के कारण नहीं है।	सादृश्य, अध्यास में कारण है।
१२. शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है।	शब्द से अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है।
१३. स्वाप्नप्रपञ्च अविद्या का परिणाम है।	स्वाप्नप्रपञ्च, मन का परिणाम है।

इसके अतिरिक्त और भी कितने ही स्थलों पर वैमत्य है। किन्तु इस वैमत्य से अद्वैत सिद्धान्त की कोई हानि नहीं है। सभी प्रस्थानों का उपेय तो एक ही है। उपाय मात्र भिन्न-भिन्न हैं। इसी अभिप्राय से वार्तिककार ने कहा है—

"यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा चानवस्थिता ॥"

यह वेदान्त-परिभाषा नामक प्रकरणग्रन्थ विवरणप्रस्थान को आधार मानकर रचा गया है। कहीं-कहीं भामतीकार के मत को भी प्रदर्शित किया है किन्तु उधर ग्रन्थकार का झुकाव नहीं है। क्योंकि 'मन की अनिन्द्रियता', 'ज्ञान का प्रत्यक्षत्व' 'शाब्दापरोक्षत्व', 'जीवप्रतिबिम्बत्व', 'श्रवणविधेयत्व', आदि का विशेष रूप से समर्थन करना ही विवरणानुयायित्व को प्रकट कर रहा है। परन्तु कहीं-कहीं विवरणमत से वैमत्य भी दिखलाई पड़ता है।

वेदान्तपरिभाषाकार की विवरणानुगामिता तथा क्वचित्-क्वचित् अननुगामिता

विवरणकार	परिभाषाकार
१. अनधिगतार्थविषयकबोध ही 'प्रमा' है।	अनधिगत-अबाधित अर्थविषयक ज्ञान ही 'प्रमा' है।
२. स्मृति, प्रमारूप नहीं है।	स्मृति, प्रमारूप है।
३. अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्य ही 'जीव' है।	अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य 'जीव' है।
४. अन्तःकरण दो प्रकार का है।	अन्तःकरण चार प्रकार का है।
५. सादृश्य, अध्यास के होने में कारण नहीं है।	सादृश्य, अध्यास के कारण है।
६. प्रातिभासिक अध्यासों की अवस्था, अज्ञान का कार्य है।	प्रातिभासिक अध्यास, तूलाज्ञान का कार्य है।
७. स्फटिकगतलौहित्य, अनिर्वचनीय है।	स्फटिकगत लौहित्य सत्य है।
८. व्याप्तिज्ञान, अनुमिति के प्रति कारण नहीं है।	व्याप्तिज्ञान, अनुमिति के प्रति कारण है।
९. शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान हेतु नहीं है।	तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध में हेतु है।
१०. अभावज्ञान की अप्रत्यक्षता।	अभावज्ञान की प्रत्यक्षता।

इस ग्रन्थ की प्रमाण-प्रमेय प्रतिपादन की शैली अपने ढंग की अनोखी है। इस स्वल्पकाय ग्रन्थ में सभी आवश्यक विषयों को बताया गया है। उनमें भी कतिपय विशिष्ट विषय—जैसे 'मन का' अनिन्द्रियत्व। 'वह्निमान् पर्वतः' में पर्वतांश की प्रत्यक्षत्वव्यवस्था। ज्ञानगतप्रत्यक्ष और विषयगतप्रत्यक्ष के भिन्न-भिन्न प्रयोजक। शब्द से भी प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति। जातिशक्तिवाद। अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि का पृथक् प्रमाणत्व। स्वतः प्रामाण्यवाद। महावाक्य में लक्षणा का खण्डन। एक अविद्यापक्ष का स्वीकार आदि विशिष्ट विषयों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है।

आचार्य शंकर के अद्वैत सिद्धान्तों को हृदयंगम करने में यह 'वेदान्त-परिभाषा' नामक प्रकरणग्रन्थ नितान्त उपकारक है। आचार्य शंकर के अद्वैत-सिद्धान्त से भारतीयजीवन अत्यधिक प्रभावित है। जड-चेतन पदार्थों को, मनुष्यों तथा देवताओं को उस परमपुरुष का अंग माना गया है। उसी परमपुरुष को सत्-चित्-आनंद-ब्रह्म बताया गया है। सत्-चित्-आनन्द-ब्रह्म ये सभी शब्द एकार्थक हैं। इस सत् से ही संसार की उत्पत्ति हुई है, उसी पर यह संसार आश्रित है तथा प्रलय होने पर इसी में विलीन हो जाता है। संसार का नानात्व असत्य है और उसकी एकता ही एकमात्र सत्य है।[1] अर्थात् संसार में एक ही सत्ता है। आत्मा या ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, वह अनन्त ज्ञान तथा अनन्त आनन्द है। उसके अन्तर्गत कोई दूसरी सत्ता नहीं है। ब्रह्म ही एकमात्र विशुद्ध सत्ता है। तथापि अविद्या के कारण उसमें अनेक की प्रतीति होती है। अर्थात् अविद्या के कारण ब्रह्म का सत्य स्वरूप न जानकर हम उसे नानारूप में देखते हैं। यदि अज्ञान न होता तो हमें ब्रह्म की अनेकरूपता का भ्रम न होता। माया; अविद्या, अज्ञान वास्तव में एक ही हैं। दृष्टिभेद से यह भिन्न सी लगती हैं। माया (अज्ञान) और ब्रह्म दो शब्दों का प्रयोग करने पर भी विशुद्ध अद्वैत के प्रतिपादन में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो पाती। क्योंकि माया को उस परमेश्वर ब्रह्म की ही एक शक्ति कहा है। आचार्य शंकर ने अद्वैत को हृदयंगम कराने के लिये दो दृष्टियाँ बताई हैं—एक व्यावहारिक-दृष्टि और दूसरी पारमार्थिक-दृष्टि। पहिली दृष्टि साधारण मनुष्यों के लिये है जो संसार को सत्य मानते हैं; हमारा व्यावहारिक जीवन इसीपर निर्भर है। इस दृष्टि के अनुसार आचार्य शंकर ब्रह्म को सगुण या ईश्वर कहते हैं। दूसरी दृष्टि ज्ञानियों की है, जो संसार को मायिक और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है, ऐसा समझते हैं। इस दृष्टि के अनुसार ब्रह्म निर्गुण है। इस दृष्टि के अनुसार आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता। यह पारमार्थिक दृष्टि अविद्या के दूर होने पर ही संभव है। अविद्या का नाश वेदान्त के ज्ञान से ही होता है। इस अज्ञान के कारण ही यह जीव अपने को ब्रह्म से पृथक् समझता है। मिथ्याज्ञान (अज्ञान) के दूर होने पर उसके दुःखों का भी अन्त हो जाता है। जिस तरह ब्रह्म आनन्दमय है उसी तरह आत्मा भी आनन्दमय हो जाती है। इति शम्।

आचार्य शंकर के अद्वैतसिद्धान्त का समर्थन

—गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

---

१. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन।'

विषय-विन्यास

प्रत्यक्ष-परिच्छेदः

विषय	पृष्ठ

अनुमान-परिच्छेदः

उपमान-परिच्छेदः

आगम-परिच्छेदः

विषय **पृष्ठ**

विषय	पृष्ठ

प्रयोजन-परिच्छेदः

विषय | पृष्ठ

—: o :—

॥ श्रीः ॥

वेदान्तपरिभाषा

'प्रकाश'-हिन्दीव्याख्योपेता

प्रत्यक्षपरिच्छेदः

(मङ्गलाचरणम्)

यदविद्याविलासेन भूत-भौतिक-सृष्टयः ।
तं नौमि परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम्[1] ॥ १ ॥

अन्वयः—यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः (भवन्ति) तं सच्चिदानन्दविग्रहं परमात्मानं नौमि ।

अर्थ—जिसके अविद्यापरिणाम से आकाशादि भूत और उनके समस्त स्थूल सूक्ष्म विकार (चराचर शरीर) उत्पन्न होते हैं, उस सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ ।

विवरण—'वेदान्तपरिभाषा' वेदान्तशास्त्र का प्रकरण[2] ग्रन्थ है । धर्मराजाध्वरीन्द्र, इसके रचयिता हैं । ग्रन्थ के आरम्भ में प्रथम श्लोक के द्वारा ग्रन्थकार ने—परमात्मा को नमस्कार रूप—मङ्गलाचरण किया है । आरम्भ किये हुए कार्य की निर्विघ्नतया समाप्ति के लिए आस्तिक जन मङ्गलाचरण किया करते हैं—यह एक शिष्टाचार है । वेदज्ञान-पूर्वक वेदोक्त धर्म का अनुष्ठान करने वालों को शिष्ट कहते हैं, इसलिए शिष्ट लोग धर्म-बुद्धि से जिसे कहते हों वह आचार वेदमूलक कहलाता है । अतः कार्य के आरम्भ में मङ्गलाचरण करने का शिष्टाचार भी वेदमूलक है । आस्तिक ग्रन्थकार ग्रन्थ के आरम्भ में 'अपना ग्रन्थ निर्विघ्नतया समाप्त हो, गुरुशिष्यों के अध्ययनाध्यापन द्वारा उसका सम्प्रदाय दीर्घकाल तक चलता रहे' इस आशय से मङ्गलाचरण किया करते हैं । प्रकृत ग्रन्थकार ने भी इसी आशय से पद्यमय मङ्गलाचरण करके, विद्वानों की अपने ग्रन्थ के अवलोकन में प्रवृत्ति कराने के लिए उस मङ्गलाचरण द्वारा विषय और प्रयोजन रूप दो अनुबन्धों को भी प्रदर्शित किया है । 'तं परम् आत्मानं नौमि' उस पर—आत्मा को मैं

---

१. लक्षणम्—इति पाठान्तरम् ।

२. शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ॥ (वि० ध० पु०)

नमस्कार करता हूँ। उपर्युक्त श्लोक में यह मुख्य वाक्य है। अवशिष्ट पदों में से 'यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः' ये पद परमात्मा का तटस्थलक्षण[1] सूचित करते हैं और 'सच्चिदानन्दविग्रहम्' यह पद स्वरूपलक्षण[2] को बता रहा है। 'यदविद्याविलासेन' जिस परमात्मा की शक्तिभूत माया के परिणाम से आकाशादि-भूत और उन भूतों के शरीरेन्द्रियादि कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं (जो परमात्मा भूतभौतिक कार्यों के उत्पत्त्यादिकों का विवर्तोपादान[3] है) उस परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ।

इसी तरह सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ। 'सत्, चित् और आनन्द' इन तीन पदों से शून्यवादी बौद्ध, प्रधानकारणवादी सांख्य और परमाणुकारणवादी वैशेषिकों के मत का निरसन किया गया है।

जगत्कारण ब्रह्म, 'सत्' है, क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छां० उ० ६-१) यह सब जगत्, उत्पत्ति से पूर्व 'सत्' ब्रह्मरूप था, ऐसी श्रुति है। उसी तरह 'कथमसतः सज्जायेत' असत् से (शून्य से) सद्रूप जगत् कैसे उत्पन्न होगा? (छां० उ० ६-२), शून्यवाद का निषेध करनेवाली यह साक्षात् श्रुति है। इसके अतिरिक्त बौद्ध भी जगत् को अलीक रूप से स्वीकार करते हैं। किन्तु कोई भ्रम, बिना अधिष्ठान के नहीं होता। इसलिये 'जगत्कारण-शून्य' है यह कथन युक्तिरहित है।

'सन्मूलाः सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः' यह सब कार्य (सृष्टि) 'सन्मूल' है—'सत्' ही सब प्रजाओं का मूल है। (छां० उ० ६-८) इत्यादि अन्यान्य अनेक श्रुतियाँ, शून्यवाद के विरोध में हैं।

'अचेतन' (जड) जगत् का कारण जड 'प्रधान' और जड 'परमाणु' हैं, ऐसा क्रमशः सांख्य और वैशेषिक कहते हैं। परन्तु 'तदैक्षत' (छां० ४-२६) 'सोऽकामयत' (तै० ११६) 'आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० १६२) इत्यादि श्रुतियों से जगत्कारण, विज्ञान और आनन्द रूप है—यह निश्चय होता है, इस प्रकार प्रधानकारणवादी और परमाणुकारणवादी सांख्य तथा वैशेषिकों का निरसन हो जाता है। 'परमात्मानम्' इन पदों में से 'आत्मानम्' पद से परमेश्वर के तटस्थत्व (तटस्थता) का निरसन किया है। तटस्थ का अर्थ है आत्मा से पृथक्। परमेश्वर आत्मा से पृथक् नहीं है किन्तु वह, आत्मा ही है। इस बात को 'आत्मानम्' पद से सूचित करके 'परम्' विशेषण से देह, प्राण, मन, बुद्धि और सुषुप्ति के अन्नमय प्रभृति पांच कोशों से पृथक् 'अन्तर्यामी आत्मा' है—यह अर्थ अभिव्यक्त किया गया है। 'अन्तर्यामी' यह 'परमात्मा' पद का वाच्यार्थ है, और पर (माया-सम्बन्धरहित = माया से विलक्षण)

---

१. यावल्लक्ष्यकालमनवस्थायित्वे सति यद् व्यावर्तकं तत् तटस्थलक्षणम्।
—(न्या० को०)

२. स्वरूपान्तर्गतत्वे सति व्यावर्तकं यत्, तत् स्वरूपलक्षणम्।—(सर्वद० सं०)

३. ब्रह्मणो विवर्तोपादानत्वात् मायायाश्च परिणाम्युपादानत्वाद् ब्रह्मकारणवादः सूचितो भवति।

'आत्मा' ब्रह्म (शुद्ध चित्) यह लक्ष्यार्थ है। अर्थात् ग्रन्थकार ने पर और अपर दोनों प्रकार की आत्माओं का वन्दन किया है, और उसी के द्वारा जीव और ब्रह्म का संदिग्ध (जो प्रत्यक्ष या अनुमान से अज्ञात है) ऐक्य, इस ग्रन्थ का विषय है, और अज्ञान-निवृत्ति या आनन्दावाप्ति, प्रयोजन है—यह सूचित किया है।

इस प्रकार प्रथम श्लोक में परापर ब्रह्मरूप इष्ट देवता को वन्दन कर 'गुरुप्रसादात् परमार्थलाभः' इत्यादि वचन से 'गुरुप्रसाद', ब्रह्मविद्या प्राप्ति में अन्तरङ्ग साधन है—यह प्रतीत होता है। अतः ग्रन्थारंभ में गुरु की पूजा अवश्य की जानी चाहिए। इस आशय से प्रथमतः परम गुरु को ग्रन्थकार प्रणाम करते हैं।

(मंगलाचरणम्)

यदन्तेवासि-पञ्चास्यैर्निरस्ता भेदिवारणाः।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्रं परमं गुरुम् ॥ २ ॥

अन्वयः—यदन्तेवासिपञ्चास्यैः भेदिवारणाः निरस्ताः तं यतीन्द्रं नृसिंहाख्यं परमं गुरुं प्रणौमि।

अर्थ—जिनके शिष्यरूपी सिंहों ने भेदवादी गजों का निवारण किया है, उन यति-श्रेष्ठ नृसिंह नामक परम गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ।

विवरण—जिसे प्रणाम किया जाय उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करनी चाहिए। इस-लिये ग्रन्थकार अपने परम गुरु-चरणों का द्वैतनिरसपूर्वक अद्वैत प्रस्थापन रूप कार्य, इस श्लोक में कैमुतिक-न्याय[1] से अभिव्यक्त करते हैं। अन्तेवासी का अर्थ है—जिनका गुरु के समीप रहने का शील है, अर्थात् शिष्य। जिनके अन्तेवासिरूप सिंहों ने, भेद-वादिरूप गजों का निरसन किया, उन परम गुरुचरणों को मैं प्रणाम करता हूँ। यति का अर्थ है यत्नशील परमहंस परिव्राजक, उनमें श्रेष्ठ ऐसे नृसिंह' नाम के परम गुरु (गुरु के गुरु) को मैं शरीर, वाणी और मन के प्रणिधान (नम्रता व एकाग्रता) से प्रणाम करता हूँ।

जिन परम गुरु के शिष्यों ने ही द्वैतवाद का खण्डन किया उन गुरु की योग्यता का वर्णन क्या किया जाय! व्यवहार में भी गुरु की योग्यता, शिष्यों से अभिव्यक्त हुआ करती है। अतः ग्रन्थकार के लिए परम गुरु सर्वथा वन्द्य हैं।

इस श्लोक में 'अन्तेवासिपञ्चास्यैः' बहुवचन का प्रयोग किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के परम गुरु के अनेक विद्वान् शिष्य थे। तथापि इस शब्द का प्रयोग अपने विद्यागुरु के ही उद्देश्य से किया है, क्योंकि अग्रिम श्लोक में विद्यागुरु का

१. कैमुतिकन्याये हि अन्यार्थे तात्पर्यं पर्यवसीयते, स्वार्थे निषेधश्च भवति। यथा 'दोषा वाच्या गुरोरपि' इत्यत्र गुरोस्तु दोषा नैव वाच्याः छात्रत्वभङ्गापत्तेः। अन्येषां तु सर्वेषामपि वाच्या इत्यर्थः।

'जगद्गुरून्' ऐसा बहुवचन से उल्लेख किया है। इससे बहुवचन यहाँ आदरार्थ है—ऐसा व्यक्त होता है। अपने विद्यागुरु को 'पञ्चास्य' कहकर ग्रन्थकार ने अपना अधिकार भी व्यक्त किया है।

वैदिक सम्प्रदाय में वंश दो प्रकार से माना जाता है, एक विद्या द्वारा और दूसरा जन्म द्वारा (एक शिष्य, प्रशिष्य, प्रप्रशिष्य और दूसरा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इत्यादि)।

ग्रन्थकार के परम गुरु नृसिंह, उनके शिष्य सिंह और उनके ही विद्यावंश में पैदा हुआ मैं भी सिंह ही हूँ। इसलिये द्वैतवाद का निरसन करने में मैं समर्थ हूँ—यह बात ग्रन्थकार ने यहाँ ध्वनित की है।

'भेदिवारणाः' जीव और ईश्वर में भेद, जड और ईश्वर में भेद, जीवों का परस्पर भेद, जड और जीव में भेद, और जडों का परस्पर भेद—पाँच प्रकार के इस भेद को जो लोग सत्य मानते हैं वे भेदी (द्वैतवादी) हैं, उन्हें गज का रूपक देकर अभेदवादी सिंह से वे भेदवादी निरस्त हैं। अर्थात् अभेदवादियों ने उनके भेदवाद का निरसन किया है। यहाँ दृष्टान्त के अनुसार 'निरसन' शब्द से 'नाश' अर्थ विवक्षित न होकर लक्षणा से 'उनके मत का असारत्व व्यक्त करके उनसे अद्वैत सिद्धान्त का ग्रहण करवाया' इतना ही अर्थ समझना चाहिए।

इस प्रकार ग्रन्थकार, परमगुरु को प्रणाम करके अग्रिम श्लोक में प्रत्यक्ष विद्यागुरु को वन्दन करते हैं।[1]

(मङ्गलाचरणम्)

श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् वेलाङ्गुडिनिवासिनः।
जगद्गुरूनहं वन्दे सर्वतन्त्रप्रवर्त्तकान्॥ ३॥

अन्वय—अहं सर्वतन्त्रप्रवर्त्तकान् वेलाङ्गुडिनिवासिनः श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् जगद्गुरून् वन्दे।

अर्थ—वेलाङ्गुडि ग्राम में रहनेवाले, समस्त शास्त्रों का अध्यापन करनेवाले श्रीमद् वेङ्कटनाथ नामक जगद्गुरु को मैं प्रमाण करता हूँ।

विवरण—'सर्वतन्त्रप्रवर्त्तकान्' अध्यापन के द्वारा सर्वशास्त्रों के प्रवर्तक—इस विशेषण से अपने विद्यागुरु की योग्यता को प्रकट किया है। 'जगद्गुरून्' विशेषण से भी परमतखण्डनपूर्वक स्वसिद्धान्तस्थापन करने का सामर्थ्य सूचित किया है। इन तीन श्लोकों में व्यावहारिक कल्पित भेद का ग्रहण करके अपने इष्टदेवता, परमगुरु और विद्यागुरु को प्रणाम किया है, क्योंकि अद्वैतवाद में वन्द्यवन्दकभाव सम्भव नहीं।

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् के 'यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पूजा, प्रणाम आदि से उपोद्बलित भक्ति, विद्याप्राप्ति में अङ्ग है।

अब ग्रन्थकार अपने चिकीर्षित ग्रन्थ का ग्राह्यत्व तथा श्रद्धेयता सूचित करने के लिए और अपने यश के प्रदर्शनार्थ अपने विविध-ग्रन्थों की रचना को प्रदर्शित कर चिकीर्षित ग्रन्थ की प्रतिज्ञा करते हैं—

(ग्रन्थकर्तुः ग्रन्थनिर्माणयोग्यताप्रदर्शनम्)

येन चिन्तामणौ टीका दशटीकावि(प्र)भञ्जिनी ।
तर्कचूडामणिर्नाम कृता विद्वन्मनोरमा ॥ ४ ॥

(ग्रन्थारम्भप्रतिज्ञा)

ब्रह्म[1]-बोधाय मन्दानां वेदान्तार्थावलम्बिनी ।
धर्मराजाध्वरीन्द्रेण परिभाषा वितन्यते ॥ ५ ॥

अन्वयः—येन (धर्मराजाध्वरीन्द्रेण) चिन्तामणौ दशटीकाविभञ्जिनी विद्वन्मनोरमा तर्कचूडामणिः नाम टीका कृता (तेन) धर्मराजाध्वरीन्द्रेण मन्दानां ब्रह्मबोधाय वेदान्तार्थावलम्बिनी परिभाषा वितन्यते ।

अर्थ—जिस धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'तत्त्वचिन्तामणि' नाम के ग्रन्थ पर दस टीकाओं का खण्डन करने वाली और विद्वानों को आह्लाद देनेवाली 'तर्कचूडामणि' नाम की टीका की, उसी धर्मराजाध्वरीन्द्र के द्वारा मन्दजनों के तत्त्व (ब्रह्म) बोधार्थ वेदान्त के अर्थ का अवलम्बन करने वाली यह परिभाषा (वेदान्तपरिभाषा) की जाती है ।

विवरण—वेदान्त के इस प्रकरण ग्रन्थ का विशेषतः नैयायिकों के मत की निःसारता को उन्हीं की प्रक्रिया के द्वारा प्रदर्शित करने के लिए आरम्भ किया गया है । इसलिए ग्रन्थकार न्यायशास्त्र में अपना अधिकार प्रदर्शित करने के लिए स्वरचित पूर्व-ग्रन्थ का निर्देश कर रहे हैं । प्रसिद्ध नैयायिक गंगेशोपाध्याय ने न्याय-शास्त्र पर 'तत्त्वचिन्तामणि' नाम का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है । उन्हीं से नवीन-न्याय प्रवृत्त हुआ । उनसे पूर्व के नैयायिकों को प्राचीन या जरन्नैयायिक कहते हैं । उनके मत को प्राचीन-न्याय-मत कहते हैं । आजकल प्राचीन-न्याय मत की अपेक्षा नवीन-न्याय का ही अध्ययनाध्यापन अधिकता से चलता है । इस नवीन-न्याय ग्रंथ पर टीका, उपटीका, प्रकरण-ग्रन्थ इत्यादिकों की रचना होने से उसका बहुत बड़ा विस्तार हुआ है । इस ग्रन्थ पर ग्रन्थकार ने दस टीकाओं का खण्डन करने वाली 'चूडामणि' नाम की विद्वन्मान्य टीका लिखी है । यह कहकर न्यायशास्त्र में अपना अधिकार तथा उस ग्रन्थ का महत्त्व और विद्वन्मान्यतादि तीन गुणों को प्रदर्शित किया है । इससे ग्रन्थकार के विद्यागुरु की योग्यता प्रकट होती है । ग्रन्थकार स्वयं महानैयायिक होते हुए भी वेदान्त-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे । अतएव न्यायशास्त्र पर विद्वन्मान्य ग्रन्थ लिखकर भी अपनी कृतकृत्यता न मानकर मन्दबुद्धि, आलसी लोगों को भी सुगमता से तत्त्वज्ञान कराने के लिए वेदान्त के मुख्य तथा अवान्तर प्रतिपाद्य विषयों का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने इस ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है । जिन बुद्धिमान् तथा निरलस लोगों को सूत्रभाष्यादि

---

१. तेन—इति पाठान्तरम् ।

ग्रन्थों के अभ्यास से तत्त्वबोध होता है। उन्हें इस ग्रन्थ की ऐसी आवश्यकता नहीं है। तथापि 'मैं इस ग्रन्थ को मन्दबुद्धियों पर अनुग्रह करने के हेतु लिख रहा हूँ' यह कह-कर ग्रन्थकार ने प्राचीन आकर-ग्रन्थों के विषय में अपना आदर अभिव्यक्त करके वेदान्तसारादि अन्यान्य संक्षिप्त ग्रन्थों से, समस्त वेदान्त के तात्पर्यार्थ–प्रतिपादक इस ग्रन्थ का विषय गतार्थ नहीं हो पाया है, यह भी सूचित किया है। इस ग्रन्थ में वेदान्त की प्रक्रिया से प्रमाण-प्रमेयादि पदार्थों का निरूपण किया गया है। इसलिए इस ग्रन्थ को 'परिभाषा' यह अन्वर्थ नाम दिया गया है।[1] 'वेदान्तार्थावलम्बिनी' विशेषण से यह परिभाषा स्वकपोलकल्पित न होकर वेदान्त (उपनिषद्) के प्रतिपाद्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाली है। उपनिषदों का मूल आधार होने से इस 'परिभाषा' की प्रामाणिकता ध्वनित होती है।

'बोधाय' पद से तत्त्वज्ञानरूप प्रयोजन (फल) साक्षात् कहा है। इस प्रकार पूर्वोक्त पाँच श्लोकों से इष्ट देवता, देवता, परमगुरु और साक्षात् गुरु को प्रणाम करके 'वेदान्त परिभाषा' ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। अब इस चिकीर्षित ग्रन्थ की शारीरक मीमांसा से संगति सूचित करने के लिए प्रथमतः इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य बताते हैं—

(पुरुषार्थनिरूपणम्)

इह खलु धर्मार्थ-काम-मोक्षाख्येषु चतुर्विध-पुरुषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थः, 'न स[2] पुनरावर्त्तते' छां० ८–१५–१ इति[3] श्रुत्या तस्य नित्यत्वावगमात्। इतरेषां त्रयाणां (तु) प्रत्यक्षेण,[4] 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' छां० ८–१–६ इत्यादिश्रुत्या चानित्यत्वावगमात्। स च ब्रह्मज्ञानात्–इति ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते[5] ॥

अर्थ—इस श्लोक में तथा वेदों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों में से मोक्ष ही परम-पुरुषार्थ[6] है––यह प्रसिद्ध है। क्योंकि "वह आत्मज्ञ पुनः इस

१. 'परितोव्यापृतां भाषां प्रचक्षते'—[न्या० को० पृ० ४८०]

२. न च–इति पाठान्तरम्। ३. इत्यादि–इति पाठान्तरम्।

४. धर्मादित्रयाणां परमपुरुषार्थत्वाभावे प्रत्यक्षेण, यत्कृतकं तत् अनित्यमिति सामा-न्यतोदृष्टानुमानाऽनुगृहीतश्रुत्या च अवगतमनित्यत्वं हेतुः।

५. मोक्ष एव परमः पुरुषार्थः। परमत्वं च निरतिशयत्वे सति क्षयशून्यत्वम्।

६. ननु ब्रह्मज्ञानस्य मोक्षोपायत्वात् ब्रह्मज्ञानमेव निरूपणीयम्। किमर्थं तावद् ब्रह्म-निरूपणम्? इति चेन्न, विषयनिरूपणं विना ज्ञानस्य निरूपणं दुःशकं, यतो ज्ञानस्य विषय-निरूप्यत्वात्। प्राधान्याच्च ब्रह्मणोऽपि निरूपणीयत्वम्। तज्ज्ञानं ब्रह्मज्ञानमित्यर्थः। दुत-

संसार में जन्म नहीं लेता" छां० उ० ८।१५ इस श्रुति से मोक्ष की नित्यता ज्ञात होती है। उसी प्रकार मोक्ष के अतिरिक्त अन्य (धर्म, अर्थ, काम) तीन पुरुषार्थों की अनित्यता प्रत्यक्ष से तथा श्रुति से ज्ञात होती है। इस विषय में दृष्टान्त "जैसे इस लोक में कृष्यादि कर्म से संपादन किया हुआ धान्यादि, लोक (फल) क्षीण होता है, उसी तरह परलोक में पुण्यरूप अदृष्ट से संपादन किया हुआ स्वर्गादिलोक भी क्षय को प्राप्त होता है।" छां० उ० ८।१। यह श्रुति दृष्टान्त द्वारा धर्म के फल की अनित्यता को बताती है। और अर्थ तथा काम इन दो पुरुषार्थों की अनित्यता प्रत्यक्ष और श्रुतिरूप प्रमाणों से अवगत होती है। वह नित्य मोक्ष, ब्रह्मज्ञानरूप साधन से ही प्राप्त होता है। इसलिए इस ग्रन्थ में ब्रह्म, उसका ज्ञान और उसमें प्रमाण का सविस्तर निरूपण करते है।

विवरण—पुरुष जिसे चाहता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सब जीव, उत्कृष्ट सुख की इच्छा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम साक्षात् सुख न होकर सुख के साधन हैं और मोक्ष साक्षात् सुखस्वरूप है। इसलिए वही परम (उत्कृष्ट) पुरुषार्थ है।

परम (निरतिशय) अर्थात् जिससे अधिक सुख नहीं और जिसका कभी क्षय नहीं होता ऐसा पुरुषार्थ सुख ही मोक्ष है। मोक्ष की परम पुरुषार्थता '(सः) न च पुनरावर्तते' इस छान्दोग्य श्रुति ने बताई है। (सः) = ब्रह्मज्ञान से मुक्त हुआ जीव, 'पुनः च' अन्य कल्प के आरम्भ में भी 'न आवर्तते' बार-बार जन्म-मरणरूप संसार को प्राप्त नहीं होता। यह श्रुति का अर्थ है।

इस प्रकार मोक्ष के परम पुरुषार्थत्व में श्रुत्युक्त हेतु बताकर धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों में नित्यत्व नहीं—इस विषय में भी प्रत्यक्ष और श्रुति इन दो प्रमाणों को दिखाते हैं। अर्थ (वित्त) और काम (पुत्रादि) इनसे पुरुष को सुख होता है, परन्तु ये दोनों सुखसाधन विनाशी हैं। यह हमें 'अतोऽन्यदार्तम्' नित्य भूमाख्य आत्मा से अन्य समस्त विनाशी हैं, इस श्रुति से और प्रत्यक्ष-प्रमाण से भी ज्ञात होता है।

श्रुतिस्मृतिविहित धर्म भी सुख का साधन है, क्योंकि धर्माचरण से पुण्याख्य अदृष्ट अथवा अपूर्व उत्पन्न होता है और उससे मरणोत्तर स्वर्गादि सुख प्राप्त होता है। परन्तु धर्माचरण भी एक प्रकार का कर्म ही है और कर्म से मिलने वाला फल अनित्य होता हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। कृषि, राजसेवा आदि कर्मों से मिला हुआ धान्य, धन आदि फल, उपभोग से क्षीण होता है, यह प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार पुण्याचरण से मरणोत्तर

भयनिरूपणम्प्रमाणधीनमिति प्रमाणनिरूपणमपि कर्तव्यं भवति। सप्रपञ्चमिति ब्रह्मादित्रितयस्य विशेषणं बोध्यम्। सप्रपञ्चं सपरिकरमित्यर्थः। यस्य निरूपणे यः अपेक्षितो भवति स तस्य परिकरः। निर्गुणत्व-जीवाऽभिन्नत्व-सत्यत्वादयो ब्रह्मपरिकराः। निर्विकल्पकत्व-वेदान्तजंयत्व-कर्मनिरपेक्षत्वाऽपरोक्षत्वादयो ब्रह्मज्ञानपरिकराः। सिद्धविषयकत्वाऽपरोक्षज्ञानजनकत्व-संसर्गविषयकत्वादयः प्रमाणपरिकराः। तथा च सप्रपञ्चब्रह्मादिनिरूपणे षण्णाम्प्रमाणानामुपयोगः।

संपादन किया हुआ स्वर्गादि फल भी क्षीण होता है। इस तथ्य को 'तद्यथेह' इत्यादि श्रुति से अनुगृहीत हुई—'यत्कृतकं तदनित्यम्' व्याप्ति के द्वारा निश्चित किया जाता है। इस विषय में अनुमान[१] इस प्रकार है :—'स्वर्गादिसुख (पक्ष), अनित्य है (साध्य), क्योंकि वह धर्मादिसाधनजन्य है (हेतु), कृषि, सेवा आदि साधनों से प्राप्त होनेवाले सुख की तरह (दृष्टान्त)'। परन्तु इस पर मीमांसक, 'अपाम सोमममृता अभूम' 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' हमलोगों ने सोमपान किया और अमृतत्व पाया, चातुर्मास्य याग करनेवाले को कभी क्षीण न होनेवाला पुण्यफल मिलता है, इस श्रुति के आधार पर "धर्म, अर्थ और काम की भी नित्यता है (प्रतिज्ञा), क्योंकि उनमें पुरुषार्थत्व है (हेतु), मोक्ष के समान (दृष्टान्त)।"—ऐसा प्रत्यनुमान[२] करते हैं। परन्तु यह अनुमान, पूर्वोक्त श्रुति के द्वारा अनुगृहीत न होने से बाधित होता है। तथाहि[३]—'वह्नि उष्ण है, क्योंकि उसमें पदार्थत्व है, सूर्य के समान' इस अनुमान में 'पदार्थत्व' हेतु जैसे बाधित[४] होता है। क्योंकि जो पदार्थ हो वह उष्ण हो—यह अनुभूत नहीं है। उसी तरह जो पुरुषार्थ हो वह नित्य हो—यह भी अनुभव के विरुद्ध है। क्योंकि अर्थ = वित्त, पुरुषार्थ है। परन्तु वह नित्य नहीं है। इसलिए सोमपान का 'अमृत' रूप फल, और चातुर्मास्ययाग का 'अक्षय्य सुख' रूप फल, कर्मजन्य होने से परमार्थ (नित्य) नहीं है। किन्तु वह प्रलय काल तक ही रहने वाला है। पूर्वोक्त श्रुति में 'अमृत' और 'अक्षय्य' शब्द इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हैं।

आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते'—भूतों के, प्रलय पर्यन्त रहनेवाले स्थान को (आकल्प स्थायी पदार्थ को) 'अमृतत्व' कहते हैं, ऐसा वचन है। इस प्रकार मोक्ष ही परम-पुरुषार्थ है, इस बात को सिद्ध कर 'तरति शोकम् आत्मवित्' 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'—"आत्मज्ञ, शोक को तर जाता है। उसी आत्मा को जान कर मनुष्य मृत्यु का उल्लंघन करता है, आत्मलाभ के लिए ज्ञान के सिवाय दूसरा मार्ग नहीं," इत्यादि श्रुतियों के आधार से ब्रह्मज्ञान ही उसका साधन है, यह मूल ग्रन्थ के 'स च ब्रह्मज्ञानात्' इन शब्दों से कहा गया है।

'इति'—जबकि मोक्ष ही परम-पुरुषार्थ है और वह ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होता है ऐसी परिस्थिति में मंदबुद्धि मुमुक्षुजनों पर उपकार करने के लिए ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और

---

१. स्वर्गादिसुखमनित्यं धर्मादिसाधनजन्यत्वात् कृषिसेवादिसाधनजन्यसुखवत्।

२. धर्मार्थकामा नित्याः पुरुषार्थत्वात् मोक्षवत्।

३. वह्निः उष्णः पदार्थत्वात् सूर्यवत्।

४. 'यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः'। यत्र यत्र पदार्थत्वं तत्र तत्रोष्णत्व मितिव्याप्तिर्नास्ति। तथैव यः यः पुरुषार्थः स स नित्य इति व्याप्तिर्नास्ति, यतोऽर्थस्य पुरुषार्थत्वेऽपि नित्यत्वं नास्ति।

ब्रह्मज्ञान में प्रमाण इनका इस ग्रंथ में विस्तार के साथ ग्रन्थकार द्वारा निरूपण किया जा रहा है।

(प्रमालक्षणम्)

तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्।[1] तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं, 'अनधिगताबाधित-[2]विषयज्ञानत्वम्'। स्मृतिसाधारणं तु 'अबाधित[3]-विषयज्ञानत्वम्'।

अर्थ—'तत्र'—ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और उसमें प्रमाण इनमें प्रमा का जो करण (साधन) वह प्रमाण है। प्रमा का अर्थ है यथार्थज्ञान। (कुछ लोग[4] स्मृति-ज्ञान को प्रमा नहीं मानते। इसलिए यहाँ प्रथमतः स्मृति में न जाने वाला 'प्रमा' का लक्षण कहते हैं—) अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। (परन्तु कुछ लोग स्मृति-ज्ञान को भी प्रमा मानते हैं। इसलिए स्मृति तथा अनुभव इन दोनों ज्ञानों के लिए जो साधारण हो ऐसा प्रमा का दूसरा लक्षण करते हैं) अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। यही स्मृति साधारण प्रमा है।

विवरण—'न हि लक्षणप्रमाणाभ्यां विना वस्तुसिद्धिः'—लक्षण और प्रमाण के बिना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हुआ करती, ऐसा न्याय है। अतः यहाँ पर प्रमाण का

---

१. प्रमेयनिरूपणम्प्रमाणाधीनमिति प्रथमं प्रमाणमेव निरूपणीयम्। विशेषज्ञानस्य सामान्यज्ञानपूर्वकत्वात् प्रथमं तावत् प्रमाणस्य सामान्यलक्षणं निरूप्यते। प्रमाणलक्षणस्य प्रमाघटितत्वात् प्रथमं तावत् प्रमात्वं निरूप्यते। तत्र अभिव्यक्तचैतन्यस्यैव प्रमात्वं, तस्यैव अज्ञानविरोधित्वात्। अतोऽज्ञानविरोधिचैतन्यस्यैव प्रमात्वमुच्यते। अन्तःकरणपरिणामरूपाया वृत्तेस्तु जडत्वात् नाऽज्ञानविरोधित्वमिति न प्रमात्वम् किन्तु प्रमाकरणत्वेन तस्याः प्रमाणत्वम्। इन्द्रियादेः प्रमाणत्वव्यवहारस्तु प्रमाणजनकतया गौणो विज्ञेयः। न्यायरत्नावलीकाराणामपि एतदभिमतम्—"चक्षुरादेः प्रमाणत्वव्यवहारस्तु वृत्तिजनकतयौपचारिकः" इति स्थितिः, तथापि प्रत्यक्षपरिच्छेदे चैतन्यस्य प्रमात्वम्, अनुमानपरिच्छेदे वृत्तेः प्रमात्वं दर्शितवान् ग्रन्थकारः। तत्र स्वाकार-वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यस्य प्रमात्वे वृत्तेः करणत्वम् व्यापारस्तु वृत्ति-विषययोः सम्बन्धः, स च सर्वप्रमाणसाधारणः। वृत्तेः प्रमात्वे तु करणानि इन्द्रियाणि व्याप्तिज्ञानादीनि च। व्यापारस्तु विषयेन्द्रियसम्बन्धरूपो व्याप्तिसंस्कारादिरूपश्च।

२-३. तार्थविषयक—इति पाठान्तरम्।

४. माध्व—वैशेषिकादयः स्मृतेः प्रमात्वं स्वीकुर्वन्ति, किन्तु नैयायिकादयः स्मृतेः प्रमात्वं न स्वीकुर्वन्तीतिमतद्वयम्। तथा च प्रमात्वं स्मृत्यवृत्ति स्मृतिवृत्तिचेति। तत्र व्यवहारे भाट्टनय इतिचित्सुखाचार्योक्तमनुस्मरन् भाट्टाभिमतं स्मृत्यवृत्ति-प्रमात्वस्य स्वरूपं 'स्मृतव्यावृत'मिति ग्रन्थेनोक्तवान् ग्रन्थकारः।

निरूपण करने के लिए प्रारम्भ में ही प्रमाण-लक्षण बताया गया है 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'। यहाँ 'प्रमाण' यह लक्ष्य है और 'प्रमाकरण' यह उसका लक्षण है। अब इस लक्षण में पदकृत्य बनाते हैं—यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'करणम्' इतना ही प्रमाण का लक्षण न करके 'प्रमाकरणम्' इतना बड़ा लक्षण क्यों किया है ? और 'करण' क्या वस्तु है अर्थात् 'करण' किसे कहते हैं ?

उत्तर—'करणं प्रमाणम्' इतना ही यदि प्रमाण का लक्षण किया जाय तो 'दण्डादि' भी घटादिकों का करण हुआ करता है तो दण्डादिकों को भी 'प्रमाण' कहना पड़ेगा अर्थात् प्रमाण का लक्षण दण्ड आदि में अतिप्रसक्त (अतिव्याप्त) होगा। यह अतिव्याप्ति दोष न आने पावे इसलिये 'प्रमा का जो करण, वह प्रमाण है' ऐसा कहना आवश्यक हो जाता है। 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्'। व्यापारवान् होकर किसी कार्य के प्रति जो असाधारण कारण होता है उसे ही 'करण' कहते हैं। 'प्रमाकरणम्' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण है। इस लक्षण में जो प्रमा शब्द है उसका क्या अर्थ है ? उत्तर—'प्रमा' का अर्थ है 'यथार्थज्ञान'। यथार्थज्ञान, स्मृति और अनुभव भेद से दो प्रकार का है। परन्तु कुछ लोग प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला जो अनुभव रूप ज्ञान है उसी को 'प्रमा' कहते हैं। स्मृति साक्षात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु प्रत्यक्षादि अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है और संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है। संस्कारों में, प्रमाणत्व न होने से स्मृति को भी प्रमा नहीं माना जाता। इसलिए इस मत में स्मृति को छोड़कर केवल अनुभवात्मक प्रमा का 'अनधिगताबाधित विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्' यह लक्षण किया गया है। इसमें 'प्रमात्वम्' यह लक्ष्य है और 'अनधिगत-अबाधित-विषयज्ञानत्वम्' यह लक्षण है।

'अनधिगत'—पूर्व ज्ञात न हुआ, 'अबाधित'—दूसरे प्रमाण से (उत्तर ज्ञान से) मिथ्या सिद्ध न होने वाला (बाधित न होने वाला) जो विषय, उसका ज्ञान ही प्रमा कहा जाता है। स्मृति का विषय (जिसका स्मरण होता है वह पदार्थ), पूर्व अधिगत (ज्ञात) हुआ रहता है। क्योंकि बिना अनुभव के स्मरण नहीं होता। इसलिये लक्षण में विषय का 'अनधिगत' यह विशेषण लगाने से स्मृति के विषय की व्यावृत्ति हो गई। इसी प्रकार 'शुक्तौ इदं रजतम्' शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) का ज्ञान होता है। इस ज्ञान का विषय रजत है। परन्तु उसका प्रमाण के द्वारा विवेचन किये जाने पर बाध होता है। अतः शुक्ति में होने वाला रजत-ज्ञान 'प्रमा' नहीं है। ऐसे बाधित विषय की निवृत्ति करने के लिए लक्षण में विषय का 'अबाधित' यह विशेषण लगाया गया है। अर्थात् 'अनधिगत और अबाधित विषय का जो ज्ञान, वही प्रमा है' यह लक्षण स्मृति में घटित न होने से केवल अनुभवात्मक प्रमा का निर्दोष लक्षण है। इस लक्षण के 'विषयज्ञानत्व' इस शब्द में जो 'ज्ञान' पद है, वह 'प्रमा' का स्वरूप बताने के लिए है। इच्छादि अन्तःकरण-वृत्तिरूप नहीं है। इच्छा भी एक प्रकार का अन्तःकरण-

वृत्तिरूप ज्ञान ही है, परन्तु 'अनधिगत' = अज्ञात इस विशेषण से उसका निरसन हो जाता है क्योंकि ज्ञात हुए विषयों में ही इच्छादि उत्पन्न होती है।

अथवा चक्षुरादिकों में लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसलिए प्रमा के लक्षण में 'ज्ञान' पद दिया गया है। क्योंकि चक्षुरादिकों में भी घटादिस्फुरण के द्वारा घटादि-विषयत्व माना गया है। यहाँ पर ज्ञान का अर्थ ज्ञप्ति = अनुभव है। इस कारण उसका करण जो अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञान है, उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

पहले बता चुके हैं कि जिस स्मृति का विषय यथार्थ होता है अर्थात् उत्तरज्ञान से बाधित नहीं होता ऐसी स्मृति को भी कुछ लोग प्रमाण मानते हैं। इसलिए 'अबाधित-विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्' ऐसा दूसरा स्मृतिसाधारण लक्षण किया है। साधारण का अर्थ है अनेक में रहने वाला। 'उत्तर ज्ञान से बाधित न होनेवाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है' यह लक्षण अनुभव और स्मृति इन दोनों ज्ञानों में समान रूप से घटित होता है। इसलिए प्रमा का यह लक्षण स्मृति-साधारण है। प्रथमतः 'अयं घटः' यह घट है ऐसा ज्ञान होता है और उसका किसी उत्तर-ज्ञान से बाध भी नहीं होता। उस ज्ञान से अन्तःकरण में सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से आगे चलकर कुछ समय के अनन्तर उसी घट का स्मरण होता है। इस स्मृति का विषय अबाधित घट होने से यह स्मृति प्रमा है। इसी प्रकार अबाधित घट का ज्ञान भी प्रमा है। परन्तु इसके विपरीत शुक्ति में रजत का ज्ञान होने पर अथवा रज्जु में सर्प का ज्ञान होने पर उसके समीप जाकर क्या सचमुच यह रजत ही है और सर्प ही है? इस प्रकार प्रमाण के द्वारा निरूपण करने लगते हैं तब यह रजत न होकर शुक्ति है, और यह सर्प न होकर रज्जु है, यह ज्ञान होता है। इस उत्तर ज्ञान से पहले उत्पन्न हुए रजत ज्ञान और सर्प-ज्ञान बाधित हो जाते हैं, इसलिए ऐसे स्थलों में यह अनुभवरूप ज्ञान बाधित-विषय है, प्रमा नहीं है। ऐसे बाधित-विषय की कालान्तर में होनेवाली स्मृति भी प्रमा नहीं है। इसलिए स्मृति और अनुभव इन दोनों प्रमाओं का 'अबाधित-विषय-ज्ञानत्वम्' यह साधारण लक्षण है। अनुभव और स्मृति ये दोनों ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ भेद से दो प्रकार के हुआ करते हैं। इस लक्षण में भी 'ज्ञान' पद पहले की तरह इच्छादिकों की व्यावृत्ति कराने के लिए है।

प्रश्न—'अयं घटः, अयं घटः यह घट, यह घट, यह घट इस धारावाहिक अनुभव ज्ञान में 'यह घट' यह ज्ञान, दूसरे, तीसरे, चौथे आदि सभी ज्ञानों में क्रमशः (पूर्व पूर्व ज्ञान) विषय है। इसलिए द्वितीयादि ज्ञानों में अधिगतविषयत्व है। इस कारण 'अनधि-गतविषयज्ञानत्व' यह पहला लक्षण धारावाहिक प्रमा-ज्ञान में अव्याप्त हो रहा है।

नीरूपस्यापि [1]कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिक-बुद्धेरपि

---

१. कालस्य नीरूपत्वं सर्वसम्मतम्। द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वसमानाधिकरणस्योद्भूतरूप-वत्त्वस्य प्रयोजकत्वात् कालस्य च द्रव्यस्य रूपाभावात् अतीन्द्रियत्वं नैयायिकैरभ्युपगतम्।

पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तत्क्षणविशेष-[1]विषयकत्वेन न तत्राव्याप्तिः ।

अर्थ—रूपरहित काल को हम इन्द्रियविषयत्व मानते हैं अर्थात चक्षुरिन्द्रिय से काल का प्रत्यक्ष होता है। इस कारण धारावाहिक बुद्धि को भी पूर्व-पूर्व ज्ञान का वि॰ । न होनेवाला जो उत्तर-उत्तर द्वितीय, तृतीयादि क्षण तद्विषयकत्व है, अतः धःरावाहिक बुद्धि में भी प्रथम लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।

विवरण—'जिस द्रव्य में महत्त्व-परिमाण और उद्भूत-रूप रहता है वही द्रव्य, चक्षु का विषय होता है अर्थात् आँख से दिखाई देता है, यह तार्किकों का सिद्धान्त है। किन्तु 'इस समय घट है' यह अनुभव सभी को होता है। उपर्युक्त वाक्य में 'इस समय' यह पद वर्तमान-काल का बोध करा रहा है अर्थात् काल का प्रत्यक्ष होता है यह बात सिद्ध हो रही है। इसलिये द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में महत्त्व और उद्भूत रूप कारण हुआ करता है, यह (तार्किकों का) सिद्धान्त काल-रूप द्रव्य को छोड़कर इतर द्रव्यों के बारे में है; ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि तार्किकों के कथनानुसार जिसमें महत्त्व और उद्भूत रूप नहीं होते उसका चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता है। ऐसा यदि मान लिया जाय तो रूप-रहित रूप का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है यह कहना पड़ेगा। परन्तु रूप तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है किन्तु उसमें उद्भूत रूप तथा महत्त्व नहीं होता। क्योंकि वैशेषिक लोग 'गण' में गुण की स्थिति नहीं मानते। 'रूप' गुण है इसलिए 'रूप' नामक गुण में उद्भूत रूप नामक दूसरा गुण रहता है, यह कदापि नहीं कह सकते। इसी न्याय से रूपरहित काल भी चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है। 'अयं घटः, अयं घटः, अयं घटः', यह धारा-वाहिक बुद्धि भी, पूर्व-पूर्व ज्ञान का विषय न होने वाला जो उत्तर-उत्तर क्षण उसको विषय करती है। अर्थात् 'यह घट' इस प्रकार प्रथम क्षण में होनेवाले ज्ञान का विषय प्रथम क्षण में स्थित 'घट' होता है। दूसरे-तीसरे क्षण में होने वाले ज्ञान का विषय बनने वाला 'घट', पूर्व क्षण के ज्ञान का विषय बने हुए घट से भिन्न है। प्रथम क्षण में जिस 'घट' का ज्ञान हुआ, बह 'घट' प्रथम क्षण के साथ ही निवृत्त हुआ। इस कारण दूसरे क्षण के ज्ञान का विषय बनने वाला 'घट', पूर्व क्षण के ज्ञान का विषय बने हुए घट से पृथक् है। इसी प्रकार तृतीयक्षणीय ज्ञान का विषयभूत 'घट', द्वितीय क्षणिक ज्ञान के विषयभूत घट से भिन्न है। अतः धारावाहिक ज्ञान कितने ही क्षण तक होते रहने पर भी प्रत्येक क्षण के ज्ञान का विषय 'घट' भिन्न-भिन्न होने से धारावाहिक ज्ञान में

मीमांसकैः कालस्येन्द्रियवेद्यत्वमभ्युपगम्यते। तथा चोक्तं—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते" इति। 'इदानीं घटः' इत्यादिप्रतीतौ कालविशेषस्य विषयत्वेनानुभवात्। अन्यथा गृहीतेऽपि घटे, 'घटो वर्तमानो नवा' इत्याकारको वर्तमानतासंशयो लोकस्य भवेत्। न च तथा, तस्मात् कालस्य प्रत्यक्षत्वं स्वीकार्यम्।

१. विशिष्ट-विषयत्वेन-इति पाठान्तरम्।

अधिगतविषयत्व नहीं आ पाता। इसलिए 'अनधिगतज्ञानविषयत्व' यह प्रमा का लक्षण धारावाहिक बुद्धि में भी ठीक घटित हो जाता है इसलिए धारावाहिक बुद्धि में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती है। यह प्रथम-क्षण का घट, यह दूसरे क्षण का घट, यह तीसरे क्षण का घट, यह चौथे क्षण का घट इस प्रकार की धारावाहिक बुद्धि के अनेक क्षणों में से प्रत्येक क्षण का विषय (घट) उस-उस क्षण से विशिष्ट होने से भिन्न-भिन्न है। पूर्व क्षण-विशिष्ट विषय ही उत्तर-क्षण के ज्ञान का विषय नहीं है। इसलिए उसे अधिगत (ज्ञात) नहीं कह सकते। अतः धारावाहिक बुद्धि में 'अनधिगतविषयज्ञानत्व' इस लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। धारावाहिक बुद्धि के, उत्तर-उत्तर क्षण में पूर्व-पूर्व क्षण का विषय ही यदि प्रतीत हुआ होता तो प्रमा का 'अनधिगतविषयत्व' यह लक्षण वहाँ अव्याप्त हुआ होता, परन्तु वैसा नहीं है, अतः प्रमा के प्रथम लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है।

शंका—'इस समय घट है' इस वाक्य के 'इस समय' शब्द से वर्तमान काल का प्रत्यक्ष हो रहा है, ऐसा यदि कहें तो 'आकाश में बलाका' इस प्रतीति के बल से 'आकाश का प्रत्यक्ष हो रहा है' यह भी आप को कहना पड़ेगा। इस पर कदाचित् आप यह कह दें कि आकाश का प्रत्यक्ष होना तो हमें इष्ट ही है, परन्तु आप ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि आकाश का यदि प्रत्यक्ष हुआ करता तो उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए 'शब्द' जिसका लिङ्ग है ऐसे अनुमान प्रमाण का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु प्रायः सभी वादी आकाश का अस्तित्व, शब्दलिंगक—अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध करते हैं।

इसके अतिरिक्त आकाश का प्रत्यक्ष होता है ऐसा मानने पर 'अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति' आकाश के अप्रत्यक्ष रहने पर भी अज्ञ लोग तलमलिनता आदि का अभ्यास करते हैं (ब्र. सू. भाष्य), भाष्यकार के इस कथन से विरोध होगा। 'रूपरहित रूप के समान ही रूपरहित काल का भी चाक्षुष ज्ञान होना सम्भव है' यह आपने पहले कहा है। परन्तु महत्त्व और उद्भूत रूप से रहित द्रव्य का चाक्षुष ज्ञान नहीं हुआ करता, ऐसा हम तार्किकों का सिद्धान्त है। इसलिए 'रूपरहित रूप' का जो कि गुण है चाक्षुष ज्ञान हो सकेगा, लेकिन, रूपरहित 'काल' का जो कि द्रव्य है, चाक्षुष ज्ञान नहीं हो सकता। यही कारण है कि सामने पड़े हुए चन्दन के टुकड़े को देखकर यह 'सुरभि० (सुगंधि) चन्दन है', इस चाक्षुषज्ञान में 'सौरभ' की परोक्षता और 'चन्दन' की चाक्षुषता जिस प्रकार है उसी प्रकार 'इस समय यह घट है' इस वाक्य के 'इस समय' इस काल के अंश में परोक्षता ही है, ऐसा समझिये, उसे चाक्षुषता नहीं है। अर्थात् धारावाहिक बुद्धि में प्रत्येक रूपरहित क्षण को चाक्षुषत्व न होने से ऊपर दिये गये अव्याप्ति दोष की वैसी ही स्थिरता रही।

समाधान—आप सच कह रहे हैं। परन्तु उपर्युक्त समाधान हमने आपके मत के

अनुसार दिया था। क्योंकि आपका मत है कि 'रूपरहित रूप चाक्षुष ज्ञान का विषय होता है' तो उसी प्रकार रूपरहित काल, वायु इत्यादि द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष हो सकता है, यह हमारा आशय था। इस पर 'महत्त्व और उद्भूतरूप से रहित द्रव्य का चाक्षुषज्ञान नहीं हुआ करता, परन्तु रूपरहित 'रूप' यह गुण होने से चक्षु का विषय हो सकता है।' ऐसा यदि आपका कहना है तो ठीक है। उपर्युक्त समाधान हमारा सिद्धान्तरूप नहीं है। इसलिए उसमें अरुचि प्रकट करते हुए धारावाहिक ज्ञान के विषय में हम अपना परम सिद्धान्त बताते हैं—

किञ्च[1] सिद्धान्ते धारावाहिक-बुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः,[2] किन्तु यावद्घटस्फुरणं, तावत् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना, वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं[3] स्थायित्वाभ्युपगमात्[4]। तथा च[5] तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमपि तत्र तावत्कालीनमेकमेवेति नाव्याप्तिशङ्काऽपि।

अर्थ—हमारे वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार धारावाहिक ज्ञान में ('यह घट है, यह घट है', इस प्रकार अनेक क्षणों तक होते रहते एकाकार ज्ञान में) वस्तुतः ज्ञान का (अन्तःकरण की वृत्ति का) भेद ही नहीं है। बल्कि जब तक घटादि एक ही विषय का स्फुरण (अनुभव) होता रहता है तब तक घटादि-विषयाकार में परिणत हुई अन्तःकरणवृत्ति एक ही रहती है। एकाकार-ज्ञान में अन्तःकरणवृत्ति अनेकाकार हो यह नहीं माना जा सकता। क्योंकि अन्तःकरण की कोई भी वर्तमान वृत्ति, उसके विरुद्ध दूसरी वृत्ति उत्पन्न होने तक स्थायी (स्थिर) रहती है। अर्थात् विरोधी वृत्ति के पैदा होने तक घटादि विषयाकार वृत्ति के एक ही होने से उस स्थिर वृत्ति में प्रतिबिंबित हुआ जो चैतन्य रूप घटादिविषयक ज्ञान, वह भी तबतक (जबतक वृत्ति स्थिर है) एक ही रहता है।

---

१. अन्यैरभ्युपगतं धारावाहिकज्ञानभेदमभ्युपेत्य प्रमालक्षणस्य अव्याप्तिः निवारिता। इदानीं विवरणभावप्रकाशिकोक्तमनुस्मरन् स्वसिद्धान्तं दर्शयति।

२. ज्ञानैकत्वे वृत्त्येकत्वं प्रयोजकम्।

३. पर्यन्त-स्था—इति पाठान्तरम्।

४. वृत्तेर्द्रव्यत्वात् एकद्रव्यवति द्रव्यान्तरारम्भो न भवति। तथाचोक्तं विवरणभावप्रकाशिकायामज्ञानानुमाननिरूपणे—"अस्मन्मते तु धारावाहिकबुद्धिरेवनास्ति, एकस्यैव ज्ञानस्य तावत्समयस्थित्युपपत्तेः।"

अद्वैतदीपिकायाञ्च—"घटादिवद् वृत्तेरपि द्रव्यत्वात् यावद्विनाशकारणमवस्थानस्येष्टत्वात्।"

५. तत्प्रतिफलितेति वृत्तिप्रतिबिम्बितेत्यर्थः।

इसलिए 'अनधिगतविषयज्ञानत्व' इस प्रमा के लक्षण की धारावाहिक बुद्धिस्थल में अव्याप्ति नहीं हो पाती। धारावाहिक ज्ञान में यदि 'अधिगतज्ञानविषयत्व' होता तो इस लक्षण की उसमें अव्याप्ति हुई होती। धारावाहिक ज्ञान में अनधिगत (अज्ञात) ही घट विषय है, अतः प्रमा का प्रथम लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है।

विवरण—'इस समय यह घट है' इस वाक्य के 'इस समय' इस शब्द से वर्तमान क्षण का ज्ञान होता है। अतः काल की भी प्रत्यक्षता है यह निश्चित होता है। इसी कारण से यह कहा था कि धारावाहिक ज्ञान में प्रत्येक क्षण का विषय भिन्न, अर्थात् पूर्वक्षण का विषय उत्तर क्षण में नहीं रहने से उत्तरक्षण में विषय ज्ञात नहीं है, अपितु अज्ञात ही है। इसलिए लक्षण की अव्याप्ति नहीं है यह एक समाधान दिया था। उस पर तार्किक ने कहा था कि वैसा मानने पर 'आकाश में पक्षी' इस प्रतीति से आकाश को प्रत्यक्ष मानना होगा, परन्तु 'आकाश का प्रत्यक्ष होता है' यह कथन वेदान्त सिद्धांत के विरुद्ध है। और 'इस समय यह घट है' इस प्रतीति की तरह 'आकाशे पतत्री' आकाश में पक्षी है यह प्रतीति भी अनुभव सिद्ध है। इस कारण पूर्वोक्त अव्याप्ति दोष स्थिर रहा। इसलिए काल की प्रत्यक्षता वेदान्त-सिद्धान्त के अनुकूल होती हुई भी वेदान्ती अब दूसरी युक्ति से पूर्वोक्त अव्याप्ति का निराकरण करते हैं।

वेदान्त-सिद्धान्त, धारावाहिक-बुद्धि में ('यह घट है' इस प्रकार मुहूर्त भर स्थिर रहने वाले ज्ञान में) ज्ञान का भेद स्वीकार नहीं करता। क्योंकि जब तक एक ही विषय प्रतीत होता रहता है तब तक तदाकार अन्तःकरणवृत्ति भी एक ही रहती है। बिना वृत्ति-भेद के ज्ञान-भेद नहीं होता। जब तक हम सामने रखे हुए घटादि किसी वस्तु की ओर देखते रहते हैं और उसका ज्ञान होता रहता है तब तक तदाकार हुई एक ही अतःकरण-वृत्ति रहती है। एक प्रत्यय (ज्ञान) में अनेक वृत्तियों के मानने पर गौरव (दोष) होगा। इस कारण 'यह घट है' इस एकाकार प्रवाह-ज्ञान में एक अन्तःकरणवृत्ति को मानना सर्वथा युक्त है, और इसी में अतिलाघव है।

शंका—लाघव गुण के लोभ से यदि आप 'अयं घटः' 'यह घट है' इस आकार का अनुभव जब तक होता रहता है तब तक एक वृत्ति रहती है ऐसा मानते हों तो गाढ निद्रा लगने तक एक वृत्ति मानने में और भी लाघव होगा, तब जगने से लेकर सुषुप्ति तक एक ही वृत्ति क्यों नहीं स्वीकार करते ?

उत्तर—'अयं घटः' इस वृत्ति के विरुद्ध जो 'अयं पटः' यह दूसरी वृत्ति उत्पन्न होती है, वह पहली वृत्ति को नष्ट करके ही उत्पन्न होती है। 'अयं घटः' लगातार दस क्षण तक रहा, बाद में 'अयं पटः' यह दूसरा ज्ञान होगा तो ग्यारहवें क्षण में पहिली घट-वृत्ति का नाश करके बारहवें क्षण में वह स्वयं उत्पन्न होगा। जिस क्षण में घटाकार वृत्ति रहेगी उस क्षण में पटाकार वृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिए जगने से लेकर सोने तक एक ही वृत्ति रहती है, यह नहीं स्वीकार किया

जा सकता। जाग्रत् अवस्था में अन्तःकरण की वृत्तियों का प्रभाव निरंतर चलता रहता है। ये वृत्तियाँ पूर्व वृत्ति का नाश करके ही उत्पन्न हो सकती हैं। अतः पूर्व वृत्ति दूसरी विरोधी वृत्ति की उत्पत्ति से पूर्वक्षण तक ही स्थिर रहती है, ऐसा हम लोगों का सिद्धान्त होने से सुषुप्ति तक एक ही वृत्ति नहीं रह सकती। वृत्तियों का विरोध उनके विषयों से निश्चित होता है। घटाकार वृत्ति, पटाकार वृत्ति, जलाकार वृत्ति इत्यादि वृत्तियाँ परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध हैं, क्योंकि उन वृत्तियों के घट, पट, जल इत्यादि विषय भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् परस्पर विरुद्ध हैं। उदासीतता के समय में भी उदासीनताकार वृत्ति रहती है। अतः वह भी अन्य सब वृत्तियों से विरुद्ध ही है। अखण्डाकार वृत्ति अपनी विरोधिनी अविद्यादि सब वृत्तियों का नाश करके दग्धेन्धनाग्नि की तरह अपना भी नाश कर लेती है। क्योकि उस वृत्ति में अधिष्ठान ज्ञान है, इसलिए वह अविद्यादि सब वृत्तियों का नाश कर सकती है, और उसे दृश्यत्व होने से अपने को भी नष्ट कर लेती है। अधिष्ठानज्ञानत्व के रूप से वह नाशक है और दृश्यत्व के रूप से वह नाश्य है।

शंका—धारावाहिक बुद्धि में भिन्न-भिन्न ज्ञान नहीं हैं; यह बताने के लिए आपने धारावाहिक वृत्ति की एकता का कथन किया। परन्तु वह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्त में चैतन्य को ही ज्ञान शब्द से कहते हैं।

उत्तर—उपर्युक्त कथनानुसार धारावाहिक-बुद्धि में वृत्तिभेद नहीं होता अर्थात् जब तक 'अयं घटः' ऐसी एकाकार बुद्धि रहती है तब तक घटाकार अन्तःकरण-वृत्ति एक ही रहती है। और उस घटाकार वृत्ति में प्रतिबिंबित[1] हुआ चैतन्यरूप घटादिज्ञान भी एक ही रहता है। क्योंकि वृत्तिरूप उपाधि का भेद न होने से उस औपाधिक ज्ञान का भी भेद नहीं होता। इसलिए धारावाहिक बुद्धि में 'अनधिगतविषयज्ञानत्व' इस लक्षणांश की अव्याप्ति की शंका भी नहीं है।

इस पर पुनः शंका करते हैं—

ननु सिद्धान्ते[2] घटादेर्मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् तज्ज्ञानं कथं प्रमाणम्?

---

१. ननु नीरूपायां वृत्तौ नीरूपस्य चैतन्यस्य कथं प्रतिबिम्बः? रूपवत्येव रूपवतः प्रतिबिम्बनियमोवर्तते, इति चेन्न। नीरूपस्यापि आकाशादेः प्रतिबिम्बदर्शनात् तादृशनियमे प्रमाणाभावः। द्रव्यप्रतिबिम्बे तादृशस्य नियमस्य स्वीकारेऽपि अद्रव्यप्रतिबिम्बे तादृशस्य नियमस्याऽभावात् चैतन्यस्य निर्गुणत्वेन अद्रव्यत्वात् तत्प्रतिबिम्बे न कोऽपि बाधः। तथाचोक्तं सिद्धान्तबिन्दौ-"जपाकुसुमरूपस्य नीरूपस्यापि स्फटिकादौ प्रतिबिम्बदर्शनात्" इति।

२. सिद्धान्ते अद्वैतसिद्धान्ते। 'मिथ्यात्वेन' इत्यत्र ज्ञापकहेतौ तृतीया, तेन मिथ्यात्वज्ञानज्ञाप्यं बाधितत्वमित्यर्थः।

अर्थ—वेदान्त-सिद्धान्त में घटादि पदार्थों का शुक्ति-रजत की तरह मिथ्यात्व है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से उनका बाध होता है। तब बाधित होने वाले घटादि मिथ्या विषयों (पदार्थों) के ज्ञान में 'प्रमात्व' कैसे हो सकता है ?

विवरण—जिस ज्ञान का विषय बाधित होता है, वह ज्ञान, अप्रमा है। अर्थात् प्रमा नहीं है, यह वेदान्त को भी स्वीकार है। तब प्रमा के प्रथम-लक्षण में दिये गये 'अबाधितविषयज्ञानत्व' अंश का घटादिविषयज्ञान तो प्रमारूप से लक्ष्य बन ही नहीं सकता। इसलिए वहाँ अव्याप्ति की शंका करना और उसका निरसन करना यह दोनों उचित नहीं हैं। इसी आशय से वादी ने यह शंका की थी[1]।

उपर्युक्त शंका का प्रतिज्ञापूर्वक समाधान—

उच्यते। ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां बाधः,[2] 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४–५–१५) इति श्रुतेः, न तु संसारदशायां बाधः, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० ४–५–१५) इति श्रुतेः। तथा चाबाधितपदेन[3] संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितमिति न घटादिप्रमायामव्याप्तिः।

तदुक्तम्[4]—

> देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
> लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥ १ ॥

इति। आत्मनिश्चयाद् ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तमित्यर्थः। लौकिकमिति घटादिज्ञानमित्यर्थः।

अर्थ—ब्रह्म-साक्षात्कार होने के अनन्तर (स्वाधिष्ठान-साक्षात्कारके अनन्तर) ही घटादि विषयों का बाध होता है। इस विषय में "जिस तत्त्व-साक्षात्कार की दशा में इस ब्रह्मज्ञ के लिए सब आत्मरूप ही हो गया हो, उस दशा में वह 'केन कं पश्येत्' अर्थात् किस करण (इन्द्रिय) से किस विषय को देखेगा।" ऐसी श्रुति है। परन्तु

---

१. अयमभिप्रायः—अद्वैतिवेदान्तिनां मते ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्यापि विषयस्य मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् तत्तद्विषयकस्य सर्वस्यापि ज्ञानस्य बाधितविषयकत्वात् तत्र तत्र 'प्रमा' लक्षणस्यागमनात् अव्याप्तिः।

२. अधिष्ठानसाक्षात्कारस्यैव अध्यस्तनिवर्तकत्वात् ब्रह्मणश्च घटाद्यधिष्ठानत्वात् ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं घटादीनां बाधः।

३. ब्रह्मप्रमातिरिक्तेन केनचित् ज्ञानेन घटादिविषयस्य बाधो न भवति।

४. अतिप्राचीनेन अद्वैतवादिना सुन्दरपाण्ड्याचार्येणेति शेषः।

संसार दशा में उनका बाध नहीं होता, इस विषय में भी 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' अर्थात् जिस संसार दशा में मानो द्वैत था, उस दशा में यह इतर (जीव) प्रमाता होकर इतर विषय को देखता है, ऐसी वहीं पर श्रुति है। इसलिए प्रमा के प्रथम लक्षण में स्थित 'अबाधित' पद से संसारदशा का 'अबाधितत्व' अर्थ विवक्षित है। इस कारण लक्षण की घटादिप्रमा में अव्याप्ति नहीं होती। इस विषय में प्राचीन सांप्रदायिकों ने ऐसा कहा है—'आ[1] आत्मनिश्चयात्' = आत्मनिश्चय (ब्रह्मसाक्षात्कार) होने तक देह ही आत्मा है—इस प्रकारका ज्ञान प्रमाण रूप में (प्रामाणिक) माना जाता है, उसी प्रकार यह घटादि लौकिक पदार्थों का ज्ञान भी 'प्रमा' है। आ आत्म-निश्चयात्—का अर्थ ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक, और 'लौकिकम्' का अर्थ घटादिज्ञान है।

विवरण—घटादि पदार्थों को शुक्तिरजत की तरह बाधितत्व होने से मिथ्यात्व है, तब बाधित होनेवाले घटादिकों के ज्ञान में प्रमात्व कैसे? उन पदार्थों का ज्ञान प्रमा न होने से घटादिज्ञान भी पूर्वोक्त लक्षणों का लक्ष्य नहीं बन सकता। वादी के द्वारा ऐसी शंका करने पर, मूल में 'उच्यते' इस पद से वादी की शंका का समाधान करने की प्रतिज्ञा करके अग्रिम 'ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरम्' इत्यादि ग्रन्थ से सप्रमाण समाधान किया गया है। घटादि व्यवहारिक पदार्थों का ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर ही बाध होता है। शुक्तिरजत की तरह वह संसार दशा में नहीं होता। शुक्ति में रजत का भास संसार दशा में होता है और उसका प्रमाण के द्वारा आलोचन किये जाने पर भासित होने वाले रजत का बाध भी उसी दशा में होता है। इसलिए शुक्तिरूप्य मिथ्या है। परन्तु व्यवहारदशा में बाधित न होनेवाले घटादिपदार्थ मिथ्या नहीं हैं। इसलिए उनका ज्ञान 'प्रमा' होने से प्रमा-लक्षण का लक्ष्य भी है। इस विषय में 'यत्र तु०' इस श्रुति का आधार दिया गया है। यहाँ 'तु' शब्द के द्वारा अविद्यावस्था की अपेक्षा विद्यावस्था की विलक्षणता को सूचित करके जिस ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था में तत्त्वज्ञ की दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् आत्मरूप ही हो जाता है, उस अवस्था में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय का भेद ही नहीं रहता, ऐसी स्थिति में वह ज्ञानी किन इन्द्रियादि साधनों से कौन से घटादि विषयों का ग्रहण करेगा। ऐसा कहकर इस श्रुति से परमा-र्थावस्था में सभी व्यवहारावस्था का बाध हो जाता है, यह सूचित किया गया है, परन्तु संसार दशा में घटादि व्यवहारिक पदार्थों का बाध नहीं होता[2], इसलिए व्यवहार दशा में घटादि पदार्थ मिथ्या नहीं समझे जाते।

संसारदशा में घटादि पदार्थों का बाध नहीं होता इस विषय में 'यत्र हि०' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। जिस संसार दशा में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयादि द्वैत का-सा प्रत्यय

---

१. 'आ + आत्मनिश्चयात्' अत्र 'आङ्' इत्युपसर्गोमर्यादार्थकः।

२. घटादिनां नाशेऽपि तदुपादानस्य अज्ञानस्य सत्त्वान्नबाधः, किन्तु निवृत्तिः।

होता है[1], उस द्वैतावस्था में चेतन-आत्मा, स्वरूप से च्युत होकर उपाधिलक्षण प्रमाता बन जाता है, और अपने से भिन्न विषयों को देखता है, इस प्रकार इस श्रुति का तात्पर्यार्थ है।

यदि घटादि पदार्थों को त्रैकालिक अबाधितत्व नहीं है, केवल संसार दशा में ही अबाधितत्व है तो प्रमा का पूर्वोक्त लक्षण घटादि प्रमा में अव्याप्त ही रहा, इस शंका का समाधान 'तथा च' इस ग्रन्थ से किया है—'संसारदशा में घटादि विषयों का बाध न होने से उनकी प्रमा को लक्ष्य समझा जाता है। अतः पूर्वोक्त लक्षण में प्रतीत होने वाले अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए लक्षणगत 'अबाधित' पद से 'संसारदशा में अबाधितत्व' यह अर्थ विवक्षित है। उससे घटादि-प्रमा में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। यही समाधान-ग्रन्थ का तात्पर्य है।

'व्यवहारदशा में घटादिज्ञान प्रमा है' अपने (ग्रन्थकार के) इस कथन को पुष्ट करने के लिए प्राचीन साम्प्रदायिक विद्वानों की सम्मति को 'तदुक्तम्' इस ग्रन्थ से प्रदर्शित किया है। "आत्मनिश्चय होने तक 'देह ही आत्मा' यह अनुभव सर्वप्राणिसाधारण है और वह प्रमाण (प्रमारूपसे) माना जाता है। उसी तरह आत्मनिश्चय होने तक सभी लौकिक-ज्ञान (क्रिया-कारक-फलादि-विषयकज्ञान) प्रमाण (प्रमा) है" इस प्रकार उस लौकिक वचन का तात्पर्य है।

ससारदशा में भी 'यह मैं' ऐसा आत्मनिश्चय रहता है, तब 'आत्मनिश्चय होने तक' इस कथन का क्या आशय है ? ऐसी शङ्का यदि किसी को हो तो उसके समाधानार्थ ग्रन्थकार ने 'आ आत्मनिश्चयात्' इन पदों का ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक यह अर्थ बताया है। ब्रह्मसाक्षात्कार का अर्थ है आ ब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सब प्रणियों में एकात्मा का अनुभव होना, अर्थात् संसारदशा में 'यह मैं' इस प्रकार आत्मनिश्चय होना भ्रान्त प्रत्यय है। 'यत्र त्वस्य०' इस पूर्वोक्त श्रुति वचन से यही सिद्धान्त सूचित किया है। 'लौकिकम्' शब्द से 'केवल प्रत्यक्ष प्रमाणजन्य-ज्ञान' यह अर्थ न समझा जाय, इसलिए ग्रन्थकार ने उसका अर्थ 'घटादिज्ञान' बताया है। 'ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक' ऐसा कहने से श्लोकस्थ 'लौकिक घटादिज्ञान' इन पदों से 'ब्रह्मातिरिक्त सब वस्तुओं का ज्ञान' समझना चाहिए। तब 'ज्योतिष्टोमादिकों में स्वर्गादि इष्ट फलों की साधनता है' इत्यादि ज्ञान के अलौकिक होने पर भी कोई दोष नहीं। क्योंकि 'ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक ब्रह्म-भिन्न सब वस्तुओं का ज्ञान प्रमाण (प्रमा) है' यह अर्थ स्पष्ट होता है[2]।

यहाँ तक प्रमा का स्मृतिव्यावृत्त और स्मृतिसाधारण ऐसा लक्षण बताया। अब

---

१. व्यवहारदशायां (संसारदशायां) द्वैतमिव = द्वैतं भवतीव। प्रपञ्चोपादानभूतेन अज्ञानेन द्विचन्द्रादिदर्शनवत् क्रिया-कारक-फल लक्षण-कल्पितभेदवदिव भवति, वास्तविकं द्वैतं न भवति।

२. प्रमासामान्यलक्षणम्—

'अनधिगत-ब्रह्मप्रमातिरिक्ताऽबाधितार्थ-विषयकज्ञानत्वं प्रमात्वम्'।

उस लक्षण से लक्षित (अवगत) होने वाला जो प्रमा-करण प्रमाण है, वह कितने प्रकार का है ? ऐसी आकांक्षा होने पर प्रमाण के प्रकारों को बताते हैं—

(प्रमाणभेदनिरूपणम्)

तानि च प्रमाणानि षट्, प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात् ।

अर्थ—ये प्रमाण यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के साधन अर्थात् करण छह हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और शब्द, अनुपलब्धि ।

विवरण—चार्वाक के मत में केवल 'प्रत्यक्ष' ही एक प्रमाण है । कणाद, वैशेषिक और बौद्ध, के मत में 'प्रत्यक्ष और अनुमान' दो प्रमाण हैं । सांख्य के मत में 'प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द' तीन प्रमाण हैं । नैयायिक के मत में प्रत्यक्षादि तीन और 'उपमान' चार प्रमाण हैं । प्राभाकर मीमांसक के मत में पूर्वोक्त चार और 'अर्थापत्ति' ये पाँच प्रमाण हैं । पौराणिक के मत में पूर्वोक्त पाँच और 'सम्भव' तथा 'ऐतिह्य' सात प्रमाण हैं ।[1] इन सबका निराकरण करने के लिए तथा वे छह प्रमाण कौन से ? ऐसी आकांक्षा होने पर उनका 'प्रत्यक्ष, अनुमान' इत्यादि ग्रन्थ से उद्देश (नाम-निर्देश) किया है । पौराणिकों के अभिमत सम्भवादि अधिक प्रमाणों का इन छह प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है । अतः उन्हें पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है ।

इन छह प्रमाणों में से 'प्रत्यक्ष' प्रमाण, अन्य सब प्रमाणों का उपजीव्य अर्थात् कारण है, और वह अन्य किसी भी प्रमाण से पूर्व प्रवृत्त होने के कारण ज्येष्ठ भी है । इसलिए ग्रन्थकार प्रथमतः 'तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणम्', इत्यादि ग्रन्थ से उसी का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

(प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपणम्)

तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव ।'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३–४–१) इति श्रुतेः । अपरोक्षादित्यस्यापरोक्षमित्यर्थः ।

अर्थ—उन छह प्रमाणों में से प्रत्यक्षप्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं ।

---

१. 'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणाद-सुगतौ पुनः ।
अनुमानञ्च तच्चाथ सांख्याः शब्दञ्च ते अपि ॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केचन ।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः ॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टावेदान्तिनस्तथा ।
सम्भवैतिह्य-युक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥—(तार्किकरक्षा)

वेदान्त-सिद्धान्त में प्रत्यक्ष-प्रमा, 'चैतन्य' ही है। क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' जो 'साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म', (बृ० ३।४।१) यह श्रुति है। मूल श्रुतिवाक्य में 'अपरोक्षात्' ऐसा पंचम्यन्त पाठ होने पर भी उसे 'अपरोक्षम्' ऐसा नपुंसकलिंग प्रथमान्त समझना चाहिए। कारण यह है कि 'साक्षात्' यह शब्द अव्यय होने से वह सदैव एक-सा ही रहेगा, परन्तु 'अपरोक्ष' शब्द ब्रह्म का विशेषण होने से 'अपरोक्षम्' यही उसका रूप समझना चाहिए।

विवरण—'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण पहले बताया जा चुका है। अब उन छह प्रमाणों में से प्रत्येक का विशेष लक्षण बताना है। पूर्वोक्त छह प्रमाणों में से 'प्रत्यक्ष प्रमा का जो करण, वह प्रत्यक्ष प्रमाण', यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है। इसमें 'प्रत्यक्षप्रमाणं' यह लक्ष्य है और 'प्रत्यक्षप्रमायाः करणम्' यह लक्षण है। अब इस लक्षण में 'प्रत्यक्ष प्रमा का' इतना लम्बा कहने के वजाय केवल 'प्रमा का' इतना ही क्यों नहीं कहा ? इस शंका का उत्तर यह है कि 'प्रमा' का अर्थ है यथार्थ ज्ञान, और वह छह प्रकार का है, तव 'प्रमा का करण' इतना ही लक्षण करने पर उसकी अनुमान, उपमान इत्यादि अन्य प्रमा-करणों में भी अतिव्याप्ति होगी, वह न हो इसलिए 'प्रत्यक्षप्रमा का' इतना कहना पड़ा।

प्रमा, प्रमाण इत्यादि शब्द और उनके अर्थ के विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रमा और प्रमाण इन दोनों अर्थों में 'प्रत्यक्ष' शब्द का एक-सा ही उपयोग किया जाता है। 'घट' से चक्षुरिन्द्रिय का संनिकर्ष होने पर 'यह घट है' इस आकार (स्वरूप) का प्रमात्मकज्ञान होता है। इस ज्ञान (प्रमा) को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। और इस ज्ञान (प्रमा) का करण 'चक्षुरिन्द्रिय' है, उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष शब्द का उपयोग प्रत्यक्षप्रमा और उसका करण इन दोनों अर्थों में एक-सा किया जाता है।

न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष-ज्ञान छह प्रकार का बताया गया है। चक्षु, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला चाक्षुष, श्रोत्रादि पाँच प्रकार का तथा मनरूप इन्द्रिय से होने वाला मानस-प्रत्यक्ष, यह छठा। परन्तु वेदान्तमत में ग्रन्थकार ने 'मन को इन्द्रियत्व नहीं है' ऐसा कहा है। इसलिए श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं और उनसे होने वाला प्रत्यक्ष-ज्ञान भी पाँच ही प्रकार का है।

जिस आदमी को अपने घर के रसोईघर आदि में 'जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि भी होती है' इस प्रकार व्याप्ति ग्रहण (नित्य सम्बन्ध का ज्ञान) हुआ हो, वही आदमी कहीं दूर जाकर पर्वतादि स्थल पर मूल से लेकर ऊपर तक जाती हुई अविच्छिन्न धुएँ की रेखा को यदि देखे तो उसे 'जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है' इस व्याप्ति (सम्बन्ध) की याद आ जाती है। तदनन्तर उसे 'यह (पर्वत) वह्निमान् है (इसमें अग्नि है) ऐसा जो ज्ञान (प्रमा) होता है, उसे अनुमिति कहते हैं और उसमें करण (साधन) जो व्याप्तिज्ञान है, उसे अनुमान कहते हैं।'

जिस पुरुष ने अपने गाँव में गाय अथवा बैल देखा हो वह कभी वन (जंगल) चला जाय और वहाँ पर गवय नामक पशु को अपनी आँखों से देखे तो वह मन में कहने लगता है कि मैंने गाँव में देखी हुई गाय के आकार जैसा ही इस (गवय) का आकार देखा है, और 'गोसदृशो गवयः' गाय जैसा ही गवय होता है, यह लोगों को कहते हुए भी सुना है, तथा इस पशु का देह गाय या बैल के देह जैसा ही है, इसलिए यही 'गवय' है, इस प्रकार उसे निश्चय (प्रमा) होता है। इसी को उपमिति (प्रमा) कहते हैं। इस प्रमा का करण सादृश्यज्ञान है, उसे उपमान कहते हैं।

'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन सन्ध्या की उपासना करनी चाहिये। इस वैदिक वाक्य को और 'गाय के बछड़े को बाँधो' इस लौकिक वाक्य को श्रोत्रेन्द्रिय से सुनकर जो शब्दार्थज्ञान उत्पन्न होता है उसे शाब्दी प्रमा कहते हैं। और वैदिक अथवा लौकिक तात्पर्ययुक्त वाक्य-ज्ञान उसका कारण है। वाक्य का उच्चारण करने वाले पुरुष ने जिस विवक्षित अर्थ से वाक्य का उच्चारण किया हो, उस अर्थ में उस वाक्य का तात्पर्य रहता है। ऐसे तात्पर्य-युक्त वाक्य का ज्ञान ही शाब्दी प्रमा का कारण है। वाक्य-ज्ञान को ही शब्दप्रमाण कहते हैं।

'प्रत्यक्ष' शब्द की तरह 'अर्थापत्ति' शब्द का भी प्रमा और प्रमाण इन दोनों अर्थों में समान (साधारण) प्रयोग किया जाता है। जैसे—(पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते) 'यह मोटा-ताजा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता' यह वाक्य सुनने पर देखी हुई अथवा सुनी हुई देवदत्त की मोटाई रात्रि-भोजन के अभाव में असम्भव है इस कारण उसकी मोटाई के ज्ञान होने के अनन्तर पैदा होने वाली—'रात्रौ भुङ्क्ते' यह रात में अवश्य भोजन करता है,—जो प्रमा (ज्ञान) है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। और उस प्रमा को उत्पन्न करने वाले पुष्टत्वज्ञान रूप करण को भी अर्थापत्ति कहते हैं।

घट से रहित (खाली) स्थान पर घटाभाव रूप जो विलक्षण प्रमा (ज्ञान) होती है उसे अभाव-प्रमा (अभाव का अनुभव) कहते हैं। घट की अनुपलब्धि (घट का अनुभव न होना) यही उस अनुपलब्धि रूप प्रमा का करण है। इस विवेचन से यह स्पष्टतया समझ में आ सकता है कि 'प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) प्रत्यक्ष-प्रमा का करण है' और व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, शब्दज्ञान, पुष्टत्वादिज्ञान तथा अभावज्ञान यह सब यथाक्रम अनुमिति, उपमिति, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इन प्रमाओं के करण हैं।

शंका—प्रत्यक्षेतर पाँच प्रमाओं में प्रत्यक्षकरण की अतिव्याप्ति न होने पाये यही उद्देश्य यदि 'प्रमायाः करणम्' न कहकर 'प्रत्यक्ष-प्रमायाः' के कहने में हो तो 'प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्ष-प्रमाणम्' इतना ही लक्षण किया जाय। लक्षण में 'प्रमा' शब्द के निवेश करने की आवश्यकता नहीं।

समाधान—सीप में रजत (चाँदी) का ज्ञान होना भले ही भ्रम हो परन्तु वह प्रत्यक्ष ज्ञान है और उसका साधन 'साक्षी' है। उसमें प्रत्यक्ष-प्रमाण के लक्षण क

अतिव्याप्ति न होने पावे इसलिए लक्षण में 'प्रमा' शब्द के निवेश करने की आवश्यकता है। 'शुक्तिरजत-ज्ञान' यद्यपि प्रत्यक्ष-ज्ञान है तथापि उसका विषय (शुक्तिरजत) वाधित होने वाला है इसलिए वह 'प्रमा' नहीं है। यही कारण है कि प्रमा के लक्षण में 'अवाधितविषयज्ञानत्व' इन पदों की योजना की है।

शंका—'प्रत्यक्ष-प्रमा' शब्द का अर्थ क्या है ? 'इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षप्रमात्वम्' इन्द्रिय से पैदा होने वाला ज्ञान—प्रत्यक्ष प्रमा है, ऐसा यदि कहें तो यह भूलना नहीं होगा कि, वेदान्त के सिद्धान्त में 'मन' की इन्द्रियों में गिनती नहीं है। तथापि सुख-दुःखादिकों का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव होता है तब 'इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं' इस प्रत्यक्ष-लक्षण की सुखादिप्रत्यक्ष-प्रमा में अव्याप्ति होती है क्योंकि आपके मत से सुखादिज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी इन्द्रियजन्य नहीं है। यदि हम दूसरे प्रकार से ऐसा कहें—अनुमिति, शाब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि पे पाँचों प्रमाएँ क्रम से व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, तात्पर्यवत्पदज्ञान, अनुपलब्धिज्ञान इन पांच ज्ञानों से पैदा होती है। इसलिए परिशेषन्याय से 'ज्ञानाजन्यं ज्ञानं' ज्ञान से उत्पन्न न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमा का लक्षण करें तो दूसरों के मत से 'सभी प्रत्यक्ष-ज्ञान, ईश्वरज्ञानाजन्य होने से इस दूसरे लक्षण पर भी अव्याप्ति दोष आता है।'

इस अव्याप्तिदोष का निवारण करने के लिए 'ज्ञानाकरणकं ज्ञान'—ज्ञान जिसका करण नहीं हो ऐसा ज्ञान—प्रत्यक्ष प्रमा है ऐसा लक्षण करें तो अनुभव, संस्कार को उत्पन्न करके क्षीण हो जाता है, तब अनुभवज्ञान, स्मृतिज्ञान का करण हो नहीं सकता। अनुभव और स्मृति की प्रक्रिया इस प्रकार है—

पूर्वानुभूत पदार्थ के संस्कार मन में स्थिर रहते हैं। अदृष्टवशात् संनिकर्षादि निमित्तों के कारण संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने पर पूर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति होती है। कुछ लोग अवाधित पूर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति को भी प्रमा नहीं कहते हैं। उनके मत में 'ज्ञानाकरण ज्ञान' ज्ञान जिसका करण नहीं है ऐसा ज्ञान ही प्रत्यक्षप्रमा है, इस लक्षण के अनुसार स्मृति भी संस्कारजन्य होने से प्रमा कोटि में आवेगी। कारण यह है कि अनुभवरूपज्ञान का संस्कार में ही क्षय हो जाने से वह अनुभवज्ञान, स्मृति का कारण नहीं बन सकता, इसलिए 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं' इस प्रत्यक्ष प्रमालक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि स्मृति के प्रमा न होने पर भी उसमें प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण घटित हो रहा है।

इस दोष का निवारण करने के लिए—'स्मृति का करण अनुभवज्ञान ही है, संस्कार तो उसका अवान्तर व्यापार है। इस व्यापार से युक्त अनुभव में स्मृति की कारणता सिद्ध होने से 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्'—'व्यापार से युक्त जो असाधारण कारण वह करण है' यह करण का लक्षण अनुभव में है, अतः अनुभवज्ञान स्मृति का करण होने से 'ज्ञानाकरणकं' यह लक्षण स्मृति में अतिव्याप्त नहीं है, क्योंकि

स्मृति, ज्ञान-करणक है। यदि ऐसा कहें तो स्मृतिज्ञान जिसमें करण है ऐसे प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्' इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। 'सोऽयं देवदत्तः' प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष का उदाहरण है।

कारण यह है कि हमारे पक्ष में 'प्रत्यभिज्ञा' प्रत्यक्ष प्रमा है। और उसका करण स्मृतिज्ञान है। आप प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण कर रहे हैं 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्', जो प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष में घटित नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा तो 'ज्ञानकरणक' ही है। ज्ञानाकरणक नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष-प्रमा का उपपादन किसी भी लक्षण से नहीं बन सकता। अतः ग्रन्थकार 'प्रत्यक्षप्रमा' शब्द से वेदान्त शास्त्र में क्या विवक्षित है ? उसे 'प्रत्यक्षप्रमाचात्र[1] चैतन्यमेव[2]' इस वाक्य से बतला रहे हैं। सिद्धान्त में चैतन्य ही प्रत्यक्षप्रमा है। वेदान्त शास्त्र में---ज्ञान, चैतन्य, ब्रह्म, आत्मा, चिति, संविद्, भान इत्यादि शब्द समानार्थक हैं (पर्याय हैं)। प्रमा का अर्थ है ज्ञान का एक प्रकार। अतः प्रत्यक्षप्रमा को चैतन्य शब्द से कहना उचित ही है।

इस विषय में 'यत्साक्षात्' यह श्रुति प्रमाण है। इस श्रुति में 'ब्रह्म' इस विशेष्य के 'साक्षात् और अपरोक्ष' ये दो विशेषण दिये गये हैं। इन्द्रियादि प्रमाणों से अथवा साधनों से ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं होता, यह बताने के लिए श्रुति में 'साक्षात्' पद दिया गया है। अपरोक्ष प्रमाण से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, ऐसा भ्रम किसी को न हो जाय इसलिए 'अपरोक्ष' पद दिया गया है।

वेदान्त सिद्धान्त में 'चैतन्य ही प्रत्क्षप्रमा है' इस दिये गये उत्तर पर पुनः शंका---

ननु चैतन्यमनादि तत्कथं चक्षुरादेस्तत्करणत्वेन प्रमाणत्वमिति ।

अर्थ—चैतन्य अनादि (उत्पन्न न होने वाला) अर्थात् अकार्य है। तब चक्षुरादिकों में उनकी कारणता होने से प्रमाणत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ?

विवरण---अनादि का अर्थ है कारणरहित; अत एव उत्पन्न न होने वाला, अकार्य। जो नित्य वस्तु है उसके कारण की तो संभावना ही नहीं हो सकती। क्योंकि 'कारण' का अर्थ है विशिष्ट कारण। कार्य को उसकी अपेक्षा रहती है। अकार्य (नित्यपदार्थ) को उसकी अपेक्षा नहीं होती। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य में चक्षुःश्रोत्रादिरूप इन्द्रियाँ प्रमाण (करण) कैसे हो सकती हैं ?

---

१. अत्र = अद्वैतसिद्धान्ते।

२. चैतन्यमेव = वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यं वा प्रमा। न तु शुद्धचैतन्यं, तस्य अज्ञानाऽनिवर्तकत्वेन प्रमात्वाऽयोगात्। एवकारेण इन्द्रियजन्यज्ञानादीनां प्रमात्वनिरासः।

इस प्रश्न का उत्तर—

उच्यते। चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते, इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिम[1]दित्युच्यते[2]। ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे—'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' इति ॥

अर्थ—अनादि चैतन्य में करण बनकर चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रमाणता बताई जाती है—चैतन्य अनादि (नित्य) होने पर भी उसे अभिव्यक्त करने वाली अन्तःकरणवृत्ति, इन्द्रिय-संनिकर्षादि निमित्त से ही पैदा होती है। इसी से वृत्तिविशिष्ट-चैतन्य (चिदाभास) आदिमत् (उत्पत्तिमान् = उत्पन्न होनेवाला) है, ऐसा कहा जाता है। वृत्ति को ज्ञान शब्द से क्यों कहा जाता है ? उत्तर—अन्तःकरण-वृत्ति को ज्ञानावच्छेदकत्व है। वृत्ति, ज्ञान को मर्यादित (भिन्न) करती है। इसलिए उसमें ज्ञानत्व का उपचार होता है। उस वृत्ति को ही गौणीवृत्ति से 'ज्ञान' कहते हैं। विवरणकार ने भी इस सम्बन्ध में 'अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार होने से' ऐसा कहा है। इसलिए अन्तःकरण-वृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं। उसमें ज्ञानत्व का उपचार अर्थात् गौण[3] प्रयोग किया जाता है—अतः यह कथन अनुचित नहीं है।

विवरण—साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य, अनादि (नित्य) है, इसमें किञ्चित् मात्र भी सन्देह नहीं। तथापि अन्तःकरण-वृत्ति उस नित्य-चैतन्य को अभिव्यक्त करती है। अन्तःकरणवृत्ति में नित्य-चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उसी को 'चिदाभास' कहते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति, इन्द्रिय सन्निकर्षादि के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है। अर्थात् वह स्वभावतः (स्वाभाविक ही) जन्य है। इस कारण इस जन्य वृत्ति से विशिष्ट (युक्त) चैतन्य हुए को भी आदिमत्व है। अर्थात् वह भी वृत्ति के साथ उत्पन्न होता है—कह सकते हैं। इसलिए चक्षुरादि इन्द्रियों में उस जन्य चैतन्य के प्रति करणत्व प्रतीत होता है। जिससे उन्हें प्रमाण कहा जा सकता है—इस आशय

---

१. दुच्य-इति पाठान्तरम्।

२. चतुर्भागस्य अन्तःकरणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्यं तत्र अभिव्यज्यते। तस्य च अभिव्यक्तचैतन्यस्य एकत्वेऽपि व्यञ्जकान्तःकरणभागभेदात् चतुर्धा व्यपदेशो भवति—प्रमाता, प्रमाणं-प्रमितिः-प्रमेयमिति।

३. चैतन्यस्य स्वरूपतः अजन्यत्वेऽपि वृत्तिचैतन्ययोः। अन्योन्यतादात्म्याध्यासेन वृत्तिधर्मस्य जन्यत्वस्य चैतन्ये अध्यासात् प्रमारूपस्य विषयसंसृष्टवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यस्य गौणं जन्यत्वम्। तथाचोक्तं सिद्धान्तलेशसंग्रहे—"तस्य स्वरूपेण अकार्यत्वेऽपि दृश्यावच्छिन्नरूपेण ब्रह्मकार्यत्वात्।"

से ग्रन्थकार ने 'उच्यते' कहकर समाधान का आरम्भ किया है। चक्षुरादि इन्द्रियों का अविशिष्ट (शुद्ध) चैतन्य के प्रति करण न बनना हमें इष्ट ही है। क्योंकि अविशिष्ट शुद्ध चैतन्य में स्वयं प्रकाशत्व होता है। इस कारण चैतन्यात्मा में प्रमाण व्यापार की अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् स्वयंप्रकाश चैतन्यात्मा की सिद्धि में प्रमाण व्यापार की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु अप्रकाश-पदार्थ को साभास अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रमाण की अपेक्षा रहती है।

शंका—वृत्ति को ही प्रत्यक्ष-प्रमा क्यों न कहा जाय ? क्योंकि व्यवहार में वृत्ति को ही ज्ञान शब्द से कहा जाता है। और वृत्ति, स्वरूपतः इन्द्रियों से उत्पन्न होती है। तब वृत्ति को प्रत्यक्ष-प्रमा न कहकर, चैतन्य ही प्रत्यक्ष-प्रमा है—ऐसा क्यों कहते हो ?

समाधान—'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुति से चैतन्य में ही मुख्यज्ञानत्व सिद्ध होता है। वृत्ति, जड अन्तःकरण का धर्म होने से जड़ है—इसलिए उसे प्रत्यक्ष-प्रमात्व नहीं है। परन्तु उसमें चैतन्यरूप ज्ञान का अवच्छेदकत्व होने से ज्ञानत्व का उपचार किया जाता है। इसी आशय से ग्रन्थकार ने 'ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च' (प्रमाचैतन्योपाधित्वात्) पंक्ति लिखी है।

आप चैतन्य में ही प्रत्यक्ष-प्रमात्व कहते हैं। परन्तु चैतन्य में अनादित्व (नित्यत्व) होने से वह अजन्य है और अजन्य (पैदा न होने वाली) वस्तु को करण की अपेक्षा नहीं होती। जन्य (उत्पन्न होने वाली) वस्तु को ही करण की अपेक्षा हुआ करती है। क्योंकि करण का अर्थ है कारणविशेष अर्थात् एक प्रकार का विशिष्ट कारण। 'कारण', भी कारक ही है। क्रिया को उत्पन्न करने वाले पदार्थ को कारक कहते हैं। इसलिए कारण कहलाने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा चैतन्य में यदि कोई विशेषता उत्पन्न न की गयी तो उसे कारण कहना व्यर्थ है।' यह उपर्युक्त शंका का आशय है। इस पर समाधान ग्रन्थ का आशय यह है—

'प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा अविशिष्ट चैतन्य में कोई विशेष (अतिशय) उत्पन्न न किये जाने पर भी (अतिशय का आधान न करने पर भी) अन्तःकरण-वृत्ति-विशिष्ट चैतन्य में उसके द्वारा अतिशयाधान किया जा सकता है।'

अद्वैत-सम्प्रदाय के प्राचीन विद्वानों ने ऐसा कहीं नहीं कहा है, अतः यह अपसिद्धान्त है—ऐसा कदाचित् वादी न कहे, एतदर्थ 'तदुक्तम्' इत्यादि ग्रन्थ से 'प्रकाशात्मसंज्ञक' आचार्य ने अपने विवरण ग्रन्थ में 'अन्तःकरण-वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार (प्रमात्व का अध्यास) किया जाता है' ऐसा कहा है। अतः यह अपसिद्धान्त नहीं है। इस पर शंका—

(अन्तःकरणवृत्तिः)

ननु[1] निरवयवस्यान्तःकरणस्य परिणामात्मिका वृत्तिः कथम् ?

अर्थ—निरवयव (अवयवशून्य) अन्तःकरण की परिणामात्मक वृत्ति की संभावना कैसे हो सकती है ?

---

१. अत्र शङ्कते—'विषयसंसृष्ट वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमा' इति यदुक्तं तदयुक्तम्।'

विवरण—(प्रतिज्ञा) अन्तःकरण (मन) द्रव्य, परिणामी (परिणाम को प्राप्त होने वाला) नहीं है। (हेतु) क्योंकि वह निरवयव है। (दृष्टान्त) आकाश के समान, ऐसा अनुमान[1] करने से अन्तःकरण की परिणामरूप वृत्ति नहीं हो सकती। दूध से दही की तरह किंवा मिट्टी से घट की तरह यह वृत्ति, परिणाम न होकर सूर्य प्रकाश के समान विकासरूप है। यह कहने पर भी निरवयव वस्तु का आकाश के समान ही विकास रूप परिणाम भी नहीं हो सकता। इसलिए अन्तःकरण-वृत्ति-विशिष्ट चैतन्य को ज्ञान रूप नहीं माना जा सकता। इस कारण ज्ञान, आत्मा से भिन्न ही है और वह इन्द्रियजन्य होने से प्रत्यक्ष है, इस आशय से नैयायिकों ने यह शंका की है। नैयायिक 'ज्ञान' को आत्मा का गुण मानते हैं। किन्तु वेदान्ती वृत्तिविशिष्ट-चैतन्य को जन्य-ज्ञान कहते हैं। यह जन्य-ज्ञान, आत्मा का गुण नहीं है। क्योंकि आत्मा, निर्गुण हैं। 'ज्ञप्ति-रूप अविशिष्ट ज्ञान,' आत्मा का स्वरूप है। नैयायिकों के मत में अन्तःकरण (मन) निरवयव, अणुपरिमाण, एक और नित्य है। वेदान्त-सिद्धान्त में वह सावयव, विरल, सादिद्रव्य है। इसलिए ग्रन्थकार स्वसिद्धान्त के अनुसार नैयायिकों की उपर्युक्त शंका का समाधान करते हैं।

(कामादीनां मनोधर्मत्वम्)

इत्थम्। न तावदन्तःकरणं निरवयवं, सादिद्रव्यत्वेन सावयवत्वात्। सादित्वं च 'तन्मनोऽसृजत' इत्यादिश्रुतेः। वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मत्वे च 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १-५-३) इति श्रुतिर्मानम्, धी-शब्देन वृत्तिरूप-ज्ञानाभिधानात्। अत एव कामादेरपि मनोधर्मत्वम्॥

अर्थ—(सावयव पदार्थ का परिणाम होता है। निरवयव का नहीं। अतः अन्तःकरण तो निरवयव पदार्थ होने से उसकी परिणामात्मक वृत्ति कैसे संभव हो सकती है? इस प्रश्न पर हम बताते हैं कि वह ऐसे सम्भव हो सकती है) पहले तो अन्तःकरण निरवयव पदार्थ नहीं है। (वह तो सावयव है) क्योंकि उसमें सादिद्रव्यत्व होने से सावयवत्व है। (सादि = उत्पन्न होने वाला। जो उत्पन्न होने वाला द्रव्य होता है वह सावयव होता है) उसका सादित्व 'तनमनः असृजत' उस ब्रह्म ने मन (अन्तःकरण) को उत्पन्न किया। इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। और 'अन्तःकरण-वृत्ति रूप ज्ञान'

---

१. अनुमानप्रयोगः—'अन्तःकरणं न परिणामि, निरवयवत्वात् आकाशवत्।' किन्तु अत्रानुमाने 'निरवयवत्वं' हेतुः चेतनत्वोपाधिना सोपाधिकः, स्वरूपासिद्धश्च। तथा चानुमानप्रयोगः—

'अन्तःकरणं सावयवं सादित्वेसति द्रव्यत्वात्।' तथा च सादिद्रव्यत्वेन अन्तःकरणस्य सावयवत्वसिद्धौ निरवयवत्वाऽसिद्धिरिति हेतोः स्वरूपासिद्धत्वं सिद्धं भवति।

मनोधर्म (अन्तःकरण का धर्म है) है। इस विषय में 'काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (शिथिल हुए शरीरादि को उत्तेजित करने वाली वृति) अधृति, लज्जा, धी (प्रज्ञा), भय इत्यादि सब मन के (अन्तःकरण के) ही रूप हैं।' यह श्रुति प्रमाण है। (बृ० उ० १-५-३) इस श्रुति-वचन के 'धी' शब्द से वृत्तिरूप ज्ञान कहा गया है। 'कामादि समस्त मन ही है,' यह कहने से कामादि भी मनोधर्म ही हैं।

विवरण—(प्रतिज्ञा) अन्तःकरण निरवयव नहीं है। (हेतु) क्योंकि वह सादि-द्रव्य है। (दृष्टान्त) घट के समान। इस अनुमान से आपके पूर्वोक्त अनुमान में 'निरवयवत्वात्' = क्योंकि वह निरवयव है, हेतु 'असिद्ध' ठहरता है। अन्तःकरण के सादित्व से उसके सावयवत्व की सिद्धि होती है और सावयत्व से उसके परिणामित्व की सिद्धि होती है। इस विषय में "(प्रतिज्ञा)—अन्तःकरण परिणामी है। (हेतु)—कारण वह अन्त्यावयवी (अन्तिम कार्य) न होकर सावयव है। (दृष्टान्त)—मृत्तिका के समान।" ऐसा अनुमान करना चाहिए। इस प्रकार अन्तःकरण सादिद्रव्य होने से साव-यव है। और वह घट की तरह अन्त्यावयविद्रव्य नहीं है। इसलिए उसकी परिणामात्मक वत्ति हो सकती है। इस कारण—अन्तःकरण वृत्तिविशिष्ट आत्मचैतन्य ही ज्ञान है। उससे भिन्न दूसरा कोई भी ज्ञान नहीं। इस आशय से ग्रन्थकार ने 'इत्थम्' इत्यादि ग्रन्थ से उपर्युक्त शंका का समाधान किया है।

यहाँ अन्तःकरण का सावयवत्व, अनुमान से सिद्ध करना है, इसलिए वह साध्य है। उसकी सिद्धि में 'सादिद्रव्यत्व के कारण' (यह) हेतु दिया है। इसमें 'सादि' विशेषण और 'द्रव्यत्व' विशेष्य है। इनका प्रयोजन (उपयोग) बताना ही 'पदकृत्य' कहा जाता हैं। 'द्रव्यत्व के कारण' इतना ही यदि कहा होता तो तार्किकों ने अपने दर्शन के अनुसार हेतु में व्यभिचार दिखाया होता क्योंकि 'आत्मा, आकाश, काल इत्यादि द्रव्य तो हैं किन्तु वे सावयव नहीं हैं।' यह व्यभिचार वे न दिखा पावें, एतदर्थ हेतु में 'सादि' विशेषण देने से उनका निवारण हो जाता है।

शंका—आकाशादि नित्य द्रव्यों में सादित्व न होने से अन्तःकरण का सावयवत्व सिद्ध करने के लिए 'सादित्वात्' हेतु ही पर्याप्त है। पुनः 'द्रव्यत्वात्' विशेष्यांश क्यों दिया गया ?

समाधान—सादि निरवयव गुणों का निवारण करने के लिए विशेष्यांश जोड़ा गया है। रूपादि गुण सादि हैं पर सावयव नहीं हैं।

शंका—परन्तु अन्तःकरण सादि (उत्पन्न होने वाला) द्रव्य है—इस विषय में कोई प्रमाण न होने से 'सादि-द्रव्यत्वात्' हेतु में 'सादि' विशेषण 'असिद्ध' है—यह हेतु विशेषणासिद्ध है।

समाधान—अन्तःकरण के सादित्व में (जन्यत्व में) 'ब्रह्म ने मन (अन्तःकरण) को उत्पन्न किया'—श्रुति प्रमाण है। इस प्रकार अन्तःकरण के सादित्व में श्रुतिप्रमाण बताकर उसके (अन्तःकरण के) परिणामित्व में, पूर्वोक्त अनुमान ही केवल प्रमाण न

होकर भगवती श्रुति भी प्रमाण है। इस आशय से 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुति का निर्देश किया है।

शंका—इस श्रुतिवचन में 'ज्ञान' शब्द तो कहा नहीं है तब उसके अन्तःकरण-धर्मत्व में श्रुति कैसे प्रमाण हो सकती है ?

समाधान—इस श्रुति में 'धी' शब्द से वृत्तिरूप ज्ञान ही विवक्षित है। 'धी' शब्द का अर्थ वृत्तिरूप ज्ञान होने से उसमें मनोधर्मत्व है।

शंका—(प्रतिज्ञा)—श्रुतिगत 'धी'[1] शब्द-वाच्य ज्ञान, मन का धर्म नहीं है, (अन्तःकरण उसका उपादान कारण नहीं है)—(हेतु)—क्योंकि उसमें मानस-प्रत्यक्षत्व है (वह मन, इस अन्तरिन्द्रिय को प्रत्यक्ष ज्ञात होता है)। (दृष्टान्त)—कामादि अन्य पदार्थों के समान। परन्तु 'उसे अन्तःकरणोपादानक न मानने पर 'सर्वं मन एव' श्रुति से विरोध होगा—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस 'धी' शब्दवाच्य ज्ञान का मनोजन्यत्व है (वह मन से उत्पन्न होता है) इस अर्थ में उस श्रुति की व्यवस्था लगाई जा सकती है।

समाधान—'सर्वं मन एव'—कामादि समस्त, मन ही (अन्तःकरण ही) है, इस श्रुति में 'कामादि समस्त' और 'मन' का सामानाधिकरण्य है। इस कारण 'मृद्घटः' मृत्तिका ही घट है इस वाक्य के मृत्तिका और घट—इन दो शब्दों के सामाना-धिकरण्य से (एक विभक्ति में होने के कारण) मृत्तिका उपादान है और घट, कार्य अर्थात् उपादेय है, यह जैसे सिद्ध होता है, उसी तरह 'सर्वं मन एव' इस वाक्य में भी 'धी' शब्दवाच्य ज्ञान में भी अन्तःकरणोपादानकत्व है, यह निश्चित किया जाता है। 'अन्तःकरण उस ज्ञान का उपादान नहीं है, वह मनोजन्य है' यह स्वीकार करने में 'सर्वम्' और 'मनः' शब्दों का सामानाधिकरण्य बाधक है। इसके अतिरिक्त आपने उपर्युक्त अनुमान में 'कामादि अन्य पदार्थों के समान' दृष्टान्त दिया है। परन्तु यह दृष्टान्त साध्यविकल है। 'ज्ञान का अन्तःकरणोपादानकत्व न रहना' साध्य है। उसमें कामादि को तो अन्तःकरणोपादानकत्व ही है, तदनुपादानकत्व नहीं है। इसलिए 'कामादिक' साध्य से विकल (शून्य) हैं। इस आशय से ग्रन्थकार कहते हैं—'अत एव' उस कारण ही अर्थात् 'सर्वं मन एव' ऐसी सामानाधिकरण्यश्रुति होने से ही श्रुत्युक्त कामादि समस्त वृत्तियों में मनोधर्मत्व है। वे सब वृत्तियाँ अन्तःकरणोपादानक हैं। अब श्रुत्युक्त कामादिकों में भी अन्तःकरणोपादानकत्व (मनोधर्मत्व) है—इस सिद्धान्त पर शंका—

---

१. 'धी'-शब्दवाच्यं ज्ञानं, अन्तःकरणोपादानकं न भवति, मानसप्रत्यक्षत्वात् कामादिवत्।'

अत्र दृष्टान्तः साध्यविकलः। ज्ञाने अन्तःकरणोपादानकत्वाभाववत्त्वस्य साध्यत्वात्। कामादीनां तु अन्तःकरणोपादानकत्वमेवेति।

ननु कामादेरन्तःकरणधर्मत्वेऽहमिच्छाम्यहंजानाम्यहं बिभेमीत्याद्यनुभव आत्मधर्मत्वमवगाहमानः कथमुपपद्यते ?

अर्थ—'काम, संकल्प, संशय आदि अन्तःकरण के धर्म हैं—कहने पर 'मैं इच्छा करता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं डरता हूँ, इत्यादि आत्मधर्मत्व को विषय करने वाला (इच्छा, ज्ञान, भय, ये सब अहं शब्द-वाच्य आत्मा के धर्म हैं इस प्रतीति का विषय होने वाला) अनुभव कैसे उपपन्न होता है ?

विवरण—'मैं इच्छा करता हूँ, मैं जानता हूँ', ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होते रहने से काम, संकल्प, ज्ञान इत्यादि सब आत्मा के धर्म हैं, अन्तःकरण के नहीं। यह सिद्ध होता है, क्योंकि 'अहम्'—मैं अर्थात् आत्मा। अहंकार को बिना विषय किये आत्मा का अनुभव कभी नहीं होता। सोने के बाद जागने पर 'मै सुखपूर्वक सोया' यह स्मरण होने से सुषुप्ति में भी अहंकार का भान होता है ऐसा मानना पड़ता है। परन्तु कामादि को अन्तःकरण का धर्म मानने पर 'मैं इच्छा करता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध आता है। प्रत्यक्ष अनुभव, श्रुति से भी प्रबल है। क्योंकि वह ज्येष्ठ (सब प्रमाणों से पहिले उपस्थित होनेवाला, सब ज्ञान और ज्ञानकरणों का कारण) है। इसलिए 'मैं इच्छा करता हूँ', 'मैं जानता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध न हो एतदर्थ कामादिकों को आत्मधर्म ही मानना चाहिए, उन्हें अन्तःकरणधर्म मानना उचित नहीं। अतः अन्तःकरण, कामादिकों में निमित्त है, उपादान नहीं। यह—इस शंका का आशय है।

उच्यते। अयःपिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रय-वह्नि-तादात्म्याध्यासात् यथा अयोदहतीति व्यवहारस्तथा सुखाद्याकार-परिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासात् अहं सुखी दुःखीत्यादिव्यवहारः[1] ॥

अर्थ—(उपर्युक्त शंका का समाधान किया जाता है) कामादिकों को किस प्रकार मनोधर्मत्व है उसे बताते हैं—लोहे के गोले में दग्धृत्व (दाह करने का सामर्थ्य) न होने पर भी दग्धृत्व धर्म से युक्त हुए (दग्धृत्व धर्म का आश्रय) अग्नि के तादात्म्य का अध्यास होने से 'यह लोहा (लोहे का गोला) जला रहा है' ऐसा व्यवहार जिस तरह होता है, उसी तरह सुखादि आकारों में परिणत हुए अन्तःकरण से आत्मा के ऐक्य का अध्यास होने पर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि व्यवहार होता है।

विवरण—यदि कामादि, अन्तःकरण के ही धर्म हैं तो 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि शब्द-व्यवहार कैसे होता है ? सुखादि विषयों के आकार में परिणत (विकसित) हुए अन्तःकरण के साथ आत्मा का ऐक्याध्यास (तादात्म्य) हो जाने से वैसा व्यवहार होता है। अर्थात् सब प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रथमता होने से ही वह

१. रो जायते—इति पाठान्तरम्।

श्रुति से प्रबल नहीं ठहरता। क्योंकि 'यह रजत है' ऐसा भ्रमज्ञान यद्यपि प्रथमतः होता है तथापि 'यह रजत नहीं, शुक्तिका है' आगे होने वाले इस सम्यक् ज्ञान से वह बाधित होता है। उसी तरह प्रत्यक्ष, अन्य प्रमाणों का उपजीव्य (कारण) होने से प्रबल है, यह सच होने पर भी वह प्रत्यक्ष, जिस व्यावहारिक प्रामाण्य से श्रुति का उपजीव्य होता है, उसके उस व्यावहारिक प्रामाण्य का बाध श्रुति नहीं करती। श्रुति तो केवल उसके तात्त्विक प्रामाण्य का ही बाध करती है।

कामादि वृत्तियों का अन्तःकरणधर्मत्व-बोधन कराने में ही प्रकृत श्रुति का तात्पर्य है। इसलिए 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव का बाध करके ही कामादिक मनोधर्म हैं ऐसा समझना चाहिए।

व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण, श्रुति की अपेक्षा प्रबल है, परन्तु परीक्षित (प्रमाण से निरूपित किये हुए) प्रत्यक्ष का प्राबल्य है। 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष-अनुभव के प्रमाणों से निरूपण कर कामादिकों को आत्मधर्मत्व सिद्ध नहीं हुआ है। क्योंकि आप जैसा कह रहे हैं उस तरह 'आत्मा' अहं पदवाच्य नहीं है (अहं शब्द का अर्थ आत्मा नहीं है) क्योंकि सुषुप्ति में 'अहम्' इत्याकारक अनुभव नहीं हुआ करता। किन्तु 'मैं सुख से सोया था' यह चैतन्य-अंश में स्मरण है, और अन्तःकरण-अंश में अनुभव है। इस कारण अन्तःकरण और चैतन्य का परस्पर विवेक न होने से (वे दो भिन्न पदार्थ हैं यह ज्ञान न होने से) मैं दुःखी, मैं सुखी, मैं चाहता हूँ' इत्यादि अनुभव, स्वरूप-चैतन्य के अज्ञान से अन्तःकरण में होने वाला तादात्म्य-भ्रम है। लोहा पार्थिव पदार्थ होने से उसका स्पर्श अनुष्णाशीत है। परन्तु उसे अग्नि में तप्त करने पर यदि स्पर्श किया जाय तो हाथ जलता है। किन्तु 'हाथ जलाना रूप दग्धृत्व' वस्तुतः लोहे का धर्म न होकर, अग्नि का है। तथापि 'इस लोहे से मेरा हाथ जल गया' यह शब्द व्यवहार होता है। क्योंकि अनुष्णाशीत लोहे का गोला और दाहक अग्नि का तादात्म्य होने से 'लोहे से ही हाथ जला' यह भ्रम होता है। इसी तरह 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि शब्द-व्यवहार कामसुखादि विषयाकार से परिणत होने वाले अन्तःकरण का चैतन्यरूप आत्मा से तादात्म्य हो जाने से होता है, परन्तु वह भ्रामक है। इस कारण 'मैं इच्छा करता हूँ' इस अपरीक्षित प्रत्यक्ष-प्रमाण से पूर्वोक्त श्रुति का बाध नहीं होता। इसलिए 'कामादि सब मन ही है' यह श्रुति कामादिकों के मनोधर्म होने में प्रमाण है। परन्तु लोहा और अग्नि की तरह आत्मा और अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास का सम्भव ही नहीं होता, यह शंका करते हैं—

(मनसोऽनिन्द्रियत्वनिरूपणम्)

नन्वन्तःकरणस्येन्द्रियतयाऽतीन्द्रियत्वात् [1]कथमहमिति प्रत्यक्ष-विषयतेति।

---

१. कथं प्रत्यक्षविषयतेति—पाठान्तरम्।

अर्थ—अन्तःकरण के इन्द्रियत्व होने से (अर्थात् अन्तःकरण इन्द्रिय होने से) वह अतीन्द्रिय है (इन्द्रिय का विषय नहीं होता) कोई भी इन्द्रिय, प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती तब उसे 'अहम्' इस प्रकार इन्द्रिय-विषयत्व कैसे ? ('मैं' इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव कैसे होता है) ।

विवरण—अग्नि और लोहे का गोला दोनों के प्रत्यक्ष होने से उनका परस्पर तादात्म्याध्यास होकर लोहा 'जलाता है' यह भ्रामक व्यवहार हो सकता है । परन्तु आत्मा और अन्तःकरण में से आत्मा, प्रत्यक्षविषय और अन्तःकरण, प्रत्यक्षाविषय (अतीन्द्रिय) है । तब प्रत्यक्षविषय आत्मा और अतीन्द्रिय अन्तःकरण का तादात्म्याध्यास कैसे हो सकेगा ? और जब तादात्म्याध्यास का ही संभव नहीं तब 'मैं इच्छा करता हूँ' यह भ्रामक व्यवहार भी कैसे होगा ?

'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य' यह 'अहं' शब्द का अर्थ होना संभव नहीं । क्योंकि अन्तःकरण 'इन्द्रिय' है, और इन्द्रिय, अतीन्द्रिय होती है । इसलिए वह अन्तःकरण, प्रत्यक्षप्रमा का विषय नहीं बन सकता । इस विषय में अनुमान[1] इस प्रकार किया जाता है—

(प्रतिज्ञा)—अन्तःकरण अतीन्द्रिय है । (हेतु)—क्योंकि वह इन्द्रिय है । (दृष्टान्त)—चक्षुःश्रोत्रादि इन्द्रियों के समान । इस आशय से वादी के शंका करने पर समाधान—

उच्यते । न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति । 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इति भगवद्गीतावचनं प्रमाणमिति चेत् न । अनिन्द्रियेणाऽपि मनसा षट्त्वसङ्ख्यापूरणाविरोधात् । न हीन्द्रियगतसङ्ख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः । 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इत्यत्र ऋत्विग्गतपञ्चत्वसङ्ख्याया अनृत्विजाऽपि यजमानेन पूरणदर्शनात् । वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्' इत्यत्र[2] वेदगतपञ्चत्वसङ्ख्याया अवेदेनापि महाभारतेन पूरणदर्शनात् । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' (का० १-३-१०) इत्यादिश्रुत्या मनसोऽनिन्द्रियत्वावगमाच्च ।

अर्थ—(उपर्युक्त शंका का समाधान कहते हैं—'अन्तःकरण इन्द्रिय है' तुम्हारे इस

१. अनुमान प्रयोगः—
'अन्तःकरणम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियत्वात् चक्षुरादिवत्'
२. त्यादौ—इति पाठान्तरम् ।

इस कथन में पहिले तो कोई प्रमाण नहीं है।[१] 'जीव, मृत्यु के समय मन जिनमें छठवाँ है ऐसी इन्द्रियों का आकर्षण करता है'—गीता के पन्द्रहवें अध्याय का भगवान् का यह वचन ही मन के (अन्तःकरण के) इन्द्रियत्व में प्रमाण है—यह कहो तो ठीक नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय न होकर भी मन से इन्द्रियों की छठी संख्या की पूर्ति करने में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों की संख्या-पूर्ति इन्द्रिय से ही करने का कोई नियम नहीं है। इसी कारण 'यजमान जिनमें पाँचवाँ है ऐसे ऋत्विज, इडा का भक्षण करते हैं।' इस श्रौत (वैदिक) वचन में ऋत्विजों की पाँचवीं संख्या ऋत्विजों से भिन्न यजमान के द्वारा भी पूर्ण की हुई दिखाई देती है। इसी तरह 'महाभारत जिसमें पाँचवाँ है ऐसे वेदों को पढ़ाया' इस स्मृतिवाक्य में भी वेदों की पाँचवीं संख्या वेद से भिन्न महाभारत के द्वारा पूर्ण की हुई दिखाई देती है। इसी तरह 'इन्द्रियों से वासनात्मक अर्थ परे है, उस वासनात्मक अर्थ से मन परे' है। इत्यादि श्रुति से भी मन का इन्द्रिय न होना ज्ञात होता है।

विवरण—'अन्तःकरण, इन्द्रिय होने से वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है' वादी के इस कथन का उत्तर हम इस प्रकार देते हैं—अन्तःकरण (मन) के अन्तरिन्द्रिय होने में कोई प्रमाण नहीं है। जब कि वह इन्द्रिय ही नहीं तब उसका अतीन्द्रियत्व कैसे सिद्ध हो सकता है। अतः अन्तःकरण प्रत्यक्ष-विषय नहीं होता, यह कथन अनुचित है। इसी बात को 'न तावद्' इत्यादि ग्रन्थ से सूचित किया है।

वादी की पुनः शंका—'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि०' मन जिनमें छठा है ऐसी इन्द्रियों का जीव आकर्षण करता है—इत्यादि भगवद्-वाक्य मन के इन्द्रिय होने में प्रमाण है।

समाधान—इन्द्रियों की षष्ठ—संख्यापूर्ति अनिन्द्रिय 'मन' से भी की जा सकती है। अतः वादी के द्वारा प्रदर्शित भगवद् वाक्य से कोई विरोध नहीं है। भगवद्-वाक्य का तात्पर्य मन को इन्द्रियत्व बताने में ही नहीं है। मन को इन्द्रिय बताने वाली कोई श्रुति भी नहीं है। 'मेरा मन' इस अनुभव से भी मन का अनिन्द्रियत्व सिद्ध होता है। इस पर भी मन का इन्द्रियत्व सिद्ध करने के लिए यदि आप अनुमान[२]—प्रमाण को

---

१. सिद्धेन हेतुना साध्यं साधनीयं भवति। अत्र तु सिद्धेन इन्द्रियत्व-हेतुना अन्तःकरणस्य अतीन्द्रित्वं साधनीयं, न असिद्धेन। अत्र च हेतुरेव असिद्धः।

२. यद् यद्गतसंख्यापूरकं तत् तज्जातीयमितिनियमेन मनस इन्द्रियगतसंख्यापूरकत्वमिन्द्रियत्वं विना अनुपपन्नमिति इन्द्रियत्वं कल्पयति। अतो मनस इन्द्रियत्वे अर्थापत्तिः प्रमाणम्। तथाऽनुमानमपि—'मनः, इन्द्रियम्, इन्द्रियगतसंख्यापूरकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवमिति।

किन्तु उक्तनियमस्य अनैकान्तिकत्वम्, अनुमानस्य च अप्रयोजकत्वं वर्तते। नियमव्यभिचारो यथा—'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति'—इति श्रुत्या यजमानसहितानां चतुर्णामृत्विजामिडाभक्षणं विधीयते। तत्र यजमानो यदि ऋत्विक् स्यात्, ऋत्विजामिडाभक्ष-

उपस्थित करें—'(प्रतिज्ञा) मन इन्द्रिय है, (हेतु) इन्द्रियों की संख्या का पूरक होने से' तो इसमें हेतु प्रयोजक (साध्य साधन में असमर्थ) है। क्योंकि अनिन्द्रिय मन से भी इन्द्रियों की संख्यापूर्ति की जा सकती है।

सिवाय उपर्युक्त अनुमान में 'जो इन्द्रियगत संख्यापूरक हो इन्द्रिय है' यह विशेष व्याप्ति, उसका (अनुमान का) मूल हैं, अथवा 'जो जिसका संख्यापूरक हो वह उसकी जाति का होता है' यह सामान्य व्याप्ति, उसका (अनुमान का) मूल है, ऐसा विकल्प करते हैं, किन्तु यहाँ दोनों पक्ष सम्भव नहीं हैं, इस आशय से सिद्धान्ती का कथन है कि 'इन्द्रियगत संख्या की पूर्ति इन्द्रिय से ही की जाय' ऐसा नियम न होने से विशेष व्याप्ति का यहाँ सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा दृष्टान्त कहीं दिखाई नहीं देता।

इसी तरह पूर्वोक्त सामान्य व्याप्ति भी उपर्युक्त अनुमान में मूल नहीं है—क्योंकि 'यजमान जिसमें पाँचवाँ है ऐसे ऋत्विज इडा भक्षण करते हैं, इस उदाहरण में 'ऋत्विजों की पञ्च-संख्या का पूरक यजमान है, परन्तु वह ऋत्विक् नहीं है। इस कारण 'जो जिनकी संख्या का पूरक होता है वह उनकी जाति का होता है' यह सामान्य व्याप्ति भी यहाँ घटित नहीं होती। इस प्रकार श्रौत उदाहरणों में व्याप्ति का भंग दिखलाकर सिद्धान्ती स्मार्त-उदाहरण में भी उसका भंग दिखाता है—'महाभारत जिसमें पाँचवाँ है ऐसे वेद को अध्यापक ने पढ़ाया' उदाहरण में वेदगत पंचत्व (पाँच) संख्या जिस महाभारत के योग से पूर्ण होती है वह इतिहास नाम से प्रसिद्ध महाभारत पौरुषेय (व्यास रचित) होने से अपौरुषेय वेद की कोटि में नहीं है। जैसे 'मैं नक्षत्रों में चन्द्र हूँ' यह वचन चन्द्र के नक्षत्र होने में प्रमाण नहीं, वैसे ही 'इन्द्रियों में मन मैं हूँ' यह वचन भी मन के इस इन्द्रिय होने में प्रमाण नहीं है।

शंका—मन के इन्द्रिय होने में बाधक प्रमाण तो कोई है नहीं।

उत्तर—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' यह श्रुति 'इन्द्रियों से पर विषय (सूक्ष्म), व्यापक और नित्य विषयों से मन पर है' बताकर मन के अनिन्द्रियत्व का बोधन कराती है। अतः मन के इन्द्रिय होने में बाधक प्रमाण नहीं है यह कथन अनुचित है। उसके इन्द्रियत्व की बाधक प्रत्यक्ष श्रुति ही प्रमाण है।

शंका—'इन्द्रियेभ्यः पराः०' इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार भी संभव हो सकता है—मन इन्द्रिय को छोड़कर अन्य सब इन्द्रियों से अर्थ पर है, और मन-इन्द्रिय उन अर्थों से

णेनैव तस्यापि तत् प्राप्तमिति 'यजमानपञ्चमा' इति नोक्तं स्यात्, किन्तूच्यते। तस्मात् ज्ञायते—यजमानो न ऋत्विक् इति। तेन अनृत्विजापि यजमानेन तथा ऋत्विग्गतसंख्यापूरणं, तथैव अनिन्द्रियेणाऽपि मनसा इन्द्रियगतसंख्यापूरणम्। एवञ्चात्र नियमस्य व्यभिचरितत्वात् न तेन मनसः इन्द्रित्वसिद्धिः।

(विषयों से) भी पर है। अतः 'मन विषयों से पर है' इतना कह देने मात्र से वह इन्द्रिय नहीं है, यह सिद्ध नहीं होता।

समाधान—उपर्युक्त 'इत्यादिश्रुत्या' इस वाक्य के आदि शब्द से 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुं० २।१।३) इस पुरुष से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश इत्यादि उत्पन्न होते हैं' इस श्रुति का ग्रहण किया गया है। इसलिए आदि शब्द से गृहीत इस श्रुति से एक वाक्यता को प्राप्त होकर 'इन्द्रियों से पर रहनेवाले विषयों से मन पर है' यह श्रुति मन के अनिन्द्रियत्व का बोधन कराती है। तस्मात् मन (अन्तःकरण) को इन्द्रियत्व नहीं है। अर्थात् मन इन्द्रिय नहीं है।

मन की इन्द्रियता मुख्य न होकर गौणरूप से मानी जा सकती है, इससे उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति का भी वाध नहीं होगा। 'वेदानध्यापयामास' इस वाक्य में महाभारत भी सकल वेदार्थ प्रतिपादक होने से गौणरूप से वेद है, यह स्वीकार करना चाहिए। इस पर सिद्धान्ती, तार्किकों की एक शंका का अनुवाद करके इसका समाधान करता है।

न चैवं मनसोऽनिन्द्रियत्वे सुखादिप्रत्यक्षस्य साक्षात्त्वं न [1]स्यादिन्द्रियाजन्यत्वादिति वाच्यम्। [2]न हीन्द्रियजन्यत्वेन ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्, अनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः, ईश्वरज्ञान-स्यानिन्द्रियजन्यस्य[3] साक्षात्त्वानापत्तेश्च ॥

अर्थ—मन की इन्द्रियता को स्वीकार न करने पर सुखादिकों के प्रत्यक्ष अनुभव की प्रत्यक्षता नहीं वन सकेगी, क्योंकि वह इन्द्रिय से जन्य नहीं है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है, कारण ज्ञान को इन्द्रिय-जन्यत्व होने से (ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है इसलिये) उसका साक्षात्त्व (प्रत्यक्षत्व) है, यह नहीं कहा जा सकता। इन्द्रियजन्य होने से ज्ञान का साक्षात्त्व (प्रत्यक्षत्व) यदि स्वीकार किया जाय तो अनुमितिज्ञान, उपमितिज्ञान इत्यादि अन्य ज्ञान भी मन से ही उत्पन्न होने से उन्हें भी साक्षात्त्व (प्रत्यक्षज्ञान) कहना होगा। और ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियजन्य न होने से उसे साक्षात्त्व नहीं है यह कहना होगा। ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियों से पैदा न होने से उसे साक्षात्त्व की

---

१. "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्" इति न्यायसूत्रात् प्रत्यक्षत्वे इन्द्रियजन्यत्वं प्रयोजकम्। अतो मनस अनिन्द्रित्वाभ्युपगमे तज्जन्यसुखादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं न भवेत्, यतो हि कारणाभाव एव कार्याभावे हेतुरिति-नियमादिति शङ्काकर्तुर्नैयायिकस्याशयः।

२. अनुमित्यात्मकस्य ज्ञानस्य मनोरूपेन्द्रियजन्यत्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वमिति प्रत्यक्षे इन्द्रियजन्यत्वम्प्रयोजकं नास्ति, इति सिद्धान्तिन आशयः।

३. 'तया'—इति पाठान्तरम्।

अनापत्ति (अप्राप्ति) होगी। (परन्तु अनुमित्यादि अप्रत्यक्ष ज्ञानों को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होना और ईश्वरज्ञान का साक्षात्त्व नष्ट होना, ये दोनों अनिष्ट हैं)।

विवरण—'इन्द्रियजन्य ज्ञान को तो प्रत्यक्षत्व है परन्तु मन में इन्द्रियत्व नहीं है' ऐसा कहने से सुखदुःखादि का प्रत्यक्षत्व नहीं है यह सिद्ध होगा। क्योंकि मन तो इन्द्रिय नहीं है और सुख-दुःखादि का ज्ञान उसी से होता है तब अनिन्द्रियमनोजन्य सुख-दुःखादिकों के अनुभव की प्रत्यक्षता कैसे बन सकेगी। परन्तु सुखादिकों की तो प्रत्यक्ष-रूपेण उपलब्धि होती है अतः उनके प्रत्यक्षत्व की सिद्धि के लिये मन का इन्द्रियत्व अवश्य स्वीकार करना होगा। यह शंका 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' (इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं) प्रत्यक्ष ज्ञान का इस प्रकार लक्षण करने वाले तार्किकों की है। उसका अनुवाद करके सिद्धान्ती—

समाधान—ज्ञान की प्रत्यक्षता में इन्द्रिजन्यत्व प्रयोजक (निमित्त) नहीं है। अतः 'सुखादिकों के साक्षात् अनुभव में इन्द्रियजन्यत्व न होने से उसे साक्षात्त्व नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है।

प्रश्न—प्रत्वक्षत्व में इन्द्रियजन्यत्व को प्रयोजक मानने में क्या बाधक है ?

उत्तर—तार्किक लोग मन को अन्तरिन्द्रिय कहते हैं और ज्ञान की प्रत्यक्षता में 'इन्द्रियजन्यत्व' को प्रयोजक मानते हैं। परन्तु सुखादिज्ञानों की प्रत्यक्षता सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त प्रयोजक के अनुसार मन में इन्द्रित्व है तो मनोजन्य अनुमिति, उपमिति इत्यादि अन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष हैं ऐसा कहने का प्रसंग आवेगा। यही प्रत्यक्षत्व में इन्द्रियजन्यत्व को प्रयोजक मानने में बाधक है।

इन्द्रियत्वरूप से इन्द्रियजन्यत्व, प्रत्यक्षता में प्रयोजक है और अनुमिति, उपमिति आदि ज्ञानों में मनस्त्वेन रूप से इन्द्रियजन्यत्व है, इस कारण ऐसा अतिप्रसंग (अति-व्याप्ति) नहीं हो पाता। ऐसा यदि आप कहें तो 'ईश्वर का ज्ञान' इन्द्रियजन्य न होने से उसे साक्षात्त्व नहीं है, यह कहने का प्रसंग आवेगा, अर्थात् आप का बताया हुआ 'प्रत्यक्षत्वप्रयोजक' ईश्वरज्ञान में अव्याप्त रहेगा। अथवा 'इन्द्रियजन्यत्व' का अर्थ 'इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्व' विवक्षित करेंगे तो अनुमिति आदि प्रमाएँ इन्द्रियसन्निकर्षजन्य न होने से प्रत्यक्षप्रयोजक का लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो सकेगा। 'ईश्वर का ज्ञान अजन्य और प्रत्यक्षरूप है' यह कथन सर्वसम्मत नहीं है। अद्वैती उसे मायाजन्य मानते हैं। तथापि 'वह इन्द्रियजन्य नहीं' यह सर्वसम्मत है। तस्मात् मन के इन्द्रियत्व में कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत बाधक प्रमाण हैं। इसलिए 'मन' इन्द्रिय नहीं है, इसी कारण 'मैं इच्छा करता हूँ'—इत्यादि अनुभव में अन्तःकरण का प्रत्यक्ष संभव होता है।

इस प्रकार सिद्धान्ती के द्वारा तार्किकों के अभिमत प्रत्यक्षत्वप्रयोजक का निरसन किये जाने पर सिद्धान्तपक्ष में भी दूसरा प्रत्यक्षत्वप्रयोजक नहीं बन सकता, यह समझने-वाले तार्किक का आक्षेप—

सिद्धान्ते [1]प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किमिति चेत्, किं ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं पृच्छसि किं वा विषयगतस्य ? आद्ये प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ब्रूमः । तथा हि त्रिविधं चैतन्यं [2]विषयचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चेति । तत्र घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम् ॥

अर्थ—(इन्द्रियजन्यत्व यदि प्रत्यक्षता में प्रयोजक नहीं है तो) आप के सिद्धान्त में भी प्रत्यक्षत्व का क्या प्रयोजक है ? इस प्रकार तार्किक के द्वारा पूछे जाने पर सिद्धान्ती प्रश्न को स्पष्ट कराने के लिए तार्किकों से ही प्रश्न करता है–हम (सिद्धान्ती) तुमसे पूछते हैं कि तुम ज्ञानगत-प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछ रहे हो, या विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछ रहे हो ? ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक यदि पूछो तो प्रमाणचैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद (तादात्म्य, ऐक्य) होना, ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है–ऐसा हम कहते हैं । (परन्तु एक ही अद्वितीय चैतन्य का भेद कैसे संभव होता है ? उत्तर—वास्तव में चैतन्य के एक होने पर भी उसका उपाधि के कारण इस प्रकार भेद होता है) तथाहि—चैतन्य त्रिविध है—एक विषय चैतन्य, दूसरा प्रमाण चैतन्य व तीसरा प्रमातृचैतन्य । इन तीन प्रकार के चैतन्यों में से घटादि विषयों से अवच्छिन्न (मर्यादित) हुआ चैतन्य–विषयचैतन्य, अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य–प्रमाणचैतन्य, और अन्तःकरणावच्छिन्न हुआ चैतन्य–प्रमातृचैतन्य है ।

विवरण—प्रत्यक्ष प्रमा का प्रयोजक (कारण) कोई तो अवश्य ही होगा । इन्द्रिय-

---

१. 'प्रत्यक्ष' शब्दस्य व्यवहारो प्रत्यक्षात्मके ज्ञाने, तद्विषये, तत्प्रमाणे चोपलभ्यते, प्रत्यक्षं ज्ञानम्, प्रत्यक्षो विषयः, प्रत्यक्षम्प्रमाणमिति । तेषु प्रमाणगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वम् । तस्य प्रसिद्धत्वात् प्रागुक्तत्वाच्च तन्नैव जिज्ञास्यम् । ज्ञानगतस्य विषयगतस्य च प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं नैकं, किन्तु भिन्नम् । अतः तयोः कतरत् तव जिज्ञास्यमिति विभज्य पृच्छति ? इति सिद्धान्तिन आशयः ।

नैयायिकस्तावत् इन्द्रियजन्यत्वं ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वे प्रयोजकम्, प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वञ्च विषयगतप्रत्यक्षत्वे प्रयोजकम् इत्याहुः ।

वेदान्तिनस्तु प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वरहितं स्वतोऽपरोक्षरूपं कञ्चन साक्षिणं मन्यन्ते । अतस्तस्य प्रत्यक्षत्वं न तद्विषयत्वप्रयुक्तम्, किन्तु अन्यप्रयुक्तमिति प्रयोजकद्वयजिज्ञासा समुचितेतिभावः ।

२. प्रमातृचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्यं चेति । पाठान्तरम् ।

जन्यत्व ही उसका प्रयोजक है, ऐसा तार्किक लोग मानते हैं। परन्तु वेदान्ती मन को इन्द्रिय नहीं कहते, प्रत्युत मन के इन्द्रियत्व का निराकरण करते हैं। परन्तु 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाले साधारण ज्ञानों में अनुवृत्त (व्यापक) होने वाला दूसरा प्रयोजक उपलब्ध न होने से सुखादिकों में प्रत्यक्षत्व नहीं है—ऐसा अनुभवविरुद्ध स्वीकार करना होगा। इस आशय से 'वेदान्त सिद्धान्त में प्रत्यक्षता का प्रयोजन क्या है ? कुछ भी नहीं है' इस प्रकार तार्किक के कहने पर सिद्धान्ती 'हमारे सिद्धान्त में प्रत्यक्षता का प्रयोजक है' कहने के उद्देश्य से तार्किकों के उपर्युक्त आक्षेप का निरसन करने के लिए उनसे प्रश्न करता है कि 'तुम ज्ञान (वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य) की प्रत्यक्षता का कारण पूछ रहे हो या ज्ञेय (विषय) की प्रत्यक्षता का प्रयोजन पूछ रहे हो ? तब वादी ने कहा कि—'मैं ज्ञानगत (ज्ञान की) प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्षता) का प्रयोजक (कारण) पूछ रहा हूँ।' यह सुनकर सिद्धान्ती ने उत्तर दिया "प्रमाणचैतन्य (वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य) और प्रमेयचैतन्य (विषयावच्छिन्न चैतन्य) इन दोनों का ऐक्य ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।"

तब वादी पूछता है—तुम अद्वैतियों के मत में चैतन्य का प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य आदि भेद ही कैसे संभव हो सकता है ? और यदि वह असंभव है तो 'प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्यों का अभेद' ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक होता है यह कैसे कह सकते हो ? सिद्धान्ती—अद्वैतवाद में एक अद्वितीय चैतन्य का वास्तविक भेद नहीं है तथापि आकाश के घटाकाशादि भेदों की तरह उसका भी औपाधिक भेद होना संभव है। उसी को देखिए—विषयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य और प्रमातृचैतन्य, यह त्रिविध चैतन्य है। घटादि विषयों से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही विषयचैतन्य है। अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही प्रमाणचैतन्य है। अन्तःकरण से अवच्छिन्न हुआ चैतत्य ही प्रमातृचैतन्य है। इस प्रकार सिद्धान्ती ने आकाश के घटाकाश मठाकाशादि औपाधिक भेदों की तरह चैतन्य का भी विषय, अन्तःकरणवृत्ति, और अन्तःकरण इन तीन उपाधियों के कारण त्रिविधि भेद होता है। इस प्रकार सिद्धान्ती के कहने पर वादी पूछता है—अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रमाणचैतन्य होता है, यह आप कैसे कहते हैं ? क्योंकि अन्तःकरण का परिमाण 'अणु' है। अतः अणुपरिमाणवाले अन्तःकरण की वृति का होना सम्भव नहीं। अन्तःकरण का 'महत्' परिमाण' भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्राणशक्ति के आश्रयभूत अन्तःकरण की ही उत्क्रान्ति, गति आदि सुनी जाती है। महत् परिमाण से युक्त आकाश, काल आदि पदार्थों की उत्क्रान्ति, गति आदि नहीं हुआ करती। अन्तःकरण को 'मध्यम-परिमाण' वाला भी नहीं कह सकते, क्योंकि देह की तरह उसका 'मध्यम परिमाण' मानने पर देह की तरह उसकी गति भी मन्द माननी होगी। जिससे वह विषय को 'एक क्षण' में प्रकाशित नहीं कर सकेगा। परन्तु वह तो हजारों कोस दूर पर स्थित 'ध्रुव' को भी एक क्षण में प्रकाशित कर देता है।

इसके अतिरिक्त उसका मध्यमपरिमाण मानने पर शरीर के भीतर रहने से बाहर निकलना नहीं बन सकेगा। अतः अन्तःकरण का परिमाण 'अणु' है, यही मानना चाहिये। तब अणुपरिमाणयुक्त पदार्थ की वृत्ति (परिणाम) का होना संभव नहीं। इस कारण 'अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य-प्रमाणचैतन्य है' यह आपका कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार तार्किकों के शङ्का करने पर सिद्धान्ती कहता है—

अन्तःकरण को अणुपरिमाणयुक्त मानने पर देहव्यापि सुखादियों का जो उपलब्धि होती है (देहगत सुखादियों का जो अनुभव होता है) उसकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिए मन को 'अणु' कहना ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त प्राणशक्ति का आश्रयभूत 'मन' सुदूरस्थित 'ध्रुव' तक जब जायगा तो उसके साथ उससे अवच्छिन्न हुआ जीव भी जायगा, जिससे देह निर्जीव होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। इसलिये मन (अन्तःकरण) का परिमाण 'मध्यम' ही मानना चाहिये। इस प्रकार अन्तःकरण 'मध्यमपरिमाणता' सिद्ध करके उसकी वृत्ति की संभावना भी दृष्टान्त से बताते हैं।

तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति। तथा तैजसं[1]मन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वादिविषयाकारेण परिणमते[2]। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनं, वह्न्यादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात्।

अर्थ—'जैसे तालाब का जल छेद से निकल कर नाली के रास्ते से होता हुआ खेतों में प्रविष्ट होता है और उसी के आकार का तिकोना, चौकोना या वर्तुलाकार बन जाता है, वैसे ही पूर्वोक्त तीन उपाधियों में से 'तैजस अन्तःकरण' भी चक्षुःश्रोत्रादि इन्द्रियों के

---

१. अन्तःकरणस्य तैजसत्वविशेषणेन शीघ्रगमनसामर्थ्यं सूच्यते, यद्यपि नाणुपरिमाणमन्तःकरणम्, दूरवर्तिध्रुवादिविषयदेशपर्यन्तं गमनेन देहस्य विषयापरोक्षतादशायां निर्जीवत्वापत्तेः, नापि मध्यमपरिमाणन्तत्, देहादिवन्मन्दगमनप्रसंगेन झटिति विषयप्रतिभानायोगात्, नापि आकाशादिवत् परममहापरिमाणम्, निष्क्रियत्वापत्तेः तथापि अन्तःकरणस्य तैजसद्रव्यत्वेन रविकिरणवत् शीघ्रप्रसरणशीलत्वात् तत्परिणामो वृत्तिरिति सुसंगतमेव।

२. साकारद्रव्यसम्बद्धान्तःकरणस्य द्रव्याकारसमानाकारता तु भवितुमर्हति; किन्तु आकाररहितैर्गुणैः सम्बद्धस्वान्तःकरणस्य कथं गुणाकारसमानाकारता भवितुं शक्येति शंका शांकरभाष्यावलोकनेन निरस्ता भवति। तत्र च गुणादीनां द्रव्याऽभिन्नतया द्रव्याकारस्यैव गुणाद्याकारत्वात्। तथा च शांकरभाष्यम्—"तस्माद् द्रव्यात्मकता गुणस्य। एतेन कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता।"

द्वारा शरीर से बाहर निकल कर घटादि विषय तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत होता है। उस परिणाम को ही वृत्ति कहते हैं। परन्तु अनुमित्यादि प्रमास्थलों में (अनुमिति, उपमिति इत्यादि प्रमाओं में) 'अन्तःकरण' अग्नि के देश में नहीं जाता, क्योंकि उस समय अग्नि आदि विषयों का चक्षुरादि इन्द्रियों से सन्निकर्ष (सम्बन्ध) नहीं हुआ रहता।

विवरण—किसी तालाव या नदी का बाँध से रोक रखा जल किसी नहर अथवा स्वाभाविक मार्ग से ही वहकर खेत में प्रविष्ट होकर उस विशिष्ट आकार को धारण कर लेता है। अन्तःकरण के परिणाम होने के विषय में यह दृष्टान्त दिया है। इस जल के परिमाण की तरह ही 'तैजस अन्तःकरण' का भी परिणाम होता है। 'अन्तःकरण' सत्त्वगुण का कार्य है। सत्त्व को ही 'तेज' कहते हैं। क्योंकि वह प्रकाशक है। 'तैजस' विशेषण से अन्तःकरण अत्यन्त स्वच्छ, विरल, तेजोद्रव्य है, यह सूचित किया है। इसलिये सूर्यकिरण की तरह वह (अन्तःकरण) शीघ्र फैल सकता है। शीघ्र गमन करना उसका स्वभाव ही है। अतः 'मध्यमपरिमाण वाला अन्तःकरण' शरीर के वाहर कैसे जा सकेगा ? यह शङ्का नहीं हो सकती। दृष्टान्त में बताये हुए जल की तरह ही 'तैजस मन' इन्द्रिय-छिद्रों में से वाहर निकल कर जहाँ विषय हो वहीं जाता है और उसके आकार का हो जाता है। इन आकारों में होनेवाला अन्तःकरण का परिणाम ही अन्तःकरण की वृत्ति कही जाती है। अर्थात् खेत के आकार में परिणत हुआ जल, तालाव के जल से जैसे पृथक् नहीं, वैसे ही विषयाकार हुआ मन 'मूल मन' से पृथक् नहीं है। इसलिए स्वतः विकसित हुआ 'मन' ही वृत्ति शब्द से कहा जाता है। 'वृत्ति' उसका वास्तविक परिणाम नहीं है।

शंका—अनुमिति आदि प्रमाओं में भी 'अन्तःकरण' अग्नि आदि के देश में जाकर 'वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य' का अग्नि आदि 'विषयावच्छिन्न चैतन्य' के साथ अभेद (ऐक्य) होने से आपका कहा हुआ 'ज्ञानगत प्रत्यक्ष' का प्रयोजक अनुमिति आदि में अतिव्याप्त हो रहा है।

उत्तर—अनुमिति आदि स्थलों में अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि अनुमिति आदि स्थलों में 'अन्तःकरण' अग्नि आदि के देश में नहीं जाता। क्योंकि अनुमिति आदि प्रमाओं में अनुमित अग्नि आदि विषयों के साथ चक्षुःश्रोत्रादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं रहता। चक्षुरादि इन्द्रियों का उसके धूमादि लिंगों से सन्निकर्ष रहता है। इसलिये ज्ञानगत 'स्वरूपचैतन्य' से भिन्न 'विषयगत प्रत्यक्ष' का प्रयोजक, अनुमिति आदि प्रमाओं में अतिव्याप्त नहीं होता।

'तथापि प्रत्यक्ष ज्ञान, में भी वृत्ति और घट इनका भेद होने से उन भिन्न उपाधियों से युक्त—'प्रमाण-प्रमेय चैतन्यों' का भी भेद अवश्य ही रहेगा। इसलिए पूर्वोक्त प्रयोजक

यहाँ पर अव्याप्त है—ऐसी आशंका होने पर सिद्धान्ती 'यह घट है' इत्यादि प्रत्यक्षप्रमा में प्रत्यक्षलक्षण का समन्वय करके दिखाते हैं।

तथा[1] चायं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्र देशे समवधानात् तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव, विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्ति-घटादिविषययोरेकदेशस्थत्वेन भेदाऽजनकत्वात्[2]। अत एव मठान्तर्वर्ति-घटावच्छिन्नाकाशो न मठावच्छिन्नाकाशाद्भिद्यते।

अर्थ—इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के समय 'अन्तःकरण' शरीर से बाहर निकलता है। तब 'यह घट है' इत्यादि प्रत्यक्षप्रमा में घटादिविषय और तदाकार (घटाकार) वृत्ति का शरीर के बाहर एक स्थान में अवस्थान होने से उन दोनों से अवच्छिन्न हुआ 'चैतन्य' एक ही है। क्योंकि अन्तःकरण वृत्ति और घटादिविषय, ये उपाधियाँ उपहित में भेद करनेवाली होने पर भी उनकी एक स्थान में स्थिति होने से वे भेद नहीं कर सकतीं। इसी कारण गृहस्थित घट से अवच्छिन्न हुआ आकाश, उस गृह से अवच्छिन्न हुए आकाश से भिन्न नहीं है।

विवरण—'चैतन्य' के एक होने पर भी वह 'उपाधि' के भेद के कारण भिन्न होता है। 'घटाकाश' 'मठाकाश' से भिन्न है। इसी प्रकार 'प्रमाणचैतन्य' की 'वृत्ति' उपाधि है और 'विषयचैतन्य' की 'विषय' उपाधि है। इसलिये एक स्थान पर स्थित हुई भी दो विशेषणों की तरह उन दो उपाधियों में भेद-जनकत्व हैं (वे दो चैतन्य भिन्न ही हैं) तब उनमें अभेद कैसे सम्भव होता है? यह शंका होने पर सिद्धान्ती कहता है—'यह घट है' इत्याकारक ज्ञान 'घट' अंश में प्रत्यक्ष है। 'घट' और 'घट के सम्बन्ध से घटाकार हुई वृत्ति' इन दो उपाधियों से अवच्छिन्न हुआ 'द्विविध चैतन्य', शरीर के बाहर एक ही स्थान में स्थित हुईं उन दो उपाधियों से अवच्छिन्न (युक्त) हुआ है। अतः उनके भेद की प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित उपाधियाँ ही उपाधेयों में भेदप्रतीति करा सकती हैं। विशेषणों की तरह उपाधियों को स्वरूपतः भी भेदजनकत्व नहीं है। भिन्न देशों में स्थित उपाधियों में भेदजनकत्व होने पर भी एकदेशस्थित उपाधियों में (वृत्ति और विषय को) भेदजनकत्व नहीं है।

---

१. प्रत्यक्षलक्षणघटकत्वेन निरूपितं तावत् प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्यं च। इदानीं तु वृत्तेर्विषयदेशमनिर्गमनस्य चैतन्ययोरभेदात्मकं फलं निरूप्यते 'तथा चे'त्यनेन ग्रन्थेन।

२. अयमभिप्रायः—उपाधिः उपाधित्वेन उपधेयस्य चैतन्यस्य न भेदप्रयोजकः, अपि तु भिन्नदेशस्थितत्वेन। एकदेशस्थितत्वेन तु स एव अभेदप्रयोजकः। एकश्चात्र उपाध्योर्वृत्ति-विषययोः एकदेशस्थितत्वात् उपाधेययोश्चैतन्ययोर्न भेदव्यवहारः, किन्तु अभेदव्यवहारः।

'भिन्नदेशस्थ उपाधियों' को भेदजनकत्व है और 'एकदेशस्थ उपाधियों' को भेद-जनकत्व नहीं है—ऐसी गुरुकल्पना करने की अपेक्षा 'विशेषण' की तरह 'उपाधियों' में भी स्वरूप से ही भेदजनकत्व मानने में कल्पनालाघव होगा' ऐसी आशङ्का होने पर सिद्धान्ती 'अत एव' आदि ग्रन्थ से उसका समाधान करता है। एक देश में स्थित होने से ही उन दो उपाधियों को भेदजनकत्व नहीं है—यह अनुभव में आने से मठ (घर) में स्थित घट से अवच्छिन्न हुआ आकाश, मठावच्छिन्न-आकाश से भिन्न नहीं है। मठ-रूप उपाधि के भाग में 'घट' रहता है। इस कारण मठाकाश और घटावच्छिन्नाकाश दोनों एक स्थान में स्थित हुई उपाधियों से अवच्छिन्न हैं, इसलिए वे परस्पर भिन्न नहीं हैं। घट के प्रत्यक्ष ज्ञान के समय घट देश के साथ अन्तःकरण का संयोग होता है। अन्तःकरण के 'एक भाग' को ही वृत्ति कहते हैं। इस कारण 'घटावच्छिन्न-चैतन्य', और घट को 'अभिव्यक्त करनेवाला चैतन्य' दोनों एक ही हैं। अर्थात् फलमुख (फल-प्रधान = सफल) गौरव दोषावह नहीं होता। अब इस विचार विनिमय से जो निष्कर्ष निकला उसे कहते हैं—

तथा चायं घट इति [१]घटप्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चाभिन्नतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्[२]।

अर्थ—इस प्रकार दो उपाधियों के एकदेशस्थित होने से उपाधेयों में भेद उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं रहता। ऐसा निर्णीत होने पर 'यह घट है' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में घटाकारवृत्ति में घटसंयोगित्व होता है। (वृत्ति, घट से संयुक्त हो जाती है) इस कारण 'घटावच्छिन्न चैतन्य' और घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य' का अभेद (ऐक्य) होता है और इन दो चैतन्यों का ऐक्य होने से 'यह घट है' इस प्रत्यक्ष स्थल में घटज्ञान 'घट' अंश में प्रत्यक्षत्व है।

---

१. 'प्रत्यक्षस्थले'—इति पाठान्तरम्।

२. अयमभिप्रायः—'अयं घटः' इति प्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेः घटसम्बन्धे सति विषयस्य—घटावच्छिन्नचैतन्यस्य, प्रमाणस्य—घटसंयुक्तघटाकारान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यस्य च एकदेशस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नत्वेन अभेदात् अभिव्यक्तं घटावच्छिन्नचैतन्यं घटप्रत्यक्षमित्युच्यते।

उपाध्योः एकदेशस्थत्वं कुत्रचित् स्वतः कुत्रचिच्च परतः। तत्रान्तरप्रत्यक्षे स्वतः, वृत्ति-विषययोः सदैव एकस्मिन् देशे सम्बन्धात्। बाह्यप्रत्यक्षे तु परतः, तत्रोपाध्योः स्वतो भिन्नदेशत्वात्। यदा तु वृत्तेरिन्द्रियद्वारा विषयसम्बन्धः, तदा तत्सम्बन्धाधीनं तयोरुपा-ध्योरेकदेशस्थत्वम्।

विवरण—घटाकारवृत्ति (घटसदृश आकार से युक्त हुआ मन का भाग) घट से संयुक्त होती है। यहाँ संयोग शब्द का अर्थ भी घट को चूना लगाने पर घट और चूने (सफेद रङ्ग) का जैसा संयोग होता है वैसा ही 'परिणामपदवाच्य' घटनिष्ठ 'सम्बन्ध-विशेष' है। अतः संयोग, नियमेन अव्याप्यवृत्ति होने से मन का संयोग भी पूरे घट को नहीं व्याप्त कर सकेगा। तब 'सर्वांश से घट प्रत्यक्ष है' यह व्यवहार कैसे सम्भव होगा। तार्किकों की इस शंका का निरसन हुआ। अर्थात् घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अर्थ घट से संयुक्त हुए मन के भाग से अवच्छिन्न चैतन्य है। और घटज्ञान का (घटाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य का) 'घट' अंश में घटावच्छिन्नत्वेन प्रत्यक्ष है।

सुख-दुःखादि पदार्थों से चक्षुरादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं रहने से अन्तःकरण की सुखाद्याकार वृत्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती। तब सुखादि अंश में प्रत्यक्ष कैसे ? यह आशङ्का कर सुखादिकों का 'आन्तर-विषयत्व' है, घटादिकों की तरह की तरह 'बाह्य विषयत्व' नहीं है। उससे उनकी 'प्रत्यक्ष प्रमा' में चक्षुरादि-सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं होती। इसी आशय से सिद्धान्ती कहता है—

[1]सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियतेनैकदेशस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नत्वात् नियमेनाहं सुखीत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्।

अर्थ—सुखादिकों से अवच्छिन्न हुआ 'चैतन्य' और सुखादि के आकार से परिणत हुई 'अन्तःकरण-वृत्ति' से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य—ये दोनों, नियम से एक ही स्थान में (अन्तःकरण रूप एक ही स्थान में) स्थित उपाधिद्वय (सुखादि और सुखाद्याकार-वृत्तिरूप) से अवच्छिन्न होने से नियमेन 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान को (सुखादि के अंश में) प्रत्यक्षत्व है।

विवरण—यदि सुखादि, घटादिकों की तरह बाह्य (शरीर के बाहर) होते तो उसके प्रत्यक्ष-ज्ञान के लिए (विषयाकार वृत्ति के लिए) बाह्य इन्द्रियसन्निकर्ष की आवश्यकता पड़ती, परन्तु सुखादि-विषय तो आन्तर हैं। इस कारण सुखादि ज्ञान को (सुखाद्याकार वृत्ति को) सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार सुख, दुःख, काम, सङ्कल्प इत्यादि भाव, अन्तःकरण के धर्म हैं। इसलिए वे अन्तःकरण में ही रहते हैं। सुखादिकों के अनुभवकाल में सुखाद्याकार-वृत्ति भी अन्तःकरण में ही रहती है। अतः सुखादिविषयावच्छिन्न-चैतन्य और सुखाद्याकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का पूर्वोक्त प्रकार से (दो उपाधियाँ एक प्रदेश में स्थित होने पर उन्हें उपधेय-भेदजनकत्व नहीं होता, इस प्रकार से) एकत्व होने के कारण सुखादि अंश में उसे प्रत्यक्षत्व है। बाह्यविषयाकार-वृत्ति को इन्द्रियसन्निकर्ष की अपेक्षा होती है। परन्तु आन्तर विषया-

---

१. 'सुखदुःखाद्य'—इति पाठान्तरम्।

कारवृत्ति स्वयं ही उत्पन्न होती है। यही आन्तर और बाह्य विषयों में विशेष है। अब 'दो उपाधियों को एकदेश में स्थित होने से उनमें भेदजनकत्व नहीं होता' इस कथन पर अतिव्याप्ति दोष का अनुवाद कर उसका परिहार करते हैं।

नन्वेवं स्ववृत्ति-सुखादि-स्मरणस्यापि सुखाद्यंशे प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति चेन्न। तत्र स्मर्यमाणसुखस्यातीतत्वेन स्मृतिरूपान्तःकरणवृत्तेर्वर्तमानत्वेन तत्रोपाध्योर्भिन्नका[1]लीनतया तत्तदवच्छिन्नचैतन्ययोर्भेदात्। उपाध्योरेकदेशस्थत्वे सत्येकका[2]लीनत्वस्यैवोपधेयाभेदप्रयोजकत्वात्॥

अर्थ—'दो उपाधियों को एकदेशस्थत्व होने पर भेदजनकत्व नहीं रहता'—यह कहने पर अन्तःकरणस्थित सुखादिस्मरण को भी सुखादि अंश में प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा। (परन्तु ऐसा होना अनिष्ट है, स्मरण को प्रत्यक्ष कहना किसी को भी सम्मत नहीं) यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि 'अन्तःकरणवृत्ति सुख' (अन्तःकरण में होने वाले स्मरण का विषय जो सुख) भूतकालीन है और 'स्मृतिरूप अन्तःकरणवृत्ति' वर्तमानकालीन होती है। इस कारण 'सुखविषय' और 'सुखाकारस्मृतिवृत्ति' इन दोनों उपाधियों में भिन्नकालत्व है। उनका काल भिन्न होने से (सुखरूप विषय का काल भूत, और स्मृति का काल वर्तमान ऐसा कालभेद होने से) सुख और स्मृतिवृत्ति से अवच्छिन्न हुए दोनों चैतन्य भी भिन्न हैं। (इस कारण अप्रत्यक्ष स्मृतिज्ञान में, प्रत्यक्षसुखादिज्ञान के प्रयोजक की अतिव्याप्ति नहीं होती) क्योंकि दोनों उपाधियों को एकदेशस्थत्व होकर एककालीनत्व भी जब हो, तभी वह उपधेय के (उपहित चैतन्य के) अभेद में प्रयोजक हो सकता है। (केवल एकदेशस्थत्व होकर एकाकालीनत्व यदि न हो तो वह उपधेय के अभेद में प्रयोजक नहीं हो सकता)।

विवरण—एक प्रदेश में स्थित होने पर भी यदि भिन्नकालित्व दो उपाधियों को हो तो उन्हें उपधेय का भेदकत्व ही रहता है, अभेदकत्व नहीं। (एककालीनत्व तथा एकदेशस्थत्व भी यदि उपाधियों में हो तो उनमें उपभेद का अप्रयोजकत्व रहता है, अन्यथा नहीं।) इस कारण 'मैं सुखी हूँ' इस सुखप्रत्यक्ष के समय जिस प्रदेश में सुखाकार अन्तःकरणपरिणाम था वहीं पर सुखरूप विषय भी था। इस कारण सुखावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न, सुखाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य होता है। परन्तु 'मैं इस सुखस्मरण के समय 'सुख' भूतविषय, और तदाकार वर्तमान वृत्ति इन दोनों के अन्तःकरण रूप एकदेश में स्थित होने पर भी 'सुख' भूतकालीन और 'वृत्ति' वर्तमानकालीन

१. 'कालिकतया'—इति पाठान्तरम्।
२. 'कालिकत्व'—इति पाठान्तरम्।

होने से 'सुखावच्छिन्न-तद्वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य न हो पाने के कारण (सुखावछिन्न चैतन्य और तद्वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य दोनों का अभेद न हो पाने के कारण) प्रत्यक्षत्व-प्रयोजकत्व की सुखस्मरण में अतिव्याप्ति नहीं होती।

अब सिद्धान्ती ही पूर्वोक्त समाधान की अरुचि से दूसरा समाधान दे रहा है—

यदि चैकदेशस्थत्वमात्रमुपधेयाभेदप्रयोजकं, तदा [1]अहं पूर्वं सुखीत्यादिस्मृतावतिव्याप्तिवारणाय वर्तमानत्वं विषयविशेषणं देयम्।

अर्थ—और यदि दो उपाधियों का एकदेशस्थत्व ही उपधेय के अभेद में प्रयोजक (नियामक) मानना है तो 'मैं पहले सुखी था' इत्यादि स्मृति में उसकी अतिव्याप्ति न होने देने के लिए 'विषय' में 'वर्तमानत्व' विशेषण देना चाहिये।

विवरण—'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से वादी के कथन को (दो उपाधियों के एकदेश-स्थत्व को ही उपधेय भेद में प्रयोजकत्व--नियामकत्व—है) स्वीकार कर उस प्रयोज-कत्व के लक्षण पर भी अतिव्याप्ति नहीं हो पाती, यह बताते हैं। 'प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेदः' इस पूर्वोक्त लक्षण के 'विषय' पद में 'वर्तमानत्व' विशेषण के देने पर 'वर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य ही' = वर्तमानकालीन विषय से अवच्छिन्न हुए चैतन्य से अभिन्न जो वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्य, वही ज्ञानप्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है, ऐसा लक्षण निष्पन्न होने से सुखादिकों के स्मरणज्ञान में उसकी अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि सुखादिस्मरण में सुखादिविषय, वर्तमानकालीन न होकर भूत-कालीन हैं। इस कारण स्मृति में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। अब अवर्तमानत्व को उपाधित्व नहीं होता (अविद्यमान पदार्थ, उपाधि नहीं होता)। इसलिये 'विषया-वच्छिन्न' इतने ही से पूर्वोक्त अतिव्याप्ति का निरसन हो जायगा। उसके लिये 'वर्तमा-नत्व' इस विषयविशेषण की आवश्यकता न रहने पर भी 'विषय शब्द को उपलक्षण मानकर भूत, भविष्यत्, अविषय इत्यादि अन्य पदार्थों का भी ग्रहण किया जाय—ऐसा यदि कोई कहे तो उसके लिये विषयत्व के उपलक्षणत्व का भी निरसन कर तद्द्वारा पूर्वोक्त अतिव्याप्ति का भी निवारण करने के लिये 'वर्तमानत्व' इस विषय-विशेषण की नितान्त अपेक्षा है। इस प्रकार 'प्रमाणचैतन्य का वर्तमानकालीनविषयावच्छिन्न चैतन्या-भेद' यही प्रत्यक्षप्रयोजक है सिद्ध हुआ। इस पर पुनः शंका—

नन्वेवमपि स्वकीयधर्माधर्मौ वर्तमानौ यदा शब्दादिना ज्ञायेते तदा तादृश-शाब्दज्ञानादावतिव्याप्तिः, तत्र धर्माद्यवच्छिन्न-[2]तद्वृत्त्य-वच्छिन्नचैतन्ययोरेकत्वात्।

---

१. 'पूर्वमहं सुखी'—इति पाठान्तरम्। २. 'न्नचैतन्य-तद्०'—इति पाठान्तरम्।

अर्थ—ऐसा मानने पर भी जिस समय अपने वर्तमान धर्माधर्म, शब्दादिप्रमाणों के द्वारा जाने जाते हैं, तब उस तरह के शाब्द ज्ञान में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि वहाँ पर धर्मादिकों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य और तदाकार-वृत्त्यवच्छिन्न हुए चैतन्य दोनों का एकत्व रहता है।

विवरण—'विषय' में 'वर्तमान' विशेषण को लगाने पर भी धर्माधर्मविषयकशाब्द-ज्ञान में उस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि धर्माधर्म में वर्तमानत्व है। धर्म और अधर्म, मन के धर्म होने पर भी वे स्वभाववैचित्र्य के कारण परोक्ष ही हैं। तथापि 'आप धार्मिक हैं,' 'तू अधार्मिक है' इत्यादि वाक्यरूप शब्द सुनकर 'मैं धार्मिक हूँ' इत्यादि ज्ञान होता है। वह ज्ञान शब्दजन्य होने से शाब्द है। इस शाब्द-ज्ञान में धर्माधर्म रूप विषय और तदाकार-वृत्ति (अन्तःकरणपरिणाम) ये दोनों उपाधियाँ एकदेश में स्थित होने से दोनों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का भी अभेद है। इस कारण विषयावच्छिन्न से वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य के अभेदरूप प्रत्यक्ष का प्रयोजकत्व, धर्माधर्मादिकों के शाब्द ज्ञान में है। क्योंकि सुखादि आन्तर पदार्थों का अन्तःकरण के साथ विना बाहर गये ही परिणाम होता है, यह अनुभवसिद्ध है। यही प्रकार धर्माधर्मादिकों में भी है। मूलस्थ 'शब्दादिना' के आदि पद से 'मैं सुकृतादृष्ट से (पुण्य से) युक्त हूँ, क्योंकि मैं सुखी हूँ। मैं दुष्कृतादृष्ट से युक्त हूँ, क्योंकि मैं दुःखी हूँ' इत्याकारक अनुमानादिकों का ग्रहण करना चाहिये। शाब्द ज्ञानादिकों में उन धर्मादिकों के जो शब्दादि प्रमाण हैं, उनसे अवच्छिन्न-चैतन्य का और वर्तमान धर्मादिविषयावच्छिन्न-चैतन्य का अभेद है। इस कारण ऐसे धर्माधर्मादिकों के शब्द-ज्ञान में पुनः प्रत्यक्षत्व-प्रयोजक के लक्षण की अतिव्याप्ति हुई। मूल में 'स्वकीयधर्माधर्मौ' कहा गया है। यहाँ 'स्वकीय' शब्द से प्रमाण और विषय का एकदेशस्थत्व सूचित किया है।

अब सिद्धान्ती 'इति चेत्' पद से पूर्वोक्त शंका का अनुवाद करके 'न' इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ से उसका निरसन करता है—

इति चेत् ? न। योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्। अन्तःकरण-धर्मत्वाविशेषेऽपि किञ्चिदयोग्यं किञ्चिद्योग्यमित्यत्र फलबलकल्प्यः स्वभाव एव शरणम्। अन्यथा न्यायमतेऽप्यात्मधर्मत्वाविशेषात्[1] सुखादिवद्धर्मादेरपि[2] प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा॥

अर्थ—('विषय' में 'वर्तमान' विशेषण के देने पर भी वर्तमान धर्माधर्म के शब्दजन्य ज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है) ऐसा यदि कहें तो ठीक नहीं है।

१. 'षेऽपि'—इति पाठान्तरम्।

२. 'देः प्रत्य॰'—इति पाठान्तरम्।

क्योंकि योग्यत्व को भी विषयविशेषणत्व है। (प्रत्यक्षत्वप्रयोजक के लक्षण में 'विषय' शब्द के साथ 'वर्तमान' विशेषण की तरह 'योग्य' विशेषण भी जोड़ना चाहिये। तब धर्मा-धर्मादिकों के शाब्द-ज्ञान में प्रत्यक्षत्वप्रयोजक लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि सुखादिकों की तरह धर्मादिकों में अन्तःकरणधर्मत्व होने पर भी उनमें से कुछ प्रत्यक्षयोग्य और कुछ प्रत्यक्ष के अयोग्य हुआ करते हैं, इस विषय में फलबल से कल्पनीय स्वभाव ही शरण (आधार) है। ऐसा न मानने पर न्यायमत पर भी यही दोष आता है। न्यायमत में भी सुखादिकों की तरह धर्मादिकों में भी आत्मधर्मत्व समान होने से प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होना दुर्वार (अपरिहार्य) है। अर्थात् नैयायिक सुख-दुःख के समान धर्म अधर्म को भी आत्मा के धर्म जानते हैं। इस कारण फलबलकल्प्य स्वभाव का शरण न मानने पर उन्हें भी सुखादि की तरह धर्माधर्म का प्रत्यक्ष होना स्वीकार करना होगा।

विवरण--'प्रमाणचैतन्य और वर्तमानविषयावच्छिन्न-चैतन्य का अभेद' प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। यहाँ पर 'विषय' को 'वर्तमान' विशेषण की तरह 'योग्यत्व' विशेषण भी देना चाहिये। योग्यत्व का अर्थ है—प्रत्यक्षयोग्यत्व। इस विशेषण के जोड़ने पर 'वर्तमान और प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य होना—विषयावच्छिन्न चैतन्य का वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद रहना—प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है—' यह लक्षण सिद्ध होता है। धर्म और अधर्म प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं किन्तु परोक्ष हैं, और प्रस्तुत लक्षण में 'विषय' को 'प्रत्यक्षयोग्य' विशेषण दिया है। इस कारण उक्त लक्षण की धर्माधर्म में अति-व्याप्ति नहीं होती।

शंका—सुखादि और धर्मादि दोनों यदि अन्तःकरण के ही धर्म हैं अर्थात् दोनों में अंतःकरणधर्मत्व यदि समान है तो उनमें से कुछ धर्मों में प्रत्यक्ष योग्यता है और कुछ में नहीं—यह मानने में क्या नियामक है ?

समाधान—सुखादि और धर्मादि दोनों यद्यपि एक अन्तःकरण के ही धर्म हैं तथापि तद्‌वृत्ति-सुखादि, प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य हैं और धर्मादि, प्रत्यक्ष योग्य नहीं हैं—ऐसा मानने में कारण उनका भिन्न-स्वभाव ही है। अनुद्‌भूतत्व, धर्मादिकों का स्वभाव है। इस कारण धर्मादिक, प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं और उद्‌भूतत्व, सुखादिकों का स्वभाव है, इस कारण सुखादिक, प्रत्यक्ष के योग्य हैं। अर्थात् अन्तःकरण के धर्मों में से कुछ प्रत्यक्ष के योग्य हैं और कुछ नहीं। इस विषय में फलबल से कल्पनीय (फल रूप कार्य से अनुमान किया जाने वाला) पूर्वोक्त उद्‌भूतत्व और अनुद्‌भूतत्वरूप स्वभाव ही अग-त्या स्वीकार करना पड़ता है। इसके सिवाय अन्य उपाय नहीं। नैयायिकों को भी इस फलबलकल्प्य स्वभाव का सहारा लेना है। अन्यथा उनके मत में भी धर्मादिकों का प्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि वे सुखादिकों को तो प्रत्यक्ष योग्य मानते हैं और धर्मादिकों को प्रत्यक्ष के अयोग्य मानते हैं। परन्तु इसकी उपपत्ति को वे भी फलबलकल्प्य-स्वभाव

को बिना शरण किये बता नहीं सकते। इसलिए एक ही वस्तु के अनेक धर्मों में प्रत्यक्ष योग्यता है और कुछ में नहीं, इसमें स्वभावविशेष ही नियामक है।

इस प्रकार प्रत्यक्षत्वप्रयोजक-लक्षण की धर्माधर्म के शब्द ज्ञान में शंकित अतिव्याप्ति का असंभव दिखाकर पुनश्च आगामी शंका को बताते हुए उसका समाधान करते हैं

न चैवमपि सुखस्य वर्तमानतादशायां त्वं सुखीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यादिति वाच्यम्। इष्टत्वात्, दशमस्त्वमसि' इत्यादौ सन्निकृष्टविषये शब्दादप्यपरोक्षज्ञानाभ्युपगमात्[1]।

अर्थ--"विषय' में 'योग्य' विशेषण के देने पर भी सुख की वर्तमान अवस्था में 'तू सुखी है' इस वाक्य से पैदा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्षता प्राप्त होगी (वह वाक्यजन्य ज्ञान, प्रत्यक्ष है)। अर्थात् वह 'योग्य' पदघटित लक्षण भी वाक्यजन्य ज्ञान में अतिव्याप्त होगा।" यह कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि उस वाक्यजन्य ज्ञान को हम 'अपरोक्ष' ही मानते हैं और यही हमें इष्ट है (उसका अपरोक्षत्व ही हमें सम्मत है)। इस कारण पूर्वोक्त लक्षण पर अतिव्याप्ति नहीं होने पाती। कारण 'तू दसवाँ है' इत्यादि जिस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय संनिकृष्ट होता है, ऐसा शब्द से होनेवाला ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है, यह हमारा अभ्युपगम (सिद्धान्त) है। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है।

विवरण--प्रत्यक्षत्वप्रयोजक-लक्षण के 'विषय' पद में 'वर्तमानत्व' और 'योग्यत्व' इन दो विशेषणों के लगाने पर भी सुख की वर्तमानतावस्था में (जब कि व्यक्ति, सुख का साक्षात् अनुभव ले रहा हो तब) किसी व्यक्ति से तुम सुखी हो' कहने पर 'मैं सुखी हूँ' इत्याकारक ज्ञान को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा। (तुम सुखी हो' इस वाक्य से होने वाले 'मैं सुखी हूँ' इत्याकारक ज्ञान को अपरोक्ष = प्रत्यक्ष कहना होगा) क्योंकि सुखा-

---

१. शब्दो हि परोक्षज्ञानजननस्वभावः कथमिव अपरोक्षज्ञानं स जनयेत्? इति जिज्ञासायां 'दशमस्त्वमसी'ति आप्तवाक्याज्जायमानं 'दशमत्व'-ज्ञानमपरोक्षमेव, न परोक्षम्। अन्यथा अपरोक्षस्य भ्रमस्याऽनिवृत्तेः। अपरोक्षज्ञानमेव भ्रमनिवर्तकं भवति तथा च पञ्चदशीकाराः--

"न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाप्तवचनं तदा।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत्॥
त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति॥"

न च आप्तवाक्यस्य अपरोक्षज्ञानजनकत्वे शाब्दबोधोच्छेद एव स्यादिति शङ्कनीयम्। प्रमातृभिन्नार्थकस्य शब्दस्यैव अपरोक्षज्ञानजनकत्वमिति नियमः, नान्यस्य। अत एव 'सन्निकृष्टविषये प्रमातृभिन्नार्थविषय इत्यर्थः, न तु इन्द्रिय सन्निकृष्टे विषये इत्यवगन्तव्यम्, तथैव प्रमाणान्तरस्यापि प्रमातृभिन्नार्थविषये अपरोक्षज्ञानजनकत्वमस्ति।

समय 'सुख', वर्तमान तथा प्रत्यक्ष के योग्य भी होता है। इस कारण उस सुखज्ञान में 'योग्य और वर्तमान विषय' से अवच्छिन्न चैतन्य के साथ अभिन्न-वस्त्यवच्छिन्न चैतन्य, होता है। परन्तु 'त्वं सुखी' वाक्य से होने वाला ज्ञान, पूर्वोक्तलक्षण का लक्ष्य ही नहीं बन सकता। क्योंकि वाक्यजन्य-ज्ञान, नियमेन 'परोक्ष' रहता है। इस कारण वाक्य-जन्य-ज्ञान में (अलक्ष्य में लक्षण का रहना रूप) अतिव्याप्ति होती है।

सिद्धान्ती—'वाक्यजन्य-सुखादि-ज्ञान का प्रत्यक्ष होना' हमें इष्ट ही है। इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है।

वादी—(१) 'तू सुखी है' इत्यादि वाक्य, स्वविषय सुखादि का अपरोक्ष ज्ञान करानेवाला नहीं होता। (२) क्योंकि यह वाक्य है। सभी वाक्य परोक्ष ज्ञान कराने वाले होते हैं—यह व्याप्ति है। (३) ज्योतिष्टोमादि वाक्यों के समान। अथवा (१) 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान अपरोक्ष नहीं है। क्योंकि वह वाक्यजन्य है। (२) ज्योतिष्टोमादि वाक्यजन्य ज्ञान के तुल्य। इत्यादि अनुमान-प्रमाण[1] से वाक्यजन्य-ज्ञान को नियमेन परोक्षत्व होता है। ऐसी स्थिति में आप 'तू सुखी है' इस वाक्य से होनेवाले ज्ञान में अपरोक्षत्व हमें इष्ट ही है—कैसे कह सकते हैं ?

सिद्धान्ती—'तू दसवाँ है' इस वाक्य से 'मैं दसवाँ हूँ' इत्याकारक ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट = प्रत्यक्ष होने से उससे होने वाला ज्ञान भी 'प्रत्यक्ष' है। इस कारण 'वाक्य-जन्य ज्ञान में नियमेन परोक्षत्व ही रहता है'—आपके इस नियम का सन्निकृष्ट विषयक वाक्यार्थज्ञान में व्यभिचार होता है। उपर्युक्त दो अनुमानों में आपने क्रमशः 'वाक्यत्वात्' और 'वाक्यजन्यत्वात्' दिये हुए दोनों हेतु सोपाधिक हैं, उनमें 'सन्निकृष्ट-विषयत्व' उपाधि[2] है। सिवाय हेतुओं में सत्प्रतिपक्षत्व भी है। (१) 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य-ज्ञान, अपरोक्ष है। (२) क्योंकि उसका विषय अपरोक्ष है। (३) चाक्षुष प्रत्यक्ष के तुल्य। इस प्रत्यनुमान[3] में हेतु के साध्य का (परोक्षत्व का) अभाव सिद्ध करनेवाला है। इस कारण आपके दोनों हेतु सत्प्रतिपक्षित[4] हैं।

'तू दसवाँ है' इस वाक्य को सुनकर 'मैं ही दसवाँ हूँ' यह जो ज्ञान होता है, उसे इन्द्रियजन्य नहीं कह सकते। क्योंकि पूर्वोक्त वाक्य के श्रवण से पूर्व, इन्द्रियसन्निकर्ष के रहने पर भी (अन्य सब, दसवें मनुष्य को और स्वयं को दसवाँ स्वयं को प्रत्यक्ष

१. 'त्वं सुखी'त्यादिवाक्यं सुखविषयकाऽपरोक्षज्ञानाऽजनकं वाक्यत्वात्, ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्। यद् यद्वाक्यं तत्तत्परोक्षज्ञानजनकमितिव्याप्तिः।

अथवा—'तत्वमसीत्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं परोक्षं, वाक्यजन्यत्वात् ज्योतिष्टोमादि-वाक्यजन्यज्ञानवत्।'

२. उपाधिर्नाम—साध्यव्यापकत्वेसति साधनाऽव्यापकत्वम्।

३. 'तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानम् अपरोक्षम्, अपरोक्षविषयत्वात्, चाक्षुषप्रत्यक्षवत्

४. 'साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः।'

देखता हुआ भी 'मैं ही दसवाँ' यह ज्ञान किसी को भी नहीं हुआ था। 'प्रत्यक्ष-ज्ञान उत्पन्न करते समय इन्द्रियों को, शब्द का सहकारित्व रहता है' ऐसा किसी ने भी नहीं माना है। इसलिए 'तू दसवाँ' इस ज्ञान को 'शब्दसहकृत-इन्द्रियजन्यत्व होने से अपरोक्षत्व है' यह नहीं कह सकते और इन्द्रियजन्यत्व न होने से वह ज्ञान 'परोक्ष ही है' यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि उसे यदि परोक्ष कहें तो 'दसवाँ है' यह परोक्ष ज्ञान, 'दसवाँ नहीं' इस अपरोक्ष अध्यास की निवृत्ति नहीं कर पाता। इसलिए 'तू दसवाँ है' अथवा 'तू वह ब्रह्म है' इत्यादि अपरोक्ष-विषयक वाक्य से हुआ ज्ञान, अपरोक्ष ही है—यह मानना पड़ता है।[1]

शंका—'अपरोक्ष-विषयक वाक्य से हुआ ज्ञान अपरोक्ष ही होता है' मानने पर 'पर्वत वह्निमान् है' इत्यादि अनुमिति-ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहना पड़ेगा, यह शंका कर अनुमिति ज्ञान में प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति 'पर्वत' अंश में होगी या 'वह्नि' अंश में होगी ? पर्वतांश में यदि कहें तो वह हमें इष्ट ही है। इस आशय से ग्रंथकार समाधान करते हैं—

अत एव पर्वतो वह्निमानित्यादि ज्ञानमपि वह्न्यंशे परोक्षं पर्वतांशेऽपरोक्षम्, पर्वताद्यवच्छिन्न-चैतन्यस्य बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्या[2]भेदात्। वह्न्यंशे त्वन्तःकरणवृत्तिनिर्गम[3]नासम्भवेन वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्यस्य च परस्परं भेदात्। तथा चानुभवः 'पर्वतं पश्यामि, वह्निमनुमिनोमीति'।

न्यायमते[4] तु पर्वतमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायापत्तिः[5]।

---

१. पं. द. तृप्तिदीप, श्लो० २३-२७। २. 'न्यस्य च परस्परं भेदाभावात्'-इति पा.।
३. 'माभावेन'—इति पाठान्तरम्। ४. 'मते पर्व०'—इति पाठान्तरम्।

५. अयमभिप्रायः—विषयस्वरूपग्रहणसमकालमेव ज्ञानस्वरूपमपि गृह्यते। तत्र यादृशाकारो विषयः तादृशाकारमेव तं विषयं, ज्ञानं गृह्णाति। पर्वतांशे ज्ञानं यदि अनुमितिरूपं स्यात् तदा तदनुमितिरूपमेव गृह्णीयात् पर्वतमनुमिनोमीति, किन्तु तथा तन्नगृह्णति। सर्वेषामपि ज्ञानग्रहणाकारः पर्वतं पश्यामीत्येव भवति। अयः पर्वतांशे ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं न लोकविरुद्धम्। किन्तु न्यायमते नैतत्संभवति, यतः न्यायमते व्यवसायानन्तरमनुव्यवसायो भवति। तत्र विषयज्ञानं व्यवसाय इत्युच्यते। ज्ञानस्य ज्ञानं तु अनुव्यवसाय इत्युच्यते। प्रत्यक्षे विषयज्ञानस्याकारोघटोऽयमिति। अनुमितौ पर्वतो वह्निमानिति। प्रत्यक्षे ज्ञानविषयक-ज्ञानस्याकारो घटं पश्यामीति। अर्थात् घटविषयकज्ञानवानहमित्याकारः। अनुमितौ तु वह्निमनुमिनोमीति। अर्थात् वह्निविषयकानुमितिज्ञानवानहमित्याकारः। तत्र पर्वतांशे ज्ञानं यदि अनुमितिरूपं स्यात्, तदा तदनुमितिरूपं गृह्णीयात्, ज्ञानग्रहणाकारश्च पर्वतमनुमिनोमीति स्यात्। न च तथा नैयायिकानामपि। अतः पर्वतांशे ज्ञानं प्रत्यक्षमेवाभ्युपगन्तव्यं, नाऽप्रत्यक्षम्।

अर्थ—इसलिये (प्रमाणचैतन्य और योग्यवर्तमानविषयचैतन्य के अभेद को प्रत्यक्ष-प्रयोजकत्व है—हमारा यह अभ्युपगन होने से ही) 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि ज्ञान भी 'वह्नि अंश' में परोक्ष और 'पर्वत अंश' में अपरोक्ष है, क्योंकि पर्वतादिकों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य और इन्द्रिय के द्वारा बाहर निकली हुई अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का अभेद है। परन्तु 'वह्नि अंश' में अन्तःकरण-वृत्ति का देह के बाहर निकलने का संभव न होने से वह्न्यवच्छिन्न-चैतन्य और प्रमाणचैतन्य का परस्पर भेद है (इस कारण 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमति-ज्ञान 'वह्नि अंश' में परोक्ष है), तथा अनुभव भी 'मैं पर्वत को देखता हूँ और उस पर स्थित अग्नि का अनुमान करता हूँ' ऐसा ही है। परन्तु इसके विपरीत न्यायमत में 'मैं पर्वत का अनुमान करता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय होता है।

विवरण—'प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य के अभेद' को हमने प्रत्यक्ष का प्रयोजक माना है। (जिस ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट = अतिसमीप होता है, वह ज्ञान, इन्द्रिय-जन्य न होने पर भी अपरोक्ष माना जाता है) इसलिये 'पर्वत वह्निमान् है' इत्यादि ज्ञान भी सन्निकृष्ट-स्थित 'पर्वत' अंश में अपरोक्ष है और चक्षु से सन्निकृष्ट न हुए 'वह्नि' अंश में परोक्ष है। 'पर्वत' अंश में अपरोक्ष कैसे होता है? यदि पूछो, तो बताते हैं—पर्वतविशिष्ट चैतन्य और तदाकार-अन्तःकरणवृत्ति विशिष्ट चैतन्य का अभेद हुआ है। 'प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष का प्रयोजक (कारण) है' यह हमारा अभ्युपगम होने से 'पर्वत वह्निमान् है' यह ज्ञान, पर्वत रूप विषय-अंश में अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है। परन्तु उपर्युक्त वाक्य से जिस अग्नि का ज्ञान होता है उस अग्नि से अन्तःकरणवृत्ति का साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण अग्निविशिष्ट चैतन्य और अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रमाणचैयन्य का परस्पर भेद है, अभेद नहीं। इसलिए वह्नि अंश में पूर्वोक्त ज्ञान को प्रत्यक्षत्व न होकर परोक्षत्व है।

परन्तु भट्टपाद ने कहा है—

'सिद्धानुगममात्रं हि कर्तृंयुक्तं परीक्षकैः।
न सर्वलोकसिद्धस्थलक्षणेन निवर्तनम् ॥' श्लो० वा० सू० ४—श्लो० १३३।

अर्थात् परीक्षकों को लोक-प्रसिद्धि का अनुसरण करना ही योग्य है। लोकप्रसिद्धि को छोड़कर केवल लक्षण से सर्वलोकप्रसिद्ध वस्तु का निवर्तन करना कभी भी उचित नहीं है। इसलिए 'पर्वत वह्निमान् है' इस प्रसिद्ध अनुमिति को केवल लक्षण के द्वारा हटाना योग्य नहीं है। इस शंका का समाधान ग्रंथकार 'तथा च' वाक्य से करते हैं। हमारे कहने के अनुसार ही लोकप्रसिद्धि भी (लोगों का अनुभव भी) है। सभी लोक 'मैं पर्वत को प्रत्यक्ष देखता हूँ' परन्तु उस पर स्थित अग्नि को प्रत्यक्ष नहीं देख रहा हूँ, किन्तु 'धूम' लिङ्ग से उसका अनुमान करता हूँ' यही कहते हैं। अर्थात् हम लोकप्रसिद्धि का अनुसरण कर ही—'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान 'पर्वत अंश' में अपरोक्ष है और 'वह्नि अंश' में परोक्ष है—कहते हैं; लोकप्रसिद्धि का अपलाप नहीं करते।

इस प्रकार हम वेदान्तपक्ष में लोकप्रसिद्धि का अनुसरण किस प्रकार होता है यह दिखाकर नैयायिक अपने पक्ष में लोकप्रसिद्धि का अतिक्रमण कैसे करते हैं, उसे दिखाने के लिये 'न्यायमते तु' इत्यादि ग्रंथ का प्रारम्भ करते हैं। न्यायमत में ही 'मैं पर्वत का अनुमान करता हूँ' यह अनुव्यवसाय होता है। क्योंकि नैयायिक पर्वत को और उस पर स्थित धूम को भी प्रत्यक्ष देखकर पश्चात् 'यह पर्वत वह्निमान् है' ऐसा अनुमान करता है। इस कारण 'यह घट' इस प्रकार पहले प्रत्यक्ष देखकर पश्चात् 'मैं घट को जानता हूँ' इस मानस-अनुव्यवसाय के समान उस अनुमितिज्ञान में भी अनुव्यवसायत्व है, व्यवसायत्व (इन्द्रियजन्यपूर्वज्ञानत्व) नहीं। मूलस्थ 'न्यायमते तु' यहाँ 'तु' शब्द वेदान्त से न्यायमत में वैलक्षण्य व्यक्त करने के लिए है। अब ग्रन्थकार किस अनुमिति में 'ज्ञान' सर्वांश में परोक्ष होता है—बताकर 'सुरभिचन्दनम्' ज्ञान में भी पूर्वोक्त न्याय ही लगता है—बताते हैं।

[1]असन्निकृष्टपक्षकानुमितौ तु सर्वांशेऽपि ज्ञानं परोक्षम्। सुरभिचन्दनमित्यादिज्ञानमपि चन्दनखण्डांशे[2] अपरोक्षं, सौरभांशे[3] तु परोक्षं, सौरभ्यस्य चक्षुरिन्द्रियायोग्यतया योग्यत्वघटितस्य निरुक्तलक्षणस्याभावत्[4] ॥

अर्थ—जिस अनुमितिज्ञान में पक्ष, असन्निकृष्ट (चक्षुरादि इन्द्रियों से असम्बद्ध इन्द्रियों का विषय न बननेवाला) होता है। उसमें 'ज्ञान' सभी अंशों में परोक्ष ही होता है। क्योंकि 'योग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभेद' रूप प्रत्यक्षप्रयोजक का वहाँ अभाव है। 'यह चन्दन का मूठा सुगन्धी है' इत्यादि दूरस्थ मूठे को (विषय को) देख होनेवाला ज्ञान भी 'चन्दन का मूठा' इस अंश में अपरोक्ष और सुगन्ध अंश में परोक्ष है। क्योंकि 'सुगन्ध' चक्षुरिन्द्रिय के विषय होने योग्य नहीं है। (सौरभ में चक्षुरिन्द्रिय का विषय बनने की योग्यता नहीं है) और प्रत्यक्षप्रयोजकत्व के पूर्वोक्त लक्षण में 'योग्य' विशेषण दिया है। अतः योग्यत्वघटित निरुक्त (पूर्वोक्त) लक्षण का यहाँ अभाव है।

---

१. 'पर्वतं पश्यामि, वह्निमनुमिनोमी'त्युपर्युक्तप्रकारेण पर्वतांशे ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं वह्न्याद्यंशे च परोक्षत्वमिति अनुमितौ द्विरूपं ज्ञानं भवति चेत् 'पृथ्वीपरमाणवो गन्धवन्तः पृथ्वीत्वात् घटवत्' इत्यादौ परमाण्वंशेऽपि प्रत्यक्षं स्यात्, इत्यत आह 'असन्निकृष्टे'ति। 'पृथ्वीपरमाणवो गन्धवन्तः' इत्यादौ अप्रत्यक्षपक्षकानुमितौ पक्षे साध्ये च ज्ञानं परोक्षमवगन्तव्यम्।

२. चन्दनांशेऽपरोक्षमिति पाठान्तरम्।

३. सौरभांशे परोक्षम्—इति पाठान्तरम्।

४. वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याऽभिन्नयोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्यत्वरूपस्य अभावत्। तत्र हेतुः इन्द्रियाऽसन्निकृष्टतयेति।

विवरण—परन्तु इसके विपरीत (१)—'पृथ्वी के परमाणु गंधवान् हैं। (२)—क्योंकि उनमें पृथ्वीत्व है। (३)—घटादिकों के समान'। इस अनुमान[1] में पृथ्वी के परमाणु–पक्ष हैं। परन्तु वे अप्रत्यक्ष (असन्निकृष्ट) हैं। क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है। इसी तरह जिस अनुमिति-ज्ञान में 'पक्ष' अप्रत्यक्ष होता है उस अनुमान में पक्ष और साध्य रूप दोनों अंशों में ज्ञान 'परोक्ष' होता है। और जिस अनुमिति में पक्ष, प्रत्यक्ष रहता है वहाँ पक्ष रूप अंश में ज्ञान प्रत्यक्ष रहता है और साध्य अप्रत्यक्ष (परोक्ष) रहता है। अतः जिस अनुमिति में पक्ष तथा साध्य भी अप्रत्यक्ष हो वहाँ पक्ष और साध्य रूप दोनों अंशों में ज्ञान परोक्ष ही रहता है—इस नियम के अनुसार ही 'सुरभिचन्दनम्' ज्ञान की विशेषता के सम्बन्ध में शंका करते हैं—

शंका—चन्दन का मूठा; देखनेवाले व्यक्ति से दूर है, और उस व्यक्ति को 'यह चन्दन का मूठा सुगन्धी है' इत्याकारक ज्ञान उस मूठे को देखकर ही हुआ है। ऐसी स्थिति में यह ज्ञान 'सौरभ' अंश में परोक्ष है या अपरोक्ष? उस ज्ञान में परोक्ष की सामग्री न होने से उसे परोक्ष नहीं कह सकते। 'जहाँ जहाँ चन्दन का टुकड़ा होता है, वहाँ वहाँ सुरभित्व होता है' इत्यादि व्याप्तिज्ञानादि, 'परोक्ष ज्ञान' की सामग्री है, परन्तु वह (सामग्री) 'चन्दन सुरभि है' इस ज्ञान के पूर्व सम्भव नहीं होती। सिवाय उस ज्ञान का विषय जो 'सौरभ', वह प्रत्यक्ष-योग्य भी है। इसलिए उस विषय में भा अनुमान करना व्यर्थ है। अतः 'सुरभि चन्दनम्' यहाँ ज्ञान को 'सौरभ अंश' में परोक्ष नहीं कह सकते, और अपरोक्ष भी नहीं कह सकते। क्योंकि वहाँ सुगन्धाकार वृत्ति, उत्पन्न नहीं हुई है। और विषयाकार वृत्ति जब तक उत्पन्न नहीं होती तब तक अपरोक्ष ज्ञान का सम्भव नहीं।

समाधान—इस पर सिद्धान्ती कहता है—'चन्दन सुगन्धि है' यहाँ सौरभ अंश में ज्ञान को हम परोक्ष ही मानते हैं। (मूल में 'इत्यादि ज्ञानम्' के आदि शब्द से 'मधुर आम्रफल' इत्यादि दूसरे ज्ञानों का भी ग्रहण करना चाहिये) किसी व्यक्ति ने दूर से ही चन्दन का मूठा अथवा आम्रफल को चक्षु से देखा और उसे वह मूठा या फल देखकर ही 'चन्दन सुगन्धि है और आम्रफल मधुर है' ज्ञान हुआ। उस स्थिति में उसे गन्ध का या रस का जो ज्ञान हो रहा है, वह परोक्ष है या अपरोक्ष? क्योंकि उसने चन्दन को स्वयं सूंघा नहीं या आम्रफल को चखा नहीं, किन्तु दूर से ही उन पदार्थों को चक्षु से केवल देखा है। अतः उस ज्ञान में संशय होता है।

तथापि ऐसे प्रसंग में गंध-रसादिकों का ज्ञान 'परोक्ष' और चन्दन का टुकड़ा तथा आम्रफल का ज्ञान 'अपरोक्ष' रहता है, यही मानना चाहिये। क्योंकि उस व्यक्ति ने पहले उसी चन्दन का यदि गन्ध लिया होता तो मूठे को केवल देखकर ही 'वह सुगन्धी है' यह उत्पन्न हुआ ज्ञान 'स्मृति' कहावेगा। और यदि उसने पहले बिना सूंघे ही 'वह

१. 'पृथ्वीपरमाणवः गन्धवन्तः पृथ्वीत्वात् घटवत्' इत्यनुमानम्।

सुगंधी है' यह ज्ञान उसे हो रहा हो तो 'चन्दन-खण्डत्व' रूप लिंग (हेतु) से होनेवाला सौरभज्ञान 'अनुमितिज्ञान' कहावेगा। आम्रफल के मधुर रस के विषय में भी इसी तरह समझना चाहिये। क्योंकि पूर्वोक्त 'पर्वत अग्निमान् है' इस अनुमितिज्ञान में पर्वत की तरह प्रस्तुत उदाहरण में सौरभ व माधुर्य का आश्रयभूत मूठा और आम्रफल प्रत्यक्ष दीखते हैं। इस कारण तत्तद् अंश में उनका ज्ञान अपरोक्ष ही है।

शंका—सौरभ में भी योग्यविषयता है। वह घ्राणेन्द्रिय का विषय बन सकता है। तब सौरभ अंश में भी ज्ञान अपरोक्ष क्यों नहीं ? अर्थात् सुगन्ध में इन्द्रिययोग्यविषयत्व होते हुए भी उसका ज्ञान क्यों न प्रत्यक्ष हो।

समाधान—सौरभ में चक्षुरिन्द्रिय-विषय होने की योग्यता नहीं है तथापि घ्राणेन्द्रिय के विषय होने की योग्यता है, क्योंकि सुगन्ध घ्राणेन्द्रिय का विषय है, वह चक्षुरिन्द्रिय का विषय नहीं। इस कारण हमने प्रत्यक्ष-प्रयोजक का जो पहले 'तत्तदिन्द्रिययोग्यत्वघटित' लक्षण[1] बताया है, उसका इस सौरभ में अभाव है। केवल चक्षु से देखकर सौरभ का अपरोक्ष ज्ञान होना शक्य नहीं। इसलिये उपर्युक्त शंका हो नहीं सकती।

जिस अनुमितिज्ञान में पक्ष 'असन्निकृष्ट' (परोक्ष) रहता है उस अनुमिति में पक्ष की अपरोक्षता का असन्निकृष्टत्व (परोक्षत्व) जैसा बाधक बनता है उसी तरह जिस अनुमिति में पक्ष सन्निकृष्ट (अपरोक्ष) है ऐसे 'चन्दन सुरभि है' ज्ञान में 'पक्षांश' का ज्ञान अपरोक्ष तथा 'साध्यांश' का ज्ञान परोक्ष होता है। यह मानने पर प्रसिद्ध जातिबाधक 'सांकर्य' की प्राप्ति बाधक होती है। इस कारण 'ज्ञान, पक्ष के अंश में अपरोक्ष और साध्य के अंश में परोक्ष होता है' यह तुम्हारा पूर्वोक्त कथन अनुचित है। इस शंका का अनुवाद कर उसका निरसन किया जाता है :—

न चैवमेकत्र ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरभ्युपगमे तयोर्जातित्वं न स्यादिति वाच्यम्। इष्टत्वात्, जातित्वोपाधित्व-परिभाषायाः

---

१. 'तत्तदिन्द्रियवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याभिन्नयोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभेद' रूपस्यलक्षणस्याभावः।

२. असन्निकृष्टपक्षकानुमितिस्थले पक्षस्य प्रत्यक्षत्वे यथा असन्निकृष्टत्वं बाधकं, तथा इदं चन्दनं सुरभि चन्दनखण्डत्वात् चन्दनखण्डान्तरवत्' इति—सन्निष्कृष्टपक्षकानुमितिस्थले चन्दनखण्डांशे अपरोक्षत्वं (प्रत्यक्षत्वं) सौरभांशे परोक्षत्व-(अप्रत्यक्षत्व-)मिति परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वयोः अभ्युपगमे प्रसिद्धजातिबाधकसाङ्कर्यप्रसङ्गो बाधको भवेत्। तथा चोक्तं किरणावल्याम्—'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानि रससम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः'॥ संकरश्च—'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोरेकत्रसमावेशः।' तथा च नेदं युक्तमित्याशंक्य निराकरोति ग्रन्थकारः 'न चे'ति। तत्र जातित्वाभावस्तु अभीष्ट एव जात्युपाध्युदासीनधर्ममात्रस्याभ्युपगमात्।

सकलप्रमाणागोचरतया अप्रामाणिकत्वात् । घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानं, न तु तस्य जातित्वेऽपि ।

जातित्वरूप-साध्याप्रसिद्धौ तत्सा[1]धकानुमानस्याप्यनवकाशात् । समवायासिद्धया ब्रह्मभिन्नं[2] निखिलप्रपञ्चस्यानित्यतया च नित्यत्व-समवेतत्व-घटित-जातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्च । एवमेवोपाधित्व[3]मपि निरसनीयम् ॥

अर्थ—'पूर्वोक्त प्रकार से एक ज्ञान में आंशिक परोक्षत्व और आंशिक अपरोक्षत्व इन दो धर्मों का स्वीकार करने से उन दोनों को भी जातित्व नहीं है' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व का जातित्व न होना हमें इष्ट ही है। क्योंकि जातित्व और उपाधित्व की परिभाषा (तर्कशास्त्र का संकेत) किसी प्रमाण का विषय न होने से अप्रामाणिक है (उस परिभाषा में कोई प्रमाण नहीं है)। 'यह घट है' इत्यादि प्रत्यक्ष-प्रमाण घटत्वादिकों के अस्तित्व में ही प्रमाण है, उनके जातित्व में प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रकार जातित्वरूप साध्य की अप्रसिद्धि (सर्वथा असिद्धि) होने से तत्साधक अनुमान की भी प्रवृत्ति हो नहीं सकती और समवाय की प्रमाण से सिद्धि न होने से तथा ब्रह्मभिन्न समस्त प्रपञ्च की अनित्यता होने से नित्यत्व और समवेतत्व से युक्त जातित्व की घटत्वादिकों में असिद्धि होती है। इस कारण 'यह घट है' इत्याकारक प्रत्यक्ष, घटत्वादिकों के जातित्व में प्रमाण नहीं हो सकता। इसी न्याय से नैयायिकों के पारिभाषिक उपाधित्व का भी निरसन कर देना चाहिये।

विवरण—उपर्युक्त शंका का आशय इस प्रकार है—'पर्वत वह्निमान् है' इस एक ही ज्ञान में 'परोक्षत्व' भी है और 'अपरोक्षत्व' भी है—ऐसा आप कहते हैं। परन्तु 'पर्वत वह्निमान् है' यह वह्निप्रकारक-पर्वतविशेष्यक और संयोगसंसर्गक विशिष्ट ज्ञान एक ही है, किन्तु उसे पर्वतरूप विशेष्यांश में प्रत्यक्ष और अग्निरूप विशेषणांश में परोक्ष मानने पर प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व धर्मों में जातित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि वह विशिष्ट ज्ञान, सांकर्य रूप जातिबाधक-कारण से युक्त है। 'परस्पर समानाधिकरण न होनेवाले दो धर्मों का एक स्थान में समावेश होना' (उनका एक अधिकरण में रहना) संकर कहलाता है। 'संकर', जाति का बाधक (बाध करनेवाला) दोष है। उपर्युक्त दो धर्मों का 'पर्वतो वह्निमान्' इस स्थल में संकर[4] होता है। इस

---

१. 'साध्यकाः'—इति पाठान्तरम् ।
२. 'भिन्नाखिलः'—इति पाठान्तरम् ।
३. 'पाधित्वं निर०'—इति पाठान्तरम् ।
४. 'पृथ्वीपरमाणवो गन्धवन्तः' इत्यनुमितौ अपरोक्षत्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणं

कारण वह संकर, परोक्षत्व और अपरोक्षत्व के जातित्व का बाध करेगा।

तार्किकों की इस शंका पर सिद्धान्ती कहता है—

'पर्वतो वह्निमान्' इस विशिष्ट ज्ञान में जाति और उपाधि से विलक्षण, परोक्षत्व और अपरोक्षत्व धर्म मानने पर उसमें (परोक्षत्व-अपरोक्षत्व को) नैयायिकों का इष्ट, जातित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा—यह भय आपका व्यर्थ है। क्योंकि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व में जातित्व का न होना हमें इष्ट ही है। क्योंकि 'प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व' जाति तथा उपाधि से भिन्न धर्म मात्र हैं, यही हमारा (वेदान्तियों का) मत है।

शंका—घटत्वादि अन्य जातियों की तरह परोक्षत्व और अपरोक्षत्व दो जातियाँ भी प्रमाणसिद्ध हैं। तब उनके प्रमाणसिद्ध जातित्व का स्वीकार न करने पर अतिप्रसंग होगा।

समाधान—जातित्व और उपाधित्व (जाति और उपाधि) आपके संकेत हैं (आपकी रची परिभाषाएँ हैं) उन्हें प्रामाणिकत्व नहीं है (जाति और उपाधि, प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होतीं)।

शंका—नील-घटत्वादिकों में जैसा उपाधित्व प्रमाणसिद्ध है, उसी तरह घटत्वादिकों में जातित्व भी प्रमाणसिद्ध ही है। तव घटत्व-जाति में कोई प्रमाण नहीं, यह आप कैसे कहते हैं?

समाधान—आपकी पारिभाषिक 'जाति' के विषय में जैसे प्रमाण नहीं, वैसे ही 'उपाधि' के विषय में भी प्रमाण नहीं है, यह हमारा कथन है। इसी कारण मूल ग्रन्थ में जातित्व के साथ उपाधित्व का भी ग्रहण किया है। अर्थात् 'घटत्वादिकों में जातित्व रहता है' और 'नील-घटत्व में उपाधित्व रहता है' ये आपकी दोनों परिभाषाएँ, प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण का विषय न होने से अप्रामाणिक हैं[1]।

'परोक्षत्वं' वर्तते, 'घटोऽय'मिति प्रत्यक्षज्ञाने परोक्षत्वात्यन्ताभावसमानाधिकरण प्रत्यक्षत्वं वर्तते, तयोः परस्परविरुद्धधर्मयोः परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वयोः एकत्र 'पर्वतो वह्निमान् इत्यत्र समावेशः, इति तयोः जातित्वं न भवितुमर्हतीत्याशयः। अतः 'पर्वतांशे ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे साङ्कर्यं' बाधकं, सर्वांशे ज्ञानस्य परोक्षत्वे तु न साङ्कर्यं, न वा प्रत्यक्षत्वस्य जातित्वोच्छेदः स्यादिति शंकाकर्तुराशयः।

१. 'नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्'—जातिः।

(क) 'भेदकधर्मवत्त्वम्,—उपाधिः।

(ख) 'आधुनिकसंकेतः'—परिभाषा।

एवञ्च घटत्वादीनां नैयायिकी परिभाषा 'जाति'रिति। 'अतद्व्यावृत्ति'रिति बौद्धानां परिभाषा। नीलघटत्वादीनामुपाधिरिति। तथा च—जातित्वमुपाधित्वञ्च तत्तत्सम्प्रदायानां परिभाषामात्रम्। न हि परिभाषामात्रेण कस्यचिदर्थस्य सिद्धिर्भवति।

शंका—'जिस वस्तु का जिस इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, उसी इन्द्रिय से तन्निष्ठ जाति और उस वस्तु के अभाव का भी ग्रहण होता है' इस न्याय से 'यह घट' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान से घटत्वजाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। तब 'जाति और उपाधि के विषय में कोई प्रमाण नहीं है' यह आप कैसे कह रहे हैं? इस शंका का समाधान 'घटोऽयम्०' इत्यादि ग्रन्थ से ग्रन्थकार ने किया है, जिसका आशय इस प्रकार है—

'यह घट' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान घटत्वादिकों के अस्तित्व में ही प्रमाण है। उसके जातित्व में प्रमाण नहीं है। क्योंकि घटत्व के अस्तित्व का ज्ञान कराकर ही वह उपक्षीण (कृतकार्य) हो जाता है। घटत्वादिकों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए ही उस प्रत्यक्ष के प्रवृत्त होने से उसका अस्तित्व सिद्ध करते ही वह कृतार्थ हो जाता है और उसके जातित्व की सिद्धि के लिए अप्रवृत्त होने से वह जातित्व की सिद्धि में उदासीन रहता है।

शंका—घटत्वजाति में प्रत्यक्षप्रमाण के न होने पर भी अनुमान[1] प्रमाण है— "घटत्व जाति है, क्योंकि (उसे—घटत्व को) उपाधिभिन्न सामान्यधर्मत्व होने से अथवा नित्य और अनेकसमवेत होने से, सत्ता की तरह इस अनुमान से 'घटत्व-जति' की सिद्धि की जा सकती है। तब ग्रन्थकार 'जातित्वरूप' इत्यादि ग्रन्थ से इस शंका का समाधान करते हैं—

इस अनुमान में नित्य और अनेकसमवेत रूप लक्षण से युक्त जातित्व रूप साध्य की अप्रसिद्धि होने से उसके अधीन रहनेवाले व्याप्तिज्ञानादि का भी अभाव होता है। अतः इस जातिसाधक-अनुमान को अवसर ही नहीं मिल पाता।

शंका—ऐसे जातित्व की अप्रसिद्धि होने पर भी उस जातित्व के घटक (अवयव-भूत) नित्यत्व, एकत्व और अनेकसमवेतत्व, इनकी क्रम से आत्मा, आकाश और घटादिकों में प्रसिद्धि है। क्योंकि—'नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यम्' यह 'सामान्याख्य' जाति का लक्षण किया है। उसमें से नित्यत्व 'आत्मा' में, एकत्व 'आकाश' में, और अनेक—समवेतत्व 'घटादिकों' में प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रसिद्ध नित्यत्वादिकों का ग्रहण करके उनसे युक्त हुए जातित्व की घटत्वादिकों में सिद्धि होगी।

ग्रन्थकार ने 'समवायासिद्धया' इत्यादि मूल ग्रन्थ से इस शंका का निरसन किया है, जिसका आशय इस प्रकार है—'समवाय' नाम का कोई पदार्थ ही सिद्ध नहीं है।

---

१. अनुमान प्रयोगः—'घटत्वादिकं जातिः, उपाधिभिन्नत्वे सति सामान्यधर्मवत्त्वात्'। अथवा 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वात्, सत्तावत्' तत्कथं घटत्वादेः जातित्वे न प्रमाणम्? अनुगतप्रतीतेः अनुमानत्वेऽपि अनुमानस्य मानत्वात्, इति चेन्न। अत्रानुमाने साध्याऽप्रसिद्धया हेतुर्दुष्टः। तथा चास्मिन् प्रयोगे जातित्वं साध्यम्। तच्च नित्याऽनेकसमवेतत्वरूपम्। न च तत् क्वचित् प्रसिद्धम्, सिद्धान्ते क्वापि नित्यानेकसमवेतत्वरूपस्य जातित्वस्य अनभ्युपगमात्, नित्यत्वाभावात्, समावायाऽभावाच्च। तस्मात् साध्यस्य जातित्वस्य अप्रसिद्धया हेतौ साध्य-व्याप्तिग्रहाभावेन तस्य च व्याप्यत्वासिद्धत्वेन तत्साध्यकानुमितिर्न भवति।

(नैया०) तथापि 'यह घट रूपवान् है' मृत्तिका में अर्थात् मृत्तिका रूप अवयवों में घट अवयवी है। यहाँ रूप और घट अथवा मृत्तिका-घट में संयोग की प्रतीति तो होती नहीं, और सम्बन्ध तो उनमें (रूप-घट, और मृत्तिका-घट में) है ही, अतः परिशेषन्याय से युतसिद्ध-पदार्थों में प्रतीत होनेवाले संयोग से भिन्न, अयुतसिद्ध-पदार्थों के 'समवाय' सम्बन्ध की सिद्धि होती।

(वेदा०) आपका यह कहना उचित नहीं है। कारण, 'रूपादि' गुण और 'वस्त्रादि' गुणी (द्रव्य) अथवा 'परमाणु' आदि अवयव और 'द्वचणुक आदि' अवयवी इनमें भेद स्पष्ट है, तथा उनका सम्बन्ध जो समवाय है वह भी अत्यन्त (बिलकुल) भिन्न है, ऐसा स्वीकार करने पर 'दण्डः पुरुषः' में जैसे समानाधिकरण का प्रत्यय संभव नहीं होता वैसे ही 'शुक्ल-घट मृद्घट' इनमें भी समानाधिकरण का प्रत्यय नहीं हो पायेगा। कारण, 'दण्डः पुरुषः' दण्ड ही पुरुष है, यह कभी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें अत्यन्त भेद है। उसी तरह गुण-गुणी, अवयव-अवयवी; और द्रव्य तथा समवाय संबंध के भी अत्यन्त भिन्न होने से शुक्ल-घट, मृद्घट, द्रव्यसमवेत-गुण, आदि में समानाधिकरणप्रत्यय की संभावना भी नहीं की जा सकेगी। किन्तु 'शुक्लघट, मृत्तिका में घट' ऐसा समानाधिकरणप्रत्यय तो हुआ करता है। अतः इस समानाधिकरण्य की प्रीतति से 'शुक्ल-घट' आदि में अभेद (तादात्म्य) ही स्वीकार करना चाहिये। उपर्युक्त 'दण्डः पुरुषः' उदाहरण व्यतिरेकी है। अन्वयी नहीं है।

सिवाय दो समवायी पदार्थों का समवाय, अपने समवायी पदार्थों से (जिनका समवाय हो) संबद्ध होकर विशिष्ट-प्रत्यय का नियामक होता है या उनसे असम्बद्ध रहकर ही वह विशिष्ट-प्रत्यय का नियामक होता है? घट 'द्रव्य' है और रूप 'गुण' है। ये दोनों पदार्थ युतसिद्ध (पृथक् सिद्ध) नहीं हैं, किन्तु अयुतसिद्ध हैं। इस कारण उनमें संयोग-सम्बन्ध नहीं रहता, समवाय सम्बन्ध ही सम्भव होता है। इसलिये 'जिसमें समवाय हो वह समवायी', इस व्युत्पत्ति से घट और रूप ये दोनों पदार्थ समवायी हैं। 'समवाय' उन समवायी पदार्थों से सम्बद्ध होकर 'ये दो पदार्थ समवेत हैं' तथा 'घट रूपी है' (रूपवान् = रूप से युक्त है) इस विशिष्ट प्रत्यय का नियामक (कारण) होता है या वह (समवाय) समवायी पदार्थों से सम्बद्ध न होकर ही उक्त विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है? यह प्रश्न सिद्धान्ती ने 'समवाय संबंध' को पृथक् पदार्थ माननेवाले तार्किक से किया है। ऐसे उभयकोटिक प्रश्न को विकल्प कहते हैं। 'दण्डी पुरुषः' (दण्डवान् पुरुष) यह विशिष्ट प्रत्यय है। क्योंकि इसमें 'दण्ड' विशेषण और 'पुरुष' विशेषित (विशेष्य) है। 'यह पुरुष दण्डवान् है' इस प्रत्यय (अनुभव) का विषय 'विशेषित (विशेषणयुक्त) पुरुष' है। इसलिये यह विशिष्ट प्रत्यय है। उसी तरह 'रूपी (रूपवान्) घटः' इसमें भी 'रूप' विशेषण से युक्त (विशेषित = समवेत) घट, विषय है। इस कारण भी विशिष्ट-प्रत्यय है। ऐसे विशिष्ट-प्रत्यय का नियामक कौन? सम्बद्ध-समवाय या असम्बद्ध-समवाय?

सिद्धान्ती—'समवाय, समवायी पदार्थों से सम्बद्ध होकर विशिष्ट-प्रत्यय का नियामक होता है' इस प्रथम पक्ष को मानने पर अनवस्था दोष होगा। जैसे—नैयायिक का कहना है कि—'रूपी घटः' इस प्रत्यय में 'रूप और घट' दोनों पदार्थ बिलकुल भिन्न हैं, तथापि परस्पर संबद्ध हैं। इन दो अयुतसिद्ध पदार्थों में संयोग सम्बन्ध की सम्भावना तो बन ही नहीं सकती। अतः नित्यसम्बद्ध समवाय की सिद्धि हो जाती है।

तब वेदान्ती कहता है कि 'समवाय' भी तो सम्बन्ध ही है। इसी कारण वह रूप और घट इन दो पदार्थों के मध्य में रहता है। यह रूपात्मक या घटात्मक न होकर रूप और घट से बिलकुल भिन्न है। तब उनको सम्बद्ध कराने के लिए एक और सम्बन्ध की आवश्यकता होगी। अन्यथा असम्बद्ध और अतद्रूप समवाय उन दो पदार्थों में किसी प्रकार के अतिशय को पैदा नहीं कर सकता। इस कारण रूप और समवाय का कल्पित सम्बन्ध भी परस्पर सम्बद्ध होकर ही सम्बन्धी पदार्थों में अतिशय को पैदा कर सकेगा। अतः समवाय और समवायी का सम्बन्ध होने के लिये दूसरा समवाय, उसके सम्बन्ध के लिये तीसरा, उसके सम्बन्ध के लिए चौथा, इस प्रकार अविच्छिन्न समवायपरम्परा प्राप्त होगी। इसी को अनवस्था दोष कहते हैं। रूप और घट से समवाय की स्वरूप से ही स्थिति मानने पर 'घट और पट' के संयोग की भी स्वरूप से ही स्थिति माननी होगी। अर्थात् घट पटादि पदार्थों पर संयोग की समवाय से स्थिति की कल्पना करना व्यर्थ है। इसलिये रूप और घट का तादात्म्य मानना ही सर्वथा सयुक्तिक है।

यदि ऐसा कहें कि समवाय, समवायी पदार्थों से नित्यसम्बद्ध हुआ ही प्रतीत होता है, जिससे पूर्वोक्त अनवस्था दोष नहीं हो सकेगा। तो संयोग भी संयोगी पदार्थों से नित्यसम्बद्ध हुआ ही प्रतीत होता है तब संयोग को संबन्धित होने के लिए एक दूसरे समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इस पर यदि ऐसा कहें कि दो द्रव्यों का संयोग होने से 'संयोग' पृथक् पदार्थ है, उसे 'गुण' कहते हैं, अतः अपने स्वरूप (गुण) से भिन्न स्वरूप वाले द्रव्य से सम्बन्धित होते समय उसे 'समवाय' की अपेक्षा नहीं रहती। तो समवाय भी अर्थान्तिर (पृथक् पदार्थ) है अर्थात द्रव्य, गुण और कर्म पदार्थों से वह भिन्न पदार्थ है। तब वह द्रव्य, गुण और कर्म से सम्बन्धित होते समय दूसरे 'समवाय' की अपेक्षा कैसे नहीं करेगा ? अवश्य ही करेग। इस पर यदि ऐसा कहें कि 'संयोग' यह गुण पदार्थ होने से द्रव्यों से सम्बन्धित होते समय 'समवाय' की अपेक्षा करता है। 'संयोग' की तरह 'समवाय' स्वयं गुण नहीं है, अपितु सात पदार्थों में से छठा पदार्थ है। इसलिए उसे दूसरे 'सयवाय' की अपेक्षा नहीं होती कहें, तो 'संयोग' को गुणत्व आपकी परिभाषा में है, शास्त्रीय नहीं। सिवाय अपेक्षा में निमित्त 'पदार्थान्तिरत्व' का होना दोनों में समान है। 'संयोग' जैसे संयोगी से पृथक् पदार्थ है, वैसे 'समवाय' भी 'समवायी' से पृथक् पदार्थ है। अतः जैसे संयोग, संयोगी के साथ सम्बद्ध होने के लिए समवाय की अपेक्षा रखता है वैसे ही समवाय को समवायी से सम्बद्ध होने के लिए दूसरे समवाय

की अपेक्षा (आवश्यकता) होनी ही चाहिए। बिना उसके वह समवायी से कैसे सम्बन्धित हो सकेगा ?

अनवस्था दोष के निवारणार्थ यदि हम पूर्वोक्त विकल्पों में से दूसरे पक्ष का (समवायी से बिना सम्बन्धित हुए ही समवाय विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है) ग्रहण करें तो 'अतिप्रसंग' दोष होगा। क्योंकि फिर तो कोई भी असम्बद्ध पदार्थ, विशिष्ट प्रत्यय का नियामक हो सकेगा। असम्बद्ध पट से भी 'रूपी घटः' प्रत्यय होने का प्रसंग प्राप्त होगा। सिवाय हम अद्वैतसिद्धांती आप तार्किकों से यह पूछते हैं कि समवाय' अनेक हैं या एक ? आप उसे अनेक नहीं बता सकते, कारण यह है कि 'समवायस्तु एक एव', 'विशेष' पदार्थ के अनन्त होने पर भी 'समवाय' एक ही है—यह आप की परिभाषा है। इसलिए समवाय के अनेक मानने पर 'अपसिद्धांत' और 'गौरव' दोष प्राप्त होंगे। यदि 'समवाय' को एक बतावें तो रूप, ज्ञान आदि का समवाय वायु, घट आदि पर स्थित समवाय से पृथक् (भिन्न) न होने से 'वायु रूपवान् है और घट विलक्षण गतिमान् है,' प्रतीति होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इस पर यदि आप ऐसा कहें कि वायु में रूप का, और घट में विलक्षण गति का अभाव होने से उपर्युक्त प्रतीति का प्रसंग कैसे प्राप्त होगा ? उत्तर—वायु में रूप की स्थिति के प्रयोजक (कारण) रूपसमवाय के रहने पर भी रूप का अभाव (रूपं नास्ति) बताने लगें तो 'व्याघात' दोष प्राप्त होगा।

इस प्रकार समवाय के सिद्ध न होने पर प्रत्यक्षगम्य कार्यत्व और ब्रह्मभिन्नत्व लिंगक अनुमान से तथा "हे सोम्य, यह समस्त कार्यरूप जगत्, उत्पत्ति से पूर्व सत् ही था," इस श्रुति से सिद्ध 'ब्रह्म से भिन्न सकल प्रपंच अनित्य है' इस न्याय से नित्यत्व व समवेतत्व विशेषणों से युक्त जातित्व की घटत्वादि में असिद्धि है। (समवाय की ही सिद्धि न होने से प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा घटत्वादिकों में जाति की सिद्धि नहीं होती। जाति में कार्यत्व होने से और वह ब्रह्मभिन्न होने से उसकी अनित्यता का अनुमान हो जाता है। एवं च अनुमान से भी जाति सिद्ध नहीं हो पाती। श्रुति से भी 'समस्त प्रपंच अनित्य' सिद्ध होने से नित्य व अनेकसमवेत जाति घटत्वादिकों में सिद्ध नहीं हो पाती)।

नैयायिकों से स्वीकृत जाति की इस प्रकार अप्रामाणिकता सिद्ध होने से ही 'परोक्षत्व और अपरोक्षत्व' को हम जातिरूप नहीं मानते। इसी प्रकार घटत्वादिकों के जातिरूप होने में भी कोई प्रमाण नहीं है। जाति की अप्रामाणिकता में तीन हेतु हैं—१—प्रत्यक्ष तो घटत्व की सत्ता में प्रमाण है, जातित्वरूपसाध्य की अप्रसिद्धि होने से अनुमान प्रमाण का अवसर ही नहीं प्राप्त होता। ३—जातिलक्षण घटित नित्यत्व, समवेतत्व, आदि की असिद्धि होने से भी जाति की सिद्धि नहीं हो पाती। इस पर तार्किक पूछता है कि आपने तो जाति की तरह उपाधि को भी अप्रामाणिक

वताया था परन्तु तीन हेतुओं से मात्र जाति की परिभाषा अप्रामाणिक ठहरती है, उपाधि की नहीं। इस शंका का निरसन ग्रन्थकार 'एवमेव' ग्रन्थ से करते हैं। जातित्व की परिभाषा में अप्रामाणिकता दिखाने के लिये जो तीन हेतु दिये हैं, उन्हीं से उपाधित्व का भी निरसन हो जाता है। जैसे—'नीलघटत्व' आदि में उपाधित्व वतानेवाली आपकी नीलघटत्व की परिभाषा प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि १—'यह नीलघट है' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण नीलघटत्व के अस्तित्व में प्रमाण है, न कि नील-घटत्व के उपाधि होने में। २—उपाधित्व रूप साध्य के अप्रसिद्ध होने से तत्साधक अनुमान भी नहीं हो सकता। (उपाधित्व रूप साध्य का साधक अनुमान[1]—१—नील घटत्वादि उपाधि है, २—क्योंकि उस नील घटत्वादि पर जातिभिन्नसामान्य धर्मत्व है अर्थात् नीलघटत्व', 'घटत्व' जाति से भिन्न सामान्य धर्म है, ३—आकाशत्वादि के समान। परन्तु इस अनुमान में उपाधित्व रूप साध्य ही अप्रसिद्ध है।) ३—समवाय आदि की सिद्धि न होने से उपाधित्व की भी सिद्धि नहीं होती।

शंका—यद्यपि जाति और उपाधि दोनों अप्रमाणिक हैं तथापि एक ही चैतन्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व रूप दो विरुद्ध धर्मों का रहना कहाँ तक उचित है? इस प्रश्न का उत्तर—

पर्वतो वह्निमानित्यादौ च पर्वतांशे वह्न्यंशे चान्तःकरणवृत्ति-भेदाङ्गीकारेण तत्त[2]द्वृत्त्यवच्छेदकभेदेन परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरेकत्र चैतन्ये वृत्तौ न[3] विरोधः। तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्य-वर्तमानविषया-वच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् ॥

अर्थ—'पर्वत वह्निमान् है' इत्यादि अनुमितिज्ञान में हम 'पर्वत' अंश में और 'वह्नि' अक्ष में अन्तःकरणवृत्ति का भेद मानते हैं। 'पर्वत' अंश में और 'वह्नि' अंश में भिन्न-भिन्न अन्तःकरणवृत्तियाँ हैं, यह हमारा सिद्धान्त होने से उन भिन्न वृत्तियों का अवच्छेदक भी (भेदक भी) भिन्न है। इसलिए एक ही प्रमात्मक चैतन्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्वरूप परस्पर विरुद्ध दो धर्मों के रहने में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् वे दोनों धर्म, एक ही चैतन्य में रह सकते हैं। तस्मात् उन इन्द्रियों के योग्य, वर्तमान

---

१. 'नीलघटत्वादिकमुपाधिः जातिभिन्नसामान्यधर्मत्वात् 'आकाशत्वादिवत्' इत्यनु-मानस्य अनवकाशात् समवायाद्यसिद्धया उपाधित्वाऽसिद्धेश्च इत्येवं निरसनीयम्।

२. 'तत्तवच्छेदकः' इति पाठान्तरम्।

३. 'न कश्चिद् विरोधः'—इति पाठान्तरम्।

विषय से अवच्छिन्न हुए चैतन्य के साथ, तत्तद्विषयाकार हुई इन्द्रियवृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का अभेद होना ही उस अंश में ज्ञान का प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्ष) है।

विवरण—पीछे कह चुके हैं कि घटावच्छिन्न आकाश, मठावच्छिन्न आकाश से भिन्न नहीं है, क्योंकि 'घट' और 'मठ' दोनों विभाजक पदार्थ एक ही देश में स्थित रहते हैं। उसी तरह अन्तःकरण-वृत्ति और घट को एकदेशस्थ होने से उन्हें उपधेय-भेदकत्व नहीं है। वैसे ही 'पर्वत वह्निमान् है' इस ज्ञान में 'पर्वत' और 'वह्नि' इन दो उपाधियों को भी एक-देशस्थत्व है इसलिये उन्हें उपधेयभेदकत्व नहीं है। तब एक ही चैतन्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व कैसे सम्भव है? इस आक्षेप का समाधान ग्रन्थकार करते हैं—'यह घट' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में घटावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य एक ही है। परन्तु 'पर्वत वह्निमान् है' इस अनुमितिज्ञान में, चक्षुरिन्द्रिय का बाह्य पर्वत से सन्निकर्ष होकर पर्वताकार वृत्ति होती है, उस वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य, पर्वत के देश में रहता है अर्थात् उस वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्य का देश, बाह्य पर्वत है। परन्तु वह्न्याकारवृत्ति, व्याप्तिज्ञान से पैदा होती हुई हृदयस्थ चैतन्य की अवच्छेदिका है। इस कारण जिस अनुमितिज्ञान में 'पक्ष' का प्रत्यक्ष रहता है, उस 'पक्ष' के अंश में अपरोक्षत्व और परोक्षवह्नि के अंश में परोक्षत्व के होने में कोई विरोध नहीं है। ऐसा होने से प्रत्येक विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का प्रत्येक इन्द्रिययोग्य, वर्तमान और अबाधित विषय से अवच्छिन्न हुए चैतन्य से अभेद होना ही ज्ञानांश में प्रत्यक्षत्व कार्य प्रयोजक है, यही पूर्वोक्त ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का—'प्रमाण चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद' प्रयोजक शब्द से विवक्षित अर्थ है। इस प्रकार ज्ञानगत-प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बताकर अब विषयगतप्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बताते हैं (विकल्प के प्रथम पक्ष का उत्तर देकर अब द्वितीय पक्ष का दे रहे हैं)।

घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं[1] तु प्रमात्रभिन्नत्वम्।[2]

अर्थ—(द्वितीय पक्ष में) प्रमाता से घटादि विषय का अभिन्नत्व ही विषयगत प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है।

विवरण—'यह घट यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है और उस ज्ञान का विषय जो 'घट' वह भी प्रत्यक्ष है। इसी का दो प्रकार से—'घट का ज्ञान प्रत्यक्ष है' और 'घट प्रत्यक्ष है'—निर्देश किया जाता है। उनमें से ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक यहाँ तक बताया गया। अब इसके आगे सिद्धान्ती विषयगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक को

---

१. 'प्रत्यक्षं तु'–इति पाठान्तरम्।

२. 'अन्तःकरणावच्छिन्न–चैतन्याभिन्नत्वम्' इत्यर्थः।

बताता है। घटादि विषय का प्रमातृ—अभिन्नत्व (प्रमाता से अभिन्न होना) ही विषयगत-प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है, मूल में जो 'तु' शब्द है, वह नैयायिकों के विषय प्रत्यक्षत्व का निरसन करने के लिये है। नैयायिक—'इन्द्रिजन्यज्ञानविषयत्वं विषय-प्रत्यक्षत्वम्' इन्द्रियों से उत्पन्न हुए-ज्ञान का विषय होना ही विषय का प्रत्यक्षत्व है'— लक्षण करते हैं। परन्तु वह (विषयप्रत्यक्ष का लक्षण) मनोरूप इन्द्रिय से होनेवाले अनुमितिज्ञान में अतिव्याप्त होता है। इसलिए नैयायिक के बताये हुए 'विषयप्रत्य-क्षत्व' का निरसन कर 'घटादि विषय से प्रमाता का अभेद' इस विषयप्रत्यक्षत्व के के प्रयोजक को यहाँ बताया है। इस पर शंका करते हैं—

ननु कथं घटादेरन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याभेदः ? अहमिमं पश्यामि इति भेदानुभावविरोधादिति चेत्,

अर्थ—घटादि-विषयों का अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्य से अभेद कैसे सम्भव है ? क्योंकि विषय का प्रमाता से अभेद यदि मान लिया जाय तो मैं इस घट को देखता हूँ' इस भेदानुभव से विरोध होगा।

विवरण—'प्रमेय का प्रमाता से अभिन्नत्व (ऐक्य होना) ही घटादि प्रमेय का प्रत्यक्षत्व है' ऐसा आप कह रहे हैं। परन्तु 'प्रमात्रभिन्नत्व' से क्या तात्पर्य है ? घटादि विषयों का 'अभेद' या 'घटादिविषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाता से अभेद'।

इन दोनों विकल्पों में प्रथम विकल्प उचित नहीं, क्योंकि विषय स्वयं जड होने से उसका चेतन-प्रमाता से अभेद हो नहीं सकता। दूसरा विकल्प भी उचित नहीं, क्योंकि 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी प्रतीति के समान 'मैं घट हूँ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु 'मैं घट हूँ' इसी प्रतीति किसी को भी न होकर 'मैं इस घट को देखता हूँ' इस प्रकार तद्विरुद्ध भेदप्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में 'प्रमात्रभिन्नत्व' का सम्भव कैसे हो सकता है ? 'सिद्धान्ती' इति चेत्' ग्रन्थ से उपयुक्त शंका का अनुवाद कर 'उच्यते' से उसके निवारण की प्रतिज्ञा करता है—

---

३. 'अहमिमं घटं पश्यामि' इत्यनुभवे अस्मदर्थस्य प्रमातुः कर्तृतया प्रकाशः, इद-मर्थस्य विषयस्य घटादेः कर्मतया प्रकाशः। कर्तृ-कर्मणोश्च भेदः सर्वानुभवसिद्धः। तथा च अस्मिन् अनुभवे प्रमातृ-विषययोर्भेदानुभवात् तदभेदो न युक्त इत्याशयः।

तत्रेदं समाधानम्—'प्रमात्रभेदः' इत्यनेन घटावच्छिन्नस्य अन्तःकरणावच्छिन्नस्य च ऐक्यं न विवक्ष्यते, येन विरोधो भवेत्, अपितु प्रमातृ-सत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावो विवक्षितः। 'प्रमातृसत्ता' इत्यस्य प्रमातृलक्षणसत्ता बोध्या, न तु तन्निष्ठसत्ता-जातिः, प्रमातृ-प्रमेयनिष्ठसत्ताजातेरेकतया तन्निष्ठसत्तातिरिक्तसत्ताया असिद्धेः।

उच्यते। प्रमात्रभेदो नाम न [1]तदैक्यम्, किन्तु प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावः। तथा च[2] घटादेः स्वावच्छिन्नचैतन्ये[3]ऽध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता, अधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्। विषयचैतन्यञ्च पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमातृचैतन्यमेवेति प्रमातृचैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठानतया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम्॥

अर्थ—'विषय का प्रमात्रभेद कैसे' यदि पूछो तो कहते हैं—'प्रमात्रभेद' (प्रमातृ + अभेद) का अर्थ प्रमात्रैक्य (प्रमातृ + ऐक्य) नहीं। किन्तु 'अन्तकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप प्रमाता की सत्ता से भिन्न, घटादिविषय की सत्ता का अभाव' ही यहाँ 'प्रमातृभेद' शब्द से विवक्षित है। अतः घटादिविषयों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य में घटादि विषयों का अध्यारोप (अध्यास) हुआ होने से वैषयचैतन्य-सत्ता ही घटादि-विषयों की सत्ता है। क्योंकि हम (वेदान्ती) अधिष्ठान की सत्ता से, आरोपित की सत्ता को भिन्न नहीं मानते। पूर्वोक्त प्रकार से प्रमातृचैतन्य ही विषयचैतन्य है। प्रमातृचैतन्य में घटादिविषयों की अधिष्ठानता होने से प्रमातृसत्ता ही घटादिसत्ता है, उससे भिन्न नहीं। इससे घटादिकों का अपरोक्षत्व (प्रत्यक्षत्व) सिद्ध हुआ।

विवरण—प्रमातृभेद का अर्थ यदि यहाँ ऐसा होता कि "घटादि विषय और घटाद्यवच्छिन्न या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का ऐक्य" तो विरोध हुआ होता' परन्तु यहाँ 'विषय और चैतन्य का (घटादि विषयों का प्रमाता से ऐक्य) ऐक्य' रूप अर्थ विवक्षित नहीं। अर्थात् 'अभेद' का अर्थ 'ऐक्य' न होकर 'प्रमातृलक्षण जो सत्ता, वही प्रमेय सत्ता है, अर्थात् प्रमातृसत्ता से विषय की सत्ता का पृथक् न रहना' यही प्रमातृभेद शब्द का अर्थ है। 'यहाँ 'सत्ता' शब्द का अर्थ 'प्रमाता में रहनेवाली सत्तारूप जाति' नहीं है। कारण प्रमाता, और प्रमेय, (विषय) में रहनेवाली जो 'सत्ता' जाति उसके एक (अभिन्न) ही होने से प्रमातृनिष्ठ सत्ता से अतिरिक्त प्रमातृत्व व प्रमेयत्व (स्वरूप) सत्ता असिद्ध है। इस प्रकार सत्तैक्यरूप प्रमात्रभेद के होने से तात्पर्य यह निकलता है कि घटादि-विषय, घटाद्यवच्छिन्न-चैतन्य में आरोपित है। अतः विषय-चैतन्य की जो सत्ता है, वही घटादि-विषयों की सत्ता है। अर्थात् आरोपित घटादि-विषयों की सत्ता, अधिष्ठानरूप विषयावच्छिन्न-चैतन्य की सत्ता से पृथक् नहीं है। क्योंकि हम

---

१. 'तावदै०'—इति पाठान्तरम्।

२. 'हि'—इति पाठान्तरम्।

३. 'चैतन्याध्यस्त०' इति पाठान्तरम्।

'अधिष्ठान की सत्ता से आरोपित की सत्ता को पृथक् नहीं मानते'। शुक्ति रूप अधिष्ठान की सत्ता से आरोपित रजत की सत्ता पृथक् नहीं है। शुक्ति की सत्ता से ही शुक्तिरजत 'सत्तावत्' हुए की तरह प्रतीत होता है।

पूर्वोक्त तडागोदकन्याय के अनुसार (जैसे तडागोदक ही केदारोदक होता है) प्रमातृ-चैतन्य ही विषयचैतन्य (प्रमेयचैतन्य) है। उस कारण प्रमातृचैतन्य ही घटादि-विषयों का अधिष्ठान है। आरोपित घटादिकों का अधिष्ठान प्रमातृचैतन्य होने से प्रमातृचैतन्य की सत्ता ही घटादिकों की सत्ता है। प्रमातृचैतन्य की सत्ता से घटादि विषयों की सत्ता पृथक् नहीं है। इसलिये प्रमातृ-(प्रमाता) की सत्ता से घटादि-विषयों की सत्ता का अतिरिक्त (भिन्न) न होना ही घटादिकों को अपरोक्षत्व (प्रत्यक्ष) है। चैतन्य के नित्य होने से उसकी सत्ता भी नित्य है। परन्तु प्रमातृचैतन्य, प्रमाण-चैतन्य और विषयचैतन्य (प्रमेयचैतन्य) इस (चैतन्य) भेद के औपाधिक होने से उनकी सत्ता अनित्य है। घट, पट आदि विषयों को देखते समय उस उस विषय से सम्बद्ध वह वह त्रिपुटीरूप चैतन्य (घटप्रमातृ-चैतन्य, घटाकारवृत्तिचैतन्य और घटविषयचैतन्य) भी नवीन उत्पन्न हो रहा है ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिये ऊपर प्रमातृसत्ता का अर्थ प्रमातृलक्षणसत्ता बता चुके हैं, तन्निष्ठ सत्ताजाति नहीं। उस उस विषय के प्रमाता की जो सत्ता, वही उस उस प्रमेय की सत्ता है, यह तात्पर्य है। इस प्रकार घटादि-विषय का 'प्रमात्रभेद' का अर्थ प्रमातृचैतन्याभेद नहीं है, और अभेद का अर्थ ऐक्य भी नहीं, किन्तु प्रमाता की सत्ता ही घट की सत्ता है। अब मूल में 'प्रमातृचैतन्य' न कहकर 'प्रमातृ' ही क्यों कहा गया ? उसे कहते हैं--

अनुमित्यादित्थले[1] त्वन्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशनिर्गमनाभावेन-वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्यानात्मकतया वह्न्यादिसत्ता प्रमातृसत्तातो भिन्नेति नातिव्याप्तिः।

अर्थ—परन्तु अनुमिति आदि ज्ञानों में अन्तःकरण, वृत्ति के द्वारा अनुमेय वह्नि आदि के देश में नहीं जाता। उस कारण वह्न्यवच्छिन्न-चैतन्य को प्रमातृचैतन्यरूपता नहीं है। इसी से वह्नि आदि की सत्ता, प्रमातृसत्ता से भिन्न है। इस कारण पूर्वोक्त घटादिविषय के प्रत्यक्ष-लक्षण की अनुमेय वह्नि आदि परोक्ष-विषयों में अतिव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—घटादि-विषयों के प्रत्यक्ष में प्रयोजक 'प्रमात्रभिन्नत्व' को यदि बतावें तो अनुमेय विषयों में (अनुमिति के विषयों में) अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रमात्र-भिन्नत्व' का अर्थ 'प्रमातृचैतन्याभिन्नत्व' करने से अनुमेय वह्नि आदि की सत्ता, चैतन्य

---

१. 'लेऽन्तः'–इति पाठान्तरम्।

की सत्ता से पृथक् (भिन्न) नहीं है। ऐसी शंका हो सकती है। परन्तु अनुमेय विषय की सत्ता, चैतन्य की सत्ता से पृथक् न होने पर भी अनुमेय विषय प्रमातृरूप नहीं होता, इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है। घटादि के प्रत्यक्ष-ज्ञानों में अन्तःकरण-वृत्ति, घटादि-विषयों के प्रदेश में जाकर विषय के आकार को धारण करती है। इसलिये वहाँ घटादि विषयों का प्रमाता के साथ अभेद (प्रमात्रभेद) सम्भव होता है। परन्तु अनुमिति आदि ज्ञानों में अन्तःकरण-वृत्ति, विषय के प्रदेश में नहीं जाती। इसलिये वहाँ वह्न्यवच्छिन्न-चैतन्य और प्रमातृचैतन्य इन दोनों का अभेद नहीं होता। अतः अनुमिति विषय की सत्ता, प्रमातृसत्ता से भिन्न है। इसी कारण विषयगत-प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक-लक्षण की अनुमेय विषय में अतिव्याप्ति नहीं होती। लक्षण में इसीलिये 'चैतन्य' पद न रखकर 'प्रमात्रभेद' शब्द रखा गया है।

इस पर पुनः वादी दूसरे प्रकार से अतिव्याप्ति की शंका करता है और सिद्धान्ती उसका थोड़े में ही निरसन करता है।

नन्वेवमपि धर्माधर्मादिगोचरानुमित्यादिस्थले धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षत्वापत्तिः, [1]धर्माद्यवछिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नतया धर्मादि-सत्तायाः प्रमातृसत्तानतिरेकादिति चेत्। न। योग्यत्वस्यापि विषय-विशेषणत्वात्।

अर्थ—'प्रमात्रभेद' का अर्थ 'प्रमातृसत्ता से विषयसत्ता का भिन्न न रहना' मानने पर भी धर्माधर्म आदि परोक्ष पदार्थों को विषय करने वाले अनुमिति आदि स्थलों में धर्माधर्म के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होगा। क्योंकि प्रमातृचैतन्य से धर्माधर्मादि-विषयावच्छिन्न-चैतन्य का यहाँ पर अभेद है ही। (विषयचैतन्य और प्रमातृचैतन्य का अभेद है) उस कारण धर्मादिसत्ता, प्रमातृसत्ता से भिन्न नहीं है। इसलिए विषयगत-प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक जो प्रमात्रभेद, उसकी परोक्ष धर्मादि-विषय में अतिव्याप्ति बताना उचित नहीं है, क्योंकि 'योग्यत्व' को भी विषयविशेषणत्व है, अर्थात् विषय में 'योग्य' इस विशेषण के लगाने से अतिव्याप्ति का निवारण होता है। क्योंकि धर्माधर्मादिकों में प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है (प्रत्यक्ष के योग्य विषय 'धर्माधर्मादि' नहीं है)।

विवरण—'प्रमाता की प्रमातृलक्षणसत्ता से प्रमेय की सत्ता का पृथक् न होना' इस लक्षण की पूर्वोक्त प्रकार से अतिव्याप्ति, अनुमेय वह्नि आदि विषयों में अन्तःकरण के न जाने से न होने पर भी धर्म आदि परोक्षविषयक अनुमितिज्ञान में अतिव्याप्ति होती है अर्थात् धर्मादिकों का प्रत्यक्ष होता है कहना पड़ेगा। क्योंकि धर्मादि विषयों से अवच्छिन्न अन्तःकरणस्थ-चैतन्य और प्रमातृचैतन्य का अभेद होने से धर्मादि की

---

१. 'धर्माधर्माद्यव०'—इति पाठान्तरम्।

सत्ता प्रमातृचैतन्य से भिन्न नहीं है। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए लक्षणगत 'विषय' में 'योग्य' विशेषण के देने से धर्मादिकों के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त नहीं होगा। यह समाधान दिया गया है।

किसी भी वादी के मत में 'धर्माधर्म पदार्थ' प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। सभी दार्शनिक धर्माधर्म को परोक्ष ही मानते हैं। इससे ('योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य' और प्रमाता के अभेद को विषयगत प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक मानने से) धर्माधर्मादि-परोक्ष-विषय में अतिव्याप्ति नहीं होने पाती।

तथापि वादी पुनः दूसरे प्रकार से अतिव्याप्ति की शंका करता है—

नन्वेवमपि रूपी घट इति प्रत्यक्षस्थले घटगतपरिमाणादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः रूपावच्छिन्न-चैतन्यस्य परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चैकतया रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभेदे परिमाणाद्यवच्छिन्न-चैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया परिमाणादिसत्तायाः प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तत्वाभावादिति चेत्।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार से ('विषय' में 'योग्य' विशेषण के देने पर भी) धर्मादि-परोक्ष-विषयों में विषयगतप्रत्यक्षत्व-प्रयोजक-लक्षण की अतिव्याप्ति न होने पर भी 'यह घट रूपवान् है' इस प्रत्यक्षप्रमा में घटगत-परिमाणादिकों का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि रूपावच्छिन्नचैतन्य और परिमाणावच्छिन्न-चैतन्य, दोनों का अभेद है। इस अभेद के कारण रूपावच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृचैतन्य से अभेद सिद्ध होने के कारण परिमाणावच्छिन्न-चैतन्य का भी प्रमातृभिन्नत्व सिद्ध होता है। जिससे परिमाणादि सत्ता प्रमातृसत्ता से पृथक् प्रतीत नहीं होती।

अर्थात् प्रमातृसत्ता ही परिमाणसत्तारूप होने से घटरूप के प्रत्यक्ष ज्ञान में घटगत-परिमाणादिकों का भी ज्ञान होने लगेगा। जिससे पूर्वोक्त प्रत्यक्षलक्षण की अलक्ष्य-भूत घटगत-परिमाणादि में अतिव्याप्ति होती है।

विवरण—जिस समम घट के रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी समय घटगत परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है अतः उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। रूप-प्रत्यक्ष होने के समय घट-परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है यह मानना होगा। क्योंकि रूपावच्छिन्न चैतन्य ही परिमाणावच्छिन्न चैतन्य है इसलिए परिमाणादिकों की सत्ता प्रमातृसत्ता से भिन्न नहीं है, कारण यह है कि परिमाणादि कल्पित होने से उनके अधिष्ठानभूत चैतन्य की सत्ता ही परिमाणादिकों की सत्ता है। और स्वाधिष्ठानभूत चैतन्य के प्रमातृरूप होने से पूर्वोक्त लक्षण की परिमाण आदि में अतिव्याप्ति होती है।

इस प्रकार वादी के शंका करने पर सिद्धान्ती 'न' से निरसन की प्रतिज्ञा करके 'तत्तदाकार०' अदि ग्रन्थ से उपर्युक्त शंका का निरसन करता है—

न। तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्। रूपाकारवृत्तिदशायां परिमाणाद्याकार—वृत्त्यभावेन परिमाणाद्याकार·वृत्त्युपहित—प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वाभावेनाऽतिव्याप्त्यभावात् ॥

अर्थ—('रूपी घटः' यह रूपवान् घट है, इस रूपप्रत्यक्षस्थल में घटगत-परिमाण आदि का भी प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होने का भय करना व्यर्थ है) पूर्व-प्रदर्शित अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। क्योंकि 'प्रमात्रभेद' इस लक्षण के 'प्रमातृ' पद का विशेषण है 'तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्व'। इसलिए भिन्न-भिन्न विषयाकार वृत्तिरूप उपाधि से उपहित (युक्त) हुए प्रमाता की सत्ता से उन उन विषयों की पृथक् सत्ता का न होना ही विषयगत-प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है। तात्पर्य यह हुआ कि अन्तःकरणवृत्ति जब रूपाकार होती है तब वह घटगत-परिमाणादि के आकार की नहीं रहती। अर्थात् रूपाकार-वृत्ति के समय परिमाणाकार-वृत्ति का अभाव रहता है। इसलिए परिमाणाकारवृत्त्युपहित-प्रमातृचैतन्य से परिमाणादि विषय की सत्ता अभिन्न नहीं होती। (उन विशयों में प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्व नहीं होता) इसलिए 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष के समय परिमाणादि विषयों का प्रत्यक्ष प्राप्त नहीं होता। अर्थात् विषयगत प्रत्यक्ष के प्रयोजक का लक्षण अतिव्याप्त नहीं है।

विवरण—घटगत-परिमाण की सत्ता प्रमातृसत्ता, से पृथक् न होने पर भी (उन दोनों का सत्ताकाल एक होने पर भी) जिस समय घट का प्रभाता विद्यमान है उसी समय घट में घटगत-रूप से भिन्न गुणों के रहने पर भी तत्तदाकार (परिमाणाद्याकार) वृत्ति से युक्त प्रमातृचैतन्य की सत्ता से परिमाणादि विषयों की सत्ता भिन्न होने से पूर्वोक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं।

इस प्रकार विषयगत-प्रत्यक्षत्व-प्रयोजक का लक्षण 'प्रमात्रभेद' बताकर लक्षणगत 'अभेद' का अर्थ 'ऐक्य' नहीं, किन्तु प्रमातृसत्ता से प्रमेयसत्ता का अभिन्न (भिन्न न) होना अर्थात् प्रमाता की जो सत्ता, वही विषय (प्रमेय) की सत्ता है, (इस प्रकार 'अभेद' का अर्थ) बताकर, इस लक्षण की अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति का न होना बताया। धर्माधर्मादि परोक्ष स्थलों में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'विषय' में 'प्रत्यक्षयोग्य' विशेषण लगाने के लिए कहा। 'रूपी घटः' प्रत्यक्ष के समय घटगत परिमाणादि गुणों में अतिव्याप्ति नहीं होती, यह भी दिखाया। अब इसके आगे वादी 'विषयगत-प्रत्यक्षत्व' प्रयोजक के लक्षण में अव्याप्ति को दिखाता है।

नन्वेवं वृत्तावव्याप्तिः, अन[1]वस्थाभिया वृत्तिगोचर-वृत्त्यनङ्गीकारणे तत्र स्वाकारवृत्त्युपहितत्वघटितोक्तलक्षणाभावात् ।

अर्थ--घटगत-परिमाण में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'तत्तदाकारवृत्त्युपहित' विशेषण से प्रमाता को विशेषित करने पर भी 'वृत्ति' में पूर्वोक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है। क्योंकि अनवस्था के भय से 'वृत्ति' को विषय करने वाली 'दूसरी वृत्ति' के स्वीकार न करने के कारण वृत्ति में 'वृत्त्याकारवृत्त्युपहितप्रमात्रभेद' लक्षण घटित नहीं हो पाया।

विवरण—सभी जड पदार्थ अज्ञान से आवृत होने से स्वतः प्रकाशमान नहीं होते। किन्तु उस पदार्थविषयक-वृत्ति के द्वारा आवरण का भङ्ग होने पर प्रकाशित होते हैं। घटादि जैसे जड़ है उसी तरह अन्तःकरणवृति भी जड़ (अचेतन) है। अतः घटादिविषय जैसे वृत्ति से ही प्रकाशित होते हैं वैसे ही वृत्ति भी दूसरी अन्तःकरणवृत्ति से ही प्रकाशित होने के योग्य है। क्योंकि वृत्ति के जड़ होने से घट की तरह उसका स्वयं भान होना सम्भव नहीं। इसलिए उस वृत्ति के आवरणभंग के हेतु, वृत्ति-विषयक दूसरी वृत्ति की आवश्यकता है। क्योंकि जड़-पदार्थ के आवरण को भंग करनेवाली वृत्ति ही है। परन्तु एक वृति के आवरणभंगार्थ दूसरी वृत्ति के मानने पर उसके आवरण भङ्ग के लिए तीसरी, उसके आवरण भंग के लिए चौथी इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होती है। और यदि वृत्ति को ही न माना जाय, तो विना उसके जड़ वस्तु का भान होना सम्भव नहीं। ऐसी 'उभयतःपाशा रज्जु' सिद्धान्ती के गले पतित होती है।

अनवस्था के भय से वृत्तिविषयक-वृत्ति न मान सकने के कारण विषयाकारवृत्युपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता ही विषयावच्छिन्न-चैतन्य की और घटादिविषय की सत्ता है, अर्थात् उसकी सत्ता से इनकी सत्ता का पृथक् न होना, यह पूर्वोक्त विषयगत-प्रत्यक्षत्व-प्रयोजक का लक्षण, वृत्ति में नहीं है। परन्तु वृत्ति का प्रत्यक्ष होता है। इस कारण 'लक्ष्य के एक देश में लक्षण का न रहना' यही अव्याप्ति है।

इस प्रकार वादी की शंका का 'इति चेत्' से अनुवाद कर 'न' से उसके निरसन की प्रतिज्ञा करके पूर्वोक्त लक्षण में दी हुई अव्याप्ति को दूर करते हैं—

इति चेत् । न। अनवस्थाभिया वृत्तेर्वृत्यन्तराविषयत्वेऽपि स्व-

---

१. वृत्त्याकारा वृत्तिर्यदि स्यात् तदा प्रथमा वृत्तिः द्वितीयवृत्तेर्विषयः। एवं द्वितीयवृत्तेः प्रत्यक्षाय तदाकारा अन्या वृत्तिः यदि भवेत्, तदा सा द्वितीयवृत्तिः तृतीयवृत्तेः विषयो भवेत्। एवं सति वृत्तिविषयक-वृत्त्यन्तराभ्युपगमे अनवस्था भविष्यति। अतः वृत्याकारा वृत्तिः न स्वीकार्या।

विषयत्वाभ्युपगमेन[1] स्वविषयवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात्[2] । एवं चान्तःकरणतद्धर्मादीनां केवलसाक्षिविषयत्वेऽपि तत्तदाकारवृत्त्यभ्युपगमेन उक्तलक्षणस्य[3] तत्रापि सत्वान्नाव्याप्तिः ॥

अर्थ—अनवस्था के भय से 'एक वृत्ति को दूसरी वृत्ति का विषय होना' हमारे स्वीकार न करने पर भी वृत्ति में उस वृत्ति का ही (अपना ही) विषयत्व मानते हैं। इस कारण 'वृत्तिविषयक' जो वृत्ति (स्वयं को विषय करने वाली वृत्ति) उससे उपहित प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्व' यह विषयगत-प्रत्यक्षत्व-प्रयोजक का लक्षण वृत्ति में है । इसी तरह अन्तःकरण और अन्तःकरण के धर्मादिकों को केवल साक्षिविषयत्व होने पर भी तत्तदाकार वृत्ति के स्वीकार करने से पूर्वोक्त लक्षण, उस साक्षिविषय-पदार्थों में भी है, अतः वहाँ भी अव्याप्ति नहीं होती ।

विवरण—यद्यपि यह सच है कि ब्रह्म-भिन्न सभी पदार्थ जड़ है, तथापि उन जड़ पदार्थों में भी स्वभाववैचित्र्य है ही । सभी जड़ पदार्थ एक से स्वभाव के नहीं होते । जैसे घट और दीप दोनों पदार्थ ब्रह्मभिन्न होने से जड़ हैं । तथापि घट को प्रकाश और चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्षादि-सम्बन्ध की स्वाभाविक अपेक्षा रहती है । किन्तु प्रदीप को अलोक (प्रकाश) की अपेक्षा नहीं होती । प्रदीप, घट को प्रकाशित करते हुए अपने को भी प्रकाशित करता है । ठीक उसी तरह अन्तःकरणवृत्ति भी जिस विषय को प्रकाशित करने के लिए पैदा हुई हो, उसे प्रकाशित करती हुई ही, दूसरी वृत्ति की अपेक्षा बिना किये स्वयं (अपने) को भी प्रकाशित करती है । क्योंकि जड़ पदार्थों के विचित्र अनुभव के बल से कुछ जड़ पदार्थों में भी कतिपय स्वभाव विशेषों को अगत्या स्वीकार करना पड़ता है ।

एक वृत्ति को विषय करनेवाली दूसरी वृत्ति (वृत्ति-विषयक वृत्ति) के मानने पर अनवस्था प्रसङ्ग के भय से ही सिद्धान्त में वृत्तिविषयक वृत्ति नहीं मानी जाती, तथापि हमारे अभ्युपगम के अनुसार 'मैं इस घट को जानता हूँ' इस वृत्ति में स्वविषयत्व होने से अव्याप्ति नहीं होती । (कोई भी वृत्ति अपने से भिन्न वृत्ति के द्वारा अवच्छिन्न हुए

---

१. स्वविषयत्वाभ्युपगमेन अर्थात् स्वाकारवृत्त्युपहितत्वस्य स्वविषयवृत्त्युपहितत्वार्थकत्वाङ्गीकारेण । अत्र 'स्व'—पदं लक्ष्य-प्रत्यक्ष-विषयपरम् । एवञ्च यज्-ज्ञानं यद्विषयव्यवहारजननयोग्यं, तज्-ज्ञानं तद्विषयकमिति नियमः ।

२. 'सम्भवात्'—इति पाठान्तरम् ।

३. उक्तलक्षणस्य स्वविषयवृत्त्युपहितत्वघटितलक्षणस्येत्यर्थः । तत्रापि अन्तःकरणादिष्वपि ।

चैतन्य से प्रकाशित नहीं होती अर्थात् वह अपने ही से अवच्छिन्न हुए चैतन्य से प्रकाशित होती है)।

इसी तरह अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों को केवल-साक्षिविषयत्व के होते हुए भी वृत्तिविषयत्व का भी स्वीकार करने से यहाँ भी अव्याप्ति नहीं होती। 'कामादि' यहाँ आदि शब्द से प्रातिभासिक रजतादिकों का ग्रहण करना चाहिये।

'केवल-साक्षिविषयत्व' यहाँ 'केवल' पद वृत्त्यादिकों की व्यावृत्ति करने के लिए है, (अन्तःकरणादिकों को वृत्त्यादिशून्य-साक्षिविषयत्व है) तब उसके विरुद्ध आप अन्तःकरणादिकों में वृत्ति-विषयत्व कैसे बता रहे हैं? इस शंका का अनुवाद करके सिद्धान्ती उसका परिहार करता है।

न[1] चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षिविषय[2]त्वाभ्युपगमविरोध इति वाच्यम्। न हि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवल-साक्षिवेद्यत्वं, किन्त्विन्द्रियानुमानादिप्रमाणव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम्।

अर्थ—अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों में वृत्तिविषयत्व मानने से आपके पूर्वस्वीकृत 'केवल-साक्षिविषयत्व' के सिद्धान्त से विरोध होता है—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि हमने 'केवल-साक्षिविषयत्व' में 'केवल' शब्द का प्रयोग, वृत्ति का परिहार करने के लिए नहीं किया है (विना वृत्ति के ही साक्षिवेद्यत्व—'यह केवल-साक्षिवेद्यत्व' का अर्थ नहीं है) किन्तु इन्द्रिय (प्रत्यक्ष), अनुमान आदि प्रमाणों के व्यापार के बिना ही 'अन्तःकरण और तद्धर्मों में साक्षिविषयत्व होता है, इस आशय से 'केवल-साक्षिविषयत्व' कहा गया है।

विवरण—'केवल-साक्षिविषयत्व' यहाँ 'केवल' पद वृत्त्यादिकों के हटाने के लिए है—ऐसी अन्यथा कल्पना कर लेने से विरोधी की यह शंका थी। परन्तु यहाँ 'केवल' शब्द, वृत्ति आदि का व्यावर्तक न होकर प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के इन्द्रिय-सन्निकर्षादि व्यापारों की व्यावृत्ति के लिए है, इसलिये कोई विरोध नहीं है। ('विना वृत्ति के साक्षिविषयत्व' यह 'केवल साक्षिविषयत्व, न होकर 'प्रत्यक्षादि-प्रमाणों के व्यापार के विना साक्षिविषयत्व' यह 'केवल साक्षिविषयत्व है।)

---

१. अत्र शङ्कते—यदि सुख-दुःखाद्याकारा वृत्तिः स्यात् तदा तद्व्यवधानेनैव तेषां साक्षिवेद्यत्वं वक्तव्यम्। किन्तु तन्न युक्तम्, साक्षात् साक्षिचैतन्याध्यस्तानामव्यवधानेनैव साक्षिग्राह्यत्वनियमात्। तथा च विवरणकाराः—"आत्मचैतन्येनाऽव्यवधानात् तत् प्रतिभासोपपत्तेः।" एवं च विवरणविरोधइत्याशङ्काकर्तुरभिप्रायः।

२. वेद्यत्वाभ्यु० इति पाठान्तरम्।

अब इस विषय में पद्मपादाचार्य की सम्मति बताते हैं—

अत एवाहंकार-टीकायामाचार्य्यैरहमाकारान्तःकरणवृत्तिरङ्गीकृता, अत एव च प्रातिभासिकरजतस्थले रजताकाराऽविद्यावृत्तिः [1]साम्प्रदायिकैरङ्गीकृता, तथा[2] चान्तःकरण-तद्धर्मादिषु केवलसाक्षिवेद्येषु वृत्त्युपहितत्वघटित-लक्षणस्य सत्त्वान्नाव्याप्तिः ॥

अर्थ—इस प्रकार 'केवल-साक्षिवेद्यत्व' में 'केवल' पद, वृत्ति का व्यावर्तक न होने से ही अहङ्कार-टीका में आचार्य ने अहमाकार-अन्तःकरण-वृत्ति का स्वीकार किया है। इसी कारण सर्वज्ञमुनिप्रभृति साम्प्रदायिकों ने प्रातिभासिक-रजतस्थल में रजताकार अविद्यावृत्ति को स्वीकार किया है। इस प्रकार केवल साक्षिवेद्य अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों में वृत्त्युपहितत्व-घटित लक्षण संगत होने से अव्याप्ति नहीं है।

विवरण—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) सूत्र के शांकारभाष्य पर पद्मपादाचार्य की 'पञ्चपादिका' नामकी टीका है। उस टीका पर श्री प्रकाशाचार्य का विवरण है, उसी का दूसरा नाम 'अहङ्कार टीका' है। उसके प्रथम वर्णक में 'अहं वृत्त्यवच्छिन्नमेव अन्तःकरणं चैतन्यस्य विषयभावमापद्यते'—अहं वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही विषयभाव को प्राप्त होता है—कहा है। (श्री प्रकाशमुनि ने अन्तःकरण को विषय को करने वाली अहम्-इत्याकारक वृत्ति को माना है। उस कारण 'केवल साक्षिभास्यत्व' के 'केवल' शब्द से 'वृत्ति' की व्यावृत्ति न होकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों के इन्द्रिय-सन्निकर्षादि व्यापारों की व्यावृत्ति होती है। इसलिये 'अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों में वृत्तिविषयत्व के स्वीकार करने पर भी 'केवल-साक्षिविषयत्व' के सिद्धान्त से विरोध नहीं होता। श्री प्रकाशाचार्य ने अहमाकार-अन्तःकरणवृत्ति का स्वीकार किया होने से संक्षेपशारीरकाचार्य सर्वज्ञमुनि प्रभृति साम्प्रदायिकों ने भी प्रातिभासिक शुक्तिरजत-स्थल में रजताकार-अविद्यावृत्ति को माना है। इस प्रकार अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों को वृत्तिविषयत्व सिद्ध होने से पूर्वोक्त अव्याप्ति का निरसन अपने आप हो जाता है। यथा—पीछे विषयाकार-वृत्त्युपहित-प्रमातृचैतन्य की सत्ता से विषय की सत्ता का पृथक् न होना' ही विषयगत-प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बताया गया है। यह लक्षण, केवल साक्षिवेद्य हुए अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों में भी है। क्योंकि साम्प्रदायिकों ने अन्तःकरणादिविषयक 'अहमाकार' (अहं इस आकार की) वृत्ति मानी है। इस कारण 'वृत्त्युपहितत्व' विशेषण से युक्त

---

१. साम्प्रदायिकैः विवरणानुयायिभिरिति।
२. प्रातिभासिकेषु अविद्यावृत्तिस्वीकारफलं निर्दिशति।

लक्षण अन्तःकरणादि-प्रत्यक्ष में भी है। इसलिए लक्षण की अव्याप्ति (लक्ष्य के किन्हीं अंशों में न रहना) नहीं हो पाती।

इस प्रकार ज्ञानगत और ज्ञेयगत-प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक को (सब दोषों का निरसन करते हुए) बताकर श्रोताओं के सुखबोधार्थ उपर्युक्त विशेषणों से निष्पन्न हुए लक्षण को संक्षेप में बताते हैं।

[1]तदयं निर्गलितोऽर्थःस्वा[2]कारवृत्त्युपहित-प्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्त-सत्ताकत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम्। तत्र[3] संयोग—संयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यञ्जक-वृत्ति-जनने विनियोगः।

अर्थ—उसका यह निष्कृष्ट अर्थ है। 'स्व' = विषय- तदाकार = विषयाकार अर्थात् विषयगोचर वृत्ति (उपाधि) से उपहित प्रमातृचैतन्यरूप सत्ता से जिस विषय की सत्ता भिन्न होती है वह विषय, 'स्वाकारवृत्त्युपहित-प्रमातृ-चैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताक' होता है। उसका जो भाव उसे 'सत्तातिरिक्तसत्ताकत्व' कहते हैं, उससे शून्य होते हुए 'प्रत्यक्षयोग्यत्व होना ही विषय के प्रत्यक्ष-व्यवहार का प्रयोजक है। इस प्रकार ज्ञानगत और विषयगत (ज्ञेयगत) प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक सिद्ध होने पर संयोग, संयुक्त-तादात्म्य इत्यादि सन्निकर्षों का चैतन्याभिव्यंजक-वृत्ति के उत्पन्न करने में विनियोग (उपयोग) होता है।

विवरण—स्वाकारवृत्ति (विषयाकारवृत्ति) में उपहित (प्रविष्ट) हुए प्रमातृ-चैतन्य की सत्ता से, प्रत्यक्षयोग्य विषय की सत्ता का पृथक् न होना ही विषयगत प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्ष-व्यवहार) का प्रयोजक है। प्रमातृ-चैतन्य की सत्ता और विषय की सत्ता के एक होने पर 'यह घट प्रत्यक्ष है' यह व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार

---

१. 'तदयम्' इति मूलस्थपदस्य पञ्चमी-षष्ठी वा समासोऽवगन्तव्यः। 'तस्य पूर्वोक्तस्य अयम्' इति, 'तस्मात् अयम्' इति वा।

२. स्वयं विषयः तदाकारा तद्विषया या वृत्तिः तदुपहितं यत् प्रमातृचैतन्यं तद्रूपा या सत्ता तदतिरिक्ता सत्ता यस्य सः तथा तस्य भावः तत्त्वं तेन शून्यत्वे सति—तदतिरिक्तसत्तावत्त्वरहितत्वेसति प्रत्यक्षयोग्यत्वं प्रत्यक्षव्यवहारप्रयोजकम्।

एवञ्च—ज्ञानगतस्य ज्ञेयगतस्य च प्रत्यक्षत्वस्य यत् प्रयोजकमुक्तं तत्र 'तादृशवृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यस्य तादृशविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं' ज्ञानगतप्रयोजकम्।

तादृशविषयस्य तथाभूतप्रमातृचैतन्याऽभिन्नत्वं विषयगतप्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकम्।

३. प्रत्यक्षस्य विषयस्य प्रत्यक्षज्ञानं चैतन्यमेव, तच्च अनादीति संयोगादिसन्निकर्षाणां क्व विनियोगः इति जिज्ञासायां घटतद्गतरूप-रूपत्व-शब्द-शब्दत्वावच्छिन्नचैतन्याभिव्यञ्जकवृत्त्युत्पादने विनियोगो ज्ञातव्यः।

ज्ञानगतप्रत्यक्षत्व और ज्ञेयगत-प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बताया गया। प्रत्यक्षयोग्य-विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का प्रत्यक्षविषयावच्छिन्न चैतन्य (वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्य और विषयावच्छिन्न-चैतन्यों की एकता)—ज्ञानगत 'प्रत्यक्षत्व' में प्रयोजक है। 'विषयज्ञान प्रत्यक्ष है' इस आकार में ज्ञानगत-प्रत्यक्षत्व का व्यपदेश (व्यवहार) होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्षयोग्य विषय का पूर्वोक्त प्रकार से प्रमातृ-चैतन्य के साथ अभेद, विषयगत-प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। 'घटः प्रत्यक्षः' घट प्रत्यक्ष है इस आकार में उसका व्यपदेश होता है।

चैतन्य ही प्रत्यक्ष-विषय का ज्ञान है और चैतन्य अनादि है। ऐसी स्थिति में संयोगादि सन्निकर्षों का उपयोग क्या है? इस आशंका के समाधान में ग्रन्थकार कहते हैं—पूर्वोक्त प्रकार से द्विविध प्रयोजकों के सिद्ध होने पर संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्तभिन्नतादात्म्य, तादात्म्य, अभिन्नतादात्म्य आदि सन्निकर्षों का घट, घटगतरूप, रूपगत रूपत्व, शब्द और शब्दत्व से अवच्छिन्न हुए चैतन्य को अभिव्यक्त करनेवाली वृत्ति को उत्पन्न करने में विनियोग होता है। (वे संयोगादि-सन्निकर्ष तत्तद्विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यंजकवृत्ति को पैदा करते हैं। संयोग से घटाकारवृत्ति, संयुक्ततादात्म्य से घटगतरूपाकारवृत्ति, संयुक्ताभिन्नतादात्म्य से घट-रूपगत रूपत्वाकार वृत्ति, तादात्म्य से शब्दाकार वृत्ति और अभिन्नतादात्म्य से शब्दगत-शब्दत्वाकार वृत्ति पैदा होती है। और प्रत्येक वृत्ति, चैतन्य की अभिव्यंजक है। अब इन संनिकर्षों से उत्पन्न होने वाली वृत्ति (अन्तःकरण वृत्ति) कितनी प्रकार की है? उसे ग्रन्थकार बताते हैं—

सा[1] च वृत्तिश्चतुर्विधा—संशयो, निश्चयो, गर्वः, स्मरणमिति। एवंविध[2]वृत्तिभेदेन एकमप्यन्तःकरणं मन इति बुद्धिरिति अहङ्कार इति चित्तमिति [3]व्याख्यायते। तदुक्तम्—

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥ १॥

अर्थ—और वह सन्निकर्षजन्य-वृत्ति चार प्रकार की है—संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण। अन्तःकरण के एक होने पर भी इस वृत्तिभेद के कारण वह मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त इन चार शब्दों से बोला जाता है[4]। इस अन्तःकरण-वृत्ति

---

१. सा चेत्यत्र प्रसिद्धा वृत्तिर्ग्राह्या।

२. एवं सतिवृ०—इति पाठान्तरम्।

३. चाख्या०—इति पाठान्तरम्।

४. संशयाकारवृत्तिमदन्तःकरणं मनः, निश्चयाकारवृत्तिमदन्तःकरणं बुद्धिः, गर्वाकारवृत्तिमदन्तःकरणमहङ्कारः स्मरणाकारवृत्तिमदन्तःकरणं चित्तमिति प्रसङ्गप्राप्तः केषां-

के विषय में पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार कहा है—'मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त—रूप से चार प्रकार का अन्तःकरण (भीतरी करण) है। संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण—ये उसके क्रम से विषय हैं।'

विवरण—पूर्वोक्त सन्निकर्ष से पैदा होने वाली 'वृत्ति' से अवच्छिन्न हुआ 'चैतन्य' ही प्रत्यक्ष और 'वृत्ति', अन्तःकरण का परिणाम है। अतः अन्तःकरण की घटक (अवयव) भूत-वृत्ति से युक्त अन्तःकरण का निरूपण करना प्रकृत में असंगत नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण प्रकृत है और अन्तःकरण का निरूपण उसका उपकारक है। संशयाकार, निश्चयाकार, गर्वाकार और स्मरणाकार—इन चार प्रकार के आकारों में परिणत होने वाली वृत्ति चार प्रकार की है। वास्तव में एक होता हुआ भी अन्तःकरण, संशयादि विषयाकार से परिणत हुई विविध वृत्तियों के भेद से विविधता को प्राप्त होता है (विविध = अनेक रूप होता है)। संशयाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'मन', निश्चयाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'बुद्धि', गर्वाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'अहङ्कार', और स्मरणाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तः-करण को 'चित्त' संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं। 'अन्तःकरण' का उपर्युक्त यह विभाग स्वकपोलकल्पित न होकर उसमें पूर्वाचार्यों की सम्मति 'मनो बुद्धिः', वचन से ग्रन्थकार दिखा रहे हैं—वृत्तिभेद से वृत्तिमान् का भेद होने से, एक ही अन्तःकरण, मन आदि भेद से चार प्रकार का हो जाता है। और उसके विषय—संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण होते हैं। इसी कारण तदाकार हुई वृत्तियों को भी संशय, निश्चय इत्यादि संज्ञायें प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमा की घटक 'वृत्ति' के स्वरूप को बताकर विषयावच्छिन्न-चैतन्याभिन्न जो वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्य तद्रूप प्रत्यक्ष के विभाग (पूर्वोक्त विषयाच्छिन्न-चैतन्याभिन्न-वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यरूप प्रत्यक्ष प्रमा के प्रकार) को बताते हैं।

चिदभ्युपगमः प्रदर्शितः। तेषां मते एकमपि अन्तःकरणं चतुर्धा भिद्यते। तद्भेदाभ्युप-गमात् अन्तःकरणस्य इन्द्रियत्वाभ्युपगमाच्च संशयादीनामन्तःकरणवृत्तित्वं युज्यते।

किन्तु सिद्धान्ते प्रमात्मकनिश्चयस्य अन्तःकरणवृत्तित्वेऽपि भ्रमात्मकनिश्चयस्य संशयादीनाञ्च अन्तःकरणवृत्तित्वं नैव युज्यते। यतः अन्तःकरणवृत्तिः इन्द्रियादिप्रमाण-व्यापारमपेक्षते। संशयादयस्तु अविद्यावृत्तिरूपाः, अतः प्रमाणव्यापारं नापेक्षन्ते, अन्तः करणस्य च अनिन्द्रियत्वमभ्युपगम्यते सिद्धान्तिना।

ननु 'एतत् सर्वं मन एव' इति श्रुतौ संशयादीनां मनः-परिणामत्व-प्रतिपादनात् श्रुतिविरोधः। किन्तु एकस्मिन् धर्मिणि उभयकोटिकवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यमेव संशयः, तस्य च विशेष्याकारमनोवृत्तिघटितत्वेन एककोट्याकारमनोवृत्तिघटितत्वेन वा मनस्तादात्म्य-निर्देशान्न श्रुतिविरोधः।

तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम् । [1]सविकल्पक–निर्विकल्पकभेदात् । तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहि[2] ज्ञानं । यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम् । निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानम्[3] । यथा—सोऽयं

---

१. विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नवृत्यवच्छिन्नचैतन्यरूपस्य प्रत्यक्षस्य विभागनिरूपणावसरे सकलवादिसम्मतत्वात् सर्वव्यवहारहेतुत्वाच्च प्रथमं सविकल्पकस्य निर्देशः ।

२. वैशिष्टचं विशेष्य-विशेषणयोः सम्बन्धमवगाहते विषयीकरोति–इति वैशिष्टचावगाहि । तच्च तज्ज्ञानञ्चेति वैशिष्टचावगाहिज्ञानम् । यस्मिन् ज्ञाने विशेष्यं विशेषणं तयोः सम्बन्धश्च विषयो भवति, तज्ज्ञानं सविकल्पकं भवति । निर्विकल्पके अतिव्याप्तिवारणाय वैशिष्टचावगाहीतिविशेषणदलम् । सविकल्पकस्योदाहरणं 'घटमहं जानामि' इति । अर्थात् 'घटविषयकज्ञानवानहम्' । अत्र घटविषयकज्ञानसाक्षात्कारे 'अहङ्कारः' विशेष्यतया, तत्र च 'घटज्ञानं' विशेषणतया, तयोः 'घटज्ञानाऽहङ्कारयोः सम्बन्धश्च' संसर्गतया, घटज्ञाने च 'घटः' विशेषणतया, 'ज्ञानञ्च' विशेष्यतया, तयोः 'घट घटज्ञानयोः सम्बन्धश्च' संसर्गतया, घटे घटत्वं विशेषणतया, घटः विशेष्यतया, तयोः घटघटत्वयोः सम्बन्धः संसर्गतया भासते । अतः घटमहजानामीति ज्ञानं वैशिष्टचविषयकतया सविकल्पकं भवति ।

३. निर्विकल्पकस्योदाहरणं 'सोऽयं देवदत्तः' इति—लौकिकम् । 'तत्वमसि' इति वैदिकम् । इदं लौकिकं वैदिकञ्चोदाहरणं संसर्गानवगाहिसंसर्गाऽविषयकं (विशेष्य-विशेषणयोः सम्बन्धाऽविषयकम्) वर्तते ।

'सोऽयं देवदत्तः' इत्यनेन प्रत्यभिज्ञायामवगतमेकत्वं परस्मै प्रतिपादयति । इदं वाक्यं शृण्वन् पुरुषः 'तत्' पदस्य 'इदम्' पदस्य च प्रथमं तावत् सामानाधिकरण्यं जानाति । तदनन्तरं तस्य शृण्वतः पुरुषस्य चेतसि 'तत्' शब्दात् शक्त्या तद्देश-कालविशिष्टस्य, 'इदम्' शब्दात् शक्त्या एतद्देश-कालविशिष्टस्य 'देवदत्त' शब्दात् शक्त्या देवदत्तस्य उपस्थितिर्भवति । ततः पश्चात् तस्य चेतसि द्वयोः विशिष्टयोः अभेदान्वयो भवति—'तद्देशकालविशिष्टाऽभिन्नः एतद्देशकालविशिष्टाभिन्नः 'देवदत्तः' इति ।

परन्तु द्वयोर्विशिष्टयोः अभेदान्वयो न संभवति, विशिष्टयोर्द्वयोर्भिन्नत्वात् । यतः विशेषणभेदेन विशिष्टस्य भेदो भवति । अतः विशिष्टाऽभेदस्य मुख्यार्थस्य बाधप्रतिसन्धानं जायते । ततः तस्य पुरुषस्य देवदत्तस्वरूपमात्रबोधस्य तात्पर्यविषयत्वात् विशिष्टवाचकाभ्यां पदाभ्यां विरुद्धस्य स्वार्थैकदेशस्य तदेतद्देशकालस्य परित्यागेन देवदत्तस्वरूपलक्षणया देवदत्तस्वरूपमात्रविषयकं ज्ञानं भवति । तथा च संक्षेप शारीरिके—

"सामानाधिकरण्यमत्र भवति प्राथम्यभागन्वयः, पश्चादेष विशेषणेतरतया पश्चाद् विरोधोद्भवः । उत्पन्ने च विरोध एकरसके, वस्तुन्यखण्डात्मके वृत्तिर्लक्षणया भवत्ययमिह ज्ञेयः क्रमः सूरिभिः" तच्च ज्ञानं स्वरूपमात्रविषयकत्वात् संसार्गानवगाहि भवति । शब्द-

देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादि-वाक्यजन्य-[1]ज्ञानम् ॥

अर्थ—और वह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है। एक सविकल्पक और दूसरा निर्विकल्पक। उनमें विकल्प को विषय करनेवाले ज्ञान को 'सविकल्पक' ज्ञान कहते हैं। जैसे—'मैं घट को जानता हूँ' यह ज्ञान सविकल्प है। परन्तु संसर्ग को विषय न करनेवाला ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान होता है। जैसे—'वह यह देवदत्त' 'वह (सत्) तू है' इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

विवरण—प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली वृत्ति का स्वरूप ऊपर बताया गया। अब प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रकारों को बताते हैं। 'विषयावच्छिन्न चैतन्यात्मक, जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य', वही प्रत्यक्ष-ज्ञान है। वह (प्रत्यक्ष) सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार का है। मूल में 'सविकल्पक और निर्विकल्पक' ऐसा उद्देश्य किया है (प्रत्यक्ष के दो प्रकारों में से)—'सविकल्पक' का निर्देश प्रथम किया है। सविकल्पक ज्ञान सभी को समस्त है और समस्त व्यवहार में उसके प्रयोजक होने से 'तत्र' ग्रन्थ से प्रथमतः सविकल्पक ज्ञान का लक्षण कहा जाता है। विकल्प का अर्थ, 'वैशिष्टच' है। जो ज्ञान विकल्प से युक्त रहता है, वह सविकल्पक कहलाता है (जिस ज्ञान का विषय 'वैशिष्टच' होता है, वह सविकल्पक ज्ञान है) ग्रन्थकार ने 'वैशिष्टचावगाहि ज्ञानं सविकल्पकम्' इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान का लक्षण करके 'मैं घट को जानता हूँ, यह उदाहरण दिया है। इसमें 'वैशिष्टचावगाहि ज्ञानम्' इतना लक्षण है और 'सविकल्पकम्' यह लक्ष्य है। केवल 'वैशिष्टचवगाहि' इतना ही लक्षण यदि किया जाता तो वह 'इच्छा आदि' में अतिव्याप्त होता, क्योंकि इच्छादिक भी वैशिष्टच-विषयक होती हैं। (इच्छा का विषय वैशिष्टच ही रहता है) अतः इस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए लक्षण में 'ज्ञान' पद दिया है। यदि केवल

जन्यमपि सन्निकृष्ट देवदत्तविषयकत्वात् प्रत्यक्षञ्च तत्, सन्निकृष्टविषये शब्दादपि प्रत्यक्षज्ञानाभ्युपगमात्।

एवं 'तत्वमसि' इत्यत्र तच्छब्देन शक्त्या सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य चैतन्यस्य युष्मच्छब्देन असर्वज्ञत्वादि विशिष्टस्य चैतन्यस्य, प्रथमया च विभक्त्या अभेदस्य उपस्थितिर्भवति, ततः विशिष्टयोर्द्वयोरभेदान्वयो जायते। ततो मुख्यार्थस्य विशिष्टाऽभेदस्य बाधज्ञानं सम्पद्यते, ततो विशिष्टवाचकाभ्यां पदाभ्यां विरुद्धांशस्य सर्वज्ञत्वादेः परित्यागेन चैतन्य-स्वरूपलक्षणया चैतन्यस्वरूपमात्रविषयकं ज्ञानं जायते। तच्च ज्ञानं संसर्गाऽविषयकत्वात् सन्निकृष्टविषयकत्वाच्च निर्विकल्पकम्प्रत्यक्षम्।

तथा च विवरणकारा अष्टमवर्णके—"सोयमिति विशिष्टाभिधायिभ्याम्पदाभ्यां स्वार्थेकदेशपरित्यागेनैकदेशलक्षणया देवदत्तस्वरूपैक्यं प्रतिपादयति।"

१. जन्यं ज्ञानम्—इति पाठान्तरम्।

'ज्ञानम्' इतना ही लक्षण करें तो वह निर्विकल्पक ज्ञान में अतिव्याप्त होगा, इसलिये 'वैशिष्टचावगाहि' यह विशेषण भी आवश्यक है।

'मैं घट को जानता हूँ' यह सविकल्पक-ज्ञान का उदाहरण है। क्योंकि वह घटरूप-विशेषण से विशिष्ट घटज्ञान को विषय कर रहा है, अतः 'मैं घट को जानता हूँ' यह ज्ञान वैशिष्टचावगाहि है।

इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान का निर्दोष लक्षण बताकर 'निर्विकल्पकं तु०' ग्रन्थ से दूसरे प्रकार के ज्ञान का लक्षण बताते हैं। जिससे विकल्प (वैशिष्टच) निवृत्त हुआ हो वह निर्विकल्पक ज्ञान है। यहाँ 'निर्विकल्पकम्' लक्ष्य है और 'संसर्गावगाहि ज्ञानम्' लक्षण है। संसर्ग का अर्थ है—विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध, इसी को 'वैशिष्टच' कहते हैं। एवं च संसर्ग (वैशिष्टच) को विषय न करनेवाले ज्ञान को 'निर्विकल्पक ज्ञान' कहते हैं 'सोऽयं देवदत्तः', 'तत् त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान, निर्विकल्पक ज्ञान का उदाहरण है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस ऐक्य प्रत्यभिज्ञा से ही 'सोऽयं देवदत्तः' ऐसे वाक्य का प्रयोग होता है। इस कारण देश और काल से उपलक्षित देवदत्त रूप अभेद को विषय करनेवाला इन्द्रियजन्य ज्ञान भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। तब इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को उदाहरण रूप से न बताकर शाब्दज्ञान को ही उदाहरणरूप से क्यों बताया गया है ?

उत्तर :—देश और काल से उपलक्षित (जो) देवदत्त (तद्) रूप अभेद को विषय करनेवाले (वह यह देवदत्त) इस इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षज्ञान में सन्निकर्ष के बल से, 'उपलक्षक देश-काल' का भी भान होता है, परन्तु शाब्दज्ञान में नियम से 'तात्पर्य-विषय' का ही भान होता है। इसलिए शाब्दज्ञान को अभेदमात्र विषयत्व होने से यहाँ पर शाब्द उदाहरण ही दिया है। मूल में 'तत्त्वमसि' इत्यादि के शब्द से 'प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः।' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि अवान्तर वाक्यों को समझना चाहिए। इस पर वादी शंका करता है—

ननु शाब्दमिदं ज्ञानं न प्रत्यक्षमिन्द्रियाजन्यत्वात् ।

अर्थ–यह जो शाब्द (शब्दजन्य) ज्ञान है। प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय से पैदा नहीं है।

विवरण—निर्विकल्पक ज्ञान के उदाहरण में 'वाक्यजन्य ज्ञान' बताया देखकर वादी कहता है कि यह (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का तो लक्षण और उसका लक्ष्य वाक्य-जन्य ज्ञान) कथन अत्यन्त असंगत है। 'वह यह देवदत्त' इस वाक्य से होनेवाला ज्ञान, शाब्दज्ञान है, प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। तब वाक्यजन्य ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कैसे कह सकते हैं ? 'इति चेत्' आदि ग्रन्थ से उपर्युक्त शंका का अनुवाद कर उसका निरसन करते हैं।

इति चेत् । न । न हि इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्र, दूषितत्वात् । किन्तु योग्य-वर्तमान-विषयकत्वे सति प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभिन्नत्वमित्युक्तम् । तथा च सोऽयं देवदत्त इति वाक्य-जन्य-ज्ञानस्य सन्निकृष्ट-विषयतया बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन [1]देवदत्तावच्छिन्न [2]वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदेन सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्य-ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् । एवं तत्त्वमसि इत्यादिवाक्य-जन्यज्ञानस्यापि । तत्र प्रमातुरेव[3] विषयतया तदुभयाभेदस्य[4] सत्त्वात् ।

अर्थ—'वाक्यजन्यज्ञान, इन्द्रियजन्य न होने से शाब्द है, प्रत्यक्ष नहीं है' ऐसा यदि कहें तो उचित नहीं । क्योंकि प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्ष) में 'इन्द्रियजन्यत्व' प्रयोजक नहीं है । हमने नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत प्रयोजक को दूषित सिद्ध कर विषय में योग्यता तथा वर्तमानता (विद्यमानता) होते हुए प्रमाणचैतन्य का विषयचैतन्याभिन्नत्व होना प्रत्यक्ष में प्रयोजक है—ऊपर बताया है । 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट है, अतः हम (वेदान्ती) ने उस ज्ञान में बाहर निकली अन्तःकरण-वृत्ति को स्वीकार किया है । इस तरह इस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय समीप होने से सन्निकृष्ट विषय को उद्देश्य कर अन्तःकरण-वृत्ति बाहर निकलती है, हमारे इस सिद्धान्त के कारण देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य का अभेद होता है, (विषयावच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से) जिससे 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है । इसी न्याय से 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान का भी प्रत्यक्षत्व है । कारण उस ज्ञान में प्रमाता ही विषय होने से विषय-चैतन्य और वृत्तिचैतन्य का अभेद है ।

विवरण—'वह यह देवदत्त' इत्यादि वाक्यजन्य-ज्ञान शब्दजन्य होने से (इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान न होने से) निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष ज्ञान का उदाहरण हो नहीं सकता, यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि शाब्दज्ञान को इन्द्रियजन्यत्व न होने पर भी उपर्युक्त प्रत्यक्षत्व-प्रयोजकत्व 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य ज्ञान में है । इस कारण यहाँ लक्षण और लक्ष्य की असंगति नहीं होती । नैयायिक 'इन्द्रियजन्य' ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं, परन्तु वह अतिव्याप्त होता है, क्योंकि इन्द्रियजन्यत्व को प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक मानने पर नैयायिकों

---

१. देवदत्तावच्छिन्नचैतन्यस्य वृत्यवच्छिन्नचैतन्याभेदेन—इति पाठान्तरम् ।

२. तद्वृत्यवच्छिन्नचैतन्याभिन्नतया-इति पाठान्तरम् ।

३. प्रमातृत्वोपलक्षित-स्वरूपचैतन्यस्यैव ।

४. तदुभयाभेदस्य स्वरूपाकारवृत्यवच्छिन्नचैतन्यस्वरूपचैतन्ययोरभेदस्य ।

के मत में 'मन भी इन्द्रिय होने से उससे होनेवाला अनुमितिज्ञान भी प्रत्यक्ष कहा जायगा', यह बताकर उसका निरसन भी कर दिया गया। इसलिए इन्द्रियजन्यत्व, प्रत्यक्ष में प्रयोजक हो नहीं सकता।

शंका–इससे पूर्व आपने 'प्रमाणचैतन्य का, योग्य वर्तमान-विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्नत्व' प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक बताया, और अब 'योग्य वर्तमान विषयकत्व होते हुए प्रमाणचैतन्य का विषय-चैतन्य से अभिन्नत्व, प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक बता रहे हैं। अतः दोनों की संगति कैसे हो ?

समाधान—दोनों लक्षणों का अर्थ एक ही है। 'वृत्तिरूप प्रमाण से अवच्छिन्न चतन्य' और योग्य, वर्तमान, अबाधित विषय से अवच्छिन्न चैतन्य दोनों का अभेद' यह अर्थ दोनों लक्षणों से समान ही निकलता है।

इस प्रकार प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक इन्द्रियजन्यत्व के न होने से, अर्थात् पूर्वोक्त उभयविधचैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष में प्रयोजक होने से 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। क्योंकि उस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय (देवदत्त) समीप है। विषय के सन्निकृष्ट होने से अन्तःकरण की वृत्ति, इन्द्रिय के द्वारा बाहर निकलकर 'देवदत्त' रूप विषय के आकार की बन जाती है—हमारा सिद्धान्त है। इसकारण 'देवदत्त' (रूप) विषय से अवच्छिन्न चैतन्य और विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य, इन दोनों का अभेद होकर 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य-ज्ञान को प्रत्यक्षत्व सिद्ध होता है।

शंका—वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है–इस विषय में लौकिक उदाहरण के होने पर भी वैदिक उदाहरण का होना असम्भव प्रतीत होता है। कारण–'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' हे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किस साधन से जानना चाहिए ? इत्यादि श्रुति से प्रमाता के विषयत्व का निराकरण किया गया है। इससे तत्पदार्थाभिन्न त्वंपदार्थ प्रमातृचैतन्य को विषयावच्छिन्न-चैतन्यत्व का अभाव होने से 'तत् त्वमसि' इस वाक्यजन्यज्ञान में पूर्वोक्त प्रयोजक का अभाव है।

समाधान—'तत्वमसि' वह सत् तू है–इस वैदिक वाक्यजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्षत्व है, क्योंकि उसमें पूर्वोक्त प्रत्यक्षत्व प्रयोजक है–यथा–'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट है। 'तत्' और 'त्वम्' पदों का लक्ष्य अर्थ 'चैतन्य', उस ज्ञान का विषय है। उस वाक्य से अन्तःकरण-वृत्ति पैदा होती है–यह हमारा सिद्धान्त है। इस कारण लक्ष्य-चैतन्य और वृत्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होता है। इस अभेद के कारण ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षत्त्व है। ('तत्वमसि' के सुनने पर सर्वज्ञत्व, किंचिज्ज्ञत्व—अकर्तृत्व, कर्तृत्व इत्यादि से विशिष्ट वस्तु का अभेद है—यह ज्ञान नहीं होता। किन्तु 'तत्' और त्वम्' इन दो पदों के लक्ष्य स्वरूप के ऐक्य का ज्ञान होता है। कारण यह है कि सर्वज्ञत्व—अकर्तृत्व आदि धर्मों से युक्त 'तत्पदार्थ' और किंचिज्ज्ञत्व-कर्तृत्व आदि धर्मों से युक्त 'त्वं पदार्थ' के ऐक्य का असम्भव है, क्योंकि विरुद्ध धर्म के

दो पदार्थों की एकता होना अशक्य है। परन्तु उस 'तत्' और 'त्वम्' पदों के लक्ष्य (चैतन्य) तो सन्निकृष्ट ही हैं। इसलिये 'तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न हुई अन्तःकरण-वृत्ति के स्वीकार करने में कोई बाधक नहीं है। इसी कारण लक्ष्यचैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य को एकदेशस्थित दो उपाधियों से अवच्छिन्नत्व है। इस प्रकार उन दो चैतन्यों का अभेद होने से 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है। इस ज्ञान में प्रमाता ही विषय होने से (उस वाक्यजन्य ज्ञान में प्रमातृ पद को–'तत्त्वं' पद से लक्ष्यभूत चैतन्य को—ही विषयत्व होने से) विषय चैतन्य और वृत्ति चैतन्य का ऐक्य (एकता) हो पाता है।

शंका—'तत्त्वम्' पद से लक्ष्यभूत ब्रह्म शास्त्रजन्यज्ञान का विषय है—यह कहने पर 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' आदि श्रुतियों की क्या गति है ?

समाधान—यह श्रुति विज्ञाता के 'फलव्याप्यत्व' का निराकरण करती है। वह उसके 'वृत्तिव्याप्यत्व' का निराकरण नहीं करती। पंचदशीकार कहते हैं—'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्। ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ॥'

इन्द्रियसन्निकर्ष के कारण अन्तःकरण की घटादिविषयाकार वृत्ति के उत्पन्न होने पर उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। उस 'चैतन्य' को 'फल' कहते हैं। चैतन्य-प्रतिबिम्ब से युक्त हुई वृत्ति, विषय को व्याप्त करती है। इस कारण उस वृत्ति के साथ फलरूप चैतन्य की व्याप्ति भी सिद्ध ही है। ऐसा होने से घटादि जड़ विषयों को फलव्याप्यत्व है। परन्तु वह फलव्याप्यत्व 'ब्रह्म' में नहीं बन पाता। कारण—ब्रह्म, साक्षात् चैतन्यात्मक है। इस कारण वृत्ति के साथ रहनेवाला चैतन्य भी चिद्रूप ब्रह्म में किसी प्रकार का अतिशय पैदा नहीं कर सकता। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म में फलव्याप्ति के मानने पर वह ब्रह्म जड़ हो जायगा। कारण जड़ में ही फलव्याप्ति का सम्भव होता है और जड़ के साक्षात्कार के लिए उसकी आवश्यकता भी होती है इससे 'तत्त्वमसि' सुनने पर पैदा हुई वृत्ति के द्वारा ब्रह्म के व्याप्त होने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। प्रत्युत, किसी पदार्थ के अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना उसका भान (ज्ञान) नहीं होता और अज्ञान की निवृत्ति, अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा ही होती है। इसलिये ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति के लिए अन्तःकरण-वृत्ति को स्वीकार करना ही चाहिये, यह कारिका का आशय है।

इस पर शंका—

ननु वाक्यजन्य-ज्ञानस्य पदार्थ-संसर्गावगाहितया कथं निर्विकल्पकत्वम् ?

अर्थ—वाक्यजन्यज्ञान को पदार्थसंसर्गविषयत्व होने से निर्विकल्पकत्व कैसे ?

---

१. 'सोऽयं देवदत्तः इत्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं संसर्गावगाहि वाक्यजन्यज्ञानत्वात्, गामानयेति-वाक्यजन्यज्ञानवत्।'

विवरण—(१) 'वह[1] यह देवदत्त' आदि वाक्यजन्यज्ञान संसर्गावगाहि है—(संसर्ग को विषय करनेवाला है), (२) क्योंकि उसमें वाक्यजन्यज्ञानत्व है, (३) 'गौ को लाओ' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान की तरह। अथवा[1]—(१) 'वह यह देवदत्त' वाक्य से पैदा हुआ ज्ञान निर्विकल्पक नहीं है, (२) क्योंकि उसमें संसर्गावगाहित्व है, (३) 'गौ को लाओ' आदि वाक्यजन्य ज्ञान की तरह। इस आशय से यहाँ पर यह शङ्का की गई है। वाक्य से होने वाला ज्ञान उस वाक्यगत प्रत्येक पद के अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को विषय करता है। जैसे—'गौ को लाओ' इस वाक्य में 'तू' पद 'लाओ' क्रिया के साथ 'कर्तृत्व' रूप से सम्वन्धित होता है। और 'गो' पद, उस क्रिया के साथ 'कर्मत्व' रूप से सम्बन्धित होता है। और 'त्वत्कर्तृक-गोकर्मक-आनयन' इत्याकारक शाब्द बोध होता है। इसलिये यह संसृष्ट वाक्यार्थ है।

वाक्यजन्य सभी ज्ञान, प्रत्येक पद के अर्थ में स्थित परस्पर कर्तृत्वादि संसर्ग को विषय करते हैं। ऐसी स्थिति में उसे निर्विकल्पकज्ञान कैसे कहा जा सकता है? जो ज्ञान, विशिष्ट का ग्रहण करे वह 'सविकल्पक' होता है, जैसे—यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है, यह पाचक है आदि ज्ञान। इस आकार का जो नहीं हो वह 'निर्विकल्पक' ज्ञान कहा जाता है। वाक्यजन्यज्ञान को संसर्गावगाहि होने से उसमें निर्विकल्पकत्व कैसे?

उच्यते। वाक्यजन्य-ज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्, अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्यजन्य ज्ञानविषयत्वापत्तेः, किन्तु तात्पर्यविषयत्वम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त शङ्का का समाधान बताया जाता है—वाक्यजन्यज्ञान के विषयत्व में पदार्थों का संसर्गत्व, तन्त्र (प्रयोजक–निमित्त) नहीं है। कारण यह है कि वाक्य-जन्य–ज्ञानविषयत्व में पदार्थसंसर्गत्व को ही प्रयोजक मानने से वक्ता के द्वारा अनभिप्सित संसर्ग को भी वाक्यजन्यज्ञानविषयत्व होने का प्रसंग आवेगा। अतः वक्ता के तात्पर्य का जो विषय हो वही वाक्यजन्यज्ञान का विषय है, अर्थात् तात्पर्यविषयत्व को वाक्यजन्यज्ञानविषय में प्रयोजकता है।

विवरण—वाक्यजन्यज्ञान के विषय-निर्धारण में पदार्थसंसर्ग यदि निमित्त रहता तो वाक्यजन्यज्ञान को निर्विकल्पक नहीं कहा जाता। वस्तुतः पदार्थसंसर्ग में वाक्यजन्यज्ञान की विषयता है ही नहीं (पदार्थसंसर्गविषयत्व, वाक्यजन्यज्ञान में प्रयोजक नहीं है) क्योंकि पदार्थसंसर्ग को ही यदि वाक्यजन्यज्ञान में प्रयोजक मानें तो वक्ता को अनभिमत ऐसे अश्वादिसंसर्ग को भी वाक्यजन्यज्ञानविषयत्व प्राप्त होगा। भोजन

---

१. 'सोऽयं देवदत्तः इत्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं, निर्विकल्पकं नास्ति, संसर्गावगाहित्वात्, गामानयेतिवाक्यजन्यज्ञानवत्।'

के समय 'सैन्धवमानय' वाक्य में वक्ता को असंमत अश्वादि-पदार्थसंसर्ग भी वाक्यज्ञान का विषय है, मानना पड़ेगा। 'सैन्धव' का अर्थ है सैंधा नमक और सिंधु देश का घोड़ा। भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' कहने वाले वक्ता का तात्पर्य 'सैंधा नमक' रूप अर्थ में होता है, इसलिये उसके वाक्य का तात्पर्यविषय 'सैंधा नमक' है। उस समय 'सैन्धव (अश्व) लाओ' इस वाक्य में 'अश्वकर्मक आनयन क्रिया' रूप संसर्ग, वक्ता को अभिमत नहीं रहता। इस कारण वह संसर्ग वाक्यज्ञान के विषय-निर्धारण में प्रयोजक नहीं बन सकता। इसलिये केवल पदार्थसंसर्ग को वाक्यज्ञान का विषय नहीं माना जा सकता। तो फिर वाक्यजन्यज्ञान-विषयत्व में क्या निमित्त है? उत्तर—वक्ता के तात्पर्य का जो विषय हो वही वाक्यजन्यज्ञान का विषय होता है। फिर वह तात्पर्य-विषय पदार्थों का संसर्ग हो या न हो, यह विचार आवश्यक नहीं है। अब प्रकृत के 'सोऽयं देवदत्तः' लौकिक वाक्य में वक्ता का तात्पर्य देवदत्त के देह में (उसका देह, इस अर्थ में) होने से तात्पर्य का विषय न बने हुए पदार्थसंसर्ग की वाक्यजन्यज्ञान-विषय में प्रयोजकता नहीं होती।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वैदिक महावाक्य का तात्पर्य, अद्वितीय विशुद्ध ब्रह्म में है। यह निश्चय 'उपक्रमोपसंहारादि' तात्पर्य-लिंगों से होता है। इसलिए तात्पर्य-विषय न हुआ वाक्यगत पदार्थों का संसर्ग, तात्पर्य का अविषय है। क्योंकि ऐसे वाक्यों में पदार्थों का असंसर्ग ही तात्पर्य का विषय है, इस आशय से ग्रन्थकार कहते हैं—

प्रकृते च 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' छां०—६—२—१ इत्युपक्रम्य 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' छां० ६—८—७ इत्युपसंहारेण विशुद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यमवसितमिति कथं [1]तात्पर्याविषय संसर्गमवबोधयेत्।

अर्थ—प्रकृत 'तत्त्वमसि' उदाहरण में "हे सौम्य प्रियदर्शन पुत्र! यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व 'सत्' ही था"। यह उपक्रम (प्रारम्भ) कर "वह सत् ही सत्य है, वह आत्मा है, और वह सत् ही तू है" ऐसा उपसंहार किया होने से विशुद्ध ब्रह्म में वेदान्त का तात्पर्य निश्चित हुआ है। ऐसी स्थिति में यह वाक्य, तात्पर्य का विषय न बने हुए पदार्थसंसर्ग को कैसे बतावेगा?

विवरण—'पहले यह सब सत् ही था' इस उपक्रम और 'वह सत्य है, वही आत्मा है, वह तू है' इस उपसंहार से 'तत्त्वमसि' वाक्य का तात्पर्य अद्वितीय विशुद्ध ब्रह्म में है—निश्चय होता है। इसके वाक्यगत-पदार्थों के 'संसर्ग' में तात्पर्यविषयता न 'असंसर्ग' में ही तात्पर्य-विषयत्व है। इसलिये 'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि' ऐसे वाक्यों के तात्पर्य का विषय न होने वाले संसर्गविषयत्व का बाध होता है।

---

१. तात्पर्याविषयसंसर्गम्—इति पाठान्तरम्।

शंका—तत्त्वमस्यादि वाक्यों के प्रसिद्ध अखण्डार्थत्व का त्यागकर उनमें (वाक्यों में) संसर्ग के विषय न होने वाले ज्ञान का विषयत्व किस तरह माना जा सकता है ? संसर्ग का विषय न होने वाले ज्ञान का जनकत्व उन वाक्यों में है—यह कुछ नवीन सा लग रहा है।

[1]इदमेव तत्त्वम[2]स्यादि वाक्यानामखण्डार्थत्वम्, यत् संसर्गानवगाहियथार्थज्ञानजनकत्वमिति ॥ तदुक्तम्

संसर्गासङ्गि सम्यग् धी हेतुता या गिरामियम् ।
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥ १ ॥

प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वं [3]वाऽखण्डार्थत्वमिति चतुर्थपादार्थः ॥

अर्थ—संसर्ग का विषय न होने वाले यथार्थ ज्ञान का जनकत्व (उत्पादकत्व) ही तत्त्वमस्यादि वाक्य का अखण्डार्थत्व है। इस विषय में चित्सुखाचार्य ने इस प्रकार कहा है 'गिराम्' तत्त्वमस्यादि वाक्यों को संसर्ग का विषय न होने वाले सम्यग्ज्ञान का हेतुत्व (उन वाक्यों से तादृश यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होना) ही उन वाक्यों का अखण्डार्थत्व है। अथवा उन वाक्यों का प्रातिपदिकार्थत्व है। परन्तु इस दूसरे 'प्रातिपदिकार्थत्व' लक्षण पर अतिव्याप्ति न हो इसलिए 'प्रातिपदिकार्थत्व' में 'मात्र' पद का निवेश करना चाहिए। अर्थात् 'प्रातिपदिकार्थत्व' से तात्पर्य 'प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्व' है, यही अखण्डार्थत्व है। यह उपर्युक्त कारिका के चौथे पाद का अर्थ है।

विवरण—मूल में 'इदमेव' के 'एव'कार का अर्थ 'अपि' समझना चाहिए। अर्थात् 'यही' अर्थ न कर 'यह भी' अर्थ करना चाहिये। क्योंकि 'यही' अर्थ करने पर दूसरे लक्षण का असंभव होगा। परन्तु चित्सुखाचार्य की कारिका के '(यद्वा) तत्प्रातिपदिकार्थता' इस चौथे पाद में अखण्डार्थत्व का दूसरा लक्षण वताया है, इसलिये तीन पादों के द्वारा कहे गये प्रथम लक्षण से द्वितीय लक्षण का समुच्चय करने के लिये 'इदमेव' के स्थान में 'इदमपि' समझना चाहिये। अव 'संसर्ग का विषय न होने वाले यथार्थ ज्ञान का जनकत्व' रूप लक्षण नवीन न होकर प्राचीन ही है, यह प्रदर्शित करने के लिये उसमें चित्सुखाचार्य की सम्मति दिखाते हैं। तत्त्वमस्यादि वाक्यों का जो संसर्गासंगि-सम्यग्ज्ञानहेतुत्व है वही उनका अखण्डार्थत्व है। महावाक्यों का सम्यग्ज्ञान

---

१. ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यानां प्रसिद्धमखण्डार्थत्वं विहाय कथं संसर्गानवगाहिज्ञानजनकत्वमपूर्वमुक्तमित्याशङ्कयाह—'इदमेवेति'। एवकारः अप्यर्थे, तेन च प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वमखण्डार्थत्वमित्यस्य समुच्चयः।

२. तत्त्वमसीत्यादिवाक्य०—इति पाठान्तरम्।

३. त्वमखण्डार्थत्वम्—इति पाठान्तरम्।

में निमित्त-कारण होना ही उनका अखण्डार्थत्व है। परन्तु वह सम्यग्ज्ञान संसर्ग से सम्बन्ध रखनेवाला नहीं होना चाहिए। अर्थात् 'गाय को लाओ' आदि वाक्य, जैसे संसर्ग को अपना विषय बनाकर वाक्यार्थज्ञान में कारण होता है। वैसे 'तत्त्वमसि' वाक्य 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों के संसर्ग को अपना विषय बनाकर संसर्गसम्बन्धी सम्यक् ज्ञान (वाक्यार्थज्ञान) में कारण नहीं होता। अपितु संसर्ग से सम्बद्ध न होने वाले सम्यग्ज्ञान में कारण होता है। वाक्य का संसर्गासंगिसम्यग्ज्ञान में कारण होना ही उसका अखण्डार्थत्व है। यह अखण्डार्थत्व का एक लक्षण हुआ। उसी का 'यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता' दूसरा लक्षण है। 'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों की प्रातिपतिकार्थता ही अखण्डार्थत्व है। मूल में 'प्रातिपदिकार्थता' इतना ही लक्षण है। परन्तु वह लक्षण संसर्ग-परक वाक्यों में अतिव्याप्त होता है, कारण संसर्गपरक वाक्य में भी प्रातिपदिकार्थ का प्रतिपादकत्व रहता है, संसर्गपरक वाक्यगत पद भी प्रातिपदिकार्थ का प्रतिपादन करते ही हैं। इसलिए उसमें 'मात्र' पद का निवेश करना चाहिए जिससे ऐसे वाक्यों का 'प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्व' ही अखण्डार्थत्व है। इस लक्षण से उपर्युक्त अतिव्याप्ति का भी निवारण होगा।

क्योंकि संसर्ग-परक वाक्य, प्रातिपदिकार्थ का प्रतिपादन भले ही करते हों तथापि प्रातिपदिकार्थ मात्र का प्रतिपादन नहीं करते। इसलिए उनमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

अब साक्षिचैतन्य की द्विविधता से पूर्वोक्त प्रत्यक्ष के द्विविधत्व को बताते हैं—

तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं--जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति। तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्न[1] चैतन्यम्। तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः। विशेषणं च कार्यान्वयि व्यावर्तकम्[2]। उपाधिश्च कार्य्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। [3]रूपविशिष्टो घटोऽनित्य इत्यत्र रूपं विशेषणम्। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र कर्णशष्कुल्युपाधिः। अयमेवोपाधिर्नैयायिकैः परिचायक इत्युच्यते ॥

अर्थ—और वह सविकल्पक-निर्विकल्पक रूप प्रत्यक्ष पुनश्च दो प्रकार का है। एक जीवसाक्षि-प्रत्यक्ष और दूसरा ईश्वरसाक्षि-प्रत्यक्ष। ईनमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य

१. च्छिन्नचैत०—इति पाठान्तरम्।
२. व्यावर्तकं वर्तमानम्—इति पाठान्तरम्।
३. यथारूप०—इति पाठान्तरम्।

'जीव' है। और अन्तःकरणोपहित चैतन्य 'जीवसाक्षि' है। अन्तःकरण के विशेषणत्व और उपाधित्व के कारण जीव और जीवसाक्षी का भेद है, अर्थात् अन्तःकरण-विशिष्ट-चैतन्य-जीव है, और अन्तःकरणोपहित-चैतन्य-जीवसाक्षि है। विशेषण उसे कहते हैं—जो कार्यान्वयि तथा व्यावर्तक और वर्तमान हो। और उपाधि उसे कहते हैं जो कार्य से अन्वय (सम्बन्ध) न रखते हुए व्यावर्तक और वर्तमान हो। 'रूप (इस) विशेषण से विशिष्ट हुआ घट अनित्य है' इस उदाहरण में 'रूप' यह विशेषण है। 'कर्ण-शष्कुलि से अवच्छिन्न (पृथक्) हुआ आकाश—श्रोत्र है।' इस उदाहरण में 'कर्ण-शष्कुलि' (यह) उपाधि है। नैयायिक इस उपाधि को ही 'परिचायक' कहते हैं।

विवरण—पहले सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का होता है, यह बताया। परन्तु संसर्ग का विषयत्व और अविषयत्व रूप दो निमित्तों से उसकी द्विविधता का सम्भव होने पर भी वह दोनों प्रकार का ज्ञान, चैतन्य रूप होने से एक ही है। चैतन्य रूप से उस एक ही ज्ञान के पुनः जीव-साक्षि-चैतन्य और ईश्वर-साक्षि-चैतन्य, अर्थात् 'शिखामणि' टीकाकार के कथनानुसार जीवसाक्षि-जन्य चैतन्य और ईश्वरसाक्षि-जन्य चैतन्य (ये) दो प्रकार हैं।

इस पर 'अर्थ दीपिकाकार ने यह आक्षेप किया है कि शिखामणिकार ने जो 'साक्षि-जन्य' कहा है वह हमें मान्य नहीं है क्योंकि ज्ञान के चैतन्य रूप होने से उसमें (चैतन्य में) जन्यत्व का सम्भव नहीं।

परन्तु चैतन्य रूप ज्ञान, स्वरूपतः अजन्य (उत्पन्न न होनेवाला) होने पर भी वृत्तिरूपज्ञान अथवा वृत्तिविशिष्ट ज्ञान तो जन्य है ही, यह वेदान्त-सिद्धान्त है। इसलिए केवल जीवसाक्षि और ईश्वरसाक्षि चैतन्य का भेद मानने की अपेक्षा, जीवसाक्षिजन्य और ईश्वरसाक्षिजन्य चैतन्य का भेद मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। अतः जीव का (जो) साक्षी, उससे उत्पन्न होनेवाला और ईश्वर का (जो) साक्षी, उससे उत्पन्न होनेवाला चैतन्य—ऐसा शिखामणिकार की व्याख्यानुसार ही व्याख्यान करना उचित है। इस प्रकार व्याख्यान करने से ही 'एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्क्षज्ञानद्वै-विध्यम्' इस तरह साक्षिद्वैविध्य से प्रत्यक्षज्ञान का द्विविधत्व है—इस उत्तर ग्रन्थ की सङ्गति लगती है। सिवाय 'साक्षि' शब्द का 'साक्षिजन्य' व्याख्यान न कर 'जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि च' वाक्य से केवल साक्षी के द्विविधत्व को यदि बताया जाय तो 'प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यं निरूपितम्' इस अग्रिम ग्रन्थ की असंगति स्पष्ट ही है। क्योंकि "वह प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का है", ऐसा उपक्रम कर बीच में ही जीवेश्वर-साक्षी का निरूपण करना सर्वथा अयुक्त है। इस प्रकार साम्प्रदायिक विद्वान् कहते हैं।

इस (जीवसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष और ईश्वरसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष चैतन्य के द्विविधत्व को दूसरे प्रकार से बताकर जीव का निरूपण किये बिना जीवसाक्षिजन्य

प्रत्यक्ष का निरूपण करना आशक्य जानकर ग्रन्थकार प्रथमतः जीव के स्वरूप का निरूपण करके जीव-साक्षी के स्वरूप-लक्षण को कहते हैं।

'तत्र०' ईश्वर और जीव में से जीव किसे कहते हैं---अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य---जीव है। और अन्तःकरणोपहित चैतन्य---उसका (जीव का) साक्षी है। अन्तःकरण जब चैतन्य का विशेषण रहता है तब (चैतन्य) 'जीव' कहलाता है और अन्तःकरण जब उसकी (चैतन्य की) उपाधि रहता है तब उसे जीव का साक्षित्व प्राप्त होता है। अर्थात् अन्तःकरण के विशेषणत्व और उपाधित्व के कारण 'जीव' और 'जीवसाक्षी' ऐसा भेद होता है।

विशेषण और उपाधि में क्या अन्तर है ?---विशेषण और उपाधि दोनों व्यावर्तक और वर्तमान होते हैं, अर्थात् वर्तमानत्व और व्यावर्तकत्व (ये) दोनों धर्म, विशेषण, और उपाधि में समानतया रहते हैं, परन्तु विशेषण कार्यान्वयी होता है और उपाधि, कार्यान्वयी नहीं होता। जैसे---'रूपविशिष्ट (रूप विशेषण से युक्त) घट अनित्य है' इसमें रूप विशेषण है क्योंकि 'घट' उससे युक्त है। परन्तु 'कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न (महाकाश से पृथक् हुआ) आकाश---श्रोत्र है यहाँ 'कर्णशष्कुलि' उपाधि है। 'रूप' घट से सम्बन्ध रहने के कारण विशेषण है, परन्तु आकाश कर्णशष्कुलि से सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि निरवयव आकाश और सावयव कर्णशष्कुलि दोनों के सम्बन्ध का सम्भव नहीं है। इसलिए 'कर्णशष्कुलि' उपाधि है, विशेषण नहीं। घट जैसा रूप से विशिष्ट रहता है वैसे कर्णछिद्र कान से विशिष्ट नहीं है। मूल में 'कार्यान्वयी' और 'कार्यानन्वयी' शब्द हैं। इसमें से 'कार्य' पद का अर्थ अवच्छेद्य (अन्वय योग्य) है। अवच्छेद्य से सम्बन्ध होने योग्य---घटादि पदार्थ। 'रूपविशिष्ट घट' यहाँ 'रूप' को 'घट' पदार्थ से अन्वयित्व, व्यावर्तकत्व और वर्तमानत्व होने से विशेषणत्व है। और 'कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश' यहाँ कर्णशष्कुलि पद को कार्य से अनन्वयित्व, व्यावर्तकत्व और वर्तमानत्व होने से उपाधित्व है। वेदान्ती के इस उपाधि को ही नैयायिक परिचायक कहते हैं। यह कह कर उपाधि पदार्थ, अन्यान्य शास्त्रों में भी प्रसिद्ध है यह सूचित किया है। अब जीव-साक्षी के प्रसंग में अन्तःकरण में उपाधित्व कैसे बनता है, उसे कहते हैं---

प्रकृते[1] चान्तःकरणस्य जडतया विषयभासकत्वायोगेन विषय-

---

१. जीवपक्षे अन्तःकरणं विशेषणम्, साक्षिपक्षे तु उपाधिः, अत्र किं कारणम् ? शुद्धचैतन्यं निर्विकारं भवति, चेतनानधिष्ठितं केवलमन्तःकरणं जडं भवति, तस्मात् कर्तृत्वलक्षणजीवत्वान्वयासम्भवेऽपि अन्योन्य-तादात्म्यापन्नयोस्तयोः जीवत्वान्वये बाधकाभावात् अन्तःकरणस्य स्वान्वितचैतन्यांशे विधेयेन जीवत्वेन अन्वयाद् वर्तमानत्वाद् व्यावर्तकत्वाच्च विशेषणत्वं युक्तम्। किन्तु साक्षिपक्षे अन्तःकरणस्य विशेषणत्वं नैव युक्तम्। विषयाव-

भासक-चैतन्योपाधित्वम् । अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना । एकत्वे मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसंगः ।

अर्थ—प्रकृत प्रसंग में अन्तःकरण के जड़ होने से उसमें विषयावभासकत्व नहीं बन पाता, इसलिए उसे (अन्तःकरण में) विषयावभासक-चैतन्य का उपाधित्व है। यह जीवसाक्षिचैतन्य, प्रत्येक आत्मा में भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक प्रमाता का साक्षि-चैतन्य यदि भिन्न-भिन्न न माना जाय (समस्त जीवों में साक्षिचैतन्य एक ही है) तो मैत्र को अवगत हुए अर्थ का चैत्र को भी अनुसन्धान होने लगेगा।

विवरण—शंका—कर्णशष्कुली को उपाधि कहना तो उचित है परन्तु अन्तःकरण को जीवसाक्षिचैतन्योपाधित्व कहना प्रयोजनशून्य (व्यर्थ) है। कारण यह है कि प्रमाता ने (अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य = जीव ने) विषय प्रकाशनार्थ अपने साक्षी की यदि अपेक्षा की होती तो उसे साक्षिचैतन्य का उपाधि मानना योग्य हुआ होता। परन्तु प्रमाता विषय-प्रकाशनार्थं स्वसाक्षी की अपेक्षा ही नहीं रखता। वह साक्षी की सहायता के विना चक्षुरादि इन्द्रियजन्य–वृत्त्यवच्छिन्न–चैतन्य से ही विषय को प्रकाशित कर लेगा।

समाधान—ऐसी शंका करना उचित नहीं। क्योंकि 'अन्तःकरण' अविद्या का कार्य होने से जड़ है। इसलिए वह विषय को प्रकाशित करने में असमर्थ है। क्षण-प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली वृत्तियों के अनेक होने के कारण, उन वृत्तियों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य भी अनेक हैं। उस कारण अनेकसंख्यक हुई वृत्तियों को समस्त विषयों का अनुसन्धातृत्व सम्भव नहीं। (क्षण-प्रतिक्षण उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाली वृत्तियाँ सम्पूर्ण विषयों का अनुसंधान करने में समर्थ नहीं हैं।) प्रमाता, अन्तःकरण से अवच्छिन्न हुआ होने से उसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान विषयों का अनुसंधान करने के लिये दूसरे के साहाय्य की अपेक्षा है। बिना सहायता लिए उसे त्रैकालिक विषयों का अनुसंधान करना शक्य नहीं है। इसलिए प्रमाता से सम्बद्ध और ब्रह्माभिन्न ऐसे साक्षी की अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये अन्तःकरण में साक्षी का उपाधित्व अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

शंका—जीवसाक्षी का ब्रह्म के साथ अभेद होने से उसमें स्वयं प्रकाशत्व है। इसलिए साक्षी में सर्वविषयानुसंधातृत्व है यह मानने पर उसमें एकत्व प्राप्त होता है। क्योंकि ब्रह्म एक है इसलिये ब्रह्माभिन्न साक्षी में भी एकत्व ही है और सब जीवों का

भासकत्वं हि साक्षित्वम् । न चान्तःकरणस्य तद्युज्यते, जडत्वाद् विकारित्वाच्च तस्य। तथा च विवरणकाराः—"सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव। तस्मात् स्वान्वित-चैतन्यांशे विधेयेन साक्षित्वेन अन्तःकरणस्य अन्वयाभावात् तस्योपाधित्वं युक्तम् ।

साक्षी एक है ऐसा मानने पर एक जीव से अनुभूयमान विषय का अनुसंधान दूसरे को भी होने लगेगा। इस शंका का निरसन करने के लिये ग्रंथकार कहते हैं—प्रत्येक जीवात्मा का यह साक्षिचैतन्य भिन्न-भिन्न है, क्योंकि उसे एक मानने पर, मैत्र को ज्ञात हुए विषय का अनुसंधान (स्मरण) चैत्रादि अन्य व्यक्तियों को भी होने लगेगा। परन्तु ऐसी अनवस्था न हो इसलिये हमने अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद के कारण जीवसाक्षी में नानात्व स्वीकार किया है। अतः उपर्युक्त दोष नहीं आता। इस तरह जीवसाक्षी का निरूपण कर अब ईश्वरसाक्षी का निरूपण करते हैं—

ईश्वरसाक्षि तु [1]मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूत[2]मायाया एकत्वात्। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनस्य मायागत-शक्तिविशेषाभिप्राय[3]तया माया-गतसत्त्वरजस्तमो[4]रूपगुणाभिप्राय[5]तया वोप[6]पत्तेः ॥

अर्थ—परन्तु इसके विपरीत मायोपहितचैतन्य ही ईश्वरसाक्षिचैतन्य है। और वह एक है। क्योंकि उस चैतन्य की उपाधिभूत माया एक है। 'इन्द्र (परमेश्वर) माया के कारण बहुरूपत्व को प्राप्त होता है।।' आदि श्रुति में 'मायाभिः' इस बहुवचन का आशय 'माया के शक्ति-विशेष से' है। अर्थात् 'मायाभिः'—मायाओं से—इस प्रयुक्त बहुवचन का अभिप्राय एक महामाया की असंख्य विचित्र अवान्तरण शक्तियाँ— होने से मुख्य माया के एकत्व के साथ विरोध नहीं है। अथवा मायागत सत्त्व, रज, तम— इन तीनों गुणों के अभिप्राय से वह बहुवचन है—इस प्रकार उस बहुवचन की उपपत्ति लगानी चाहिये।

विवरण—पहले जीवसाक्षी का निरूपण करते समय अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्य 'जीव' और अन्तःकरणोपहित-चैतन्य 'जीवसाक्षि' बताया गया है। अब ईश्वर और ईश्वरसाक्षिचैतन्य को बताने के लिए 'मायोपहित-चैतन्य' ही ईश्वरसाक्षिचैतन्य है (माया-

१. मायोपहितमविद्योपहितम्। मायाऽविद्यायोरभेद इति विवरणसिद्धान्तः। माया-विद्ययोर्भेदपक्षे तु मायोपहितमिति विशुद्धसत्त्वप्रधानोपहितमित्यर्थः। विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, मलिनसत्त्वप्रधानात्वविद्येति तयोर्भेदः। तथा च पञ्चदशीकाराः—"तमोरजः-सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा। सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।"

२. ताया—इति पाठान्तरम्।

३. यक—इति पाठान्तरम्।

४. मोगुणा—इति पाठान्तरम्।

५. यक—इति पाठान्तरम्।

६. चोप—इति पाठान्तरम्।

वच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वरचैतन्य है) यहाँ बताया है। इस बात को स्वयं ग्रंथकार आगे कहेंगे ही। परन्तु जीवसाक्षिचैतन्य की तरह ईश्वरसाक्षिचैतन्य भी क्या अनेक है ? उत्तर—नहीं। यह ईश्वरसाक्षिचैतन्य एक है, क्योंकि उस साक्षिचैतन्य की उपाधिरूप माया एक है। माया के एक होने से मायोपहित चैतन्य भी एक है और प्रत्येक जीव-चैतन्य का अन्तःकरण भिन्न होने से अन्तःकरणोपहित चैतन्य भी भिन्न (अनेक) हैं। इस प्रकार इन दो साक्षिचैतन्यों में विशेष (अन्तर) है, उसी को सूचित करने के लिये मूल में 'ईश्वरसाक्षि तु' वाक्य में 'तु' शब्द का उपयोग किया है। अनादि, अनिर्वाच्य, विपर्यय की उपादान और विक्षेपप्रधान ईश्वरशक्ति ही माया है—इस प्रकार माया का लक्षण किया गया है।

शंका—माया को एक कहने पर वृहदारण्यक के—'परमेश्वर, मायाओं के योग से अनेक रूप को प्राप्त हुआ है'—श्रुतिवचन से विरोध होता है। इस पर ग्रंथकार धर्म-राजाध्वरीन्द्र कहते हैं—'निष्प्रतिबन्ध ऐश्वर्य से युक्त हुआ परमात्मा मायाओं के योग से अनेकाकार प्रतीत होता है।' इस वाक्य में 'मायाभिः' (यह) वहुवचन का प्रयोग, मायागत शक्तिविशेषों के अभिप्राय से किया गया है। मुख्य माया में जो असंख्य विचित्र शक्तियाँ हैं वे ही शक्तिविशेष हैं। अग्नि प्रभृति पदार्थों में दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि कार्यों को देखकर तत्तद् शक्तियाँ तत्तत् पदार्थों में जैसी कल्पित की जाती हैं, उसी तरह जगद्रूप विचित्र कार्यों के देखने से तत्तत् असंख्य कार्यों की शक्तियाँ माया में कल्पित करनी पड़ती हैं। उन्हीं को शक्तिविशेष अथवा अवान्तर शक्ति कहते हैं। इन असंख्य शक्तिविशेषों के अभिप्राय से 'मायाभिः' (ऐसा) श्रुति में कहा है। मूल माया के अभिप्राय से नहीं। अथवा सत्त्व, रज, और तम—इन तीन गुणों की साम्यावस्था को माया (प्रकृति) कहते हैं। उन तीन गुणों के अभिप्राय से श्रुति में 'मायाभिः' वहुवचन का उपयोग किया है। भाव यह है कि ईश्वरसाक्षि की उपाधिभूत माया एक है। वह जीवसाक्षी के उपाधिभूत अन्तःकरण की तरह नाना नहीं है।

शंका—'मायाभिः' यह बहुवचनान्त प्रयोग श्रुति के करते हुए 'माया का बहुत्व' इस मुख्यार्थ को छोड़कर अमुख्य अर्थ का ग्रहण क्यों किया जाता है। (अवान्तर विशेषों की अथवा गुणों के वहुत्व की कल्पना करके 'मायाभिः' इस बहुवचन की व्यवस्था क्यों लगाई जा रही है) 'मायां तु०' आदि ग्रंथ से समाधान किया जाता है—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' श्वे० ४।१०।
'[1]अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजास्सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' श्वे० ४।५।

१. अत्र 'तरत्यविद्या'मिति क्वचित् पाठः।

'[1]तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते। योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥ १ ॥' इत्यादिश्रुति-स्मृतिषु एकवचन-बलेन लाघवानगृहीतेन मायाया एकत्वं निश्चीयते। ततश्च तदुपहितं चैतन्यम् ईश्वरसाक्षि। तच्चानादिः, तदुपाधेर्मायाया अनादित्वात् ॥

अर्थ—'तु' चिद्रूप महेश्वर से विलक्षण जडभूत 'मायाम्' ईश्वर शक्ति (माया) 'प्रकृतिम्' प्रकृति हैं और 'तु' उस माया से विलक्षण (चिद्रूप) 'मायावी' माया शक्तिमान् चिद्रूप आत्मा–महेश्वर है 'विद्यात्' समझना चाहिये। (श्वे० उ० ४।१०)।

अजा—उत्पन्न न होनेवाली, एक, लोहित, शुक्ल, कृष्ण रूप (तेज, अप्, अन्नात्मक) 'सरूपाः बह्वीः प्रजाः सृजमानां' अपने आकार की विविध प्रजा को पैदा करनेवाली, अजा (अविद्यात्मक प्रकृति) का, 'एकः अजः हि जुषमाणः अनुशेते' एक, अज (अनादि), अविद्यात्मक वासनाओं से वद्ध हुआ जीवात्मा सेवन करता रहता है, और दूसरा अज (ईश्वर) भुक्त भोगा (जिसका भोग लिया गया है) प्रकृति को छोड़ता है। अविद्यावान् जीवात्मा की तरह विद्यावान् ईश्वर उसके तादात्म्य को प्राप्त नहीं होता। (श्वे. उ. ४।५)। 'यस्मिन् परात्मनि हृदि निवेशिते सति' जिस परमात्मा की हृदय में स्थिर स्थापना करने पर (वृत्त्यारूढ = वृत्तिविषय करने पर 'योगी विततां अविद्यां तरति' योगी कार्यरूप से विस्तार को प्राप्त हुई अविद्या (माया) को तर जाता है। 'तस्मै अमेयाय विद्यात्मने नमः' उस अप्रमेय (प्रमाणों के विषय न होनेवाले) विद्यात्मा को प्रणाम। इत्यादि श्रुति-स्मृतिगत लाघव से उपकृत हुए एकवचन के बल से माया के एकत्व का निश्चय किया जाता है। इस कारण मायोपहितचैतन्य 'ईश्वरसाक्षि' है और वह अनादि है। क्योंकि उसकी उपाधिरूप माया का अनादित्व है।

विवरण—प्रथम श्रुतिवचन में 'मायाम्' ऐसा एकवचन जाति के अभिप्राय से है ऐसा कोई कदाचित् कह दे, इसलिये प्रत्यक्ष 'एकाम्' इस एकत्वबोधक शब्दावली की एक दूसरी 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति का निर्देश किया है। इसके देखने से 'मायाम्' एकवचन जाति के अभिप्राय से उपयुक्त किया है यह कहने का अवकाश नहीं मिलता। तथापि माया का एकत्व श्रुतितात्पर्य से सिद्ध है–आपने कैसे जाना ? क्योंकि श्रुति का तात्पर्य अमुक अर्थ में ही है—ऐसा निश्चय करना वहुत कठिन है। ऐसा कदाचित् कोई कह दे इसलिये स्मृतिकार के वचन का अनुसरण कर हम श्रुतितात्पर्य का निश्चय करते हैं। इस आशय से 'तरत्यविद्याम्' आदि पराशरस्मृति का उल्लेख किया है। 'योगी जिस परमात्मा को वृत्त्यारूढ करके (वृत्ति का विषय करके) अविद्याख्य माया का

१. अत्र 'अजामेका'मिति क्वचित् पाठः।
२. 'तिष्वेकव०' इति पाठान्तरम्।

उल्लंघन करता है उस ज्ञानस्वरूप अमेय (वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्य का विषय न होनेवाले) परमात्मा को प्राप्त हो। उसी अविद्यामें 'वितताम्' (प्रपंच के आकार में परिणत होने से सर्वत्र व्याप्त हुई) विशेषण दिया है।

शंका—परमेश्वर की हृदय में स्थापना करने से अविद्या की निवृत्ति होने पर भी अनर्थ की निवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि सर्वअनर्थभूत माया तो अवशिष्ट ही रहती है। अतः अविद्या की निवृत्ति से माया की निवृत्ति नहीं हो सकती।

उत्तर—परमेश्वर की शक्तिरूप माया और अविद्या एक ही है। इसी आशय से मूल में 'अविद्यां माया' कहा है। अविद्या अपने आश्रय (जीव) को मोहित करती है किन्तु माया अपने आश्रय (ईश्वर) को मोहित नहीं करती, इस प्रकार उनमें भेद होने पर भी वस्तुतः उसमें भेद नहीं है। अर्थात् अविद्या और माया पृथक् पदार्थ नहीं है।

शंका—स्मृति में भी जाति के अर्थ में एकवचन और 'अजामेकाम्' यहां 'एक' शब्द अमुख्य अर्थ में कह सकते हैं। ऐसी स्थिति में श्रुतिस्मृति से एकत्व का निश्चय कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर—श्रुतिस्मृति में एकवचन, लाघव से अनुगृहीत है। 'मयाभिः' इस बहुवचन से परमेश्वर की अनेक मायाओं की कल्पना करने की अपेक्षा एक ही माया-शक्ति की कल्पना करने में लाघव है, इस लाघव से अनुगृहीत श्रुतिस्मृति के एक वचन से माया का एकत्व निश्चित होता है। मूलस्थ 'इत्यादि, पदसे 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' (का. १, २, ५) 'मम माया दुरत्यया' (गी. ७, १४) आदि श्रुति-स्मृति वचनों को समझना चाहिये। जैसे उपाधिभूत माया के एक होने से ईश्वरसाक्षिचैतन्य एक है, वैसे ही उसके अनादि होने से वह अनादि भी है। अब ईश्वरसाक्षिज्ञान को ईश्वर के स्वरूपज्ञान की अपेक्षा होने से उसका स्वरूप बताते हैं—

मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः, मायाया विशेषणत्वे ईश्वरत्वम्, उपाधित्वे साक्षित्वमिति ईश्वरत्व-साक्षित्वयोर्भेदः, न तु धर्मिणोरीश्वर[१]-तत्साक्षिणोः[२] ।

स च परमेश्वर एकोपि [३]स्वोपाधिभूत-माया-निष्ठ-सत्त्व-रजस्त

१. 'रसाक्षि०' इति पाठान्तरम्।

२. णोर्भेदः—इति पाठान्तरम्।

३. 'स्वोपाधिभूत-माया-निष्ठ-सत्त्वरजस्तमोगुणाभेदेन'—परमेश्वरचैतन्योपाधिभूता या माया, तद्घटका ये सत्त्वरजस्तमोगुणाः तेषां भेदेन। एवञ्च एकमेवेश्वरचैतन्यं यदा सत्त्वप्रधानमायावच्छिन्नं भवति, तदा विष्णुनाम्ना, यदा च रजः प्रधानमायावच्छिन्नं, तदा तदेव ब्रह्मनाम्ना, यदा च तमःप्रधानमायावच्छिन्नं, तदा तदेव महेश्वरनाम्ना

अर्थ—मायावच्छिन्न चैतन्य ही परमेश्वर है। माया जब चैतन्य में विशेषण हो तब उस चैतन्य में ईश्वरत्व होता है और माया जब उसमें उपाधि हो तब उस चैतन्य में साक्षित्व होता है। अर्थात् मायाविशिष्ट-चैतन्य को ईश्वरत्व और मायोपहित चैतन्य को ईश्वरसाक्षित्व, इस प्रकार ईश्वरत्व और ईश्वरसाक्षित्व में भेद है। परन्तु ईश्वर और उसके साक्षी इन धर्मियों में भेद नहीं। और उस ईश्वर के वस्तुतः एक होने पर भी उसकी उपाधिभूत माया में रहनेवाले सत्त्व, रज और तम इन गुणों के भेद से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि शब्दों की वाच्यता (अर्थ) को वह (ईश्वर) पाता है।

विवरण—अन्त.करणविशिष्ट चैतन्य—जीव, और अन्तःकरणोपहित चैतन्य–जीवसाक्षी इस पूर्वोक्त भेद के समान ही यहाँ भी माया के विशेषणत्व और उपाधित्व के कारण ईश्वरत्व और ईश्वरसाक्षित्व का भेद है। जैसे जो पाचक (स्वयं पाक करने-वाला) हो, वही पाठक (पाठ करनेवाला) जब रहता है, तब पाचक व्यक्ति से पाठक व्यक्ति भिन्न नहीं होता, परन्तु उस व्यक्ति में रहनेवाले 'पाचकत्व और पाठकत्व' (ये) धर्म भिन्न होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। उसी तरह ईश्वर और उसका साक्षी इन धर्मियों का भेद नहीं, अपितु ईश्वरसाक्षित्व इन धर्मों का भेद है।

शंका—माया के एकत्व के कारण ईश्वरसाक्षी में जैसे एकत्व है, उसी तरह मायावच्छिन्न (मायाविशिष्ट) चैतन्य (ईश्वर) में भी एकत्व अवश्य होना ही चाहिये। ऐसा होते हुए उसका ब्रह्मादि रूप से भेद कैसे स्वीकार किया गया है ? उसी तरह वह ब्रह्मादिभेद, विशेषण-भेद मूलक होने से और उस विशेषणभेद की उपाधि माया के होने से तदुपहित चैतन्य में भी एकत्व होना उचित है। ऐसी स्थिति में उसे अनेकत्व कैसे ? इस शंका का उत्तर 'स च' इत्यादि ग्रन्थ से दिया गया है, जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—जिस प्रकार 'माया' रूप उपाधि (विशेषण) के सत्त्वादि गुणों के अभिप्राय से अनेकत्व का व्यपदेश होता है, उसी तरह उसके गुणों के अवच्छेद से ईश्वर का भेद होता है, वास्तव में नहीं। ऐसा होने से मायावच्छिन्न ईश्वरचैतन्य ही उद्भूत सत्त्व-गुणवाली माया से अवच्छिन्न होने पर पालन करनेवाला नारायण, विष्ण

व्यवह्रियते। गुणत्रयकार्यविशेषनिबन्धनोऽयमीश्वरस्य रूपभेदः, न स्वरूपभेदनिबन्धनः। तथा च मैत्रेयोपनिषदि—'अथ यो ही खलु वाऽस्य राजसोंऽशोऽसौ स योऽयं ब्रह्मा। अत्र यो ह खलु वाऽस्य तामसोंऽशो स योऽयं रुद्रः। अथ यो ह खलु वाऽस्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स योऽयं विष्णुरिति" तथा विष्णुपुराणेऽपि—"सर्गस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिकाम्। स संज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दनः॥" इति।

१. रादि-इति पाठान्तरम्।

२. भजते-इति पाठान्तरम्।

इत्यादि शब्दों का वाच्य (अर्थ) होता है। वह ही मायाविशिष्ट चैतन्य, उद्भूत रजोगुणवाली माया से अवच्छिन्न होने पर स्रष्टा, ब्रह्मा, विधाता आदि शब्दों का वाच्य होता है। और वह ही ईश्वरचैतन्य उद्भूत-तमोगुणवाली माया से अवच्छिन्न होने पर संहर्ता, महेश्वर, रुद्र आदि संज्ञाओं को पाता है। मैत्रेयोपनिषद् में ऐसा वर्णन मिलता है—"अथ यो ह खलु वास्य राजसोंऽशः असौ स योऽयं ब्रह्मा, अथ यो ह खलु वास्य तामसोंऽशः असौ स योऽयं रुद्रः, अथ यो ह खलु वास्य सात्त्विकोंऽशः असौ स योऽयं विष्णु" ईश्वर के राजस अंश का नाम ब्रह्मा, तामस अंश का नाम रुद्र, और सात्त्विक अंश का नाम विष्णु है। त्रिगुणमायावच्छिन्न चैतन्य ही विष्णु, महेश, गणेश, दिनेश, दुर्गा रूपों से उपास्य होता है, क्योंकि उन उपास्यों का निरंकुश (निष्प्रतिबन्ध) ऐश्वर्य कहीं श्रुत नहीं।

ईश्वर के सादित्व में शंका—

नन्वीश्वर-साक्षिणोऽनादित्वे तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय, छा० ६।२।१ इत्यादिना सृष्टिपूर्वसमये परमेश्वरस्यागन्तुकमीक्षणमुच्यमानं कथमुपपद्यते ?

अर्थ—ईश्वरसाक्षिचैतन्य यदि अनादि होता तो उसने 'मैं बहुत होऊँ, प्रजा के रूप में उत्पन्न होऊँ' (छां. उ. ६, २, ३) आदि वाक्य से सृष्टि के पूर्व परमेश्वर का आगन्तुक ईक्षण बताया है, वह कैसे उपपन्न होगा ?

विवरण—ईश्वरसाक्षी–ईक्षण में सृष्टिपूर्वकालीनत्व है, ऐसा कहा हुआ होने से उसे (ईश्वरसाक्षीचैतन्य को) अनादि नहीं मान सकते। क्योंकि 'कालिक अवधि से रहित रहना' ही अनादित्व है। जिसमें काल की अवधि रहती है वह अनादि नहीं होता। ईक्षण में सृष्टि का पूर्वकाल रूप अवधि है। इसलिये उसमें अनादित्व नहीं है। किन्तु ईक्षण में सृष्टिपूर्वकालिकत्व होने से सादित्व है। यह सिद्ध होनेपर तद्विशिष्ट ईश्वर में भी सादित्व मानना पड़ता है ('तदैक्षत०' इत्यादि श्रुति, ईक्षण में सृष्टिपूर्वकालीनत्व का प्रतिपादन करती है) अतः ईश्वर साक्षी के ईक्षण में अनादित्व बाधित होता है, और उनके बाधित होनेपर तद्विशिष्ट ईश्वर में भी अनादित्व बाधित होता है।

इस शंका का समाधान 'उच्यते' इत्यादि ग्रन्थ से करते हैं—

उच्यते। यथा विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षादि-[1]कारणवशेन जीवो-

---

१. 'सन्निकर्षादि०' अत्रादिशब्देन व्याप्तिज्ञानादिपरिग्रहः। जीवोपाध्यन्तःकरणस्य जीवचैतन्ये विशेषणीभूतस्य अन्तःकरणस्य। अन्तःकरणस्य उपाधित्वदशायामन्तःकरणवृत्त्यभावः।

पाध्यन्तःकरणस्य वृत्तिभेदा जायन्ते, तथा सृज्यमान-प्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूत-मायाया वृत्तिविशेषा 'इदमिदानीं स्रष्टव्यमिदमिदानीं पालयितव्यमिदमिदानीं संहर्तव्य'मित्याद्याकारा जायन्ते। तासां च वृत्तीनां सादित्वात्तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि सादीत्युच्यते। एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम्। प्रत्यक्षत्वं च ज्ञेयगतं ज्ञप्तिगतं [1]चेति निरूपितम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका का समाधान बताया जाता है—जैसे-विषयेन्द्रियसन्निकर्षादि कारणों से जीव के उपाधिरूप अन्तःकरण के वृत्तिविशेष (अनेक विषयाकार वृत्तियाँ) माने जाते हैं, वैसे ही जिन्हें उत्पन्न करना है उन प्राणियों के कर्मवशात् परमेश्वरोपाधि-भूत माया के वृत्तिविशेष (यह अब स्रष्टव्य = उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न करने योग्य है, यह अब पालन करने योग्य है, यह अब संहार करने योग्य है—इत्यादि आकारों के वृत्तिविशेष) उत्पन्न होते हैं। उन वृत्तियों में सादित्व (वे वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं इस कारण) होने से, उनमें (वृत्तियों में) प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य भी सादि (उत्पन्न) कहा जाता है। इस प्रकार साक्षी की द्विविधता से प्रत्यक्ष ज्ञान की भी द्विविधता है। इस कारण प्रत्यक्षत्व के (प्रत्यक्ष के) ज्ञेयगत और ज्ञप्तिगत भेद से दो प्रकार बताये गये हैं।

विवरण—जैसे चैतन्य को अभिव्यक्त करनेवाली अन्तःकरण वृत्ति के सादि[2] होनेसे उसमें प्रतिबिम्बित हुए जीवसाक्षिरूप ज्ञान में भी सादित्व है, वैसे ही ईक्षणादिकों को अभिव्यक्त करनेवाली मायावृत्ति में भी सादित्व होने से उसमें प्रतिबिम्बित हुए ईश्वर-साक्षिचैतन्य (इक्षणादि ज्ञानस्वरूप) में भी सादित्व है। तथापि उनमें स्वरूपतः अनादित्व ही है (साक्षिचैतन्य में उपाधि के कारण पैदा होनेवाला सादित्व स्वाभाविक न होकर औपाधिक है) वृत्तिरूप उपाधि के कारण वह सादि-सा (उत्पन्न-सा) भासता है। उस औपाधिक सादित्व से चैतन्य का स्वाभाविक अनादित्व बाधित नहीं हो सकता।

इस प्रकार साक्षी की द्विविधता का प्रतिपादन किया। इस कारण तत्तद्वृत्तियों

परमेश्वरोपाधिभूतमायायाः = परमेश्वरचैतन्ये विशेषणीभूतमायाया उपाधिभूत-मायायाश्चेति।

१. च निरू० इति पाठान्तरम्।

२. विशिष्टस्य विशेष्य-विशेषणोभयानतिरिक्तत्वात् विशेषणीभूताया मायावृत्तः सादित्वात् विशिष्टस्य तद्वृत्त्यभिव्यक्त-चैतन्यस्यापि सादित्वम्।

में अनुवृत्त हुए साक्षी का ज्ञानत्व होने से प्रत्यक्ष ज्ञान की भी द्विविधता है, एक ईश्वर-साक्षिजन्य और दूसरा जीवसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष। परन्तु दीपिकाकार कहते हैं—'जीव-साक्षिजन्य और ईश्वरसाक्षिजन्य कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'ज्ञप्तिगत प्रत्यक्ष चित्त्व ही है' इस उत्तर ग्रन्थ से विरोध होगा।

अब उसी में कुछ विशेष कहने के लिए 'एवं साक्षिद्वैविध्येन०' ग्रन्थ से ज्ञेयगत और ज्ञप्तिगत-प्रत्यक्षत्व के निरूपण का अनुवाद किया गया है।

अब उस विशेष को बताते हैं—

तत्र ज्ञप्तिगत-प्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षण चित्त्वमेव। पर्वतो वह्निमानित्यादावपि वह्न्याद्याकार-वृत्त्युपहित-चैतन्यस्य स्वात्मांशे स्वप्रकाशतया प्रत्यक्षत्वात्। तत्तद्विषयांश[1]प्रत्यक्षत्वं तु पूर्वोक्तमेव। तस्य च भ्रान्तिरूप-प्रत्यक्षे नातिव्याप्तिः, भ्रमःप्रमासाधारण-प्रत्यक्ष[2]त्वसामान्य-निर्वचनेन तस्यापि लक्ष्यत्वात्।

अर्थ—उनमें से ज्ञप्तिगत—प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण 'चित्त्व' ही है। 'पर्वत वह्निमान् है' आदि अनुमिति-ज्ञानों में भी वह्न्याद्याकारवृत्ति से उपहित (युक्त) चैतन्य को 'चित्' अंश में प्रत्यक्षत्व है, क्योंकि उसमें स्वप्रकाशत्व है और स्वप्रकाशत्व के कारण विषयाकारवृत्त्युपहित-चैतन्य को स्वांश में प्रत्यक्षत्व है, इसलिये 'चित्त्व' रूप प्रत्यक्षत्व लक्षण की अनुमित्यादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति बताना उचित नहीं है। क्योंकि अनुमित्यादि ज्ञान भी यहाँ लक्ष्य है, अलक्ष्य नहीं। तत्तद् विषय के अंश का 'प्रत्यक्षत्व तो पहले ही कह दिया है (ज्ञेयगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण पहले सविस्तर कह ही चुके हैं) उस लक्षण की भ्रान्तिरूप प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि भ्रम (मिथ्याज्ञान) और प्रमा (सम्यक् ज्ञान) इन दोनों ज्ञानों के लिये साधारण ऐसे प्रत्यक्षत्व सामान्य के निर्वचन से भ्रमज्ञान भी लक्षण कोटि में आ जाता है, अतः अलक्ष्य में लक्षणगमनरूप अतिव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—'तत्रेति' ज्ञेयगत और ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व में से ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का सामान्य-लक्षण 'चित्त्व' ही है, यह सुनकर वादी कहता है—ज्ञप्तिगत-प्रत्यक्षत्व का 'चित्त्व' रूप लक्षण अनुमिति, उपमिति, आदि (प्रत्यक्ष प्रमा से भिन्न) प्रमाओं में अतिव्याप्त होता है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमा के समान उनमें भी चित्त्व है, परन्तु अनुमिति आदि प्रमाएँ इसका लक्ष्य तो नहीं हैं केवल प्रत्यक्ष हैं, इस कारण चित्त्वरूप-प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण अलक्ष्यभूत (जो लक्ष्य नहीं है) अनुमिति आदि प्रमाओं में भी रहने से

१. यांशे—इति पाठान्तरम्।
२. क्षसाः—इति पाठान्तरम्।

अतिव्याप्त होता है। इस आशंका समाधान 'पर्वतो वह्निमान्' आदि ग्रन्थ से करते हैं। सभी ज्ञानों में अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान्' आदि अनुमित्यादि सभी प्रमाओं में तत्तद्-विषयाकार वृत्ति से उपहित चैतन्य को चैतन्यांश में प्रत्यक्षत्व है, क्योंकि 'यत्साक्षात् अपरोक्षात् (अपरोक्षं) ब्रह्म' इस श्रुति ने चित्त्व का ही प्रत्यक्षत्व (अपरोक्षत्व) बताया है, और चिद्रूप ज्ञान, स्वप्रकाश है। इसलिए सभी ज्ञानों को ज्ञान अंश में प्रत्यक्षत्व ही है। इससे ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का 'चित्त्व' रूप लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो पाता, क्योंकि चैतन्य सर्वदा प्रत्यक्ष ही रहता है।

शंका—चैतन्य, स्वप्रकाशत्व के कारण यदि प्रत्यक्ष है और उसके प्रत्यक्ष होने से समस्त ज्ञानों को यदि प्रत्यक्षत्व है तो अनुमिति उपमिति, आदि प्रमाओं में प्रत्यक्षत्व का व्यवहार क्यों नहीं होता ? (अनुमिति, उपमिति, शाब्द आदि ज्ञानों को 'प्रत्यक्ष' क्यों नहीं कहा जाता)।

इस शंका का समाधान 'तत्तद्विषयांश०' आदि ग्रन्थ से किया गया है। अनुमिति आदि ज्ञानों में विषयांशनिरूपित प्रत्यक्षत्व का पूर्वोक्त प्रयोजक नहीं है। इसलिए उन्हें प्रत्यक्षशब्द से नहीं कहा जाता। हमने पहले बताया है कि विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक 'प्रत्यक्ष योग्य विषय के आकार की जो जो अन्तःकरण वृति, उससे उपहित जो प्रमातृचैतन्य की सत्ता, उससे विषय की सत्ता का पृथक् न रहना' (विषयाकार वृत्त्युपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता का पृथक् न रहना) ही विषयगत (प्रमेयगत) प्रत्यक्षत्व है। अर्थात् अनुमिति प्रभृति ज्ञानों में इसके (प्रत्यक्षत्व-प्रयोजक के) न होने से अनुमित्यादि प्रमाओं को 'प्रत्यक्षप्रमा' शब्द से नहीं कहा जाता। 'चित्त्व' (स्वप्रकाशत्व) रूप ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण प्रत्यक्षादि सब प्रमाओं में है। परन्तु ज्ञेयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक प्रत्यक्षादि सब प्रमाओं में भिन्न-भिन्न है। इसलिए प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाओं में प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार नहीं होता। अर्थात् विषय के भेद से प्रत्यक्षादि प्रमाओं में भेद होता है।

शंका—शुक्तिरूप्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान में योग्य विषयाकार वृत्युपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से भ्रामक शुक्तिरूप्यादि विषयों की सत्ता भिन्न नहीं होती, इसलिए शुक्तिरूप्यादि-भ्रान्त ज्ञान में 'चित्व'-रूप ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

समाधान—'तस्य च' ग्रन्थ से समाधान किया गया हैं। 'चित्त्व' (स्वप्रकाशत्व) रूप लक्षण की भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि भ्रमज्ञान की भी स्वांश (ज्ञान) में प्रत्यक्षता सिद्ध है, अतः भ्रमज्ञान में भी ज्ञाप्तिगत सामान्य लक्षण की लक्ष्यता रहने से अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अलक्ष्य में लक्षण का घटित होना अतिव्याप्ति कहलाती है। भ्रमज्ञान तो ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व लक्षण (चित्त्व) का अलक्ष्य न होकर लक्ष्य ', इसलिए 'चित्त्व' लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। भ्रमज्ञान (अप्रमाज्ञान) और प्रमाज्ञान (सम्यग्ज्ञान) इन द्विविधज्ञानों का साधारण लक्षण (ज्ञप्तिगत

प्रत्यक्षत्व का चित्त्वरूप सामान्य लक्षण) बताया है। उस सामान्य लक्षण का लक्ष्य भ्रमज्ञान भी है। ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व के विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति का निरसन आगे किया जायगा।

शंका—प्रत्यक्ष-प्रमाण का निरूपण करते समय (प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकरण में) भ्रमज्ञान और प्रमाज्ञान (सम्यग्ज्ञान) दोनों के लिए साधारण (प्रत्यक्षत्व के) लक्षण का कहना (सामान्य लक्षण का निरूपण करना) योग्य नहीं है।

इस शंका का निरसन 'यदा तु०' ग्रन्थ से करते हैं—

यदा तु प्रत्यक्षप्रमाया एव लक्षणं वक्तव्यं, तदा पूर्वोक्तलक्षणेऽबाधितत्वं विषयविशेषणं देयम्[1]। शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्य संसारकालीनबाधविषय-प्रातिभासिक-रजतादि-विषयकत्वेनोक्तलक्षणाभावान्नातिव्याप्तिः ॥

अर्थ—अब आप यदि "प्रत्यक्ष प्रमा का ही लक्षण बताने के लिये कहें" तो पूर्वोक्त लक्षणगत 'विषय' में 'अबाधितत्व' विशेषण जोड़ दीजिये। जिससे प्रमा के लक्षण की भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि शुक्तिरूप्यादि भ्रम में, संसारकालीन-बाध-विषय-प्रातिभासिकरजतादिविषयकत्व के होने से उसमें उक्त लक्षण का अभाव है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होने पाती।

विवरण—जब कि प्रत्यक्षप्रमाण का निरूपण चल रहा है तो ज्ञेयगत यथार्थ प्रत्यक्ष का ही 'विशेष लक्षण' बताना योग्य है। भ्रमज्ञान और प्रमाज्ञान दोनों के लिये साधारण (ऐसा) प्रत्यक्षत्व-सामान्य का लक्षण बताना योग्य नहीं। यह आक्षेप यदि हो तो पूर्वोक्त ज्ञान-साधारण-लक्षणगत 'विषय' शब्द के साथ 'अबाधित' विशेषण जोड़ देना चाहिये, जिससे भ्रमज्ञान का विषय बाधित होने से उसकी निवृत्ति हो जायगी। "योग्य और अबाधित विषय की सत्ता का, विषयाकार वृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से पृथक् न होना" (ऐसा) लक्षण करने से बाधित होनेवाले शुक्तिरजतादि-विषयों की व्यावृत्ति होती है। जिससे यह लक्षण ज्ञेयगत यथार्थप्रत्यक्षत्व का हो सकता है।

शंका—'अबाधितत्व' का अर्थ 'पारमार्थिकत्व' है या केवल 'सत्त्व'। 'पारमार्थिकत्व' यदि कहें तो 'घटज्ञान' में अव्याप्ति होगी। क्योंकि वेदान्तमत में घटादि विषयों में बाधितत्व है। वेदान्त के मत में ब्रह्म से भिन्न यच्च यावत् सब मिथ्या (बाधित)

---

१. 'पूर्वोक्तलक्षणे'—विषयगत-प्रत्यक्षलक्षणे। तथा च—स्वविषयवृत्त्युपहितप्रमातृ-चैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वे सति अबाधितत्वे सति योग्यत्वं विषयगतप्रत्यक्षत्व-प्रयोजकम् इति विशेषलक्षणम्। अत्र अबाधितपदेन व्यवहारकालाऽबाध्यत्वं विवक्ष्यते।

है। किन्तु यह लक्षण, बाधित-घट में रहता नहीं। 'लक्षणका लक्ष्य के एक देश में न रहना' ही अव्याप्ति है। अब यदि 'सत्त्वमात्र' ही अबाधितत्व का अर्थ बतायें तो शुक्तिरूप्यादिभ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति वैसे ही स्थिर रहती है। वह नहीं हटेगी। क्योंकि 'केवल सत्त्व' भ्रमज्ञान में भी है। परन्तु वह ज्ञान, लक्ष्य नहीं है।

इस शङ्का का निरसन 'शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्य० ग्रन्थ से किया है। शुक्ति–रूप्यादि-भ्रमज्ञान का विषय प्रातिभासिक रजत है। वह (शुक्ति में भासित होने वाला वह रजत) संसारकालीन बाध का विषय होता है (व्यवहार काल में शुक्ति का ज्ञान होने पर उसका बाध होता है)। इसलिये 'विषय' में 'अबाधित' विशेषण के देने से शुक्तिरूप्यादिभ्रमज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

'अबाधित' विशेषण का 'संसार दशा में व्यावहारिक सत्ता में अबाधित' (यह) अर्थ विवक्षित है। घटादि व्यावहारिक विषय व्यवहार काल में (व्यावहारिक सत्ता में) बाधित नहीं होते। वे तो पारमार्थिक सत्ता में (ब्रह्म ज्ञान होने पर) बाधित होते हैं। इसलिये घटादि ज्ञानों में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। इसलिये मूल में "व्यवहार काल में बाधित होनेवाला = बाध का विषय बनने वाला, (जो) प्राति-भासिक रजतादि (वह) भ्रमज्ञान का विषय होता है" कहा है। इससे पूर्वोक्त ज्ञेय-गत प्रत्यक्षत्व का लक्षण, भ्रान्ति ज्ञान के विषय में अतिव्याप्त नहीं होता। प्रतिभासिक का अर्थ है केवल प्रतीति काल में ही रहने वाला अनिवर्चनीय अर्थात् शुक्तिरजतज्ञान के समय अनिर्वचनीय रजतादि उत्पन्न होता है और वह शुक्तिज्ञान के होने पर बाधित होता है। इसलिए संसारकालीन-शुक्तिरजतादिज्ञान में बाधितविषयकत्व है। इसलिये वह पूर्वोक्त लक्षण का लक्ष्य नहीं बन सकता।

परन्तु इस समाधान से सन्तुष्ट न होनेवाला अन्यथा-ख्यातिवादी शंका करता है।

ननु विसंवादिप्रवृत्त्या[1] भ्रान्तिज्ञानसिद्धावपि तस्य प्रातिभासिक-तत्कालोत्पन्न रजतादि विषय[2]त्वे न प्रमाणम्, देशान्तरीय रजतस्य कलधौतस्यैव तद्विषयत्वसंभवात्।

---

१. नैयायिकः शङ्कते—भ्रमप्रत्यक्षं न तत्कालोत्पन्नरजतादिविषयकं, किन्तु देशान्त-रीय सत्यरजतादिविषयकम्। 'विसंवादिप्रवृत्त्या'—तदर्थिनः तदप्राप्तिफलकप्रवृत्त्या अर्थात् निष्फलप्रवृत्त्या। नैयायिकानां मते—ज्ञानं यदा अनुव्यवसायेन गृह्यते, तदा तेन अनुव्यवसायेन तद्गतं भ्रमत्वं प्रमात्वं वा नैव गृह्यते, तयोः परतोग्राह्यत्वात्। किन्तु तज्ज्ञानजन्यया प्रवृत्त्या तदनुमीयते। तथा च प्रयोगः—'शुक्तिरजतादिविषयकं ज्ञानं भ्रमः विसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रमा।' इत्थं विसंवादिप्रवृत्त्या ज्ञानस्य भ्रमत्वनिश्चयः।

२. विषयकत्वे—इति पाठान्तरम्।

अर्थ—शुक्ति के कारण होनेवाले रजतज्ञान में की जाने वाली प्रवृत्ति, विसंवादि (मिथ्या) सिद्ध होती है। अर्थात् 'यह चाँदी है' (ऐसा) समझ उसे लेने के लिये प्रवृत्त होने पर हाथ में सीप आती है, इस कारण 'यह चाँदी है' इत्याकारक सीप में 'रजतज्ञान' भ्रम है, प्रमा (यथार्थ ज्ञान) नहीं है। यद्यपि यह सच है तथापि उस ज्ञान का विषय प्रातिभासिक (अनिर्वचीय, प्रतीति काल में ही उत्पन्न होने वाला) रजतादि है—इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि अन्य स्थान में स्थित पूर्वसिद्ध रजत को ही तद्विषयत्व है (ऐसा) कह सकते हैं। सराफे में दूकान पर पूर्व से ही विद्यमान सत्य रजत उस शुक्तिरजतज्ञान का विषय हो सकता है।

विवरण—'यह चाँदी है' ज्ञान होने पर उसे लेने के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उस हाथ में लेते ही सत्य रजत यदि हाथ लगा तो प्रवृत्ति संवादी है—कहा जाता है। उसे हाथ में लेकर देखने से यदि ज्ञात हुआ कि यह रजत न होकर सीप या अन्य कोई पदार्थ है तो प्रवृत्ति को विसंवादी प्रवृत्ति कहते हैं। शुक्ति-रजत ज्ञान से हुई प्रवृत्ति, विसंवादी सिद्ध होती है। क्योंकि समीप पहुँचने पर दिखाई देता है कि यह रजत नहीं किन्तु 'शुक्ति' है। अतः इस विसंवादी प्रवृत्ति से शुक्तिरजतज्ञान का भ्रान्ति-ज्ञान होना सिद्ध होता है। परन्तु किसी प्रमाण के न होने से उस (भ्रम) ज्ञान का विषय, अनिर्वचनीय (उसी समय उत्पन्न हुआ =) प्रातिभासिक रजत नहीं है। (भ्रान्तिकाल में वह रजत उत्पन्न होता है इस विषय में प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नहीं है) यदि ऐसा कहें कि—'दूसरे विषय की अनुपपत्ति (असम्भव) ही अनिर्वचनीयरजत के विषय होने में प्रमाण है' तो यह अनुचित है, क्योंकि—अन्य प्रदेश (स्थान) में पहले से ही विद्यमान रजत, उस भ्रान्तिज्ञान का विषय हो सकता है।

'इति चेत्' ग्रन्थ से शंका का अनुवाद कर 'न०' आदि ग्रन्थ में उसका निरसन करते हैं—

इति चेत् न। तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्ष-विषयत्वायोगात्। [1]न च ज्ञानं तत्र प्रत्यासत्तिः, ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वे तत एव वह्न्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तावनुमानाद्युच्छेदापत्तेः।

अर्थ—'शुक्तिरजत' आदि भ्रान्तिज्ञान का विषय, 'तत्कालोत्पन्न अनिर्वचनीय रजत न होकर अन्यत्र स्थित सत्यरजत है' यदि कहें तो ठीक नहीं। क्योंकि अन्य प्रदेश में स्थित सत्य रजत, असन्निकृष्ट (दूर) रहता है। सन्निकृष्ट (समीप) न होने से ही 'यह रजत' इत्याकारक प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। (दूर स्थित सत्य रजत,

---

१. 'न च ज्ञानं तत्र प्रत्यासत्तिः—ज्ञानं ज्ञानलक्षणा तत्र देशान्तरीयरजतादौ, प्रत्यासत्तिः सन्निकर्षः।

'यह रजत' इत्याकारक प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं हो सकता)। यहाँ ज्ञान का ही प्रत्यासत्तित्व (सामीप्य) मानने पर वह्नि आदि को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है, जिससे अनुमान आदिकों का उच्छेद होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

विवरण—'भ्रमज्ञान का विषय अनिर्वचनीय (तत्कालोत्पन्न) —पदार्थ न होकर अन्यत्र स्थित सत्य-पदार्थ उसका विषय है' यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि भ्रमज्ञान का विषय सन्निकृष्ट (समीप) होता है, इसीलिये 'यह रजत' 'यह सर्प' 'यह जल' कहते हुए शुक्तिरजत, रज्जुसर्प, मृगजल आदि का अंगुलि से निर्देश करते हैं। वे रजतादि विषय यदि सन्निकृष्ट न होते तो वैसा अंगुलि-निर्देश न किया जाता। असन्निकृष्ट विषय का भान नहीं हो सकता, क्योंकि विषय का सान्निध्य भी—प्रत्यक्षज्ञान की सामग्री में से एक अंश है। शुक्तिरजत का ज्ञान, प्रत्यक्ष होता है। इसलिये उसका विषय सन्निकृष्ट ही होना चाहिये, बिना उसके वह हो ही नहीं सकता क्योंकि सुदूर प्रदेश में स्थित, वस्तु में प्रत्यक्षज्ञान के विषय होने की योग्यता ही नहीं रहती। इन्द्रियों से सन्निकृष्ट (सम्बद्ध) न हुई वस्तु, इन्द्रियों का विषय कैसे होगी, और इन्द्रियों के विषय न होनेवाले पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे होगा।

शंका—भ्रमज्ञान के विषय का अलौकिक-सन्निकर्ष स्वीकार करने पर यह दोष नहीं होगा। ऐसा यदि कहें तो बताइये कि वह अलौकिक-सन्निकर्ष सामान्यरूप है या ज्ञान रूप है? उसके सामान्य रूप होने में कोई प्रमाण नहीं। सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति माननेवाले तार्किक इस विषय में ऐसा कहते हैं—

महानस (रसोईघर) में अग्नि और धूम की व्याप्ति का ग्रहण करते समय धूमत्वेन और वह्नित्वेन—सकल धूम और सकल अग्नि—व्यक्तियाँ मन में उपस्थित होती हैं (मन में धूमत्व और अग्नित्व जाति के द्वारा समस्त धूम और समस्त अग्नि की उपस्थिति होती है) तदनन्तर उनके व्याप्य-व्यापक भाव का ग्रहण होता है। (उनमें 'धूम' व्याप्य है और 'अग्नि' व्यापक है ऐसा ज्ञान होता है) क्योंकि धूममात्र (सकल धूमव्यक्ति) व्याप्य है और अग्निमात्र (सकल अग्निव्यक्ति) व्यापक हैं—(यह) ज्ञान न होता तो महानस के धूम और वहाँ की अग्नि की व्याप्ति से पर्वतीय धूम के दिखाई देने पर 'पर्वत पर अग्नि है' यह अनुमिति-ज्ञान न हुआ होता। किन्तु पर्वतीय धूम के देखते ही वहाँ पर अग्नि का अनुमिति ज्ञान होता है। उसकी उपपत्ति लगाने के लिये ही महानस में धूम और अग्नि की व्याप्ति के ग्रहण करते समय सकल धूम-अग्निव्यक्तियों की मन में उपस्थिति होने के लिये ही सामान्य लक्षणा (सामान्यात्मिका) प्रत्यासत्ति को अवश्य मानना पड़ता है।

तार्किकों के उपर्युक्त कथन पर वेदान्तियों का कहना है कि—धूमत्व और अग्नित्व (धूमसामान्य और वह्निसामान्य) से अर्थात् सामान्यलक्षणा से सकल धूम और वह्नि व्यक्तियों की उपस्थिति होती है। ऐसा यदि माना जाय तो समस्त जीवों

को सर्वज्ञत्व अनायास ही प्राप्त होगा। क्योंकि--सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति भी एक सन्निकर्ष ही है। वह यदि असन्निहित (दूरस्थ) विषयों से भी होता हो तो भूत, वर्तमान और भविष्य काल की व्याप्तिमात्र से पुरुष को वह संयुक्त कर देगा, तब उसकी असर्वज्ञता में निमित्त ही क्या रहेगा। अर्थात् कोई निमित्त नहीं! अलौकिक-सन्निकर्ष के द्वारा पुरुष का त्रैकालिक पदार्थों से यदि संयोग होने लग जाय तो इसकी सर्वज्ञता अनायास ही सिद्ध है। अर्थात् तार्किक अपने को 'मैं सर्वज्ञ ईश्वर हूँ' मानने लग जाय तो उसे कौन मना कर सकेगा।

समीप स्थित धूमादि पदार्थों से संयुक्त हुए चक्षु में भूत, भविष्य और दूरस्थित वर्तमान विषय के समर्पण करने का सामर्थ्य हमें तो दिखाई नहीं देता। (चक्षुरादि-इन्द्रिय-सन्निकृष्ट-पदार्थ से भिन्नकालीन तथा असन्निकृष्ट पदार्थ का ज्ञान कराने का सामर्थ्य उन-उन इन्द्रियों में होने का अनुभव हमें नहीं है) इसलिए अनुभव के विरुद्ध कल्पना करना—तुम्हारा साहस ही व्यक्त होता है।

हमारे (वेदान्तियों के) मत में महानस में ज्ञात हुई धूम-अग्नि की व्याप्ति से पर्वतीय अग्नि का अनुमान इस प्रकार होता है—

व्याप्तिज्ञान के समय महानसीय धूम और अग्नि का व्याप्य-व्यापकभाव, गोष्ठगत धूम और अग्नि का व्याप्य-व्यापक भाव, ऐसे ही भिन्न-भिन्न स्थानों में उनकी व्याप्ति देखकर धूम और अग्नि के व्याप्य-व्यापक भाव का निश्चय होता है। इस प्रकार प्रथम पृथक्-पृथक् धूमाग्नि के व्याप्य-व्यापकत्व का ज्ञान होने पर वह व्यक्ति पर्वतीय धूम अग्नि के व्याप्य-व्यापकभाव का अनुमान करता है--१--यह[1] धूम वह्निव्याप्य है। २--क्योंकि महानसादि में वैसा अनुभव आता है। ३--पृथ्वीव्याप्य गन्ध के समान।

शंका--महानस आदि स्थानों में धूम से अग्नि के सम्बन्ध का प्रत्यक्षतया ग्रहण किये होने से देशान्तरीय और कालान्तरीय धूमादि का सम्बन्ध उपस्थित न होने से 'धूम' वह्नि-व्याप्य है या नहीं, यह संशय नहीं होगा। परन्तु सामान्य-लक्षणा के द्वारा सकल व्यक्तियों की उपस्थिति होने पर अन्य देशीय तथा भिन्न कालिक वह्नि-निरूपित व्याप्ति में सन्देह होगा।

समाधान--'समानप्रकारनिश्चयस्यैव संशयविरोधित्वात्'--समान-प्रकार-निश्चय में ही संशय-विरोधित्व रहता है--(प्रत्यक्ष हुए धूम-अग्नि के सम्बन्ध का निश्चय होने पर वह निश्चय, प्रत्यक्ष हुए धूम अग्नि की व्याप्ति में संदेह होने नहीं देगा, अर्थात् उसका विरोध करेगा। अप्रत्यक्ष रहने वाले धूमाग्नि की व्याप्ति में होने वाले संशय को वह नहीं रोक सकता। (अप्रत्यक्ष = देशान्तरीय और कालान्तरीय धूमाग्नि की व्याप्ति में अवश्य ही संशय होगा) पहले कह चुके हैं कि—अलौकिक-सन्निकर्ष, सामान्यात्मक है या ज्ञान रूप है? यह विकल्प कर उसमें कोई प्रमाण नहीं है। पहिले पक्ष में सन्निकृष्ट (समीपस्थित) धूमादि ही प्रत्यक्ष का विषय होता है। धूममात्र (सर्वधूम =

१. 'अयं धूमः वह्निव्याप्यः, महानसादौ तथानुभूतत्वात्, पृथ्वीव्याप्यगन्धवत्'।

सार्वदेशिक और सार्वकालिक धूम) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं होता। इसलिए सामान्य-प्रत्यासत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

अब ज्ञानरूप अलौकिक-सन्निकर्ष के पक्ष में परिहार 'न च ज्ञानं०' आदि ग्रन्थ से किया जाता है।

(भ्रान्ति) भ्रम-प्रत्यक्ष-ज्ञान के विषय में ज्ञान ही प्रत्यासत्ति है—यह कथन अनुचित है। शुक्तिरजत में ज्ञान-सन्निकर्ष के होने में कोई प्रमाण नहीं है। भ्रान्तज्ञान के रजतादि विषयों से ज्ञानसन्निकर्ष के (ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति) मानने में दोष है—तथा च—ज्ञानलक्षणा-प्रत्यासत्ति से ही अनुमिति अग्न्यादि पदार्थों को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा और ज्ञानरूप-सन्निकर्ष से पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान होने लगने पर अनुमानादि अन्य प्रमाणों का उच्छेद होने का प्रसंग आवेगा, कारण अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री, अनुमिति-ज्ञान की सामग्री से लाघव के कारण बलवती है। इस पर शंका और उसका समाधान—

ननु रजतोत्पादकानां रजतावयवा[१]नामभावे शुक्तौ कथं तवापि रजतमुत्पद्यते इति चेत्। उच्यते। न हि लोकसिद्ध सामग्री प्रातिभासिक रजतोत्पादिका, किन्तु विलक्षणैव।

अर्थ—रजतोत्पादक (भ्रान्त रजत को उत्पन्न करनेवाले) रजतावयवों के अभाव होने पर शुक्ति में रजतोत्पत्ति आप के पक्ष में भी कैसे हो सकेगी? यदि पूछो तो बताते हैं—सत्यरजत की लोकसिद्ध सामग्री, 'प्रातिभासिक' रजत की उत्पादिका नहीं है (लोकसिद्ध रजत-सामग्री भ्रान्त रजत को भी पैदा नहीं करती) अपि तु प्रातिभासिक-रजत को उत्पन्न करनेवाली सामग्री लोकसिद्धसामग्री से अत्यन्त विलक्षण है।

विवरण—'ज्ञान में प्रत्यासत्तित्व है—मानने पर वह्न्यादिकों के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होता है और उससे अनुमानादि अन्य प्रमाणों का उच्छेद होने का प्रसंग आता है' यह दोष आप (वेदान्ती) हम पर (तार्किकों पर) देते हैं परन्तु 'शुक्ति-रजतस्थल में अपूर्वरजत की उत्पत्ति होती है' यह तुम्हारा (वेदान्तियों का) पक्ष भी असंगत है, क्योंकि—रजत के उपादान-कारण लौकिक रजतावयवों का शुक्ति में अभाव होने से वहाँ पर (शुक्ति में) रजतोत्पादक अलौकिक अवयवों का ही आप को स्वीकार करना होगा। परन्तु अलौकिक अवयवों को भ्रान्तरजत का उपादान मानने में कोई प्रमाण नहीं है—ऐसी आशंका करने पर सिद्धान्ती कहता है—

शुक्ति में रजत के अलौकिक अवयव यदि न हों तो उसकी उत्पत्ति का ही असम्भव होगा। परन्तु जब कि शुक्ति में रजत का प्रत्यय (अनुभव) होता है तब शुक्ति में अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति को 'परिशेष'न्याय से मानना आवश्यक हो जाता है। तन्नि-

---

१. वादीनां०—इति पाठान्तरम्।

मित्त भ्रान्त-रजत को उत्पन्न करनेवाली सामग्री का भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए। सिवाय—'शुक्ति में लौकिक उपादान का अभाव होने से रजत की उत्पत्ति का सम्भव नहीं है—यह आपका कथन ठीक नहीं है। क्योंकि उपादान और उपादेय—दोनों में सादृश्य अवश्य होना चाहिये—यह नियम है। इस कारण अलौकिक रजत के उत्पन्न होने में लौकिक-सामग्री की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु अलौकिक-रजत को अलौकिक-सामग्री की ही अपेक्षा होती है। अतः लोकसिद्ध रजत सामग्री, 'प्रातिभासिक' रजत की उत्पादिका नहीं है। 'लौकिक सामग्री से भिन्न सामग्री का अभाव रहने पर 'प्रातिभासिक' रजत की सामग्री कौन-सी ? यदि पूछो तो बताते हैं—

जैसे प्रातिभासिक-रजत, लौकिक-रजत से विलक्षण है, उसी प्रकार उसकी उत्पादिका सामग्री भी लोकप्रसिद्ध सामग्री से विलक्षण ही है। उस अलौकिक सामग्री का स्वरूप इस प्रकार है—

तथा[१] हि का[२] च कामलादिदोष-दूषित-लोचनस्य पुरोवर्ति द्रव्य संयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति। तस्यां च वृत्ताविद[३]मवच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते। तत्र पूर्वोक्तरीत्या [४]वृत्ते[५]र्निर्गमनेनेदम[६]वच्छिन्नं चैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नं[७] चैतन्यं प्रमातृ-

---

१. पारमार्थिक-रजतात् शुक्तिरजतं यदि विलक्षणं चेत् कथं तस्य 'इदं रजत'मिति रजतभावेन व्यवहारः ? न खलु घटविलक्षणः पटः घटभावेन व्यवह्रियते इत्याशंकां निरसितुं कारणवैलक्षण्यं प्रदर्शयति 'तथाहीति।' प्रातिभासिकोत्पत्तौ काचादिदोषा निमित्तकारणम्। काचो नेत्र-रोगविशेषः। तेन काचः करणगतो दोषः। आदिपदेन विषयगतदोषस्य सादृश्यादेः, प्रमातृगतस्य दोषस्य रागादेः परिग्रहः। दोषस्तावत् अधिष्ठानाध्यस्यमानयोर्भेदग्रहे प्रतिबन्धको भवति। सम्प्रयोगरूपं कारणान्तरं प्रदर्शयितुं 'पुरोवर्तिद्रव्येति।' सादृश्यं तावत् सोपाधिकाध्यासम्प्रति कारणं न भवति तथापि निरुपाधिकाध्यासम्प्रति ये तस्य कारणत्वं स्वीकुर्वन्ति, तान् प्रति सादृश्यसद्भावम्प्रदर्शयति 'चाकचिक्याकारेति।' नैयायिकाः सिद्धान्त्येकदेशिनश्च सादृश्यस्य अध्यासहेतुत्वं वदन्ति-किन्तु विवरणकारास्तस्य अध्यासहेतुत्वं न स्वीकुर्वन्ति।

२. 'काचादिदोष'—इति पाठान्तरम्।

३. 'मंशावच्छि'—इति पाठान्तरम्।

४. वृत्तेर्निर्गमनेन इदमाकारवृत्तेः।

५. 'त्तेर्बहिर्नि—इति पाठान्तरम्।

६. 'दमंशाव—इति पाठान्तरम्।

७. 'च्छिन्नचै०'—इति पाठान्तरम्।

चैतन्यं चाभिन्नं भवति। ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्न-विषयचैतन्य-निष्ठा शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या चाकचिक्यादिसादृश्य-सन्दर्शन-समुद्बोधित रजतसंस्कार-सध्रीचीना काचादिदोषमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजत-ज्ञानाभासाकारेण च परिणमते[1] ॥

अर्थ—काच, कामला आदि नेत्रदोषों से दूषित नेत्रवाले व्यक्ति के चक्षुरिन्द्रिय का सामने रहने वाले द्रव्य के साथ संयोग-सन्निकर्ष हो जाने से 'इदमाकार' = 'यह' इस आकार की 'चाकचिक्यकार' = चकचकित आकार की कोई सी (विशिष्ट)अन्तः-करणवृत्ति उदित होती है, और उस वृत्ति में 'इदम्' = यह (इस विषय) से अव-च्छिन्न हुआ चैतन्य—प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रकार उस उत्पन्न हुई वृत्ति में चैतन्य के प्रतिबिम्बित होनेपर उपर्युक्त 'तडागोदक न्याय से वृत्ति बाहर पड़ती है जिससे इदम-वच्छिन्न-चैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्य और प्रमातृचैतन्य—यह त्रिविध चैतन्य अभिन्न हो जाता है (विषयावच्छिन्न = प्रमेयचैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्न = प्रमाणचैतन्य, अन्तः-करणावच्छिन्न = प्रमातृचैतन्य—इनका अभेद होता है)।

इस प्रकार त्रिविध-चैतन्य का अभेद होनेपर प्रमातृचैतन्याभिन्न जो विषयचैतन्य, तन्निष्ठ जो शुक्तित्वप्रकारक-अविद्या, वही रजतरूप अर्थाकार से और रजतज्ञानाकार से परिणत होती है (परिणाम को प्राप्त होती है) और चाकचिक्यादि (चकचकित-पना वगैरह) रूपसादृश्य के दर्शन से जागृत होनेवाले रजत-संस्कार रूप सामग्री का ही उस अविद्या को साहाय्य रहता है और काच-कामलादि दोष भी उस अविद्या में होते हैं, जिससे वह—रजत (अविद्या) रूप अर्थाकार से और रजतज्ञानाभासाकार से परिणत होती है।

विवरण—प्रातिभासिक रजत को पैदा करनेवाली रजत-सामग्री, लौकिक रजत की सामग्री से विलक्षण ही होती है। वह कौन-सी ? तो अविद्या। परन्तु आकाशादि-भूतों की उपादानभूत-अविद्या से यह 'अविद्या' विलक्षण है। आकाशादिकों की उपा-दानभूत—'मूला अविद्या' केवल चिन्मात्र के आश्रय से रहती है। चिन्मात्र ही उसका विषय रहता है और वह निर्विकल्पक ज्ञान से निवृत्त हो जाती है। परन्त यह 'तूला

---

१. प्रातिभासिकोत्पत्तौ दोष-सम्प्रयोग—संस्कारादीनि निमित्तानि यानि तान्येव उपादानस्याज्ञानस्यापीति समाननिमित्तत्वात् कथमविद्यायाः कदाचित् रजतपरिणामः, कदाचिच्च रज्जुपरिणामः ? तत्रेदं समाधानम्—यत्पुरुषीया या अविद्या यादृशसंस्कार-सहिता भवति, सा तत्पुरुषसन्निधौ तदाकारेण परिणमते, नान्याकारेण। तथाचेष्टसिद्धि-काराः—"यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य भ्रान्तः सम्यक् च वेत्ति सः।" अतएव कस्यचित् एकस्यां शुक्तौ रजतभ्रमः कस्यच्चि रज्जुभ्रमो भवति।

अविद्या' शुक्त्यवच्छिन्न-चैतन्य के आश्रय से रहती है। रजत से भिन्न जो शुक्ति, तन्निष्ठ जो शुक्तित्व वही उसका विषय रहता है, और यह तूला-अविद्या, सविकल्पक-ज्ञान से निवृत्त होती है। तूला-विद्या और मूला-विद्या में यही भेद है।

मूल में 'अविद्या, रजतरूप विषय के आकार से और रजत-ज्ञानाभासाकार से परिणाम को प्राप्त होती है,' यह बताकर तूला-विद्या ही प्रातिभासिकरजत की उत्पादिका है, और उस अविद्या की ही प्रक्रिया इस ढंग से बतायी है—'काच' एक नेत्र रोग है, जिससे दृष्टि मंद होती है। उसी प्रकार कामला या ऐसे ही अन्य दोषों से जिसके नेत्र दूषित हुए हैं ऐसा व्यक्ति जब सामने सीप जैसे चमकते पदार्थ को देखता है तब उससे उसके मन में 'यह' (इस) आकार की अन्तःकरणवृत्ति पैदा होती है। सीप के चमकीलेपन के कारण, 'यह' इस अन्तःकरणवृत्ति में वह चमकीलापन भी प्रतीत होता है। इस प्रकार देखनेवाले व्यक्ति के सदोष चक्षुरिन्द्रिय का सामने स्थित द्रव्य के साथ संयोग होकर 'इदम्' विषय से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। उसके प्रतिबिम्बित होने पर वह वृत्ति बाहर निकलती है। तब प्रमेयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य, प्रमातृचैतन्य का अभेद हो जाता है। इस विषय में पहिले—'तडागोदक, नाली के मार्ग से क्षेत्र में पहुँचकर क्षेत्राकार हो जाता है'—दृष्टान्त दिया ही है। उसके बाद प्रमातृचैतन्याभिन्न जो विषयचैतन्य, तन्निष्ठ जो शुक्तित्वप्रकारक अविद्या, वह रजत-रूप विषयाकार में और रजतज्ञानाकार में परिणत होती है।

आपने अविद्या को ही आकाशादि प्रपंच का उपादान माना है, किन्तु अब इस कथन से आपकी प्रतिज्ञा-हानि होती है। यह शंका यदि कोई करे तो उसके निवारणार्थ ही तूलाविद्या में १—प्रमातृचैतन्याभिन्न = विषयचैतन्यनिष्ठ और २ शुक्तित्व-प्रकारक ये दो विशेषण जोड़े गये हैं। उससे चैतन्यमात्राश्रित = चिन्मात्रविषय और निर्विकल्पक-ज्ञान से निवर्त्य ऐसी मूलाविद्या की निवृत्ति होती है।

शंका—यहाँ तूलाविद्या सदैव ही भ्रान्त विषय और भ्रान्तविषयज्ञान के आकार से क्यों परिणत नहीं होती ?

समाधान—निमित्तकारण का अभाव होने से वह सदैव उस आकार से परिणत नहीं होती। पूर्वदृष्ट रजत से उत्पन्न हुआ रजतसंस्कार यद्यपि सर्वदा विद्यमान रहता है तथापि उसका जागृत होना, अविद्या के पूर्वोक्त परिणाम में निमित्त है। चाकचिक्यादि सादृश्य-दर्शन से वह उत्पन्न होता है। सामने पड़े हुए पदार्थ के सादृश्यदर्शन से रजत-संस्कार जागृत हो उठते हैं और वे जागृत हुए रजत-संस्कार ही तूलाविद्या के परिणाम में निमित्त होते हैं अर्थात् उस अविद्या को जब जागृत संस्काररूप सामग्री की सहायता मिलती है तब वह पूर्वोक्त प्रकार से परिणत होती है और जब उसे सामग्री की सहायता नहीं मिलती तब वह परिणत नहीं होती।

शंका—शुक्ति में चाकचिक्यादि रजत-सादृश्य का दीखना और नीलपृष्ठ त्रिकोणता आदि का न दीखना इसमें क्या निमित्त है ?

समाधान—उस अविद्या में द्रष्टा के काचादिनेत्रदोषों का सान्निध्य रहना ही नीलपृष्ठादिकों के अदर्शन में निमित्त है।

इस प्रकार नेत्रगत काचादि दोषों से युक्त हुई तूलाविद्या, प्रातिभासिक रजताकार से और उसके ज्ञानकार से (रजताकार वृत्ति से) परिणत होती है। क्योंकि 'ज्ञान' शब्द का अर्थ वृत्ति है।

अब परिणाम का अर्थ बताते हैं—

[1]परिणामो नाम उपादान समयसत्ताक[2]कार्यापत्तिः विवर्तो नाम उपादान विषमसत्ताक-कार्यापत्तिः। प्रातिभासिक रजतं-चाविद्यापेक्षया परिणामः, चैतन्यापेक्षया विवर्त इति चोच्यते। अविद्यापरिणामरूपं च तद्रजतमविद्याधिष्ठाने इदमवच्छिन्न-चैतन्ये वर्तते। अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्वनियमाम् ॥

अर्थ—उपादान की जैसी सत्ता हो ठीक वैसी सत्ता से युक्त कार्य की उसे (उपादान को) प्राप्ति होना—परिणाम कहालाता है। और उसकी (उपादान की) सत्ता की अपेक्षा विषमसत्ता से युक्त कार्य की प्राप्ति होना विवर्त कहलाता है। प्राति-भासिक रजत रूप कार्य, अविद्या की अपेक्षा से (अविद्या का) परिणाम है और वही

१. रजतमविद्या-परिणाम इति मन्यते चेत् रजतं ब्रह्मविवर्तो न स्यात्, ब्रह्मपरिणाम-स्यैव ब्रह्मविवर्तत्वात् विवर्त-परिणामयोरभेदात्, इत्याशङ्कायामुच्यते—'परिणामो-नामे'-ति। एवञ्च विवर्त-परिणामयोर्भेदात् रजतस्य न ब्रह्मविवर्तत्वहानिः।

२. यदा उपादानोपादेययोः एकरूपैव सत्ता, तदा समसत्ता भवति। एवञ्च 'स्वोपा-दानसत्तासमसत्ताकत्वे सति कार्यत्वम्परिणामत्वम्। अत्र 'स्व' पदमुपादेयपरम्बोध्यम्। ननु शुक्तिरूप्यस्य अविद्यापरिणामत्वं कथमुपादानस्य व्यवहारिकत्वात् उपादेयस्य च प्रातिभासिकत्वात्। तत्रोच्यते—पारमार्थिकसत्त्वं सत्त्वेन व्यवहारविषयत्वं चेति सत्त्वद्वै-विध्यमाश्रित्य समसत्ताकत्वोपपत्तिः। तथाचोक्तमद्वैतसिद्धौ—जगदुपादानत्वोपपत्तौ— 'समानसत्ताकत्वञ्च रूप्यस्थले सत्त्वद्वैविध्येन वा ब्रह्मज्ञानेतर-ज्ञानबाध्यत्वरूपप्रातिभासिक-त्वमादाय वा उपपद्यते।" तथा च शुक्तिरजतादेः स्वोपादानसत्ता-समानसत्ताकत्वात् परिणामत्वम्। ननु अविद्यायां तादात्म्यसम्बन्धेन वर्तमानस्य अविद्यापरिणामस्य रजतस्य, चैतन्ये तत्सम्बन्धेन अवर्तमानत्वात् चैतन्योपादानकत्वासंभवात् कथं चैतन्यविवर्तत्वं रजत-स्येति चेत् अविद्यापरिणामस्य तदधिष्ठानाश्रितत्वनियमान्न विवर्तत्वहानिः।

रजत, चैतन्य की अपेक्षा से (चैतन्य का) विवर्त है—ऐसा कहा जाता है। अविद्या का परिणामरूप वह रजत अविद्याधिष्ठानभूत इदमवच्छिन्न चैतन्य में (विषयावच्छिन्न चैतन्य में) रहता है। क्योंकि हमारे मत में सभी कार्य अपनी उपादानभूत अविद्या के अधिष्ठानभूत-चैतन्य के आश्रित होते हैं—यह नियम है (कोई भी कार्य अपने उपादान कारण के अधिष्ठान के आश्रय से रहता है)।

विवरण—जिस कारण से अभिन्नतया (भिन्न न होकर) कार्य उत्पन्न होता है, वह, उसका (कार्य का) उपादान कारण कहा जाता है। घटरूपकार्य, मृत्तिका से अभिन्न रहकर ही उत्पन्न होता है, इसलिये मृत्तिका, घट की उपादान-कारण है। जिस कार्य की सत्ता, अपने उपादान-कारण की सत्ता जैसी ही होती है, ऐसे कार्य की प्राप्ति होना (कारण का, समसत्ताक कार्य के आकार से पैदा होना) परिणाम है। सत्ता त्रिविध (तीन प्रकार की) होती है, पारमार्थिकी, व्यावहारिकी, और प्रातिभासिकी। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिकी होती है। आकाशादि प्रपंच की सत्ता व्यावहारिकी है। और शुक्तिरजतादि भ्रान्त पदार्थों की सत्ता, प्रातिभासिकी है। पारमार्थिकी-सत्ता नित्य (काल से अनवच्छिन्न) होती है। व्यावहारिकी-सत्ता केवल स्थितिकाल में (पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व और नाश के अनन्तर नहीं होती) होती है। कल्प के आरम्भ से उसके अन्त तक जो काल उसे व्यवहारकाल कहते हैं, और उस काल में जो सत्ता, उसे व्यवहारिकी सत्ता कहते हैं। शुक्ति पर भासित होने वाला रजत, रज्जु पर भासित होने-वाला सर्प, (ये) प्रातिभासिक पदार्थ हैं, इनकी सत्ता उस प्रतिभासकाल में ही रहती है। अधिष्ठान के ज्ञान से उसका बाध होता है, इसलिये वह प्रातिभासिकी सत्ता है.।

दूध, व्यावहारिक पदार्थ है, वह व्यावहारिकी सत्ता से युक्त है, उसे दही रूप कार्य का आकार प्राप्त होता है। उस दही रूप कार्य की सत्ता भी व्यावहारिकी ही होती है, इसलिए दूध रूप उपादान कारण से 'दही' रूप समसत्ताक कार्य उत्पन्न होता है। इसलिये वह दूध का परिणाम है। इस लक्षण में कार्य को 'समसत्ताक' विशेषण जोड़-कर विवर्त में अतिव्याप्ति का वारण किया जाता है। अथवा व्यावहारिकी सत्ता से युक्त तन्तुओं को व्यावहारिकी सत्ता से युक्त पटभाव की प्राप्ति होना—परिणाम है। इस परिणाम से विवर्त पृथक् है। परिणाम के समान विवर्त भी कार्य है। इसलिये परिणाम का लक्षण कहने के अनन्तर प्रसंग प्राप्त विवर्त का भी लक्षण यहीं पर बताया है। विवर्त उसे कहते हैं—उपादान की सत्ता से जिसकी सत्ता विषम है, ऐसे कार्य की उत्पत्ति।

विवर्त में अतिव्याप्ति के वारणार्थ परिणाम के लक्षण में जैसे 'समसत्ताक' विशेषण दिया है वैसे ही परिणाम में अतिव्याप्ति के वारणार्थ विवर्त के लक्षण में 'विषम सत्ताक' विशेषण दिया है। परन्तु प्रातिभासिक-रजतादिकों में परिणामत्व और विवर्तत्व दोनों धर्म रहते हैं—यह सूचित करने के लिये ही प्रातिभासिक रजत, अविद्या का परिणाम और चैतन्य का विवर्त है—ऐसा मूल में कहा है। जैसे तन्तु के परिणामरूप पट

को तन्तुदेशत्व (जहाँ तन्तु रहते हैं वहीं पर पट रहता है) है, वैसे ही अविद्या के परिणाम-रूप शुक्तिरूप्य को अविद्यादेशत्व (जहाँ अविद्या रहती है वहीं वह शुक्तिरजत रहता है) है । अविद्या, चैतन्यनिष्ठ होती है इसलिये शुक्तिरूप्य भी चैतन्यनिष्ठ होता है । इस आशय से मूल में अविद्यापरिणामरूप शुक्तिरजत, अविद्या के अधिष्ठानरूप इदम-वच्छिन्न चैतन्य में रहता है--कहा है । इस वाक्य से निम्नलिखित आशंका का निरसन किया गया है--

शंका--अविद्यापरिणामरूपरजत, अविद्या में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है, तब अविद्या में तादात्म्य सम्बन्ध से रहनेवाले रजत को चैतन्योपादानत्व (चैतन्य, उसका उपादान है) नहीं बनता । जब कि चैतन्य में, रजत, अविद्यासम्बन्ध से रहता है तब 'उसे उपादान-विषमसत्ताक कार्यापत्तिरूप विवर्तत्व' कैसे ?

समाधान--अविद्यापरिणामरूप रजत, अविद्याधिष्ठान के आश्रय से रहने के कारण उसे विवर्तत्व हो जाता है क्योंकि 'अविद्यापरिणामरूप रजत, अविद्या के अधिष्ठानभूत चैतन्य के आश्रय से रहता है' यह नियम है । क्योंकि हमारे मत में सभी कार्यों में, उन कार्यों के उपादानभूत अविद्या के अधिष्ठान का आश्रितत्व नियम से रहता है । कोई भी कार्य अपने उपादान कारण के अधिष्ठान के आश्रय से रहता है । इसलिये प्रातिभासिक रजत, अविद्या का परिणाम है और चैतन्य का विवर्त है । अब कोई दोष नहीं है इस समाधान पर पुनः शंका और उसका समाधान--

[1]ननु चैतन्यनिष्ठ[2]स्य रजतस्य कथमिदं रजतमिति पुरोवर्ति-तादात्म्यम् ? उच्यते । यथा न्यायमते आत्मनिष्ठस्य सुखादेः शरीर-निष्ठत्वेनोपालम्भः, शरीरस्य सुखाद्यधिकरणतावच्छेदकत्वात् । तथा चैतन्यमात्रस्य रजतं प्रत्यधिष्ठानतया इदमवच्छिन्नचैतन्यस्य तदधिष्ठा-नत्वेन इदमोऽवच्छेदकतया रजतस्य पुरोवर्ति संसर्गप्रत्यय[3] उपपद्यते ।

१. चैतन्यनिष्ठस्य चैतन्याश्रितस्य चैतन्ये तादात्म्येन उत्पन्नस्येत्यर्थः । 'यत् यत्र तादात्म्येन उत्पद्यते तत् तदभिन्नतया तदाश्रिततया च प्रतीयते' इति नियमः । प्राति-भासिकं रजतं चैतन्ये तादात्म्येन उत्पद्यते चेत् चैतन्याऽभिन्नतया चैतन्याश्रिततया च 'चैतन्यं रजतमि'ति प्रतीयेत । किन्तु न तथा प्रतीयते, अपि तु 'इदं रजतमि'ति इदन्तादात्म्य-प्रतीतिर्भवति । अन्योपादेयस्य अन्यतादात्म्याऽयोगः । अतः प्रातिभासिकस्य रजतस्य चैतन्यतादाम्यमेवोचितं, न इदन्तादाम्यमिति शङ्काकर्तुराशयः ।

२. 'ष्ठरजः' इति पाठान्तरम् ।

३. पुरोवर्तिसंसर्ग-प्रत्ययः इदं तादात्म्यप्रत्ययः । यथा सुखाधिकरणस्य आत्मनः अवच्छेदके शरीरे सुखस्य संसर्गप्रत्ययो भवति, तथैव रजताधिकरणस्य अवच्छेदके इद-मिति रजतस्य तादात्म्यप्रत्ययो भवितुमर्हति ।

अर्थ—शंका—चैतन्यनिष्ठ रजत का 'यह रजत' इस प्रकार आगे पड़ी हुई शुक्ति (सीप) से तादात्म्य कैसे हो सकता है ? इस शंका का समाधान कहा जाता है-- जैसे न्याय के मत में आत्मनिष्ठ सुख-दुःखादि गुणों का शरीरनिष्ठत्व से (वे शरीर में स्थित हैं) प्रत्यय होता है, क्योंकि शरीर सुखादिकों की अधिष्ठानता का अवच्छेदक होता है। वैसे ही चैतन्यमात्र (शुद्ध = निरुपाधिक चैतन्य) रजत का अधिष्ठान नहीं होता (शुद्ध चैतन्य उसका अधिष्ठान नहीं बन सकता), तथापि इदमवच्छिन्न (विषयावच्छिन्न) चैतन्य, प्रातिभासिक रजत का अधिष्ठान हो सकता है। इसलिये वह इदमवच्छिन्न चैतन्य 'इदम्' विषय का अवच्छेदक है जिससे उस प्रतिभासिक रजत का पुरोवर्ति (आगे पड़ी हुई) शुक्ति से संसर्ग होकर वैसा संसर्ग प्रत्यय (तादात्म्य का अनुभव) आ सकता है।

विवरण—सभी कार्य, अविद्याधिष्ठान चैतन्याश्रित होता है—माना जाय तो प्रातिभासिक रजत का सामने पड़ी हुई शुक्ति से तादात्म्यप्रत्यय होना अनुपपन्न होगा (भ्रान्त रजत का शुक्ति में 'यह रजत' इत्याकारक जो तादात्म्यप्रत्यय होता है वह नहीं बनेगा) इस आशय से यहाँ 'ननु' ग्रन्थ से शंका की है।

इस शंका का आशय यह है—द्रष्टा व्यक्ति के सामने भूतल पर स्थित तन्तुओं में विद्यमान पट का प्रत्यक्षज्ञान जब होता है तब 'अब यहाँ यह पट है' यह प्रत्यय जैसे होता है वैसे ही चैतन्यनिष्ठ अविद्या में स्थित शुक्ति-रजत का 'चैतन्य में रजत' यह प्रत्यय होना चाहिए था, परन्तु 'यहाँ यह रजत है' ऐसा देह के बाहर प्रत्यय होता है,—वह ठीक नहीं है। क्योंकि चैतन्य के सर्वव्यापी होने से उसका 'इह' यहाँ (पुरोवर्ती प्रदेश में) प्रत्यय होना उचित नहीं हैं।

'उच्यते' इत्यादि ग्रन्थ से शंका का समाधान किया जाता है—अविद्या का परिणाम अविद्या के अधिष्ठानभूत चैतन्य के आश्रय से जैसे रहता है (अविद्यापरिणाम को अविद्याधिष्ठानाश्रितत्व = अविद्या का अधिष्ठान चैतन्य आश्रय है और अविद्या का परिणाम आश्रित है इस प्रकार चैतन्य और परिणाम में आश्रयाश्रयिभाव = आश्रय भाव, जैसे रहता है) वैसे ही चैतन्याध्यस्त (चैतन्य पर आरोपित) रजतादिकों की तदवच्छेदक पुरोवर्ति पदार्थ से तादात्म्य-प्रतीति हो सकती है। इस विषय में न्यायशास्त्र का एक दृष्टान्त दिया गया है—

नैयायिक सुखादि धर्मों को आत्मनिष्ठ मानते हैं। उनके कथनानुसार सुख, दुःख, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म आत्मा के हैं। परन्तु वे सुखादि आत्मनिष्ठ धर्म भी, शरीरनिष्ठ से लगते हैं (शरीरनिष्ठत्वेन) उनका अनुभव होता है। मेरा शरीर सुखी, इस प्रकार शरीरनिष्ठत्व के कारण देह को आत्मगत-सुखाद्युपलब्धि का अवच्छेदकत्व जैसे होता है, वैसे ही 'इदम्' इस पुरोवर्ती विषय को आत्मगत रजताध्यास का अवच्छेदकत्व है। उससे चैतन्याध्यस्त रजत का पुरोवर्ती शुक्ति में 'यह रजत' ऐसा प्रत्यय

आ सकता है। क्योंकि शुद्ध चैतन्य, आरोपित रजत का अधिष्ठान बन नहीं सकता (उस शुद्ध-चैतन्य में रजत का अधिष्ठान बनने की योग्यता ही नहीं है) इसलिए 'इदमवच्छिन्न' चैतन्य रजत का अधिष्ठान होने से शुक्ति के इदमंश को उसका अवच्छेदकत्व है, जिससे आरोपित रजत का पुरोवर्ती सीप से संसर्ग हुआ है ऐसा प्रत्यय हो सकता है।

शंका—इदवमच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त रजतादि, साक्षी में अध्यस्त नहीं होता, और उसके, साक्षी में अध्यस्तत्व न होने से उस आरोपित रजतादि को केवल साक्षिवेद्यत्व और सुखादिकों के समान अनन्यवेद्यत्व है—यह साम्प्रदायिकों का कथन कैसे उपपन्न होगा ? 'तस्य च' आदि ग्रन्थ से इस शंका का समाधान कहते हैं—

तस्य च विषयचैतन्यस्य तदन्तःकर[1]णोपहितचैतन्याभिन्नतया विषयचैतन्याध्यस्तमपि रजतं साक्षिण्यध्यस्तं केवलसाक्षिवेद्यं सुखादिवदनन्यवेद्यमिति चोच्यते[2]।

अर्थ—और उस विषयचैतन्य का तद्विषय—अन्तःकरणोपहित चैतन्य से अभिन्नत्व होने से (वे दोनों चैतन्य अभिन्न = एकरूप होने से) विषय चैतन्य में अध्यस्त होता हुआ भी रजत 'साक्षी' में अध्यस्त है। वह केवल साक्षिवेद्य है और सुखादिकों के समान अनन्यवेद्य है—ऐसा कहा जाता है।

विवरण—यहाँ पर शङ्का का आशय इस प्रकार है—पुरोवर्ती शुक्तिकादि विषय का 'इदम्' आकार वाले (शुक्ति के) अंश से अवच्छिन्न हुए विषयचैतन्य में रजतादिकों का अध्यास होता है। साक्षिचैतन्य में रजतादिकों का अध्यास नहीं होता। अर्थात् विषयचैतन्य में अध्यस्त हुए रजत को साक्षी में अध्यस्तत्व न होने से उसे केवल साक्षिवेद्यत्व है (केवल साक्षिचैतन्य ही उसे जानता है) और सुखादिकों के समान उस अध्यस्त रजतादि को भी अन्यवेद्यत्व नहीं (जैसे सुखादि, साक्षिचैतन्य से अन्य वृत्यादि-चैतन्य से वेद्य नहीं रहते वैसे ही अध्यस्त-रजतादि भी अन्यवेद्य नहीं) होते—यह पञ्चपादिकाचार्य का कथन कैसे उपपन्न होता है ?

---

१. 'णचैत०'—इति पाठान्तरम्।

२. अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य अन्तःकरणोपहित चैतन्यस्य च अभेदात् इदमवच्छिन्नचैतन्यस्य अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य च अभेदे इदमवच्छिन्नचैतन्यान्तःकरणोपहितचैतन्यरूपयोर्विषयसाक्षिणोरपि अभेदो भवति। तेन इदमवच्छिन्नचैतन्याध्यस्तं रजतं साक्षिणि अपि अध्यस्तं तादात्म्येन सम्बद्धं भवति, इदमवच्छिन्न-चैतन्यं साक्षिचैतन्यस्य चाऽभेदात्। तदा च इदमवच्छिन्नचैतन्याश्रितस्य रजतस्य साक्षात् साक्षिसन्बन्धात् प्रत्यक्षत्वमस्त्येव।

समाधान का आशय—'इदमवच्छिन्न-चैतन्य' ही विषयचैतन्य है। वह तद्विषयक अन्तःकरणोपहित-चैतन्य से भिन्न नहीं है (अभिन्न = तद्रूप ही है) इस कारण विषय-चैतन्य में अध्यस्त होता हुआ भी रजत, साक्षी, में अध्यस्त है। उसी तरह वह साक्षिवेद्य और सुखादि के समान अनन्यवेद्य भी है—यह साम्प्रदायिकों का कथन सर्वथा उचित है।

ननु साक्षिण्यध्यस्तत्वेऽहं रजतमिति[1] प्रत्ययः स्यात्, अहं सुखीतिवदिति चेत्। [2]उच्यते। न हि सुखादीनामन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठाऽविद्याकार्यत्वप्रयुक्तम् अहं सुखीति ज्ञानम्, सुखादीनां घटादिवच्छुद्धचैतन्य एवाध्यासात्। किन्तु यस्य यदाकारानुभवाहित-संस्कारसहकृता विद्याकार्यत्वं तस्य तदाकारानुभवविषयत्वमित्येवानुगतं नियामकम्[3]।

अर्थ—भ्रान्त रजत, साक्षी में यदि अध्यस्त है तो 'मैं रजत' यह प्रत्यय होगा 'यह रजत' ऐसा प्रत्यय नहीं होगा। क्योंकि 'अहं सुखी = मैं सुखी' यह सुखविषयक प्रत्यय हुआ करता है। 'यह सुख' ऐसा प्रत्यय नहीं होता—यह शंका हो तो उत्तर देते हैं—'मैं सुखी' यह ज्ञान, सुखादिकों को अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ अविद्या-कार्यत्व होने से होता हो सो नहीं, क्योंकि घटादिकों की तरह सुखादिकों का भी शुद्ध चैतन्य में ही अध्यास हुआ है तो 'मैं सुखी' यह प्रत्यय किस कारण से होता है? उत्तर—जिसे जिस आकार के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों के साथ अविद्याकार्यत्व होता है उसे तदाकार अनुभवविषयत्व होता है यही इसमें अनुगत नियामक है।

विवरण—सुखादिकों का अवच्छेदक जो शरीर तन्निष्ठत्वेन सर्वदा उनका अनुभव नहीं होता, क्योंकि 'मैं सुखी' यह आत्मनिष्ठत्वेन भी सुखादिकों का अनुभव होता दिखाई देता है। उसी प्रकार रजतादिकों का भी अन्तःकरण-साक्षी में अध्यस्तत्व स्वीकृत किये होने से 'अहं मनुष्यः' मैं मनुष्य—इस प्रत्यय के समान 'मैं रजत' या 'मैं सुखी' प्रत्यय के समान 'मैं रजतवान् हूँ' यह प्रत्यय होना चाहिए, परन्तु ऐसा प्रत्यय कभी भी क्यों नहीं होता? यह उपर्युक्त शंका का आशय है।

उत्तर—'जिसमें जिसका अध्यास होता है उसका भान, तन्निष्ठ अविद्याकार्यत्व के कारण तन्निष्ठत्वेनैव हो' यह नियम नहीं हो सकता क्योंकि सुखादिकों को घटादिकों

---

१. 'मित्यहं रजतवानिति वा०'—इति पाठान्तरम्।

२. 'यत्र यदध्यासः तस्य तन्निष्ठाविद्याकार्यत्वप्रयुक्तं तन्निष्ठातयैव भानमि'ति नियमः न सम्भवति। सुखादेर्घटादिवत् शुद्धचैतन्याध्यस्तत्वेऽपि अहं सुखीतिप्रत्ययो भवति इत्याशयः।

३. नाना नियामकाभ्युपगमे गौरवात् अनुगतैकनियामकस्वीकार उचित इत्याशयः।

के समान ही शुद्ध चैतन्याध्यस्तत्व होने पर भी 'मैं सुखी' यह प्रत्यय होता है। ग्रंथकार ने भी इसी आशय से उपर्युक्त शंका का समाधान किया है। सुखादिकों का 'मैं सुखी' इत्याकारक जो जो ज्ञान होता है, वह, अन्तःकरणावच्छिन्न जो चैतन्य और उसमें रहने वाली (तन्निष्ठ) जो अविद्या उसका कार्यत्व सुखादिकों को होने से नहीं होता है। क्योंकि घटादि व्यावहारिक पदार्थ जैसे शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त हैं उसी तरह सुखादिक भी शुद्ध चैतन्य में ही अध्यस्त हैं, इस कारण सुखादिकों को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अविद्याकार्यत्व है। परन्तु इसके होने से 'मैं सुखी' ज्ञान होता है—यह नहीं कहा जा सकता।

शंका—यदि ऐसा है तो घटादि, सुखादि और शुक्तिरूप्यादि इनमें से प्रत्येक को प्रतीतिविषयत्व होने के लिये पृथक्-पृथक् नियामक माने गये हैं या एक ही ? इस प्रकार वादी के प्रश्न करने पर सिद्धान्ती कहता है घटादिकों को प्रतीति का विषयत्व प्राप्त होने के लिए पृथक् नियामक और सुखादिकों की प्रतीतिविषयत्व में पृथक् तथा शुक्तिरूप्यादिकों की प्रतीतिविषयत्व में भिन्न नियामक मानने में गौरव होता है, इसलिए घटादि, सुखादि और शुक्तिरूप्यादिकों में प्रतीतिविषयत्व प्राप्त होने के लिये सर्वानुगत एक नियामक ही मानना उचित है। इसी आशय का समाधान मूल में 'यस्य यदाकारा०' इत्यादि ग्रंथ से किया गया है। जिस विषय का जिस आकार से अनुभव होता है वह अनुभव, अन्तःकरण में वैसा ही संस्कार उत्पन्न करता है और उस संस्कार से युक्त हुई अविद्या का कार्यत्व जिसमें होता है, उसमें तदाकार अनुभवविषयत्व होता है—यही सर्वत्र अनुगत एक नियामक है। अब 'तथा च०' इत्यादि ग्रन्थ से उक्त नियामक की सर्वत्र योजना करते हैं—

तथा च इदमाकारानुभवाहित संस्कार-सहकृताऽविद्याकार्यत्वात् घटादेरिदमाकारानुभव-विषयत्वम्। अहमाकारानुभवाहित-संस्कारसहिताऽविद्याकार्यत्वादन्तःकरणादेरह[1]माकारानुभवविषयत्वम्। शरीरेन्द्रियादेरुभयविधानुभव[2]संस्कार[3]सहिताविद्याकार्यत्वादुभयविधानुभवविषयत्वम्। तथा चोभयविधो ऽनुभवः इदं शरीरमहं देहोऽहं मनुष्योऽहं ब्राह्मण इदं चक्षुरहं काण इदं श्रोत्रमहं बधिर इति ॥

---

१. 'मनुभवः'—इति पाठान्तरम्।
२. 'वाहितसं०'—इति पाठान्तरम्।
३. 'सहकृतावि०'—इति पाठान्तरम्।
४. 'धानुभ०'—इति पाठान्तरम्।

अर्थ—इस रीति से तीनों प्रकार के प्रतीतिविषयों में एक ही अनुगत नियामक होने से घटादिकों को 'इदम्'=यह, इस आकार के अनुभव से उत्पन्न हुई अविद्या का कार्यत्व है, इस कारण उन घटादिकों को इदमाकार के अनुभव का विषयत्व है। अन्तःकरणादिकों को अहमाकार के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त अविद्या का कार्यत्व होने से उन अन्तःकरणादिकों को अहमाकार अनुभव का विषयत्व है। शरीर इन्द्रियादिकों को दोनों प्रकार के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त अविद्या का कार्यत्व होने से उन शरीरेन्द्रियादिकों को दोनों प्रकार के अनुभव का विषयत्व है। उनका दो प्रकार से अनुभव कैसे आता है ? यह पूछो तो बताते हैं—'यह शरीर' 'मैं देह' 'मैं मनुष्य' 'मैं ब्राह्मण' 'यह चक्षुरिन्द्रिय' 'मैं काना' 'यह श्रोत्रेन्द्रिय' 'मैं बहिरा' इस प्रकार शरीरेन्द्रियादिकों का दोनों प्रकार से अनुभव आता है—यह प्रसिद्ध है।

विवरण—घटादि बाह्य पदार्थ अविद्या के कार्य हैं। परन्तु उनका पहले जो अनुभव हुआ, वह 'यह घट, यह पट' इस प्रकार से हुआ। उस अनुभव से वैसे ही संस्कार हुए। उन्हीं संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से घटादि पदार्थ रूप कार्य हुए। इस कारण इन बाह्य पदार्थों को इदमाकार अनुभव का विषयत्व है। अन्तःकरणादि भी अविद्या के कार्य हैं, परन्तु उनकी कारणभूत अविद्या, अहमाकारानुभव के उत्पन्न संस्कार से युक्त होती है इसलिए अन्तःकरणादि पदार्थ अहमाकारानुभव के विषय होते हैं। शरीर और इन्द्रियाँ भी अविद्या कार्य हैं परन्तु वे (कार्य) 'यह' और 'मैं' इन दोनों प्रकार के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये उनका दोनों प्रकार से अनुभव आता है। 'अहम्' अनुभव आत्मा को विषय करता है। और 'यह' अनुभव आत्मभिन्न पदार्थों को विषय करता है। इन अनुभवों से वैसे ही संस्कार होते हैं। उन संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से पैदा होने वाले कार्य भी वैसे ही अनुभवों के विषय होते हैं। जैसे—यह घट, यह वृक्ष, यह पुष्प, यह मैं इत्यादि। परन्तु शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि देह और देहसम्बन्धी पदार्थ 'इदम्' और 'अहम्' इन दोनों प्रकार के संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से पैदा होने के कारण उनका दोनों प्रकार से अनुभव होता है। जैसे यह शरीर, यह चक्षुरिन्द्रिय, यह श्रोत्रेन्द्रिय इत्यादि, और 'मैं देह, मैं मनुष्य, मैं ब्राह्मण, मैं काना, मैं बहिरा इत्यादि।

अब इसी उक्त नियामक की 'यह रजत' इस प्रकृत विषय में योजना कर के दिखाते हैं—

प्रकृते च प्रातिभासिक-रजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेद[1]मंशावच्छिन्न-चैतन्य-निष्ठाऽविद्याकार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थली-

१. 'दमव०'—इति पाठान्तरम्।

येद[1]मंशाकारानुभवाहित-संस्कारजन्यत्वादिदमाकारानुभव-विषयता, न त्वहं रजतमित्यहमाकारानुभव-विषयतेत्यनुसन्धेयम् ।।

अर्थ—प्रकृत में (शुक्ति रजत–इस उदाहरण में) प्रातिभासिक रजत, यद्यपि प्रमातृचैतन्य से अभिन्न जो इदमंशावच्छिन्न-चैतन्य, तन्निष्ठ अविद्या का कार्य है, तथापि व्यावहारिक सत्यरजत का 'यह रजत' इत्याकारक जो इदमंशाकार अनुभव, उससे उत्पन्न हुए जो संस्कार, उन संस्कारों से उत्पन्न होने के कारण (उसे) 'यह रजत' इस इदमाकार अनुभव का विषयत्व होता है। क्योंकि उस प्रातिभासिक रजत की उपादान जो अविद्या है, वह 'यह रजत' इस व्यावहारिक सत्य रजत के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार से युक्त रहती है। इसलिए उस प्रातिभासिक रजत का 'यह रजत' ऐसा अनुभव आता है। व्यावहारिक रजत का 'मैं रजत' ऐसा अनुभव आता है। व्यावहारिक रजत का 'मैं रजत' ऐसा अनुभव न आने से प्रातिभासिक रजत का भी 'मैं रजत' यह अनुभव नहीं होता—समझना चाहिये।

विवरण—प्रातिभासिक रजत, इदमंशावच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठ अविद्या का कार्य है, और वह चैतन्य, प्रमातृचैतन्य से अभिन्न है। इस कारण वह, चैतन्यनिष्ठ अविद्या का कार्य है—यह सच है। तथापि उसके सहकारी कारण जो पूर्वसंस्कार हैं, वे 'अहं रजतम्' मैं रजत–इस अहमाकार अनुभव से उत्पन्न हुए नहीं हैं, क्योंकि व्यवहार में सत्य रजत का जो अनुभव आता है वह 'यह रजत' इस प्रकार आता है, 'मैं रजत' ऐसा नहीं। इसलिये 'यह रजत' इस अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से युक्त अविद्या के कार्यरूप प्रातिभासिक रजत को नियमेन इदमाकारानुभव-विषयत्व ही रहता है। अहमाकारानुभव-विषयत्व नहीं।

इस पर सिद्धन्त्येकदेशी की शंका और सिद्धान्ती के द्वारा उसका निरसन—

नन्वेवमपि मिथ्यारजतस्य साक्षात्साक्षि-सम्ब[2]न्धितया भानसंभवे रजतगोचर-ज्ञानाभासरूपाया[3] अविद्यावृत्तेरभ्युपगमः किमर्थः ? इति चेत्। न[4]। स्वगोचर-वृत्त्युपहित-चैतन्यभिन्न-सत्ताकत्वाभावस्य विषयापरोक्ष[5]रूपतया रजतस्यापरोक्षत्वसिद्धये तदभ्युपगमात्।

१. 'दमाका०'—इति पाठान्तरम्।
२. 'म्बद्धत'०—इति पाठान्तरम्।
३. 'पाऽविद्या०'–इति पाठान्तरम्।
४. 'उच्यते०'–इति पाठान्तरम्।
५. 'क्षत्वरूप०'–इति पाठान्तरम्।

अर्थ—इस रीति से तीनों प्रकार के प्रतीतिविषयों में एक ही अनुगत नियामक होने से घटादिकों को 'इदम्' = यह, इस आकार के अनुभव से उत्पन्न हुई अविद्या का कार्यत्व है, इस कारण उन घटादिकों को इदमाकार के अनुभव का विषयत्व है। अन्तःकरणादिकों को अहमाकार के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त अविद्या का कार्यत्व होने से उन अन्तःकरणादिकों को अहमाकार अनुभव का विषयत्व है। शरीर इन्द्रियादिकों को दोनों प्रकार के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त अविद्या का कार्यत्व होने से उन शरीरेन्द्रियादिकों को दोनों प्रकार के अनुभव का विषयत्व है। उनका दो प्रकार से अनुभव कैसे आता है? यह पूछो तो बताते हैं—'यह शरीर' 'मैं देह' 'मैं मनुष्य' 'मैं ब्राह्मण' 'यह चक्षुरिन्द्रिय' 'मैं काना' 'यह श्रोत्रेन्द्रिय' 'मैं बहिरा' इस प्रकार शरीरेन्द्रियादिकों का दोनों प्रकार से अनुभव आता है—यह प्रसिद्ध है।

विवरण—घटादि बाह्य पदार्थ अविद्या के कार्य हैं। परन्तु उनका पहले जो अनुभव हुआ, वह 'यह घट, यह पट' इस प्रकार से हुआ। उस अनुभव से वैसे ही संस्कार हुए। उन्हीं संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से घटादि पदार्थ रूप कार्य हुए। इस कारण इन बाह्य पदार्थों को इदमाकार अनुभव का विषयत्व है। अन्तःकरणादि भी अविद्या के कार्य हैं, परन्तु उनकी कारणभूत अविद्या, अहमाकारानुभव के उत्पन्न संस्कार से युक्त होती है इसलिए अन्तःकरणादि पदार्थ अहमाकारानुभव के विषय होते हैं। शरीर और इन्द्रियाँ भी अविद्या कार्य हैं परन्तु वे (कार्य) 'यह' और 'मैं' इन दोनों प्रकार के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये उनका दोनों प्रकार से अनुभव आता है। 'अहम्' अनुभव आत्मा को विषय करता है। और 'यह' अनुभव आत्मभिन्न पदार्थों को विषय करता है। इन अनुभवों से वैसे ही संस्कार होते हैं। उन संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से पैदा होने वाले कार्य भी वैसे ही अनुभवों के विषय होते हैं। जैसे—यह घट, यह वृक्ष, यह पुष्प, यह मैं इत्यादि। परन्तु शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि देह और देहसम्बन्धी पदार्थ 'इदम्' और 'अहम्' इन दोनों प्रकार के संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से पैदा होने के कारण उनका दोनों प्रकार से अनुभव होता है। जैसे यह शरीर, यह चक्षुरिन्द्रिय, यह श्रोत्रेन्द्रिय इत्यादि, और 'मैं देह, मैं मनुष्य, मैं ब्राह्मण, मैं काना, मैं बहिरा इत्यादि।

अब इसी उक्त नियामक की 'यह रजत' इस प्रकृत विषय में योजना कर के दिखाते हैं—

प्रकृते च प्रातिभासिक-रजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेद[1]मंशा-वच्छिन्न-चैतन्य-निष्ठाऽविद्याकार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थली-

१. 'दमव०'—इति पाठान्तरम्।

येद[1]मंशाकारानुभवाहित-संस्कारजन्यत्वादिदमाकारानुभव-विषयता, न त्वहं रजतमित्यहमाकारानुभव-विषयतेत्यनुसन्धेयम् ॥

अर्थ—प्रकृत में (शुक्ति रजत–इस उदाहरण में) प्रातिभासिक रजत, यद्यपि प्रमातृचैतन्य से अभिन्न जो इदमंशावच्छिन्न-चैतन्य, तन्निष्ठ अविद्या का कार्य है, तथापि व्यावहारिक सत्यरजत का 'यह रजत' इत्याकारक जो इदमंशाकार अनुभव, उससे उत्पन्न हुए जो संस्कार, उन संस्कारों से उत्पन्न होने के कारण (उसे) 'यह रजत' इस इदमाकार अनुभव का विषयत्व होता है। क्योंकि उस प्रातिभासिक रजत की उपादान जो अविद्या है, वह 'यह रजत' इस व्यावहारिक सत्य रजत के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार से युक्त रहती है। इसलिए उस प्रातिभासिक रजत का 'यह रजत' ऐसा अनुभव आता है। व्यावहारिक रजत का 'मैं रजत' ऐसा अनुभव आता है। व्यावहारिक रजत का 'मैं रजत' ऐसा अनुभव न आने से प्रातिभासिक रजत का भी 'मैं रजत' यह अनुभव नहीं होता—समझना चाहिये।

विवरण—प्रातिभासिक रजत, इदमंशावच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठ अविद्या का कार्य है, और वह चैतन्य, प्रमातृचैतन्य से अभिन्न है। इस कारण वह, चैतन्यनिष्ठ अविद्या का कार्य है—यह सच है। तथापि उसके सहकारी कारण जो पूर्वसंस्कार हैं, वे 'अहं रजतम्' मैं रजत–इस अहमाकार अनुभव से उत्पन्न हुए नहीं हैं, क्योंकि व्यवहार में सत्य रजत का जो अनुभव आता है वह 'यह रजत' इस प्रकार आता है, 'मैं रजत' ऐसा नहीं। इसलिये 'यह रजत' इस अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से युक्त अविद्या के कार्यरूप प्रातिभासिक रजत को नियमेन इदमाकारानुभव-विषयत्व ही रहता है। अहमाकारानुभव-विषयत्व नहीं।

इस पर सिद्धन्त्येकदेशी की शंका और सिद्धान्ती के द्वारा उसका निरसन—

नन्वेवमपि मिथ्यारजतस्य साक्षात्साक्षि-सम्ब[2]न्धितया भानसंभवे रजतगोचर-ज्ञानाभासरूपाया[3] अविद्यावृत्तेरभ्युपगमः किमर्थः? इति चेत्। न[4]। स्वगोचर-वृत्त्युपहित-चैतन्यभिन्न-सत्ताकत्वाभावस्य विषयापरोक्ष[5]रूपतया रजतस्यापरोक्षत्वसिद्धये तदभ्युपगमात्।

---

१. 'दमाका०'—इति पाठान्तरम्।
२. 'म्बद्धत'०—इति पाठान्तरम्।
३. 'पाऽविद्या०'—इति पाठान्तरम्।
४. 'उच्यते०'—इति पाठान्तरम्।
५. 'क्षत्वरूप०'—इति पाठान्तरम्।

अर्थ—ऐसा प्रतिपादित करने पर भी मिथ्या रजत का साक्षात् साक्षि-सम्बन्धित्वेन भान हो सकता है, तब रजत-विषयक अज्ञानाभासरूप अविद्या-वृत्ति का स्वीकार किस लिए ? उत्तर—अविद्यावृत्ति का स्वीकार बिना किये मिथ्या रजत का भान संभव ही नहीं, क्योंकि स्वविषय जो वृत्ति उसमें उपहित जो चैतन्य, उससे रजत की भिन्न सत्ता का न होना इसी को विषयापरोक्षरूपत्व होने से रजत का अपरोक्षत्व सिद्ध होने के लिए उस वृत्ति का स्वीकार करना पड़ता है।

विवरण—यहाँ पर अद्वैत सिद्धान्तियों में से ही एकदेशी शंका करता है—आपके कथनानुसार शुक्तिरूप्य को इदमाकारानुभवविषयत्व भले ही रहे (प्रातिभासिक रजत 'यह' आकार से अनुभव में भले ही आवे) परन्तु तन्निमित्त उस रजत को विषय करने वाली अविद्या-वृत्ति का आश्रय करने का क्या प्रयोजन ? क्योंकि उस शुक्तिरूप्य का साक्षात् अनावृत साक्षी से सम्बन्ध हुआ होने से उसका अपरोक्ष (प्रत्यक्ष ज्ञान) होना शक्य है।

समाधान—साक्षी पर आरोपित रजत की सत्ता, यद्यपि साक्षिचैतन्य से भिन्न नहीं है तथापि उस रजत का अपरोक्षत्व संभव नहीं होता। क्योंकि साक्षिचैतन्य में रजताकार वृत्त्युपहितत्व नहीं होता (साक्षिचैतन्य, रजत विषयवृत्तिरूप उपाधि से युक्त नहीं रहता) इसलिये रजत का अपरोक्षज्ञान होने के लिए अविद्यावृत्ति को अवश्य मानना चाहिए। 'न०' इत्यादि समाधान ग्रंथ का यही आशय है। विषयाकारवृत्त्युपहित चैतन्य से विषयचैतन्य की अभिन्न सत्ता का होना ही विषय का अपरोक्षत्व है। इसलिए प्रातिभासिक रजत का अपरोक्षत्व (प्रत्यक्षत्व) सिद्ध होने के लिए अविद्यावृत्ति को अवश्य ही मानना चाहिये—यह भाव है।

शंका—आपके इस समाधान पर "एक ओर ध्यान दें तो दूसरी ओर का अनुसंधान छूट जाता है" अथवा 'एक को सम्हालने जायँ तो दूसरा निकल जाता है' यह न्याय प्राप्त होता है, इस आशय से वादी की शंका और उसका सिद्धान्ती के द्वारा समाधान—

नन्विदंवृत्ते रजताकारवृत्तेश्च प्रत्येकमेकैक-विषय[1]त्वे [2]गुरुमतवद्-विशिष्टज्ञानानभ्युपगमे कुतो भ्रमज्ञानसिद्धिरिति चेत्। न। वृत्ति-

१. 'यकत्वे०'—इति पाठान्तरम्।

२. गुरुमतवत् प्रभाकरमतवत्। प्रभाकरमते 'इदं रजतम्' इति नैकं ज्ञानम्। अपितु इदमिति पुरोवर्तिद्रव्यमात्रविषयकं प्रत्यक्षम्, रजतमिति रजतविषयकं स्मरणम्। इति ग्रहण-स्मरणे एवं अगृहीत भेदे प्रवृत्ति प्रयोजयतः। इयाँस्तु विशेषः—प्राभाकरमते ग्रहण-स्मरणात्मकमितिज्ञानद्वयम्। युष्मन्मते अन्तःकरणवृत्तिः आविद्यकवृत्तिश्चेति। एवं चाख्यातिमतप्रवेशापत्तिः। अविद्यातत्परिणामादिकल्पनापेक्षया क्लृप्तसंस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वकल्पनस्यैव युक्तत्वादिति शंकाकर्तुराशयः।

द्वय-प्रतिविम्बित-चैतन्यस्यैकस्य सत्यमिथ्यावस्तु-तादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्वस्य[1] स्वीकारात् । अत[2] एव साक्षिज्ञानस्य सत्यासत्यविषयतया[3] प्रामाण्यानियमाद् अप्रामाण्योक्तिः साम्प्रदायिकानाम् ॥

अर्थ —'इदं वृत्ति' और 'रजताकारवृत्ति' इनमें प्रत्येक वृत्ति का—शुक्ति और रजत—ऐसा भिन्न-भिन्न विषय रहता है। इस कारण प्रभाकर (गुरु) मीमांसक के मतानुसार "विशेष ज्ञान का स्वीकार न करने पर 'यह रजत' इस ज्ञान के भ्रमत्व की सिद्धि न होगी" यह कहें तो ठीक नहीं। क्योंकि उन दो प्रकार की वृत्तियों में प्रतिविम्बित हुआ चैतन्य एक (अभिन्न) है, और उस ज्ञान का, सत्य तथा मिथ्या वस्तुओं का तादात्म्य, विषय है। इसलिए उस ज्ञान का भ्रमत्व स्वीकृत किया है (सत्य और मित्थ्या वस्तुओं का तादात्म्य ही उस ज्ञान का विषय होने से, वह ज्ञान, भ्रमज्ञान है। इसी कारण से साक्षिज्ञान का सत्य और असत्य दोनों प्रकार का विषय सम्भव होने से (उसका) प्रामाण्य नियमेन सिद्ध नहीं होता। अतएव साम्प्रदायिकों ने 'साक्षिज्ञान' को 'प्रामाण्य नहीं' (साक्षिज्ञान अप्रमाण है।) कहा है।

विवरण—सामने दिखाई देनेवाला शुक्त्यादि पदार्थ जिसका विषय है, ऐसी 'इदमाकार = यह इस आकारवाली' एक अन्तःकरणवृत्ति और उस शुक्ति में '(यह) रजत' है—ऐसी प्रातिभासिक रजत को विषय करने वाली दूसरी वृत्तियों को आप मानते हो, (रजत का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिए प्रातिभासिक रजताकार दूसरी अविद्यावृत्ति को आप स्वीकार करते हैं) परन्तु उससे, प्राभाकरों के समान आप पर भी विशिष्ट ज्ञान को स्वीकार न करने का प्रसंग आता है और उस कारण शुक्ति-रजत-ज्ञान के भ्रमत्व का बोध होता है। जिस प्रकार वृक्ष का हरा पत्ता, पका पत्ता, भ्रमर, जपाकुसुम आदि पृथक्-पृथक् आश्रय में क्रमशः दिखाई देनेवाले हरे, पीले, काले, लाल वर्णों से भ्रमर में 'यह चित्ररूपी भ्रमर है' ऐसी विशिष्ट बुद्धि कभी नहीं होती, उसी तरह जिनके विषय भिन्न हैं ऐसी दो वृत्तियों के योग से होने वाला 'यह रजत' इत्याकारकज्ञान, कभी भी विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकेगा। इस कारण शुक्ति में रजतज्ञान भ्रमज्ञान है, यह नहीं कह सकेंगे।

उपर्युक्त कथन प्राभाकर के मतानुसार है इसलिये इस विषय में प्राभाकर मत को संक्षेप में बता देना आवश्यक है।

---

१. 'त्वस्वी—इति पाठान्तरम्।

२. अतएव वृत्तिद्वयप्रतिफलित चैतन्यस्यैकत्वादेव।

३. अतएवोक्तं भाष्ये—"सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" इति। अनेन 'इदं रजतमिति ज्ञानस्य भ्रमत्वमुपपद्यते। अत एवोत्तरभाष्ये उक्तम्—"शुक्तिका हि रजतवदवभासते" इति।

प्राभाकर मीमांसकों के मत में—शुक्ति में 'यह रजत' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, वह विशिष्ट एक ज्ञान न होकर, उसमें दो ज्ञानों को माना है। उनमें आगे स्थित पदार्थ का 'यह' इत्याकारक जो ज्ञान होता है वह अनुभवात्मक ज्ञान है और 'रजत' इत्याकारक जो ज्ञान होता है वह दूर स्थित रजत को विषय करने वाला स्मरणात्मक ज्ञान है। इसलिये इनके मत से दो वस्तुओं के तादात्म्य को विषय करने वाला विशिष्ट ज्ञान कहीं भी और कभी भी नहीं होता। अतः सभी ज्ञान यथार्थ ही है। इसलिये प्रभाकर के मत में भ्रमज्ञान की जैसे सिद्धि नहीं होती, वैसे ही तुम्हारे मत में भी दो वृत्तियां और उनके दो विषय, ऐसा भेद स्वीकृत होने के कारण दो वस्तुओं के तादात्म्य को विषय करने वाला एक विशिष्ट ज्ञान नहीं माना जा सकता। इसलिये 'यह रजत' इत्याकारक ज्ञान, भ्रमज्ञान है—यह बात आप के सिद्धान्तानुसार सिद्ध नहीं हो पाती।

आपके मत में वृत्ति का भेद स्वीकार किया गया है। और उन वृत्तियों के विषयों का भी भेद माना गया है। आप एक इदमाकार वृत्ति मानते हैं और दूसरी रजतज्ञानाकार वृत्ति। उनमें इदमाकार वृत्ति का पुरोवर्ती शुक्त्यादि वस्तु, विषय है, और रजतज्ञानाकार वृत्ति का अविद्या-परिणामरूप प्रातिभासिक रजत विषय है। इससे 'इदं रजतम्' यहाँ पर विशिष्ट ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसीलिये वह भ्रमज्ञान है, यह भी सिद्ध नहीं होता। यह शंका पूर्वोक्त सिद्धान्त्येकदेशी की ही है। 'न वृत्तिद्वय०' इत्यादि ग्रन्थ से सिद्धान्ती समाधान करता है—आपके बताये हुए के अनुसार एक 'यह' आकार की और दूसरी 'रजत' ज्ञानाकार की—ऐसी दो वृत्तियों को यद्यपि हम मानते हैं ('इदं रजतम्' यहाँ वृत्तियों के भेद होने पर भी) तथापि ज्ञान का भेद नहीं है क्योंकि उन दोनों वृत्तियों का प्रवेश एक ही है। (वे दोनों वृत्तियाँ मठ और घट की तरह एक ही स्थान में रहती हैं) इस कारण मठ से अवच्छिन्न हुआ आकाश और घट से अवच्छिन्न हुआ आकाश जैसे एक ही है, वैसे ही इदमाकार वृत्ति में प्रतिबिंबित चैतन्य और रजतज्ञानाकार वृत्ति में प्रतिबिंबित चैतन्य एक ही है, इसलिये शुक्ति का 'इदमंश' यह सत्य वस्तु और 'रजत' यह मिथ्या वस्तु इन दोनों का तादात्म्य ही उस एक चैतन्य का (एक ही) विषय है। अतः 'इदं रजतम्' इस ज्ञान को हम भ्रम मानते हैं। उपर्युक्त शंका—समाधान का निष्कर्ष यह है—

'यह रजत' इस शुक्तिरूप्यज्ञान में आपने दो वृत्तियाँ मानी हैं। उनमें 'इदमाकार' अन्तःकरण-वृत्ति एक है। इस वृत्ति से सामने की 'शुक्ति' का ग्रहण किया जाता है। 'इदम्' से अविच्छिन्न जो चैतन्य, उसमें स्थित जो शुक्तित्वाविद्या (यह शुक्ति है—इस ज्ञान का अभाव = शुक्तित्व का अज्ञान) उस शुक्तित्वाविद्या की परिणामरूप वृत्ति दूसरी। इस अविद्या परिणामरूप वृत्ति से रजत का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इन दो वृत्तियों से दो विषयों का ग्रहण किया जाने से, वे दो ज्ञान हैं

यह कहना पड़ता है। इस कारण 'यह रजत' भ्रमात्मक ज्ञान है यह आप का सिद्धान्त बाधित होता है। और आप का प्रभाकर मत में प्रवेश हो जाता है। अर्थात् स्वसिद्धान्त-भंग और प्रभाकर मत में प्रवेश ये दो दोष आप पर आते हैं।

जिनके विषय भिन्न-भिन्न हैं ऐसी 'इदमाकार' और 'रजताकार' वृत्तियाँ यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तथापि उन दोनों वृत्तियों में प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य एक ही है। सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, प्रमातृचैतन्य, (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) और विषयावच्छिन्न चैतन्य, इन तीनों चैतन्यों का पूर्वोक्त प्रकार से ऐक्य होना अवश्य है। भ्रान्त प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय व्यावहारिक सत्य (पुरोवर्ती शुक्ति आदि वस्तु) और प्रातिभासिक रजतादि वस्तुओं का तादात्म्य है। इससे उस भ्रान्त रजत ज्ञान को विशिष्टज्ञानत्व भी है और भ्रमत्व भी है।

यस्मात् एक ही साक्षिज्ञान में सत्यासत्यवस्तुविषयत्व है (साक्षिज्ञान का विषय सत्यवस्तु होता है और असत्य वस्तु भी)। तस्मात् साम्प्रदायिकों ने 'साक्षिज्ञान में अप्रामाण्य है' यह जो कहा है वह ठीक ही है।

इस पर नैयायिकों की शंका और उसका समाधान—

ननु[1] सिद्धान्ते देशान्तरीय-रजतमप्यविद्याकार्यमध्यस्तं चेति कथं शुक्तिरूप्यस्य ततो वैलक्षण्यमिति चेत्। न। त्वन्मते सत्यत्वाविशेषेऽपि केषाञ्चित्क्षणिकत्वं केषाञ्चित्स्थायित्वमित्यत्र यदेव,[2] नियामकं, तदेव[3] स्वभावविशेषादिकं ममापि।

अर्थ—आप के सिद्धान्त के अनुसार देशान्तरीय रजत भी अविद्या का कार्य और अध्यस्त है। तब शुक्तिरूप्य को उससे वैलक्षण्य कैसे ? यह यदि आप पूछें तो वह कोई दोष नहीं है। क्योंकि आप के (नैयायिकों के) मत में समस्त कार्यों की सत्यता यद्यपि एक सी है तथापि उनमें से कुछ कार्यों में क्षणिकत्व और कुछ कार्यों में स्थायित्व माना है। परन्तु यह मानने में नियामक (कारण) क्या है ? पूछने पर, स्वभाव

---

१. पूर्वोक्तभाष्यानुसारेण ब्रह्मस्वरूपज्ञानव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यापि ज्ञानस्य भ्रमात्मकत्वमवगम्यते, भ्रमत्वं च अनिर्वचनीयतत्कालोत्पन्नवस्तुविषयत्वेनेति भवतां मतम्। तत्र यदि इदमुपपन्नं स्यात्, तर्हि घटादेर्व्यावहारिकत्वं शुक्तिरूप्यादेश्च प्रातिभासिकत्वं कुतः ? उभयोरपि अविद्याकार्यत्वाविशेषेण तन्नियामकमन्तरा तदसंभवात्। यद्यपि मूलाविद्याकार्यत्वेन व्यावहारिकत्वं, तूलाविद्याकार्यत्वेन प्रातिभासिकत्वमिति विशेषः संभवति, तथाप्ययं विशेषः शुक्तिरूप्यादीनामपि मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे न संभवतीति शंकाकर्तुराशयः।

२. 'व स्वभावविशेषादिकं नि०'—इति पाठान्तरम्।

३. 'व ममापि०'—इति पाठान्तरम्।

विशेषादिक ही उनमें नियामक है, यह आप उत्तर देते हैं। अर्थात् घटादिकों से शुक्तिरूप्य की विलक्षणता में भी नियामक मेरे मत में स्वभावविशेषादिक ही हैं।

विवरण—इतने महाप्रयास से शुक्तिरूप्य में अविद्याकार्यत्व और अध्यस्तत्व आप किसलिए सिद्ध कर रहे हैं? देशान्तरीय रजत से शुक्तिरजत का वैलक्षण्य सिद्ध करने के लिये ही कर रहे हैं। परन्तु इतना प्रयास करने पर भी व्यावहारिक सत्यरजत और शुक्तिरजत का वैलक्षण्य आप के सिद्धान्त के अनुसार नहीं हो पाता। क्योंकि आप अद्वैती, देशान्तरीय व्यावहारिक सत्य रजादिकों में भी अविद्याकार्यत्व और अध्यस्तत्व बताते हैं। तब शुक्तिरजत और देशान्तरीय रजत में विलक्षणता दिखाने के लिए आप के मत में कौन सा विशेष हेतु है? अर्थात् कोई नहीं। यह उपर्युक्त शंका का आशय है।

सिद्धान्ती—आप के (नैयायिकों के) मत में शब्द, ज्ञान, इच्छा इत्यादि गुण और घटादि अन्य पदार्थ, इन सब में सत्यत्व यद्यपि एक-सा है तथापि उनमें से शब्दादिकों में क्षणिकत्व है और घटादिकों में स्थिरत्व होता है। इस वैलक्षण्य के मानने में जो नियामक (कारण) है, वही मेरे मत में शुक्तिरजत और देशान्तरीय रजत के वैलक्षण्य का नियामक है।

द्रव्यादि अनेक सत्य पदार्थों में से घटादि पदार्थों को अक्षणिकत्व है और शब्द, ज्ञान, इच्छा इत्यादिकों को क्षणिकत्व है—इस विषय में स्वभावविशेष को नियामक, जैसे आप मानते हैं, वैसे ही अद्वैत सिद्धान्ती भी उसी को नियामक मानते हैं। अतः 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः' जो दोष दोनों पक्षों में समान हो तो उसका परिहार भी दोनों पक्षों में समान ही होता है।

उनमें से एक पक्षवाले को दूसरे पक्ष पर उस दोष को देना उचित नहीं है। अतः आप के द्वारा हमें इस तरह प्रश्न किया जाना अनुचित है।

अब सिद्धान्ती 'यद्वा' ग्रन्थ से अपने पक्ष में एक और भी वैलक्षण्य उसका नियामक है—बताते हैं।

यद्वा[1] घटाद्यध्यासे अविद्यैव दोषत्वेनापि हेतुः, शुक्तिरूप्याद्यध्यासे तु काचादयो[2] दोषा अपि। तथा चागन्तुक[3]दोष-जन्यत्वं

---

१. घटाद्यध्यासस्य अविद्यादोषजन्यत्वेऽपि अविद्यातिरिक्तकाचादिदोषाऽजन्यत्वात् घटादीनां न भवति, शुक्तिरूप्यादीनां तु अविद्यातिरिक्तदोषजन्यत्वात् भवतीत्याशयेनाह—'यद्वेति'।

२. 'योऽपि दोषाः'—इति पाठान्तरम्।

३. आगन्तुकदोषजन्यत्वं काचादिदोषजन्यत्वम्। इदं स्वाप्निकानां मूलाविद्याकार्यत्वमितिपक्षानुरोधेन। तथा च सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे—"स्वप्नाध्यासस्यापि अनवच्छिन्न-

प्रातिभासिकत्वे प्रयोजकम्। अत एव[1] स्वप्नोपलब्धारथादीनामागन्तुक-निद्रादिदोषजन्यत्वात्प्रातिभासिकत्वम् ॥

अर्थ—अथवा घटादिकों के अध्यास में अविद्या ही दोषत्व से कारण रहती है। परन्तु शुक्तिरूप्यादिकों के अध्यास में काचादि दोष भी कारण बनते हैं। इस कारण आगन्तुक दोषजन्यत्व शुक्तिरजतादिकों के प्रातिभासिकत्व में निमित्त हैं, और आगन्तुक दोषजन्यत्व, प्रतीत होने वाले शुक्तिरजतादिकों के प्रातिभासिकत्व में नियामक होने से ही स्वप्न में उपलब्ध होने वाले रथादिकों को प्रातिभासिकत्व (भ्रान्तत्व) है। क्योंकि उनमें आगन्तुक निद्रादिदोष-जन्यत्व है।

विवरण—सिद्धान्तियों ने प्रातिभासिक रजत और व्यावहारिक सत्य-रजत के वैलक्षण्य में स्वभावविशेषादिक एक नियामक बताया था। अब दूसरे प्रकार का वैलक्षण्य भी उसमें नियामक है। यह बताने के लिये वे कहते हैं—घटादि व्यावहारिक पदार्थ, चैतन्य पर अध्यस्त हैं। वे पदार्थ अविद्या से ही पैदा हुए हैं। और वह अविद्या ही (चैतन्य का अज्ञान ही) उस अध्यास के होने में दोष रूप से कारण भी हैं। (अविद्यारूप दोष से ही घटादिकों का चैतन्य पर आरोप होता है), पर शुक्तिरूप्यादि के अध्यास में शुक्ति आदिकों का अज्ञान रजतादिकों का कारण बनकर सिवाय काचादिक दोष भी उसमें कारण हैं। (व्यावहारिक पदार्थों का चैतन्य पर अध्यास होने में मूलाविद्या ही कारण है, वह एक दोष है। परन्तु शुक्तिरूप्यादि अध्यास में तूलाविद्या कारण है और काचादि दोष उसके सहकारी रहते हैं)। इस कारण आगन्तुक दोषजन्यत्व (क्षणिक दोष से पैदा होना) रजतादिकों के प्रातिभासिकत्व में कारण है। इसलिये स्वप्न में दीखने वाले रथादि, आगन्तुक निद्रादि दोषजन्य होने से प्रातिभासिक हैं।

इस पर अख्यातिवादी की पुनः शङ्का और निरसन—

[2]ननु स्वप्नस्थले पूर्वानुभूत—रथादेः स्मरणमात्रेणैव[3]-व्यवहारोपपत्तौ न रथादि-सृष्टि-कल्पनं गौरवादिति, चेत्। न। रथादेः

चैतन्ये अहंकारोपहितचैतन्ये वाऽवस्थाज्ञानशून्येऽध्यासात् मूलाज्ञानकार्यतायामविद्यातिरिक्तनिद्रादिदोषजन्यतयैव प्रातिभासिकत्वम्।"

१. अतएव अविद्यातिरिक्तदोषजन्यत्वस्य प्रातिभासिकत्व-प्रयोजकत्वादेव। स्वाप्नरथादौ अपि निद्रारूपदोषजन्यत्वं विद्यते, प्रातिभासिकत्वं च विद्यत इत्याशयः।

२. स्वप्ने समुपस्थितानां रथादीनां प्रातिभासिकत्वाभ्युपगमे तेषां तत्कालोत्पत्तिर्वक्तव्या, सा चानुपपन्ना, स्मरणमात्रेण प्रातिभासिकत्वव्यवहारोपपत्तौ सृष्टिकल्पनाऽनौचित्यादित्यख्यातिवादी शङ्कते।

३. 'व प्रातिभासिकत्व-व्य०'—इति पाठान्तरम्।

[1]स्मरणमात्राभ्युपगमे रथं पश्यामि स्वप्ने रथमद्राक्षमित्याद्यनुभव-विरोधापत्तेः,[2] 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' बृ० ४।३।१० इति रथादि-सृष्टि-प्रतिपादक-श्रुतिविरोधापत्तेश्च। तस्माच्छुक्तिरूप्य[3]वत् स्वप्नोलब्ध-रथादयोऽपि प्रातिभासिकाः यावत्प्रतिभासमवतिष्ठन्ते[4] ॥

अर्थ—स्वप्न में पूर्वानुभूत रथादिकों के केवल स्मरण से ही उनके व्यवहार का सम्भव होने से स्वप्न में रथादिकों की उत्पत्ति की कल्पना करना योग्य नहीं है। क्योंकि उसमें गौरव दोष होता है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि स्वप्न में रथादिकों का केवल स्मरण मान लेने पर 'मैं रथ को देखता हूँ' 'मैंने स्वप्न में रथ को देखा' इत्यादि अनुभव से विरोध होता है। उसी तरह "स्वप्न में रथादि नहीं होते। परन्तु यह स्वप्नद्रष्टा रथ, घोड़े, मार्ग आदि को उत्पन्न करता है" इत्यादि रथादिकों की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के साथ विरोध होता है। इसलिए स्वप्न में उपलब्ध होने वाले रथादिक भी, शुक्तिरूप्य की तरह प्रातिभासिक हैं। जब तक प्रतिभास रहता है तब तक वे प्रातिभासिक रथादिक अवस्थित होते हैं (रहते हैं)।

विवरण—स्वप्न के रथादिक प्रातिभासिक (भ्रान्त) हैं, यह मानने पर उनकी तात्कालिक उत्पत्ति होती है मानना होगा। (जिस समय प्रतिभास होता है उसी समय वे उत्पन्न होते हैं।) परन्तु उनकी वैसी तत्कालीन उत्पत्ति का होना सम्भव नहीं,

१. 'स्मृतिमा०'—इति पाठान्तरम्।

२. स्वप्ने रथादीनां स्मरणमात्रमिति पक्षे पश्यामीति चाक्षुषत्वानुभवो नोपपद्यते। यद्यपि स्वप्ने चक्षुरादीनि उपरतानि, यद्यपि च प्रातिभासिकानामज्ञातसत्त्वानभ्युपगमात् प्रातिभासिकचक्षुरादिकल्पनमपि न संभवति तथापि चक्षुर्ग्राह्यत्वमात्रकल्पनया चाक्षुषानुभवस्य भ्रमरूपस्य कल्पनायां न दोषः। तदुक्तं सिद्धान्तलेशे "तस्मात् सर्वथापि स्वप्ने चक्षुरादिव्यापाराऽसंभवात् स्वाप्नगजादौ चाक्षुषत्वानुभवो भ्रमः।" अत एव "रथादाविन्द्रियग्राह्यत्वमपि प्रातिभासिकम्, तदा सर्वेन्द्रियाणामुपरमात्" इत्युक्तग्रन्थोऽपि उपपद्यते।

३. 'प्यादिव०' इति पाठान्तरम्।

४. स्वाप्निकानुभवः अन्यथाख्यातिरेवेति कस्यचिन्मतमपि अयुक्तम्। जाग्रद्भोगप्रदकर्मोपरमे सति स्वाप्नभोगप्रदकर्माभिव्यक्त्यनन्तरं रथान्, रथयुक्तानश्वान् मार्गांश्च सृजते इति तत्सृष्टिप्रतिपादकश्रुत्या गौरवस्य प्रामाणिकतया उक्तप्रतीतेरन्यथानयनमयुक्तम्। यद्यपीदं सर्वमसृजतेति श्रुतिसिद्धानां सृज्यमानानामाकाशादीनां न प्रातिभासिकत्वम् तथापि अथशब्दस्वारस्येन आगन्तुकदोषजन्यत्वं स्वाप्निकानामेव, नाकाशादीनाम्। अतएव "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति सूत्रोपपत्तिः। प्रातिभासिकाः प्रतिभासनियतसत्ताकाः।

क्योंकि केवल स्मरण से ही उनके व्यवहार की उपपत्ति लग जाती है। इसलिए तत्कालीन उत्पत्ति की कल्पना करना अयोग्य है, इस आशय से अख्यातिवादी कहता है—"स्वप्न में जाग्रत्काल में अनुभव किये हुए रथादि वस्तुओं के केवल स्मरण से ही 'मैं रथ देखता हूँ' इत्यादि व्यवहार का सम्भव हो सकता है। इसलिये स्वप्न में रथादिकों की उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि केवल स्मरण से ही व्यवहार की उपपत्ति लग जाने से रथादि की कल्पना करने में गौरव है।

सिद्धान्ती, अख्यातिवादी की इस शंका का समाधान; प्रतीतिविरोध दिखाकर 'न०' इत्यादि ग्रन्थ से करता है–यह शङ्का उचित नहीं है। (स्वप्न में पहले देखे हुए हुए रथादिकों का केवल स्मरण होता है—यह कहना ठीक नहीं) क्योंकि स्वप्न में 'मैं इस समय रथ देख रहा हूँ, गायन सुन रहा हूँ' ऐसा वर्तमानकालीन अनुभव होता है, परन्तु स्मरण, भूतकालीन अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों का कार्य है। इसलिए स्वप्न में रथ, गायन, आदि का केवल स्मरण होता है—यह कहना अनुभव के विरुद्ध है।

शंका—किन्हीं दोषों के कारण 'मैं रथादि का स्मरण करता हूँ' इस स्मरण का अभान होता है और 'मैं रथ देखता हूँ और गाना सुनता हूँ,' ऐसी प्रतीति होती है।

समाधान—तो यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि स्वप्नकाल में दोषवश वैसी प्रतीत होती है, यह भी मान लें तब भी जाग्रदवस्था में उस दोष की निवृत्ति हुई रहती है। परन्तु उस दोषनिवृत्तिकाल में भी 'मैंने आज स्वप्न में रथ देखा, गाना सुना' यही प्रतीति होती है। इसके विपरीत 'पहिले देखे हुए रथ का मुझे आज स्वप्न में स्मरण हुआ, सुने हुए गाने का स्मरण हुआ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसलिए पूर्वोक्त प्रत्यय का व्यवहार केवल स्मृति से उपपन्न नहीं होता। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रत्यय से विरोध होने के कारण स्वप्नगत प्रत्यय को भी स्मृति नहीं कह सकते।

शंका—"जाग्रदवस्था में 'मैंने स्वप्न में रथादिकों को देखा' यह प्रतीति भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि स्वप्न की स्मृति, अनुभवाकार से उत्पन्न हुई होने से जाग्रदवस्था में उसका वैसा परामर्श होना, योग्य ही है। अर्थात् गौरवदोष से दूषित होनेवाली स्वप्न-रथ, रथादिकों की नवीन होने सृष्टि मानना योग्य नहीं है।"

समाधान—श्रुति-विरोध होने से अख्यातिवादी का यह कथन उपपन्न नहीं हो पाता। क्योंकि 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' जाग्रदवस्था में भोग देने वाला कर्म निवृत्त होकर, स्वप्न में भोग देने वाला कर्म अभिव्यक्त होने पर स्पप्नद्रष्टा जीव, रथ और उसके उपकरणभूत अश्वादि और उनके योग्य मार्ग आदि को पैदा करता है (बृ० उ० ४।३।१०) इस रथादिसृष्टि का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के साथ विरोध होता है। श्रुति में स्वप्नद्रष्टा, रथादिकों को "पैदा करता है" यह स्पष्ट बताया है। इस

कारण यहाँ पर गौरव को स्वीकार करना प्रामाणिक है। इसलिये पूर्वोक्त प्रतीति की अन्य प्रकार से उपपत्ति लगाना अयोग्य है।

इस प्रकार श्रुति-विरोध होने के कारण अन्यथाख्याति भी अयुक्त है। इस आशय स ग्रंथकार 'तस्मात्०' इत्यादि ग्रंथ से सिद्धान्त का उपसंहार करते हैं---शुक्ति में भासमान रूप्य की तरह स्वप्न में प्रतीत होनेवाले रथादिक भी प्रातिभासिक हैं। परन्तु 'प्रातिभासिक' पद के अर्थ में किसी प्रकार शंका न रहने पावे, एतदर्थ ग्रन्थकार स्वयं उस पद का व्याख्यान करते हैं---

'जब तक प्रतिभास होता है तब तक वे रहते हैं इसलिए वे प्रातिभासिक हैं' प्रतिभास का अर्थ है--आभास, भ्रम। जब तक उसकी सत्ता रहती है तभी तक जिनकी नियमेन सत्ता होती है---वे पदार्थ प्रातिभासिक कहलाते हैं।

स्वप्नगत रथादि पदार्थ प्रातिभासिक हैं और वे शुक्तिरूप्य की तरह प्रतिभास के समय उत्पन्न होते हैं। सिद्धान्तियों के इस समाधान पर पुनः शंका और उसका समाधान---

ननु[1] स्वप्ने रथाद्यधिष्ठानतयोपलभ्यमान-देशविशेषस्यापि तदाऽसन्निकृष्टतयाऽनिर्वचनीय-प्रातिभासिक-देशोऽभ्युपगन्तव्यः, तथा च रथाद्यध्यासः कुत्रेति चेत्। न[2]। चैतन्यस्य स्वयंप्रकाशस्य रथाद्य-

---

१. स्वप्ने रथादीनामधिष्ठानं किं चैतन्यम्, उत देशविशेषः? आद्येऽपि अनवच्छिन्न-चैतन्यमधिष्ठानमुत उपहितचैतन्यम् द्वितीयेऽपि अवच्छिन्नचैतन्यं किं बिम्बचैतन्यं वा उत प्रतिबिम्बचैतन्यं वा? तत्र न तावत् बिम्बचैतन्यमधिष्ठानम्, तस्यावृतस्य ज्ञानविषयत्वा-भावेन अधिष्ठानत्वाभावात्। नापि प्रतिबिम्बचैतन्यं, तस्य सिद्धान्तलेशसंग्रहोक्तरीत्या स्वयं प्रकाशस्य अज्ञातत्वाभावेन अनधिष्ठानत्वात्, किञ्चिद्रूपेण ज्ञातस्य किञ्चिद्रूपेण अज्ञातस्यैव अधिष्ठानत्वात्। अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याधिष्ठानत्वमहं गज इति प्रतीत्यापत्त्या न संभवत्येव। अतः परिशेषात् देशविशेष एवं अधिष्ठानमिति वर्णनीयम्, स च देहात् बहिःस्थश्चेत् स्वप्नकालेचक्षुरिन्द्रियोपरमेण असन्निकृष्टतया अधिष्ठा-नत्वायोगः, देहान्तःस्थश्चेत् देहान्तर्दृश्यमान परिमाणोचित देशसम्पत्त्यभावात् सोऽपि प्रातिभासिकः कल्पितः इत्यङ्गीकरणीयम्, कल्पितस्य च अज्ञानाविषयस्य अधिष्ठानत्वाऽ-योगः। एवं च निरधिष्ठानवादापत्तिः शून्याधिष्ठानतापत्तिर्वेत्याशंकर्तुराशयः।

२. देशविशेषः कल्पितः न अधिष्ठानम्, चैतन्यं तु अनवच्छिन्नमविद्याप्रतिबिम्बं वाऽधिष्ठानमिति भवत्येव। तस्य च सामान्यरूपेण ज्ञातस्यापि विशेषरूपेणाऽज्ञानमपि संभवत्येव। वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमेव अज्ञानविरोधि, न स्वरूपचैतन्यमिति एवं च न निरधिष्ठानतावादः इति समाधातुराशयः।

धिष्ठानत्वात्प्रतीय[1]मानं रथाद्यस्तीत्येव प्रतीयते इति सद्रूपेण प्रकाशमानं चैतन्यमेवाधिष्ठानम् । देशविशेषोऽपि चिदध्यस्तः प्रातिभासिकः । रथादाविन्द्रियग्राह्यत्वमपि प्रातिभासिकम्, तदा सर्वेन्द्रियाणामुपरमात् । 'अहं गजः' इत्यादि प्रतीत्यापादनन्तु पूर्ववन्निरसनीयम् । [2]स्वप्नगजादयः साक्षान्मायापरिणामा इति केचित् । अन्तःकरणद्वारा तत्परिणामा इत्यन्ये ।

अर्थ—"स्वप्न में 'रथादिकों के अधिष्ठान' इस रूप से उपलब्ध होने वाला विशिष्ट देश भी उस समय समीप न रहने से उस प्रातिभासिक देश का भी स्वीकार करना चाहिये । परन्तु उसकी कल्पना आप नहीं करते । तब उन रथादिकों की कल्पना (आभास) कहाँ होती है ? अधिष्ठान के बिना उसका होना शक्य नहीं ।" ऐसा यदि आप कहें तो उचित न होगा । क्योंकि स्वयंप्रकाश चैतन्य ही स्वप्नगत रथादिकों का अधिष्ठान होने से स्वप्न में प्रतीत होनेवाले रथादि पदार्थ 'हैं' इत्याकार से ही प्रतीत होते हैं । अर्थात् 'वे हैं' ऐसी ही उनकी अस्तित्वरूप से प्रतीति होती है । इसलिये सद्रूप से ('अस्ति' इस आकार से) प्रकाशित होनेवाला चैतन्य ही उनका अधिष्ठान है । उसी चैतन्य पर अध्यस्त हुआ देशविशेष भी प्रातिभासिक है । रथादिकों में प्रतीत होने वाला इन्द्रियग्राह्यत्व भी प्रातिभासिक है । क्योंकि स्वप्नकाल में सभी वाह्य इन्द्रियों का उपरम (लय) हुआ रहता है ।

शंका—यदि ऐसी स्थिति है तो स्वप्न में चैतन्य पर आरोपित हुए गज की 'मैं गज हूँ' ऐसी प्रतीति क्यों नहीं होती ?

---

१. 'नो हि रथादिरस्ती—इति पाठान्तरम् ।

२. स्वप्नगजादेः तत्कालोत्पन्नत्वमनुपपन्नं तेषामुपादानासंभवात् न तावच्चैतन्यं तदुपादानं तस्य अपरिणामित्वात् । नापि मूलाविद्या तस्यास्तत्तदवयवसापेक्षायाः साक्षात्तदुपादानत्वासंभवात् । यथा व्यावहारिकघटपटादिसृष्टौ अज्ञानं कपालाद्यवयवादिकमपेक्षते, कपालादिपरिणामक्रमेणैव घटादिपरिणामोदयः । अन्यथा घटादिनाशे कपालादीनामनुपलब्धिप्रसंगः । नैवं स्वाप्नरथादिसृष्टौ अज्ञानं तदवयवादिकमपेक्षते, स्वाप्नरथादीनां नाशे तदवयवादीनामनुपलब्धेः । नापि तूलाविद्या तस्या बाह्यदेशावच्छिन्न-चैतन्याश्रितायास्तत्वात् । तूलाविद्या हि वाह्यदेशावच्छिन्नचैतन्याश्रिता स्वाप्नाधिष्ठानं न भवितुमर्हति बाह्यदेशस्यापि प्रातिभासिकत्वात् । अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याश्रिताऽपि न स्वाप्नाधिष्ठानं भवितुमर्हति अन्तःकरणस्य वा गजाद्युपादानाविद्याधिष्ठानत्वे प्रमाणाभावात् । इति शंकाग्रंथस्याशयः । मायापरिणामाः मूलाविद्योपादनकाः अर्थात् अहङ्काराद्यनवच्छिन्नचैतन्यस्थाविद्यापरिणामाः । तथा च मायायाः परिणाम्युपादानत्वसंभवात् न स्वाप्नरथाद्यध्यासानुपपत्तिः ।

समाधान—व्यवहार में 'यह गज' ऐसी प्रतीति (अनुभव) हुई रहने से प्रातिभासिक गज का भी 'यह गज' इस आकार का ही प्रत्यय होता है। परन्तु 'स्वप्नगजादिक, साक्षात् माया के परिणाम हैं' अर्थात् मूलाऽविद्या, उनकी साक्षात् उपादान है। ऐसा कुछ लोग कहते हैं। और 'वे स्वप्न गजादिक, अन्तःकरण के द्वारा माया के परिणाम हैं' ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।

विवरण—शंका करने वाले का आशय यह था कि शुक्ति में भासमान चाँदी की, द्रष्टा के सामने स्थित शुक्ति, अधिष्ठान रूप में है। उसी तरह स्वप्नगत रथादिकों का अधिष्ठान आप को बताना चाहिये। उनका अधिष्ठान आप 'चैतन्य' को बताते हैं या किसी देशविशेष को। यदि चैतन्य को अधिष्ठान के रूप में बतावें तो वह चैतन्य कौन सा? शुद्धचैतन्य, या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य? इनमें से किसी भी पक्ष का संभव नहीं। क्योंकि स्वप्न के प्रातिभासिक रथादिकों के अधिष्ठान के रूप में किसी भी चैतन्य की प्रतीति नहीं होती। यदि दूसरे पक्ष का स्वीकार करें तो वह देशविशेष कौन सा? जाग्रदवस्था का बाह्य देशविशेष, या स्वप्नगत देशविशेष? 'बाह्यजाग्रदवस्था के देशविशेष का संभव नहीं होता, क्योंकि स्वप्न में जाग्रदवस्था का देश बहुत दूर होता है अर्थात् समीप नहीं होता। इस कारण यहाँ 'यह रथ' इस तरह वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। स्वप्न में दूरस्थित (इन्द्रियसन्निकृष्ट न रहनेवाला) देश-विशेष स्वप्नगत प्रातिभासिक रथ का अधिष्ठान नहीं हो सकता।

इसी तरह स्वप्नगत देशविशेष भी प्रातिभासिक रथादिकों का अधिष्ठान नहीं बन सकता। क्योंकि स्वाप्निक प्रतिभासिक रथादिकों के अधिष्ठान रूप से प्रतीत होनेवाले देश को सन्निकृष्टत्व रहता है (समीप होता है)। इस कारण उस देशविशेष का भी रथादिकों की तरह प्रातिभासिकत्व अवश्य स्वीकार करना होगा। क्योंकि स्वप्न में प्रतीत होनेवाली समस्त वस्तुएँ आपके सिद्धान्त के अनुसार प्रातिभासिक ही हुआ करती हैं। अर्थात् उस प्रातिभासिक देशविशेष को अधिष्ठान की अपेक्षा होती है। अतः स्वप्नगत देशविशेष स्वप्नगत प्रातिभासिक रजतादिकों का अधिष्ठान नहीं हो सकता। इस अभिप्राय से वादी कहता है—स्वप्न में 'रथादिकों का अधिष्ठान' इस आकार से प्रतीत होने वाला देशविशेष उस समय सन्निकृष्ट (समीपवर्ती) नहीं होता। इस कारण स्वप्न के रथादिकों का अधिष्ठान, इत्याकारक अनिर्वचनीय (सदसद्विलक्षण) प्रातिभासिक देश भी मानना होगा। क्योंकि अधिष्ठान के भ्रम का सम्भव नहीं होता। आरोपित रज्जुसर्प, शुक्तिरजत के भ्रम का तो संभव होता है। परन्तु उनके अधिष्ठानभूत रज्जु, शुक्ति आदि का भ्रम नहीं हो सकता। स्वप्न के समस्त पदार्थों का प्रातिभासिक होना तो स्पष्ट है। इसलिये स्वप्न के रथादिकों के अधिष्ठान के रूप में भासमान जो देशविशेष है उसे भी प्रातिभासिकत्व है। इस कारण रथभ्रम से पूर्व उसका विद्यमान रहना तो शक्य नहीं। परन्तु अधिष्ठान यदि पूर्वक्षण में विद्यमान रहे तभी उत्तरक्षण में उसके

विषय में प्रतिभास का संभव हो सकता है। इस कारण रथभ्रम से पूर्व अविद्यमान प्रातिभासिक देशविशेष, रथादिकों का अधिष्ठान नहीं बन सकता। और इसी कारण स्वप्नगत रथादिक भी प्रातिभासिक नहीं हैं। किन्तु वे स्मरण के विषय हैं—यह मानना होगा। अथवा उन्हें यदि प्रातिभासिक ही मानना हो तो, पूर्वक्षण में विद्यमान रहनेवाला उनका अधिष्ठान बताना होगा। बिना उसके स्वप्नरथादि का प्रातिभासिकत्व (भ्रमत्व) सिद्ध नहीं होगा।

अब आक्षेपक के विकल्पों में से पहला 'चैतन्य' पक्ष स्वीकार कर उसका प्रतिसमाधान कहते हैं—शुद्ध चैतन्य, स्वप्नरथ आदि का अधिष्ठान है। "देखनेवाले के सामने स्थित शुक्ति, रज्जु आदि पदार्थों की तरह शुद्धचैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य का (प्रमाणचैतन्य का) विषय नहीं होता और शुक्ति, रज्जु आदि पुरोवर्ती अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के विषय होनेवाले पदार्थों में ही रजत, सर्प आदि पदार्थों का प्रतिभास (भ्रम) हुआ करता है, यह प्रसिद्ध है। तब वृत्त्यवछिन्न चैतन्य का विषय न होनेवाले शुद्ध चैतन्य में स्वप्नरथादि प्रातिभासिक पदार्थों का अधिष्ठानत्व कैसे बन सकता है? यह आशंका कोई न करे इसीलिये ग्रंथकार ने रथादि प्रातिभासिक पदार्थों का अधिष्ठानभूत चैतन्य में 'स्वयंप्रकाशस्य' विशेषण दिया है। उससे स्वयंप्रकाश चैतन्य में रथादिकों का अधिष्ठानत्व है। स्वप्रकाश और परप्रकाश्य दोनों के लिये साधारण ज्ञायमानत्व ही लाघव से अधिष्ठानत्व का प्रयोजक है। स्वयंप्रकाश चैतन्य में उभयसाधारण ज्ञायमानत्व होने से उसमें स्वाप्न रथादि पदार्थों का अधिष्ठानत्व बनता है। अर्थात् उसमें अधिष्ठान बनने की योग्यता है।

शंका—"स्वयंप्रकाश चैतन्य का उस समय चिद्रूप से भान होना, रथादि जड, दुःख और असत् पदार्थों के अधिष्ठानत्व का निर्वाहक नहीं बन सकता। क्योंकि सत्, चित् और आनन्द रूप चैतन्य, असत् अचेतन, और दुःखरूप रथादि पदार्थों का अधिष्ठान बनकर उनके अस्तित्व आदि का निर्वाह कैसे कर सकेगा? क्योंकि चैतन्य और रथादि, ये दोनों परस्पर प्रतिकूल हैं। उसी तरह चैतन्य का आनन्द रूप से भान होना भी रथादिकों के अधिष्ठानत्व का निर्वाहक नहीं हो सकता। क्योंकि मूलाज्ञान की निवृत्ति हुए बिना चैतन्य का आनन्द रूप से भान होना सम्भव नहीं। अर्थात् आप जिस चैतन्य में स्वप्नगत प्रातिभासिक रथादिकों का अधिष्ठानत्व बताते हैं, उस चैतन्य का चिद्रूप से या आनन्दरूप से होने वाला भान, रथादिकों के अधिष्ठानत्व का कार्य नहीं कर सकता।"

उत्तर—स्वयंप्रकाश चैतन्य में उस रथादिकों का अधिष्ठानत्व होने से स्वप्न में प्रतीत होने वाले रथादि पदार्थ 'हैं' इस आकार से ही प्रतीत होते हैं। इस कारण सद्रूप से प्रकाशित होनेवाला चैतन्य ही उनका अधिष्ठान है। (स्वयंप्रकाश चैतन्य का सत्तारूप से होने वाला भान, रथादिकों के अधिष्ठान रूप से होकर उनका निर्वाह कर सकता है) उसी तरह 'यहाँ यह रथ है' इस प्रकार स्वप्न में रथादिकों के अधिष्ठान रूप में

प्रतीत होनेवाला देशविशेष भी प्रातिभासिक होने से वास्तव में रथादिकों का उसमें अधिष्ठानत्व नहीं है। क्योंकि वह देशविशेष भी चैतन्य पर अध्यस्त है इसलिये वह प्रातिभासिक है। स्वप्न में रथादिकों का चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य होना प्रतीत होता है, परन्तु वह भी प्रातिभासिक ही है। क्योंकि स्वप्नकाल में चक्षुरादि समस्त वाह्येन्द्रियों का अन्तःकरण में लय हो जाता है। इसलिये प्रतीत होनेवाला रथादिकों का इन्द्रियग्राह्यत्व भी प्रातिभासिक ही है।

शंका—यद्यपि चैतन्य, स्वप्नगजादिकों का अधिष्ठान है तथापि उसे अन्तःकरणावच्छिन्नत्व है ही। क्योंकि वृहदारण्यक में चैतन्यात्मा 'बुद्धि से युक्त होकर स्वप्न होता है और इस लोक में संचार करता है' यह श्रुति है।

इस कारण 'यह गज' ऐसी प्रतीति न होकर 'मैं मनुष्य' इस प्रतीति की तरह 'मैं गज' ऐसी प्रतीति होने का प्रसंग आता है। ऐसा यदि कहो तो 'मैं गज' इत्यादि प्रतीति के प्रसंग का निरसन पहले की तरह ही करना चाहिये। जिस प्रकार शुक्तिरजतादिक को इदमाकार अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त हुई अविद्या-निरूपितजन्यत्व होने के कारण 'मैं रजत' यह प्रतीति नहीं होती, वैसे ही "मैं गज' ऐसी प्रतीति नहीं होगी। निष्कर्ष यह है कि शुक्ति में यह रजत है—ऐसा जो प्रतिभास होता है वह देह के बाहर होता है। 'मैं शुक्ति रजत' यह अनुभव नहीं होता। इस कारण 'यह शुक्तिरजत' इस अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से शुक्ति रजतादिकों की उत्पत्ति होती है। पहले 'यह रजत' इत्याकारक ही अनुभव हुआ होने से भ्रमकाल में भी 'मैं शुक्ति रजत' 'मैं सर्प', ऐसा प्रत्यय नहीं होता। इसी न्याय से व्यावहारिक गज का 'यह गज' ऐसा प्रत्यय हुआ होने से प्रातिभासिक गज का भी 'यह गज' ऐसा ही प्रत्यय होता है। 'मैं गज' ऐसा प्रत्यय नहीं होता।

शंका—स्वप्नगजादि उसी काल में उत्पन्न होते हैं—यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि स्वप्नगजादिकों का योग्य उपादान नहीं वन पाता। चैतन्य कूटस्थ (अपरिणामी) होने से स्वप्नगजादिकों का उपादान नहीं वन सकता। मूलाविद्या भी उसका उपादान नहीं वन सकती, क्योंकि मूलाविद्या, उन-उन पदार्थों के अवयवों की अपेक्षा रखती है साक्षात् वह स्वयं ही किसी का भी उपादान नहीं बन सकती। किन्तु उत्पन्न होने वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों के अवयवों की सहायता लेकर ही उन-उन उत्पन्न होनेवाले पदार्थों की उपादान बन सकती है। मूलाविद्या भी स्वप्नगजादिकों का उपादान नहीं वन सकती। क्योंकि वाह्यदेशावच्छिन्न चैतन्य के आश्रय से स्थित तूलाविद्या को ही उपादानत्व होता है। अब यह विचार करना चाहिये कि वाह्यदेशावच्छिन्न चैतन्याश्रित तूलाविद्या, स्वाप्निक पदार्थों का अधिष्ठान है, या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्याश्रित तूलाविद्या, स्वाप्निक पदार्थों का अधिष्ठान है? इसमें प्रथम पक्ष का तो सम्भव नहीं होता, क्योंकि स्वप्न के वाह्यप्रदेश को भी प्रातिभासिकत्व है। दूसरे पक्ष का भी सम्भव नहीं।

क्योंकि अन्तःकरण को गजादि स्वप्न पदार्थों उपादानभूत अविद्या का अधिष्ठानित्व है—इसमें कोई प्रमाण नहीं। यह शंका कर ग्रंथकार ने मूल में स्वप्नगजादि, साक्षात् माया के = मूलाविद्या के परिणाम हैं—ऐसा कुछ लोग मानते हैं' यह पक्ष बताया है। अब 'स्वप्नगजादि प्रातिभासिक पदार्थों का उपादान कारण यदि मूलाविद्या हो तो सुषुप्ति में भी उनका प्रतिभास होगा' ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि स्वप्न में गजादिकों का उपादान कारण मूलाविद्या है और रागद्वेषादिकों से युक्त अन्तःकरण, उनका निमित्त कारण है। कारण यह है कि शुक्तिरजतादि स्थल में रागादि निमित्त कारण हैं और रज्जुसर्पस्थल में भय आदि निमित्त होते हैं। वे रागादि-धर्म अन्तःकरण में रहते हैं। उसी प्रकार दोपयुक्त अन्तःकरण स्वप्नगजादिकों का निमित्त कारण है। परन्तु सुषुप्ति में उसका (अन्तःकरण का) अभाव (लय) हो जाता है, इस कारण से निद्रा में स्वप्नगजादिकों का प्रत्यय नहीं होता।

स्वप्नगजादिक साक्षात् माया के परिणाम हैं और अन्तःकरण उनका निमित्त कारण है—यह एक पक्ष बताया गया। परन्तु स्वाप्नगजादिकों के प्रति अन्तःकरण को निमित्त-कारणत्व की कल्पना करने की अपेक्षा उन्हें अन्तःकरण के द्वारा अविद्या-परिणामित्व की कल्पना करना अच्छा होगा—ऐसा माननेवाले विद्वानों का दूसरा पक्ष भी मूल बताया गया है।

अध्यस्त-पदार्थ, अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर निवृत्त हो जाता है—यह नियम है। आप बता चुके हैं कि स्वाप्न-पदार्थ का अधिष्ठान शुद्ध-चैतन्य है। परन्तु स्वप्नदशा के बाद जाग्रत अवस्था आने पर शुद्ध-चैतन्य का साक्षात्कार तो होता नहीं। और अधिष्ठान के साक्षात्कार हुए विना तो अध्यस्त स्वाप्न-रथादिकों की निवृत्ति होना शक्य नहीं। उससे जाग्रदवस्था में स्वप्न के अध्यस्त-रथादिकों की अनुवृत्ति होना अपरिहार्य है। परन्तु अनुभव में तो यह आता नहीं। इसलिये 'स्वाप्न गजादि पदार्थ, चैतन्य पर आरोपित हैं' यह कहना अयुक्त होता है—इस आशय से वादी शंका करता है—

[1]ननु गजादेः शुद्धचैतन्याध्यस्तत्वे इदा[2]नीमधिष्ठानसाक्षात्कारा-भावेन जागरणेऽपि स्वप्नोपलब्ध-गजादयोऽनुवर्तेरन्।

अर्थ—'स्वप्नगजादि पदार्थ, शुद्ध-चैतन्य पर अध्यस्त हैं' यह यदि कहें तो स्वप्नावस्था के बाद जागरित अवस्था में जब आते हैं तब उनके अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार हुआ नहीं रहता (अद्यापि अधिष्ठान के साक्षात्कार का अभाव होने से) इसलिये जागरित-अवस्था में भी स्वप्न में उपलब्ध हुए गजादिक अनुवृत्त होंगे।

---

१. वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं बिम्बभूतशुद्धचैतन्यमेव। एवञ्च शुद्धचैतन्याधिष्ठानत्वे एव पर्यवसानात् जाग्रत्प्रपञ्चात् स्वाप्न-प्रपञ्चस्य न विशेषसिद्धिरिति शङ्काशयः।

२. 'नीं तत्सा'—इति पाठान्तरम्।

विवरण—रज्जु पर भासित हुए अध्यस्त-सर्प की निवृत्ति, रज्जु (रज्जु-सर्प के अधिष्ठान) का साक्षात्कार होने पर ही होती है। यह रज्जु है इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति जब तक नहीं हो तब तक अध्यस्त-सर्प निवृत्त नहीं होता। अर्थात् अध्यस्त-पदार्थ, अधिष्ठान-साक्षात्कार हुए बिना निवृत्त नहीं हो सकता। आपने 'स्वप्न के प्रातिभासिक रथगजादि पदार्थ शुद्ध-चैतन्य पर आरोपित हैं' कहा है। उस पर हम पूछते हैं—यदि वे शुद्ध-चैतन्य पर आरोपित हैं तो जागरित होने पर भी उनकी अनुवृत्ति होनी चाहिये। क्योंकि आरोपित की निवृत्ति अधिष्ठान के साक्षात्कार के बिना नहीं होती। यह नियम है, और वह आपको भी मान्य है। परन्तु जागरित होने पर भी शुद्ध-चैतन्य का साक्षात्कार न हो पाने से अध्यस्त स्वाप्न रथगजादिकों की निवृत्ति होना शक्य नहीं है। अर्थात् जगने पर भी उनका प्रत्यय होना चाहिये, परन्तु होता नहीं। अतः 'स्वाप्न गजादिक शुद्ध चैतन्य पर आरोपित (अध्यस्त) हैं' कहना ठीक प्रतीत नहीं होता।

इसका समाधान सिद्धान्ती कहता है—

[1]उच्यते। कार्यविनाशो[2] हि द्विविधः—कश्चिदुपादानेन सह, कश्चिद्विद्यमान एवोपादाने। आद्यो बाधः। द्वितीयस्तु निवृत्तिः। आद्यस्य कारणमधिष्ठान[3]-तत्त्वसाक्षात्कारः, तेन विनोपादानभूताया अविद्याया अनिवृत्तेः। द्वितीये विरोधिवृत्त्युत्पत्तिर्दोषनिवृत्तिश्च[4]। तदिह ब्रह्मसाक्षात्काराभावात् स्वप्नप्रपञ्चो [5]माबाधि[6]। मुसलप्रहारेण घटा-

---

१. शुद्धचैतन्याधिष्ठानत्वे ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तं बाधाभावेऽपि विनाशो विद्यत एवेति न जाग्रत्कालेऽपि स्वाप्नानुवृत्त्यापातः। कारणात्मना विनाशः कारणरूपेणापि अभावो बाधः। कारणात्मना अवस्थानं निवृत्तिरिति बाधनिवृत्त्योर्भेदः।

२. शोद्वि०'—इति पाठान्तरम्।

३. 'नसाक्षा०'—इति पाठान्तरम्।

४. 'त्तिर्वा'—इति पाठान्तरम्।

५. विभिन्नेषु ग्रन्थेषु 'मा बाधिष्ट' इति पाठ उपलभ्यते, तथापि 'माङ्' उपपदस्य 'बधेः' कर्मणि लुङि 'चिण्भावकर्मणोः' इत्ययेन 'माबाधि' इति 'स्वाप्नप्रपञ्चं मा बाधिष्ट' इति वा प्रयोगो भाव्यः। 'जागरणवृत्त्या' इति अध्याहारः कर्तव्यः। तथा च जागरणवृत्तिः स्वाप्नप्रपञ्चं मा बाधताम् परन्तु तं निवर्तयतीत्यभ्युपगमे कोऽपि विरोधो नास्ति। कर्मण एव कर्तृत्वविवक्षया यथा श्रुतपाठस्य उपपत्तिः कर्तुं शक्या, तथापि क्लिष्टकल्पनया अपेक्षितस्यार्थस्य अलाभाच्च 'मा बाधि' इत्येव पाठः साधीयान्।

६. 'धिष्ट'—इति पाठान्तरम्।

देरिव विरोधि[1]प्रत्ययान्तरोदयेन स्वप्नजनकीभूत-निद्रादि-दोषनाशेन वा गजादि-निवृत्तौ को विरोधः ।

अर्थ—उपर्युक्त शंका का समाधान कहते हैं। कार्य का विनाश दो प्रकार का है। कुछ कार्यों का विनाश उपादान कारण के साथ होता है और कुछ का विनाश उपादान की विद्यमानता में ही होता है। उपादान के साथ होनेवाले कार्यविनाश को बाध कहते हैं। और उपादान की विद्यमानता में होनेवाले विनाश को निवृत्ति कहते हैं। अधिष्ठान का साक्षात्कार होना बाध का कारण है। क्योंकि अधिष्ठान का साक्षात्कार बिना हुए भ्रान्त कार्य की उपादानभूत अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। परन्तु निवृत्तिरूप जो दूसरे प्रकार का कार्यनाश है, उसका कारण विरोधी वृत्ति की उत्पत्ति, अथवा दोष की निवृत्ति होता है। ऐसा होने से प्रकृत स्वप्नगजादिकों के उदाहरण में ब्रह्मसाक्षात्कार (अधिष्ठान साक्षात्कार) का अभाव होने से स्वप्नप्रपंच का बाध भले ही न हो, किन्तु मूसल के प्रहार से घटादिकों की निवृत्ति जैसी होती है वैसे ही पूर्व प्रत्यय के विरुद्ध दूसरा प्रत्यय उत्पन्न होने से, या स्वप्न को उत्पन्न करने वाले निद्रादि दोषों के नाश से स्वाप्नगजादिकों की यदि निवृत्ति हो जाती है तो उसमें क्या विरोध है ? अर्थात् कोई विरोध नहीं।

विवरण—अधिष्ठान का साक्षात्कार किये बिना अध्यस्त (आरोपित) पदार्थ का बाध नहीं होता। यद्यपि यह सच है तथापि शुद्ध चैतन्यरूप अधिष्ठान का साक्षात्कार बिना किये भी अध्यस्त की निवृत्ति होना संभव है। उसमें जागरित में स्वाप्नरथगजादिकों की अनुवृत्ति का प्रसंग नहीं आता। इसी संक्षिप्त समाधान के आशय से मूल में 'उच्यते' शब्द से समाधान की प्रतिज्ञा की है। स्वप्न के प्रातिभासिक रथगजादिकों का बाधरूप नाश न होने पर भी निवृत्तिरूप नाश हो सकता है। यह समाधान सिद्धान्ती को कहना है इसलिए पहले नाश दो प्रकार का है इत्यादि बताते हैं। कार्य का विनाश, बाध और निवृत्ति के भेद से दो प्रकार का है। समस्त कार्यों का उपादान जो अज्ञान उसके सहित कार्य का नाश होना बाध कहलाता है। और जो कार्यनाश उपादान के रहते हुए ही हो, उसे निवृत्ति कहते हैं। बाधरूप नाश में कारण—अधिष्ठान के स्वरूप का साक्षात्कार है। क्योंकि अधिष्ठान के स्वरूप का साक्षात्कार बिना हुए, कार्य का उपादानभूत जो अधिष्ठान का अज्ञान, उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

परन्तु निवृत्तिसंज्ञक जो दूसरा कार्यनाश है, वह विरोधी वृत्ति के उत्पन्न होने पर या जिस दोष के कारण, कार्य का भास हो रहा है उसकी निवृत्ति होने पर होता है। अर्थात् कार्य की निवृत्ति होती है।

जैसे—शुक्ति-रजतरूप कार्य के शुक्तिरूप अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर शुक्ति संबंधी अज्ञान नष्ट हो जाता है और रजतरूप कार्य का उपादानभूत जो शुक्ति का अज्ञान,

१. '—वृत्यन्तरो—' इति पाठान्तरम् ।

उस (अज्ञान) के सहित रजतरूप कार्य, नाश को प्राप्त होता हैं। इसलिए इस नाश को 'बाध' कहते हैं। और स्वप्नगजादि कार्यों का नाश, जागरणरूप स्वप्नविरोधी वृत्ति के उत्पन्न होने पर अपने आप हो जाता है। इसलिये स्वाप्नरथादिकों का नाश—निवृत्ति कहा जाता है। इस प्रकार से कार्यनाश द्विविध है।

जागरित अवस्था में ब्रह्म-साक्षात्कार का अभाव रहता है। इस कारण स्वप्नप्रपंच की उपादानभूत अविद्या (अज्ञान) का नाश नहीं होता। उपादानभूत अज्ञान का नाश न होने से स्वप्नप्रपंच का बाध नहीं होता। तथापि स्वाप्निक रथगजादिकों की निवृत्तिरूप दूसरे प्रकार के नाश होने में कोई किसी प्रकार का विरोध नहीं है। कारण यह है कि समस्त प्रपंच की उपादानभूत अविद्या (अज्ञान) का ब्रह्म-साक्षात्कार से यद्यपि नाश नहीं हुआ, तथापि मुसलप्रहार से जैसे घट का नाश होता है उसी प्रकार उस स्वाप्नप्रपंच (स्वाप्नगजादि) के प्रत्यय के विरुद्ध दूसरे प्रत्यय के उत्पन्न होने से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। इस कारण ऐसी निवृत्ति को ब्रह्मसाक्षात्कारपूर्वक अज्ञान के नाश की ही कोई आवश्यकता नहीं होती। बाधरूप नाश के लिये मात्र ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा उपादानभूत अज्ञान के नाश की आवश्यकता होती है। परन्तु स्वाप्नगजादिकों का जागरण में बाध न होकर, निवृत्ति होती है। अतः कोई विरोध नहीं होता।

स्वप्न के गजादि प्रपंच की निवृत्ति, जागरणरूप विरोधीवृत्ति के उत्पन्न होने से जैसे हो सकती है, वैसे ही स्वप्न प्रत्यय को उत्पन्न करने वाले निद्रा, अदृष्टादि दोषों के नाश से भी हो सकती है।

जागरित अवस्था में स्वाप्नप्रपंच की निवृत्ति सुनकर चकित होने की आवश्यकता नहीं। स्वप्न में भी विरोधी वृत्ति के उत्पन्न होते ही पूर्व प्रतीत हुए अर्थ की निवृत्ति होती दिखाई देती है। जैसे स्वप्न में पूर्वक्षण में गज का प्रत्यय होते-होते ही दूसरा अश्वविषयक प्रत्यय उत्पन्न होने पर, गजप्रत्यय की निवृत्ति होती है—यह अनुभूत है। तात्पर्य यह है—कार्य का नाश, दूसरे विरोधी प्रत्यय की उत्पत्ति अथवा कार्य में निमित्त बननेवाले दोषों की निवृत्ति होने से भी हो सकता है। ऐसे नाश को निवृत्ति कहते हैं।

यदि ऐसी स्थिति है तो शुक्तिरूप्य के नाश को आप बाध कहेंगे या निवृत्ति ?

एवं[1] च[2] शुक्तिरूप्यस्य शुक्त्यवच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठ-तूलाविद्या-[3]

---

१. शुक्तिरूप्यस्य बाधो निवृत्तिर्वेतिजिज्ञासायां सत्यां 'एवञ्चे'ति ग्रन्थः। कार्य-नाशस्य द्वैविध्ये सिद्धे सति।

२. 'वं शुक्ति०'—इति पाठान्तरम्।

३. अविद्या तावत् त्रिविधा—मूलाऽविद्या, अवस्थाऽविद्या, तूलाऽविद्या चेति। तत्र मूलाऽविद्या अनादिभावभूता आवरणविक्षेपशक्तिमती, ब्रह्मज्ञाननाश्या, शुद्धब्रह्माश्रया तद्विषया च। अवस्थाऽविद्या-आवरण-विक्षेपशक्तिमती, ब्रह्मज्ञानाऽन्यज्ञाननाश्या,

कार्यत्वपक्षे शुक्तिरिति ज्ञानेन तदज्ञानेन सह रजतस्य बाधः। मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे तु मूलाविद्याया ब्रह्मतत्त्व[1]साक्षात्कारमात्रनिवर्त्यतया शुक्तित्वज्ञानेना[2]ऽनिवर्त्यतया[3] रजतस्य तत्र शुक्तिज्ञानान्निवृत्तिमात्रं, [4]मुसलप्रहारेण घटस्येव।

अर्थ—कार्य का नाश दो प्रकार का है—यह सिद्ध होने पर शुक्तिरूप्य, शुक्त्यवच्छिन्न—चैतन्यनिष्ठ तूलाविद्या का कार्य है—इस पक्ष में 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से शुक्तिविषयक अज्ञान के साथ रजत का बाध होता है। परन्तु शुक्तिरूप्य, मूलाविद्या का कार्य है—इस पक्ष में मूलाविद्या केवल ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार से ही निवृत्त होने योग्य है। इसलिये शुक्तिरूप्य, शुक्तित्वज्ञान से निवृत्त होना संभव नहीं। अतः इस पक्ष में शुक्तिज्ञान से रजत की, केवल निवृत्ति होती है। अधिष्ठानसाक्षात्कार के बिना ही मुसलप्रहार से घट की जैसे निवृत्ति होती है वैसे ही अधिष्ठानसाक्षात्कार से मूलाज्ञान की निवृत्ति के विना ही रजत की निवृत्ति होती है, बाध नहीं।

विवरण—शुक्ति में भासित होनेवाले रजत को शुक्तिरूप्य कहते हैं और शुक्तिज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है, बाध नहीं। यह उपर्युक्त प्रश्न का संक्षेप में उत्तर है। परन्तु प्रथमतः उस विषय में मतभेद के कारण रूढ़ हुए दो पक्षों को बताते हैं। प्रातिभासिक पदार्थ तूलाविद्या के कार्य हैं—ऐसा पद्मपादाचार्य कहते हैं। उनके मत में 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से, प्रातिभासिक पदार्थों के उपादानभूत, शुक्ति के अज्ञान के साथ रजत का बाध होता है। परन्तु प्रातिभासिक पदार्थ, मूलाविद्या के ही कार्य हैं—ऐसा मत वाचस्पति मिश्र आदिकों का है। इनके मत के अनुसार विचार करने पर वह मूलाविद्या, केवल ब्रह्मज्ञान से ही बाधित हो सकती है। सिवाय ब्रह्मज्ञान के दूसरे किसी ज्ञान से बाधित नहीं हो सकती। इसलिये 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से

मूलाऽज्ञानतादात्म्यापन्ना, सोपाधिकचिदाश्रया तद्विषया च। तूलाऽविद्या तु आवरणविशेपशक्तिमती, ब्रह्मज्ञानाऽन्यज्ञाननाश्या, मूलाज्ञानतादात्म्यानापन्ना, सोपाधिकचिदाश्रया तद्विषया च। तत्र शुक्तिरूप्यादिकं तूलाऽविद्याया कार्यमितीष्टसिद्धिकाराः। तथाचोक्तमिष्टसिद्धौ—"किमनन्तानि शुक्त्यज्ञानानि ? बाढम्, अनन्तान्येवे"ति। अनेन तूलाऽविद्याऽवस्थाऽविद्ययोर्भेद एव वर्तते। अद्वैतसिद्धौ प्रतिकर्मव्यवस्थायां—"तूलाऽज्ञाननाशाद्वाऽवस्थाविशेषप्रच्यवाद्वे"ति।

१. 'ह्मसाक्षा'—इति पाठान्तरम्।
२. अनिवर्त्यतया मूलाऽविद्याया इत्यनेनान्वयः।
३. 'या तत्र'—इति पाठान्तरम्।
४. 'मुद्गरप्र०'—इति पाठान्तरम्।

मूलाविद्या का बाध न होने पर भी मुसलप्रहार से उपादानभूत मूलाज्ञान के रहते ही मृत्तिका में होनेवाली घट की निवृत्ति के समान शुक्तिज्ञान से शुक्तिरूप्य की निवृत्ति ही होती है। बाध नहीं।

इस विषय में पद्मपादाचार्य ने अपने पंचपादिका ग्रन्थ में "शुक्तित्वज्ञान ही बाधक है, और 'यह रजत नहीं'—यह अनुवाद है" कहा है। इस कारण 'यह रजत नहीं' यह ज्ञान अनुवाद है। क्योंकि शुक्तित्वप्रकारक ज्ञान, रजतादि भेद के अज्ञान का निवर्तक होता है। (शुक्तिरूप्य तो शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ तूलाविद्या का कार्य है) इस पक्ष में 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से तूलाविद्या-रूप शुक्तित्व के अज्ञान के साथ प्रातिभासिक रजत का बाध होता है। मूलाविद्या की ही एक अवस्थाविशेष तूलाविद्या है। (मूलाविद्या की ही वह एक विशिष्ठावस्था है)। 'विवरण' ग्रन्थ में इस विषय में 'रजतादिकों के उपादानभूत अज्ञान, मूलाविद्या के ही अवस्थाभेद हैं। वे अज्ञान, शुक्तिकादिकों के ज्ञानों से अध्यास के साथ निवृत्त होते हैं' ऐसा स्पष्ट कहा ।

परन्तु शुक्तिरूप्यादि, मूलाविद्या का ही कार्य है—इस पक्ष में स्वप्नगजादिकों के समान शुक्तिरूप्य की निवृत्ति होती है, बाध नहीं, क्योंकि मूलाविद्या, केवल ब्रह्मस्वरूप-साक्षात्कार से ही निवृत्त होती है। वह शुक्तित्वज्ञान से निवृत्त नहीं होती। अत: ऐसे स्थल पर शुक्तिज्ञान से, उस शुक्ति में प्रातिभासिक रजत की केवल निवृत्ति होती है।

शंका—शुक्तिज्ञान से शुक्तिरूप्य का बाध न होकर केवल निवृत्ति ही यदि होती है तो शुक्तिरूप्य ज्ञान को प्रमात्व प्राप्त होगा। 'यह रजत है' इत्याकारक शुक्ति में होने वाला रजतज्ञान वस्तुतः अप्रमा (मिथ्या) ज्ञान है। परन्तु शुक्तिरूप्य का बाध न होकर निवृत्ति होती है, यदि स्वीकार करें वह रजतज्ञान प्रमा (यथार्थ) ज्ञान है—कहना पड़ेगा'। क्योंकि आपने 'संसार दशा में अबाधितत्व' ऐसा प्रमालक्षण के 'अबाधित' पद का स्पष्टीकरण पीछे किया है। और यहाँ शुक्तिरूप्य संसारदशा में बाधित नहीं होता, इससे शुक्तिरजतज्ञान में प्रमा का लक्षण घटित होता है' यह शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि 'अबाधित' पद से 'आगन्तुक-दोषाजन्यत्व = आगन्तुक दोष से अजन्य' अर्थ विवक्षित है। शुक्तिरूप्य-ज्ञान आगन्तुक दोषजन्य है। इस कारण वहाँ प्रमात्व का प्रसंग नहीं आने पाता।

इस पर शंका और उसका समाधान—

ननु[1] शुक्तौ रजतस्य[2] प्रतिभाससमये प्रातिभासिकत्त्वाभ्युपगमे

१. शुक्तिरजतस्य अविद्याकार्यत्वात् प्रतिभाससमये सत्त्वस्वीकारे 'नेदं रजतमि'ति त्रैकालिकनिषेधानुपपत्तिः इत्याशयः शंकाग्रन्थस्य। विषयभेदादविरोधः इति समाधान-ग्रन्थस्याशयः।

२. 'स्य प्राति···सत्ताभ्यु०' इति पाठान्तरम्।

नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधज्ञानं न स्यात्, किन्त्विदानीम् इदं न रजतमिति, इदानीं घटः श्यामो नेतिवदिति चेत्। न। न हि तत्र रजतत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावो निषेधधीविषयः,[1] किन्तु लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्न-प्रातिभासिक-रजत-प्रतियोगिताकः,[2] व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाभ्युपगमात्।

अर्थ–प्रतिभास के समय में शुक्ति में भासित होनेवाले रजत का प्रातिभासिक सत्त्व

---

१. निषेधधीविषयः—न हीत्यनेनान्वयः। नात्यन्ताभावज्ञानविषय इत्यर्थः। एवं बोद्धव्यम्—यस्य अत्यन्ताभावः स तस्याभावस्य प्रतियोगी। तस्मिन् प्रतियोगिनि या प्रतियोगिता विद्यते, सा केनचिद्धर्मेण केनचित् सम्बन्धेन च अवच्छिद्यते। येन धर्मेण निषेधः क्रियते, स प्रतियोगितावच्छेदको धर्मः। येन च सम्बन्धेन निषेधः क्रियते, स प्रतियोगितावच्छेदकः सम्बन्धः इति व्यपदिश्यते। तथा चात्र 'रजतं नास्ति' इत्यत्र यदि प्रातिभासिकरजतत्वेन रजतस्य निषेधः स्यात्, तदा तादृशाभावप्रतियोगिनि रजते या प्रतियोगिता सा रजतत्वावच्छिन्ना भवेत्, रजतत्वेन रजतस्य निषेधात्। अभावश्च रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको भवेत्। न चात्र तादृशनिषेधः संभवति, रजतत्वेन रजतस्य प्रतियोगिनस्तत्र सत्वात्, तस्य च अत्यन्ताभावविरोधित्वात्। किन्तु अन्यरूपेण निषेधः, तेन रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावो न निषेधधीविषयो भवति। तर्हि कीदृशोऽभावस्तद्विषयः इति पृच्छायां सत्यां व्यावहारिकत्वावच्छिन्नप्रतिभासिकरजतप्रतियोगिताकोऽभावो निषेधबुद्धिविषयो भवति। अयमाशयः ब्रह्मभिन्नस्य पारमार्थिकत्वाऽभावेऽपि 'अयं पारमार्थिक' इति यस्य लोके पारमार्थिकत्वेन व्यवहारः, तस्यैव धर्मः लौकिकपारमार्थिकत्वं, तेन धर्मेण अवच्छिन्ना प्रतियोगिता यस्य प्रातिभासिकरजताभावस्य सः अभावः लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रातिभासिक-रजतप्रतियोगिताकः। स एव निषेधधीविषयः।

२. ननु प्रतियोग्यवृत्तिधर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वे व्यधिकरणधर्मस्यापि प्रतियोगितावच्छेदकत्वापत्तिः इत्यत आह व्यधिकरणेति। विभिन्नं प्रतियोगिभिन्नं सत् रजतादिकमधिकरणं यस्य स व्यधिकरणः, स चासौ धर्मश्चेति व्यधिकरणधर्मः, तेन अवच्छिन्ना प्रतियोगिता यस्याभावस्य स व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावः, तस्य स्वीकारात् पूर्वोक्तस्याभावस्य निषेधधीविषयत्वेऽयमेव हेतुः। तथा च–यत्र घटत्वेन पटो निषिध्यते, तत्र पटः पटाभावस्य प्रतियोगि, किन्तु पटत्वम् अभावीयप्रतियोगिताया अवच्छेदकं न भवति, पटत्वेन पटस्य निषेधाऽकरणात् किन्तु घटत्वं तत्र प्रतियोगितावच्छेदकं, तेनैव धर्मेण तस्य निषेधात्। एवं प्रकृतेऽपि लौकिकपारमार्थिकत्वेन प्रातिभासिकरजतस्य निषेधात् लौकिकपारमार्थिकत्वं व्यधिकरणमपि प्रातिभासिकरजताभावस्य प्रतियोगिताया अवच्छेदकं, न प्रातिभासिकरजतत्वं तेन रूपेण तस्य अनिषेधात्।

यदि स्वीकार किया जाय तो 'यह रजत नहीं है' ऐसा त्रैकालिक निषेधज्ञान होगा नहीं। किन्तु 'इस समय यह रजत नहीं है' यह ज्ञान होगा। अब 'यह घट काला नहीं है' इस ज्ञान के समान ही वह भी वर्तमान निषेध ज्ञान होगा। यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'यह रजत नहीं है' इस त्रैकालिक निषेधज्ञान में रजतत्व से अवच्छिन्न जो रजत उसमें जिसकी प्रतियोगिता है ऐसा अभाव, उस निषेधज्ञान का विषय रहता है, क्योंकि व्यधिकरण-धर्म से अवच्छिन्न प्रातिभासिक-रजत में जिसकी प्रतियोगिता है, ऐसे अभाव को हमने स्वीकृत किया है।

विवरण—शुक्तिरजत, अविद्या का कार्य है। इस कारण प्रतिभास के समय में शुक्ति में भासित होनेवाले रजत का प्रातिभासिक सत्त्व माननेपर 'यह रजत नहीं है इत्याकारक त्रैकालिक निषेध-ज्ञान उपपन्न नहीं होगा। किंबहुना वैसा त्रैकालिक निषेध-ज्ञान हो ही नहीं सकेगा। उसका ज्ञान इस तरह हो सकेगा कि 'अब (वर्तमान काल में) यह घट श्याम नहीं' इस वाक्य से वर्तमानकालीन श्यामत्व के निषेध की ज्ञान जैसे होता है, वैसे ही 'अब यह रजत नहीं' वर्तमानकालीन निषेधज्ञान होगा। परन्तु 'यह शुक्ति है, रजत नहीं' त्रैकालिक निषेधज्ञान है। इस कारण 'यह शुक्ति पहले कभी रजत नहीं थी, इस समय भी नहीं है और भविष्य में भी वह रजत नहीं होगी' इत्याकारक जो ज्ञान होगा, वह त्रैकालिक निषेधज्ञान कहा जा सकता है। इसलिये शुक्तिरूप्य के प्रतिभास के समय उसकी प्रातिभासिक सत्ता मानने पर 'अब (वर्तमान में) यह रजत नहीं है' इतना ही ज्ञान होगा। पूर्वोक्त त्रैकालिक ज्ञान होगा नहीं। क्योंकि प्रतिभास के निवृत्त होते ही प्रातिभासिक सत्ता भी निवृत्त होती है। उस कारण व्यवहारदशा में 'यह शुक्ति, रजत नहीं' इतना ही ज्ञान उससे होगा। यह पूर्वोक्त शंका का आशय है।

विषय का भेद होने से त्रैकालिक निषेध से कोई विरोध नहीं हो पाता। क्योंकि 'यह रजत नहीं' इस प्रकार त्रैकालिक निषेधज्ञान जब होता है, तब उस निषेधज्ञान का, 'रजतत्व' विशेषण से विशिष्ट हुए रजत में जिसकी प्रतियोगिता है ऐसा अभाव, विषय नहीं होता है। किन्तु 'व्यावहारिकत्व'—इस विशेषण से विशिष्ट—प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रतियोगिता है—ऐसा अभाव ही 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक निषेधज्ञान का विषय है। यहाँ के 'लौकिक पारमार्थिक' पद से 'व्यावहारिक' अर्थ समझना चाहिये। 'यह रजत नहीं' इस उदाहरण में प्रातिभासिक रजत, लौकिक-पारमार्थिक (व्यावहारिक) नहीं, इस प्रकार प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रति-योगिता है ऐसा जो व्यावहारिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता का अभाव है। वही उस निषेध-ज्ञान का विषय है।

जिस प्रकार नैयायिकों ने कपाल पर भी पटत्वेन (पटत्वरूप से) घट का अभाव स्वीकार किया है उसी प्रकार हमने भी व्यधिकरणाभाव स्वीकार किया है।

व्यधिकरण धर्म का अर्थ है विरुद्ध व्यावहारिक रजतादि, जिसका अधिकरण है। वह धर्म लौकिक पारमार्थिकत्व (व्यावहारिकत्व) है। उस व्यावहारिकत्व धर्म से अवच्छिन्न प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रतियोगिता है, वह अभाव लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्न-प्रातिभासिक रजत-प्रतियोगिताक है। यही अभाव 'यह रजत नहीं' इस निषेधज्ञान का विषय है।

तथापि आपका कथन अनुपपन्न ही प्रतीत होता है। क्योंकि व्यधिकरण-धर्म का वोध होने पर या न होने पर भी उसकी अनुपपत्ति ही है। इस आशय से शंका—

ननु[1] प्रातिभासिके रजते पारमार्थिकत्वमवगतम् न वा ? अनवगते[2] प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न[3]-रजतत्त्वज्ञानाभावादभावप्रत्यक्षानुपपत्तिः, अवगतेऽपरोक्षावभासस्य[4] तत्कालीन-विषयसत्ता-नियतत्वाद्, रजते पारमार्थिकमप्यनिर्वचनीयं रजतवदेवोत्पन्नमिति तदवच्छिन्नरजतसत्त्वे तदवच्छिन्नाभावस्तस्मिन्[5] कथं वर्तते ? इति चेत्।

अर्थ—प्रातिभासिक रजत में पारमार्थिकत्व का ज्ञान हुआ है या नहीं ? ज्ञात नहीं है कहें, तो प्रतियोगितावच्छेदक (रजतत्व) से अवच्छिन्न रजत के ज्ञान में तत्त्वज्ञान का अभाव होने से, अभाव के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति होती है। रजतत्व ज्ञात है कहें, तो उसके अपरोक्षावभास की तत्कालीन विषयसत्ता के नियत होने से रजत में, (उसी की तरह) पारमार्थिकत्व भी अनिर्वचनीय उत्पन्न होने से तदवच्छिन्न रजतसत्त्व होने पर वहीं तदवच्छिन्न-रजताभाव कैसे होगा ? यह आक्षेप यदि करे तो ठीक नहीं।

विवरण—जिन शुक्ति आदिकों में 'यह रजत' इत्याकारक बुद्धि उत्पन्न होती है उस रजत में, लौकिक पारमार्थिकत्व (व्यावहारिकत्व) ज्ञात होता है या नहीं ? उस रजत में व्यावहारिकत्व ज्ञात नहीं होता—यह मानने पर 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक अभाव का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होगा। तथाहि—उस अभाव की प्रतियोगिता रजत में होने से उसका अवच्छेदक 'रजतत्व' है, परन्तु उस ज्ञान में तत्त्वज्ञानता (यथार्थता) नहीं होने से अभाव का प्रत्यक्ष अनुपपन्न होता है।

---

१. व्यधिकरणधर्मस्य अवगमे अनवगमेऽपि अनुपत्तिरिति शङ्कते 'नन्वि'त्यादिग्रन्थेन। अयमाशयः—यद्यपि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो विद्यते, तथापि तस्य ज्ञानं नैव भवेत्, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नस्य प्रतियोगिनो ज्ञानाभावात्। अभावज्ञानं प्रति प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य प्रतियोगिनो ज्ञानस्य हेतुत्वात्।

२. 'मं'—इति पाठान्तरम्। ३. 'अज्ञाना०'—इति पाठान्तरम्।

४. 'मे'—इति पाठान्तरम्। ५. 'स्तत्र'—इति पाठान्तरम्।

शंका—प्रतियोगी रजत में स्थित जो प्रातिभासिक रजतत्व है, वही प्रतियोगितावच्छेदक है—यह ज्ञान होता है। अतः उसे छोड़कर व्यावहारिक रजतत्व-तक क्यों दौड़ा जाय ? परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अभावज्ञान जिस रूप से प्रतियोगी को विषय करता है, उसका प्रतियोगितावच्छेदक नियमेन तद्रूप ही रहता है। 'यह रजत नहीं है' यहाँ रजत का अभावज्ञान, 'यह रजत व्यावहारिक नहीं है' इस प्रकार से प्रतियोगी को व्यावहारिकत्वरूप से विषय करता है। इसलिये उसमें व्यावहारिकत्व ही प्रतियोगितावच्छेदक है। परन्तु उसी का यदि बोध न होता हो तो उस अभाव के प्रत्यक्ष का असम्भव हो जाता है। क्योंकि अभाव के प्रत्यक्ष-ज्ञान करने में उसके प्रतियोगी का और प्रतियोगी के अवच्छेदक का ज्ञान होना आवश्यक है। विना उसके अभाव का प्रत्यक्षज्ञान हो नहीं सकता।

दूसरा पक्ष (प्रातिभासिक रजत में स्थित पारमार्थिकत्व अवगत था) मानें तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि किसी भी इन्द्रियसन्निकृष्ट (सम्बद्ध) वस्तु का ही प्रत्यक्ष अवभास होता है—यह नियम है। इस कारण जैसे आप कहते हैं कि प्रातिभासिक-रजत, उसी समय (प्रतिभासकाल में ही) उत्पन्न हुआ। वैसे ही उस प्रातिभासिक-रजत पर रहनेवाला व्यावहारिकत्व भी उसी समय (प्रतिभास के समय ही) उत्पन्न हुआ—मानना उचित है, और ऐसा मानने पर 'यह रजत नहीं' इत्याकारक निषेध नहीं हो सकेगा। क्योंकि इस स्थिति में निषेध का अर्थ होगा कि 'व्यावहारिकत्व से अवच्छिन्न रजत में व्यावहारिकत्वावच्छिन्न-रजत नहीं है।' परन्तु ऐसा कहने में व्याघात दोष होगा। इस कारण लौकिक पारमार्थिकत्व से (व्यावहारिकत्व से) अवच्छिन्न—प्रातिभासिक रजत है प्रतियोगी जिसका, ऐसा अभाव, 'यह रजत नहीं' इत्याकारक निषेधज्ञान का विषय नहीं बन सकता।

वादी के द्वारा ऐसी शंका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उसका परिहार करते हैं—

न[1]। पारमार्थिकत्वस्याधिष्ठाननिष्ठस्य रजते प्रतिभाससम्भवेन रजतनिष्ठ-पारमार्थिकत्वोत्पत्त्यनभ्युपगमात्। [2]यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं, तत्रैव प्रातिभासिक-वस्तूत्पत्तेरङ्गीकारात्। अत[3] एवेन्द्रिय[4]सन्निकृष्टतया

१. अवगमपक्षमालम्व्य परिहारः नेतिग्रन्थेन।

२. लौकिकपारमार्थिकत्वोत्पत्तिः कुतो नाभ्युपगम्यत इत्याशङ्कायाः परिहारः 'यत्रेति' ग्रन्थेन।

३. अतो यत्रारोप्यं सन्निकृष्टं न तत्र प्रातिभासिकवस्तूत्पत्तिः स्वीक्रियत इत्याह 'अत एवे'तिग्रन्थेन।

४. यत्र सन्निकृष्टमपि जपाकुसुमं हस्तादिद्रव्यान्तरव्यवधानात् असन्निकृष्टं तत्र स्फटिके अनिर्वचनीय-लौहित्योत्पत्तिः कुतो नांगीक्रियत इत्याशङ्कते 'नन्वित्यादिना'।

जपा[1]कुसुमगत-लौहित्यस्य स्फटिके भानसम्भवान् न स्फटिकेऽनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिः ।

अर्थ—ऐसी शंका उठाना ठीक नहीं। क्योंकि अधिष्ठाननिष्ठ पारमार्थिकत्व का रजत में प्रतिभास होना शक्य है (प्रातिभासिक रजत में शुक्ति के 'इदम्' अंश के साथ पारमार्थिकत्व का भी प्रतिभास संभव होने से) हमें रजतनिष्ठ पारमार्थिकत्व की तत्काल उत्पत्ति नहीं माननी पड़ती, क्योंकि जहाँ पर आरोप्य सन्निकृष्ट न होकर इन्द्रिय से असन्निकृष्ट (असम्बद्ध) रहता है वहीं पर प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति को हम मानते हैं। इसी कारण (इन्द्रियसन्निकृष्टत्व के कारण) गुडहर (जपापुष्प) की लालिमा स्फटिक में भासित होती है। अत एव स्फटिक में उसकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

इस पर एक सूक्ष्म शंका और समाधान—

नन्वेवं यत्र जपा[2]कुसुमं द्रव्यान्तर-व्यवधानादसन्निकृष्टं, तत्र लौहित्य-प्रतीत्या प्रातिभासिकं लौहित्यं स्वीक्रियतामि'ति चेत् । न । इष्टत्वात् । एवं प्रत्यक्षभ्रमान्तरेष्वपि प्रत्यक्षसामान्यलक्षणाऽनुगमो यथार्थप्रत्यक्षलक्षणासद्भावश्च दर्शनीयः ।

अर्थ—(शंका) इन्द्रियसन्निकृष्ट जपाकुसुम भी जब दूसरे (हस्तादि) द्रव्य से व्यवहित हो जाता है तब वह पुष्प, इन्द्रिय से असन्निकृष्ट हो जाता है, तथापि स्फटिक में लालिमा प्रतीत होती ही है। इस कारण ऐसे स्थलों पर प्रातिभासिक लौहित्य का स्वीकार करना ही पड़ेगा (ऐसे समय पर स्फटिक में अनिर्वचनीय लौहित्य उत्पन्न होता है—यह कहना पड़ेगा)।

यह शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि वह तो हमें इष्ट ही है (ऐसे स्थलों में आरोप्य की अनिर्वचनीय उत्पत्ति होना तो हमें स्वीकार ही है) और इसी तरह अन्य प्रत्यक्ष

इष्टापत्या परिहारः कृतः ।

ननु इन्द्रियसन्निकृष्ट-प्रभायाः स्फटिके भानसंभवात् अनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिः अनुपपन्नेति चेन्न । अस्वच्छद्रव्यस्य जपाकुसुमस्य प्रभाया एव असिद्धेः । तथा चोक्तं पञ्चपादिकायाम्—"यथा पद्मरागादिप्रभा निराश्रयापि उन्मुखा उपलक्ष्यते न तथा जपाकुसुमादेः" । तथा च 'असन्निहितस्य परत्र अवभासः अध्यासः' इत्यध्यासलक्षणं न क्वापि व्यभिचरति ।

१. '–वा–' इति पाठान्तरम् ।

२. '–वा–' इति पाठान्तरम् ।

के 'चित्त्व' रूप सामान्य लक्षण की अनुवृत्ति और यथार्थ-प्रत्यक्ष-लक्षण का असद्भाव (नास्तित्व) समझना चाहिये।

विवरण—आरोप्य पदार्थ के इन्द्रियसन्निकृष्टत्व और इन्द्रियासन्निकृष्टत्व रूप से दो भेदों की कल्पना कर जहाँ जपाकुसुम की तरह आरोप्य, इन्द्रियसन्निकृष्ट हो वहाँ स्फटिक में लालिमा अनिर्वचनीय पैदा होती है, यह मानना नहीं पड़ता, परन्तु जहाँ आरोप्य रजतादि, इन्द्रियसन्निकृष्ट नहीं रहता, वहाँ शुक्ति आदि में अनिर्वचनीय रजतादि की उत्पत्ति होना तो हम भी मानते हैं। जहाँ आरोप्य असन्निकृष्ट हुआ कि वहाँ आरोप्य की अनिर्वचनीय उत्पत्ति को हम मानते हैं, इस नियम को ध्यान में रखने से उपर्युक्त शंका नहीं उठेगी।

शंका—इन्द्रिय से सन्निकृष्ट हुई प्रभा का स्फटिक में भास हो सकेगा, तब अनिर्वचनीय लौहित्य की उत्पत्ति मानना तो अनुपपन्न भी होगा। परन्तु यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि जपाकुसुम अस्वच्छ द्रव्य है इस कारण उसकी प्रभा का ही संभव नहीं। पंचपादिका में भी 'जैसी पद्मरागादि मणियों की प्रभा, विना आश्रय के भी ऊपर की ओर फैली दीखती है, वैसी जपाकुसुमादिकों की प्रभा, ऊपर या चारों ओर फैली नहीं दीखती' कहा है। इसलिये 'असन्निहित' = असमीप के पदार्थ का 'परत्र' अन्य पदार्थ में अवभास होना, यह अध्यास का लक्षण कहीं पर भी व्यभिचरित नहीं होने पाता।

शंका—शुक्ति में रजत के अध्यास का संभव होने पर भी अहंकारादिकों का आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा, अध्यास का अधिष्ठान हो नहीं सकता। कारण यह है कि अधिष्ठान का अध्यस्यमान के सदृश होना, (जिसका उस पर अध्यास करना है उसके समान होना) दो अंशों से युक्त होना, परिच्छिन्न और अध्यस्यमान के साथ ही एक ज्ञान का विषय बनने योग्य होना आवश्यक होता है। जैसे—शुक्तिरूप अधिष्ठान, अध्यस्यमान रजत के समान, 'इदं' और त्रिकोणत्वादि दो अंशों से युक्त, परिच्छिन्न = मर्यादित और रजत के साथ एक ही ज्ञान का विषय बनने योग्य होता है, परन्तु आत्मा में यह अधिष्ठान की सामग्री नहीं होती। इसलिये आत्मा, अहंकारादिकों के अध्यास का अधिष्ठान नहीं बन पाता।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अहंकारादि कार्य अविद्या में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य पर आरोपित किया जाता है। इसका कारण यह है कि कार्य का अध्यास कारणावच्छिन्न में होना ही उचित है। अहंकार का कारण अज्ञान है। उस अज्ञान से अवच्छिन्न = युक्त, विशिष्ट चैतन्य पर कार्यरूप अहंकार का अध्यास होना योग्य ही है।

शंका—ऐसा कहने पर समानाश्रयत्व का भंग होता है।

सिद्धान्ती—समानाश्रयत्व का भंग नहीं होता। क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता होने से समानाश्रयत्व का भंग नहीं होता। इसी करण अहंकारादिकों के अधिष्ठानभूत चैतन्य का अभिधेयत्वादि (विषयत्वादि) भी ठीक वन जाता है। अहंकार

जैसे घटादिकों से पृथक्तया प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा भी, घटादिकों से विलक्षण प्रत्यय का विषय बनता है। घटादि 'इदम्' (यह) प्रत्यय का विषय होता है। आत्मा, अहंकारादि पदार्थ 'अहम्' आकार से प्रतीत होते हैं, इस कारण अहंकारादि अध्यस्यमान पदार्थ के साथ आत्मा का सादृश्य भी बन जाता है। और अविद्या के कारण उसके सांशत्व, विषयत्व, परिच्छिन्नत्व भी संभव होते हैं। इसलिये आत्मा, अहंकारादि आरोप्यों का अधिष्ठान हो सकता है। परन्तु अध्यास में प्रमाणदोष की आवश्यकता होती है। इस अध्यास में अविद्या को ही दोषत्व है। आत्मा और अहंकार के अध्यास में, अविद्या ही महादोष है। आत्मा के विषयत्व, परिच्छिन्नत्व आदि मानने में अपसिद्धान्त की शंका भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि आत्मा सदैव अविषय ही होता है—यह नियम नहीं। उसे 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्व' = 'मैं' प्रत्यय का विषयत्व है' इस प्रकार अध्यासभाष्य में भाष्यकार ने ही मुख्य आत्मा को विषयत्वादि न होने पर भी अमुख्य आत्मा का विषयत्व स्वीकृत किया है।

इसके अतिरिक्त, 'साक्षात् प्रकाशमानत्व ही अधिष्ठानत्व का प्रयोजक है' 'उस अधिष्ठान का विषयत्व भी अधिष्ठानत्व का प्रयोजक है—यह गौरवदोष के कारण नहीं कहा जा सकता। परन्तु अधिष्ठान को विषयत्व के बिना ही साक्षात् प्रकाशमानत्व होता है—यह कहीं भी अनुभव में नहीं आता। ऐसी शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि न्याय के मत में अधिष्ठान को क्वचित् मन के द्वारा अपरोक्षत्व रहता है और कहीं दो नेत्रों से अपरोक्षत्व होता है। वैसे ही हमारे मत में कोई बाधक न होने से अधिष्ठान में स्वयं भी अपरोक्षता रहती है।

शंका—स्वयं अपरोक्ष होनेवाले आत्मा में अध्यास का कोई उदाहरण क्या आप दिखा सकते हैं ?

समाधान—स्वयं अपरोक्ष होनेवाले (स्वयंप्रकाश) आत्मा में अज्ञान, शोक, मोह, स्वप्नादिकों का अध्यास हुआ प्रतिदिन अनुभव में आने से न्याय के मत में नेत्रों का विषय होनेवाली शुक्ति में (अधिष्ठान में) जैसा रजतादि भ्रम स्वीकार किया गया है वैसे ही स्वयं अपरोक्ष होनेवाले आत्मा में अहंकारादिकों का भ्रम होता है। इसमें कोई बाधक नहीं है।

शंका—स्वयंप्रकाश आत्मा का ज्ञात अंश और अज्ञात अंश का असम्भव होने से अधिष्ठानत्व कैसे ?

समाधान—कुछ दूरी पर स्थित दो वृक्ष वृक्षत्वेन प्रतीत होने पर भी उनका यथार्थ भेद-ज्ञान नहीं होता—यह माना जाता है। ऐसा न माना जाय तो उनके अभेद-भ्रान्ति का उदय ही नहीं होगा। इसी उदाहरण के ज्ञात हुए आत्मा में भी अज्ञातत्व का सम्भव होने से उसमें अधिष्ठानत्व की सम्भावना हो सकती है। क्योंकि भेद ही वस्तु का स्वरूप है। वस्तु का स्वरूप धर्म नहीं है। क्योंकि धर्म को वस्तु का स्वरूप मानने पर

अन्योन्याश्रय दोष होगा। यह संक्षेपशारीरक के प्रथम अध्याय में बताया गया है। इसी न्याय से शंख पीतवर्ण है, शर्करा कटु है आदि-आदि अन्य प्रत्यक्ष भ्रमों में भी, प्रत्यक्ष-प्रमा के 'चित्त्व' रूप सामान्यलक्षण की अनुवृत्ति होती है। 'चित्त्व' लक्षण भ्रम तथा प्रमा (यथार्थ ज्ञान) दोनों के लिये साधारण प्रत्यक्ष-लक्षण है। इसलिये 'चित्त्व' की भ्रम में अतिव्याप्ति की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सामान्य-लक्षण होने से भ्रम भी उसका लक्ष्य है। 'प्रमाणचैतन्य का अबाधित, योग्य, वर्तमान, विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभिन्नत्व' ही यथार्थ-प्रत्यक्ष का लक्षण है। इस कारण इस लक्षण की भी भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि भ्रम का विषय बाधित होता है, और प्रमा का विषय अबाधित होता है।

यहाँ तक 'ज्ञानगत प्रत्यक्ष' और 'विषयगत प्रत्यक्ष' दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष, जीव-साक्षि और ईश्वरसाक्षि भेद से दो प्रकार का है—बताया गया। अब अन्य प्रकार से उसका विभाग बताते हैं—

उक्तं प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण द्विविधम्, इन्द्रियजन्यं[1] तदजन्यं

---

१. इन्द्रस्य इमानि इन्द्रियाणि इति व्युत्पत्त्या आत्मनः सुखादिभोक्तृत्वे साधनानि इन्द्रियपदेन व्यवह्रियन्ते इति श्रीवाचस्पतिमिश्रपादाः। इन्द्रियलक्षणन्तु शास्त्रदीपिकायां "यत् सम्प्रयुक्तेऽर्थे विशदावभासं ज्ञानं जनयति तत् इन्द्रियम्।"

इन्द्रियसद्भावे प्रमाणानि तु 'रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः कार्यत्वात् घटादिवत्' इत्यनुमानम् "इन्द्रियाणि हयानाहुरि"ति काठकश्रुतिः, "मनः षष्ठानीन्द्रियाणी"ति स्मृतिश्च भवन्ति। तथा च इन्द्रियजन्यमित्यत्र इन्द्रियशब्देन ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च गृह्यन्ते; न तु नैयायिकवत् षट्, नापि दश, मनसः इन्द्रियत्वनिराकरणात्, कर्मेन्द्रियाणां ज्ञानाऽजनकत्वाच्च। तत्र 'इन्द्रियाणि अप्राप्यकारीणि' इति सौगता मन्यन्ते, तन्निराकर्तुं "सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्व-स्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति" इत्युक्तम्। तत्र विषयसंयोगो हि इन्द्रियाणां विषयदेशगमनात्, विषयाणामिन्द्रियदेशम्प्रत्यागमनाच्च भवितुमर्हति। तत्र किं सर्वेषामिन्द्रियाणां विषयदेशगमनम्, उत विषयाणां सर्वेषामिन्द्रिय-सम्बन्धो विवक्षितः, आहो केषाञ्चनेन्द्रियाणां विषयदेशगमनं, केषाञ्चन विषयाणामिन्द्रिय-देशगमनमिति विषयविवेको विवक्षितः इत्याशङ्कायामाह—'तत्रेति'। 'स्व-स्थानस्थिता-न्येव' इत्यत्र 'एव'कारेण चक्षुरादिवत् स्वस्थानस्थितानामेषां विषयदेशगमनं व्यव-च्छिद्यते। अर्थात् घ्राण-रसन-त्वगिन्द्रियाणि स्व-स्वदेशम्प्रति आगतैर्विषयैः संयुक्तानि भवन्ति। इन्द्रियाणां भौतिकानां द्रव्यरूपत्वात् गमनसंभवः। विषयदेशं गत्वा विषय-पर्यन्तं विकासेन सम्बद्धचेत्यर्थः। चक्षुरादेरतिस्वच्छद्रव्यतया पूर्वदेशाऽपरित्यागेन द्रुतगत्या विषयव्याप्त्या न विषयसम्बन्धवेलायां देहस्य निरिन्द्रियत्वापत्तिः, न वा ध्रुवमण्डलादि-दर्शने विलम्बापत्तिः।

चेति। तत्रेन्द्रियाजन्यं सुखादि-प्रत्यक्षम्, मनस इन्द्रियत्व-निराकरणात्। इन्द्रियाणि पञ्च—घ्राण-रसन-चक्षुःश्रोत्र-त्वगात्मकानि। सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्व-स्व-विषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति।

ननु तैजसस्य चक्षुषः गतिमत्त्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च विषयदेशगमनं भवतु, परं श्रोत्रस्य आकाशरूपस्य अपरिच्छिन्नत्वेन (विभुत्वेन) निष्क्रियत्वात् न विषयदेशगमनसंभवः। अस्याः शंकायाः परिहारः 'श्रोत्रस्यापि' इति ग्रन्थेन कृतः यथा गोलकाधिष्ठानं चक्षुः तैजसाद् भूतादुत्पन्नं परिच्छिन्नं वस्त्वन्तरम्, तथा श्रोत्रमपि कर्णशष्कुल्यधिष्ठानमाकाशादुत्पन्नं परिच्छिन्नं वस्त्वन्तरम्। तथा चोक्तं श्लोकवार्तिके—"तेनाकाशैकदेशो वा यद्वा वस्त्वन्तरं भवेत्' इति। यथा अपरिच्छिन्नस्य तेजसो निष्क्रियत्वेऽपि परिच्छिन्नस्य तस्य क्रियावत्त्वात् विषयदेशगमनं, तथैवाकाशादुत्पन्नस्य परिच्छिन्नस्य श्रोत्रस्य क्रियावत्त्वाद् विषयदेशगमनम्। तदुक्तं विवरणे चतुर्थवर्णके—"चक्षुः श्रोत्रयोरपि प्राप्यकारित्वमनुमीयते, तस्माद्भौतिकानि परिच्छिन्नानि प्राप्यकारीणीन्द्रियाणि"। बिन्दुसन्दीपनेऽपि—"चक्षुर्वच्छ्रोत्रस्यापि पञ्चभूतकार्यत्वेन क्रियोशक्तिमत्वात् दूरदेशगमनसामर्थ्यमतो गत्वैव गृह्यत" इति।

आकाशः श्रोत्रमिति पक्षे यद्यपि श्रोत्रं विभुः, तथापि तत्पक्षे सर्वेषामेकश्रोत्रत्वादि प्रसङ्गात् न स पक्षः समीचीनः। तदुक्तं श्लोकवार्तिके—"आकाशश्रोत्रपक्षे च विभुत्वात् प्राप्तितुल्यता। दूरभावेऽपि शब्दानामिति ज्ञानं प्रसज्यते॥ श्रोत्रस्य चैवमेकत्वं सर्वप्राणभृतां भवेत्। तेनैकश्रुतिवेलायां शृणुयुः सर्व एव ते॥' इति। [श्लो० वा० अ० ६ श्लो० ५६–५७½ पृ० ७४५]

कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नो नभो भागः श्रोत्रमिति पक्षोऽपि एतेन पराहतः। निरवयवस्य आकाशस्य भागकल्पनाऽसंभवात्। तदुक्तं श्लोकवार्तिके—"तस्यानवयवत्वाच्च न धर्मा-धर्मसंस्कृतः नभोदेशो भवेच्छ्रोत्रं व्यवस्थाद्वयसिद्धये। वैशेषिकादिसिद्धान्तेष्वेवं तावत् प्रसज्यते।" [श्लो० वा० अ० ६ श्लो० ५८-५९ पृ० ७४५]

अस्तु वा कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशः श्रोत्रमिति, एवमपि तस्य परिच्छिन्नस्यापि विषयदेशगमनं विरुद्धम्। उक्तं हि शावरभाष्ये—"यदि श्रोत्रं संयोग-विभागदेशमागत्य शब्दं गृह्णीयात्, तथापि तावदनेकदेशता कदाचिदवगम्येत, न च तत् संयोगदेशमागच्छति। प्रत्यक्षा हि कर्णशष्कुली तद्देशस्था गृह्यते" इति। श्लोकवार्तिकेऽप्युक्तम्—"वक्तृवक्त्रप्रदेशानां भिन्नत्वाद् भिन्नदेशता। श्रोत्रागमनपक्षे स्यात् तद्देशे त्वेकदेशता॥" "वक्तर्येकत्र भिन्नेषु श्रोत्रेषु स्याद्विपर्ययः। तत्र हि श्रोत्रो देशानां भिन्नत्वात् भिन्नदेशता। तदागमे तु वक्त्रैक्यादेकदेशत्वसंभवः॥" [श्लो० वा० अ० ६ श्लो० १९१½, १९५½ पृ० ७७८–७७९]

एवं दिशः श्रोत्रमिति पक्षाङ्गीकारेऽपि श्रोत्रस्य विषयदेशगमनं विरुद्धमेव। अत एव—"अभिघातेन हि प्रेरिता वायवः स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः

तत्र घ्राण-रसन-[1]त्वगिन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्ध-रस-स्पर्शोपलम्भाञ्जनयन्ति। चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः। श्रोत्रस्यापि चक्षु[2]रादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमन-सम्भवात्। अत एवानुभवो भेरीशब्दो मया श्रुत इति। [3]वीचीतरङ्गादि-न्यायेन कर्णशष्कुली-प्रदेशेऽनन्तशब्दोत्पत्ति-कल्पना-

सर्वं तोदिक्कान् संयोगविभागान् उत्पादयन्ति, यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते। ते च वायोरप्रत्यक्षत्वात् संयोगविभागा नोपलभ्यन्ते, अनुपरतेष्वेव तेषु शब्दः उपलभ्यते, नोपरतेषु। अतो न दोषः। अत एव चानुवातं दूरादुपलभ्यते शब्दः" इति शब्दस्यैव ध्वन्यपरपर्यायवायवीयसंयोगविभागैः श्रोत्रदेशं प्रत्यागमनमिति शाबरभाष्योक्तिरुपपद्यते। एवं च 'चक्षुरिव श्रोत्रमपि विषयदेशं गत्वा विषयं गृह्णाति इत्युपन्यासो न मीमांसकमतेन, नापि वैशेषिकादिमतेन कापिलसांख्यादिमतेन वा कापिल-पातञ्जलयोर्हि मते अनित्यः शब्दः, स च आकाशे एव उत्पद्यते चेति सिद्धान्तः। एवं च आकाशभागस्यैव तन्मते श्रोत्रत्वेऽपि न शब्ददेशं प्रति आकाशगमनं संभवति। अतः केन मतेन श्रोत्रस्य विषयदेशम्प्रति गमनमिति पक्ष उपन्यस्त इति विचारणीयम्।

तत्र श्लोकवार्तिककाराः—"नावश्यं श्रोत्रमाकाशमस्माभिश्चाभ्युपेयते। न चानवयवं व्योम जैनसांख्यनिषेधतः॥ तेनाकाशैकदेशो वा यद्वा वस्त्वन्तरं भवेत्॥ कार्यार्थापत्तिगम्यं नः श्रोत्रं प्रतिनरं स्थितम्। यद्यपि व्यापि चैकञ्च तथापि ध्वनिसंस्कृतिः॥ अधिष्ठानेषु सा यस्य तच्छब्दम्प्रतिपत्स्यते॥ [श्लो० वा० अ० ६ श्लो० ६६–६८½ पृ० ७४७–७४८] इत्यादिना श्रोत्ररूपं बहुधा वर्णयन्ति। तत्र वस्त्वन्तरमेव श्रोत्रमिति पक्षे एकदेशिसम्मते तस्य परिच्छिन्नस्य विषय-देशगमनं भाष्याद्यविरुद्धम्, इति तदनुसारी एवायं ग्रन्थः। एवञ्च श्रोत्रस्य शब्ददेशं प्राप्तत्वात् नैयायिकप्रक्रिया गौरवग्रस्ता, अत एव उपेक्षणीया।

श्रोत्रं स्वसंयुक्तावच्छिन्नत्वसम्बन्धेन शब्दस्य ग्राहकम्, तत्पुरुषीयश्रोत्रावच्छेदेन अनुत्पद्यमानस्यापि दूरस्थस्य शब्दस्य तत्पुरुषीयश्रोत्रेण ग्रहणात्, दूरे शब्द इति प्रत्ययात्। स्वं श्रोत्रं तत्संयुक्तः शब्दस्य अवच्छेदको देशः, यस्मिन् श्रोत्रसंयुक्ते देशे आकाशे शब्दः उत्पद्यते, स एव शब्दस्य अवच्छेदको देशः, तेनावच्छिन्नः शब्दः इति शब्दे स्वयंयुक्तावच्छिन्नत्वं विद्यते इति 'स्वसंयुक्तावच्छिन्नत्वसंबन्धेन' श्रोत्रं शब्दस्य ग्राहकं भवति।

१. 'त्वगात्मकानीन्द्रि०' इति पाठान्तरम्।

२. 'क्षुर्वत्परि०'—इति पाठान्तरम्।

३. वीचीतरङ्गादिन्यायेन—आदिपदेन 'कदम्बमुकुलन्यायोऽवगन्तव्यः। तत्र-वीचीतरङ्गन्यायः—वीचेस्तरङ्गः ततोऽपि वीच्यन्तरः ततोऽपि तरङ्गान्तरमिति न्यायः।

गौरवम्, भेरीशब्दो मया श्रुत इति प्रत्यक्षस्य भ्रमत्वकल्पना-गौरवं च स्यात्। तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम् ॥

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र-विरचितायां वेदान्त-परिभाषायां
प्रत्यक्ष-परिच्छेदः समाप्तः।

—:—

अर्थ—यहाँतक बताया हुआ प्रत्यक्ष प्रकारान्तर से दो प्रकार का है। १. इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और २. इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष। उनमें सुखादिप्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है, क्योंकि हमने मन के इन्द्रियत्व का निराकरण किया है। घ्राण, रसन, चक्षु, श्रोत्र और त्वक्—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय से संयुक्त होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान को पैदा करती हैं। परन्तु उनमें से घ्राण, रसन और त्वक् तीन इन्द्रियाँ अपने स्थान में स्थित रहती हुई ही गंध, रस और स्पर्श विषयों का क्रमशः प्रत्यक्ष (अनुभव) उत्पन्न करती हैं। परन्तु चक्षु और श्रोत्र दो इन्द्रियाँ स्वयं ही जहाँ विषय हो वहाँ जाकर अपने-अपने विषयों का ग्रहण करती हैं। चक्षु के समान परिच्छिन्न होने से श्रोत्र का भी भेरी, मृदंगादि स्थानों में गमन संभव है। इसी कारण 'भेरी शब्द को मैंने सुना' 'मृदंगध्वनि को मैंने सुना' अनुभव होता है। नैयायिक वीचीतरंग न्याय से कर्णशष्कुली के प्रदेश में अनन्त शब्दों की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु इस प्रकार मानने में गौरव है और 'मैंने भेरी का शब्द सुना' इस प्रत्यक्षज्ञान में भ्रम की कल्पना करना भी दूसरा गौरव है। इस प्रकार हमने प्रत्यक्ष का व्याख्यान किया।

विवरण—इन्द्रियजन्य (इन्द्रिय से उत्पन्न हुआ) और इन्द्रियाजन्य (इन्द्रिय से उत्पन्न न हुआ) इस भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। यहाँ इन्द्रियजन्य पद के इन्द्रिय शब्द से पाँच ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण किया जाता है। नैयायिकों की तरह छह इन्द्रियाँ या औरों की तरह पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर दस इन्द्रियाँ नहीं मानी जाती। क्योंकि कर्मेन्द्रियों को ज्ञान-जनकत्व नहीं तथा मन को इन्द्रियत्व नहीं—इस बात को हमने पहले बताया है।

सन्तानस्य सर्वतः प्रसरो नास्ति इति सर्वतः प्रसरः शब्दसन्तानस्य कदम्बमुकुलन्यायेनैव संभवतीत्यभिप्रेत्य केचिदस्य ग्रन्थस्य कदम्बमुकुलन्यायोपलक्षणत्वं वर्णयन्ति। इत्थं च शब्दस्य अनित्यतावादो न युक्तः।

कदम्बमुकुलन्यायः—कदम्बो वृक्षविशेषः, तस्य मुकुलः ईषद् विकसितपुष्पं कलिकेति यावत्। गोलाकार-कदम्बपुष्पस्य गोलके सर्वावयवेषु युगपत् पुष्पाणामुत्पत्तिः। अर्थात् कदम्बवृक्षस्य कुड्मलं प्रथमवृष्टिपाते सर्वतः दशसु दिक्षु अपि सहसा विकसति। तद्वत् एकस्मात् प्रथमोत्पन्नात् शब्दात् सर्वदिक्कानि दीर्घदीर्घाणि शब्दवर्तुलानि उत्पद्यन्ते।

इन्द्रियों के अस्तित्व में यदि प्रमाण पूछो तो दो प्रमाण हैं—एक अनुमान[1] और दूसरी श्रुति। १—रूपादि ज्ञान सकरणक हैं, २—क्योंकि उन्हें क्रियात्व है, ३—छेदन क्रिया की तरह। इस अनुमान से इन्द्रियों का अस्तित्व सिद्ध होता है। काष्ठादिकों का छेदन (काटना) क्रिया है। कोई भी क्रिया विना करण (साधन) के संभव नहीं होती। रूपादिकों का ज्ञान भी क्रिया है। क्रिया कहते ही वह सकरणक होनी चाहिये। अर्थात् जिसके व्यापार से रूप का ज्ञान होता है वह रूपज्ञान में करण है। जिससे शब्द का ज्ञान होता है वह श्रोत्र, इत्यादि अनुमान से घ्राणादि ज्ञानेन्द्रियों की सिद्धि होती है। उसी तरह 'जीवात्मा शरीर त्यागकर जब जाने लगता है तब उसके पीछे-पीछे सब प्राण (इन्द्रियाँ) शरीर छोड़कर जाते हैं' (बृ. उ. ४।३।३८) यह श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है।

बौद्धों का कहना है कि 'इन्द्रियाँ, विषयों को बिना प्राप्त हुए ही विषयज्ञान कराती हैं' अतः इनका निराकरण करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि 'ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से संयुक्त होकर ही स्व-स्व विषय का ज्ञान उत्पन्न करते हैं।

परन्तु उसमें भी फलबलकल्प्य विशिष्ट स्वभाव का आश्रय करके अवान्तर भेद बताते हैं। घ्राण, रसन और त्वक् तीन इन्द्रियाँ नासिकाग्र, जिह्वाग्र और समस्त शरीर आदि अपने-अपने स्थान में स्थित होकर ही गन्ध, रस और स्पर्श आदि स्व-स्व विषय का अनुभव उत्पन्न करते हैं। (वे अपने स्थानों से निकलकर विषय के समीप नहीं पहुँचते किन्तु उनके समीप आये हुए गन्धादि विषयों का ग्रहण करते हैं) परन्तु चक्षु और श्रोत्र दो इन्द्रियाँ अपने गोलकादि स्थान से बाहर निकलकर विषय-प्रदेश में पहुँचती हैं और क्रमशः रूप और शब्द का ग्रहण करती हैं।

शंका—अपने स्थान से निकलकर विषय के समीप चक्षुरिन्द्रिय के जाने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय प्रदेश में पहुँचना सम्भव नहीं। क्योंकि कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न हुए आकाश का विषयप्रदेश में जाना कैसे हो सकता है, कारण, श्रोत्र आकाश रूप है और आकाश सर्वव्यापक है।

समाधान—श्रोत्रेन्द्रिय, आकाश के सत्त्वगुण से उत्पन्न हुआ है। यद्यपि वह व्यापक आकाश से उत्पन्न हुआ है, तथापि तेज आदि के सत्त्वगुण से उत्पन्न हुए चक्षुरादिकों की तरह परिच्छिन्न है। इस कारण उसका भेरी प्रभृतियों के प्रदेश में जाना संभव है। शब्द प्रदेश में श्रोत्र का गमन होने के कारण ही (जहाँ शब्द पैदा होता है वहाँ श्रोत्र के पहुँचने से ही) 'मैंने नगाड़े का शब्द सुना, मैंने गाय का शब्द सुना' इत्यादि अनुभव होता है। नैयायिक श्रोत्र और शब्द के संयोग की व्यवस्था, वीचीतरंग न्याय से लगाते हैं। वीची से तरंग, उससे दूसरा, उससे तीसरा इस तरह क्रम से असंख्य तरंग

१. 'रूपादिज्ञानं सकरणकं क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्'।

जैसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार नगाड़े और दण्ड के संयोग से वहाँ के आकाश में प्रथम शब्द उत्पन्न होता है, इसी असमवायिकारण से दूसरा शब्द उत्पन्न होता है, उससे तीसरा शब्द उत्पन्न होता है, इस परम्परा से श्रोत्रेन्द्रिय से संयुक्त होने वाले अन्त्य शब्द की उत्पत्ति होती है, और स्वस्थान पर स्थित श्रोत्रेन्द्रिय से उस अन्त्य शब्द का सम्बन्ध होकर शब्द का प्रत्यक्षज्ञान होता है। यह नैयायिकों की प्रक्रिया है।

परन्तु इस प्रक्रिया में अनन्त शब्द और उनकी उत्पत्ति इत्यादि गुरुकल्पना (कल्पनागौरव) करनी पड़ती है। 'वीचीतरंगादि' यहाँ आदि शब्द से 'कदम्ब-मुकुल' न्याय भी समझना चाहिए। कदम्ब-पुष्प के चारों ओर पंखुड़ियाँ जैसी एकदम फैलती हैं, उसी तरह प्रथम पैदा हुए एक शब्द से दस दिशाओं में दस शब्द उत्पन्न होते हैं, उससे और दस, इस क्रम से उत्तरोत्तर शब्दों की उत्पत्ति होकर जहाँ कर्ण-शष्कुली प्रदेश होगा वहाँ उससे उस शब्द का सम्बन्ध होता है। नैयायिकों की प्रक्रिया में कल्पनागौरव के सिवाय एक और दोष होता है। नगाड़े का शब्द सुनकर यह नगाड़े का शब्द है—यह प्रत्यक्षज्ञान होता है। नैयायिकों के कथनानुसार प्रथम शब्द से दूसरा आदि क्रम से कर्णशष्कुली प्रदेश में अन्त्य शब्द के उत्पन्न होने पर 'मैंने भेरीशब्द सुना' इस प्रत्यक्ष को भ्रम कहना पड़ेगा। परन्तु प्रत्यक्षज्ञान में भ्रमत्व की कल्पना करने में भी गौरव है।

श्रीगजाननशास्त्रि-मुसलगांवकर-विरचिते सविवरण-प्रकाशे

प्रत्यक्ष-परिच्छेदः समाप्तः ॥

—: o :—

अथानुमानपरिच्छेदः २

इस प्रकार समस्त वादियों को सम्मत तथा समस्त प्रमाणों में ज्येष्ठ ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रथमतः निरूपण करके तदनन्तर ग्रन्थकार, बहुत से वादियों को सम्मत, कुछ इने-गिने वादियों को असम्मत ऐसे अनुमान प्रमाण के निरूपण की प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

अथानुमानं निरूप्यते[1]। अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन[2] व्याप्तिज्ञान-जन्या। व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेस्तत्त्वेन तज्जन्यत्वाभावान्नानुमितित्वम्[3]।

अर्थ—प्रत्यक्षनिरूपण के अनन्तर अनुमान का निरूपण किया जाता है। जो अनुमिति-प्रमा का कारण हो वह अनुमान है। और अनुमति-प्रमा व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्य है। व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादिकों को व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्ति-ज्ञानजन्यत्व नहीं है। इसलिये अनुव्यवसाय, स्मृति, शाब्दज्ञान आदि को अनुमितित्व नहीं है।

विवरण—जिस ज्ञान से 'अनुमिति' नामक यथार्थ ज्ञान (प्रमा) होता है वह ज्ञान 'अनुमान' नाम का द्वितीय प्रमाण है। यहाँ पर 'अनुमान' नामक दूसरे प्रमाण का लक्षण किया है। इसलिये 'अनुमितिकरण' यह अनुमान-प्रमाण का लक्षण है और 'अनुमान' यह लक्ष्य है। 'अनुमीयते–अनेन इति अनुमानम्' जिस ज्ञान के कारण अग्न्यादिकों का अनुमान किया जाता है, जिस व्याप्तिज्ञान से अनुमिति-प्रमा पैदा की जाती है वह (व्याप्तिज्ञान) अनुमान है। इस रीति से व्युत्पन्न 'अनुमान' पदार्थ लक्षण है और अव्युत्पन्न (रूढ़) अनुमान शब्दार्थ, लक्ष्य है। 'व्याप्तिज्ञान' रूप अर्थ में जब 'अनुमान' शब्द व्युत्पन्न रहता है तब वह अनुमान नामक द्वितीय प्रमाण का

---

१. निरूप्यते स्वरूप-लक्षण-फलैर्ज्ञाप्यते।

२. व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिकारक-ज्ञानत्वेन। तृतीयाविभक्त्यर्थः अवच्छिन्न-त्वम्। तस्य व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकतायामन्वयः। व्याप्तिप्रकारकज्ञानस्य जनकत्वञ्च व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेन, नान्येनरूपेणेति व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वं व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनक-ताया अवच्छेदकम्, व्याप्तिज्ञाननिष्ठं जनकत्वञ्च अवच्छेद्यम्। तथा च 'व्याप्तिप्रकारक-ज्ञानत्वावच्छिन्नव्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकता-निरूपित-जन्यतावज्-ज्ञानत्वमनुमितित्वम्' इति अनुमितेर्लक्षणम्।

३. व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेः तत्त्वेन व्याप्तिज्ञानत्वेन तज्जन्यत्वाभावात् अर्थात् व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपित-जन्यतावज्ज्ञानत्वाभावात्। व्याप्तिज्ञानानुव्य-वसायं प्रति व्याप्तिज्ञानस्य विषयत्वेनैव कारणत्वात् तत्र विषयत्वावच्छिन्न-जनकता-निरूपित-जन्यतावज्ज्ञानत्वसत्त्वात् नानुमितित्वम्।

लक्षण होता है और लोकप्रसिद्ध 'अनुमान' उस लक्षण का लक्ष्य रहता है। अर्थात् व्युत्पन्न अनुमान, लक्षण और अव्युत्पन्न (रूढ़) अनुमान, लक्ष्य है।

अब 'अनुमति-करण' यहाँ अनुमिति-प्रमा का लक्षण बताते हैं 'व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या अनुमितिः—व्याप्तिज्ञानत्व से (विषयत्वादिरूप से नहीं) युक्त व्याप्तिज्ञान से जो प्रमा होती है, वह अनुमिति-प्रमा है। 'यह घट है' इस घटज्ञान में 'घटत्व' प्रकार है, इसलिये इस ज्ञान को घटत्वप्रकारक-घटज्ञान कहते हैं। इसी तरह 'यह व्याप्ति' इस ज्ञान में 'व्याप्तित्व' प्रकार है, इसलिए इस व्याप्तिज्ञान को व्याप्तित्वप्रकारकज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार 'धूम वह्निव्याप्य है' इत्याकारक व्याप्तिप्रकारक-ज्ञान में 'व्याप्ति' प्रकार है। ऐसे व्याप्तिज्ञानत्वेन रूपेण जो व्याप्ति-ज्ञान-जन्य ज्ञान हो उसे अनुमितिज्ञान कहते हैं। 'धूम-वह्निव्याप्य है' जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि रहती है—यह व्याप्ति का सामान्य उदाहरण है। ऐसे व्याप्तिज्ञानत्वेन रूपेण व्याप्तिज्ञान से जो ज्ञान होता है वह अनुमितिज्ञान है। अन्यथा 'यह व्याप्ति है' इस व्याप्ति के (व्याप्तिविषयक) ज्ञान से भी 'पर्वत वह्निमान् है' यह ज्ञान होने लगेगा। परन्तु होता नहीं है। इसलिये 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' का अर्थ 'व्याप्तिकारक-ज्ञानत्वेन' विवक्षित है।

शंका—'धूम, वह्निव्याप्य है' यह व्याप्तिप्रकारक-ज्ञान 'पर्वत वह्निमान् है' इस अनुमति के प्रति जैसे कारण होता है वैसे ही व्याप्तिज्ञान का अनुव्यवसाय, स्मृति, ध्वंस आदि के प्रति भी कारण है (वे भी व्याप्तिज्ञानजन्य हैं) अतः अनुमिति का लक्षण उनमें अतिव्याप्त होता है। क्योंकि 'मैं वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वत को जानता हूँ' यह 'अनुव्यवसाय'-ज्ञान है। इन्द्रियों से होनेवाला जो प्रथम ज्ञान है, वह 'व्यवसाय ज्ञान' कहलाता है और पश्चात् होनेवाला तद्विषयक-मानसज्ञान, अनुव्यवसाय-ज्ञान कहलाता है। इस व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय में व्यवसाय-ज्ञान कारण है (उसे व्याप्तिज्ञानजन्यत्व है) इसलिए 'व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्य-ज्ञान को अनुमति-ज्ञान कहा जाता है'—यह अनुमति-ज्ञान का लक्षण, व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय-ज्ञान में अतिव्याप्त होता है।

समाधान—यद्यपि यह सच है कि व्याप्ति का 'अनुव्यवसाय' व्याप्तिज्ञानजन्य होता है। तथापि उस अनुव्यवसाय-ज्ञान में जो जन्यत्व है, उस जन्यत्व से निरूपित (उस जन्यत्व से ज्ञात होने वाला) जो व्याप्तिज्ञान में कारणत्व है, वह व्याप्तिज्ञान के विषयत्व रूप से होता है। व्याप्तिज्ञानत्व के रूप से नहीं होता। उसी प्रकार व्याप्तिज्ञानजन्य स्मृति, शाब्दबोध, उसका ध्वंस आदिकों को भी व्याप्तिज्ञानजन्यत्व होने पर भी उनमें व्याप्तिज्ञान, विषयत्व-रूप से उनका कारण होता है। व्याप्तिज्ञानत्व रूप से नहीं होता। 'यह घट' इस ज्ञान में 'घट' उस ज्ञान का विषय होता है और विषयत्व-रूप से उस ज्ञान का जनक होता है। ज्ञानत्व-रूप से जनक नहीं होता। उसी प्रकार पूर्वोक्त अनुव्यवसायादि ज्ञान, व्याप्तिज्ञानजन्य होने पर भी व्याप्तिज्ञान का

उनके साथ विषयत्व, प्रतियोगित्वादि रूप से सम्बन्ध रहता है। ज्ञानत्व-रूप से उसे उनका जनकत्व नहीं होता। इसलिए उक्त अनुमितिलक्षण की अनुव्यवसायादि में अतिव्याप्ति नहीं है। अनुमिति का 'व्याप्तिज्ञानजन्या' इतना ही लक्षण यदि किया होता तो उस लक्षण की अनुव्यवसाय आदि में अतिव्याप्ति हुई होती। परन्तु 'व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या' इतना कहने के कारण (लक्षण में 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' यह पद जोड़ने के कारण) लक्षण पर अतिव्याप्ति दोष नहीं आने पाता।

'ज्ञानं प्रति विषयस्य कारणत्वम्' किसी भी ज्ञान में उसका विषय कारण होता है—यह नियम है। इस नियम के अनुसार 'व्याप्तिज्ञान' अपने अनुव्यवसाय का 'विषयकत्व' धर्म से कारण होता है। वह अपनी स्मृति का भी 'समान-विषयक-अनुभवत्व' धर्म से कारण होता है। वह अपने ध्वंस का भी 'प्रतियोगित्व' धर्म से कारण होता है। 'व्याप्तिज्ञानत्व' धर्म से कारण नहीं होता। वह (व्याप्तिज्ञान) तो 'व्याप्तिज्ञानत्व' धर्म से केवल अनुमिति को ही उत्पन्न करता है। इसलिये पूर्वोक्त अनुव्यवसायादिकों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

'दण्ड' पदार्थ इन्धनत्व (काष्ठत्व) धर्म से (रूप से) यद्यपि ज्वलन (जलना) क्रिया में कारण होता है, तथापि 'घट' का कारण अपने 'दण्डत्व' धर्म से ही होता है। वहाँ दण्ड की कारणता का अवच्छेदक धर्म दण्डत्व है, इन्धनत्वादि नहीं। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञान में जो अनुमति-कारणत्व है, वह 'व्याप्तिज्ञानत्व' धर्म से ही है। विषयत्वादि धर्मों से (रूपों से) नहीं। अर्थात् यहाँ कारणतावच्छेदक व्याप्तिज्ञानत्व है। इससे उक्त लक्षण पर अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

अनुमिति के कारण को अनुमान कहते हैं। परन्तु अनुमिति का करण क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर अग्रिम ग्रन्थ से उसका समाधान करते हैं—

अनुमितिकरणं च [1]व्याप्तिज्ञानं। [2]तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः,

---

१. अनुमितिकरणरूपमनुमानं निरूपयति—'अनुमितिकरणमि'ति। अनुमितिरूपायाः प्रमायाः करणं व्याप्तिज्ञानमेव। अर्थात् 'साध्याभाववदवृत्तिर्हेतु'रित्याकारकं व्याप्तिज्ञानम्। अथवा 'यावत्साधनाश्रयाश्रित-साध्यसमानाधिकरणो हेतु'रित्याकारकं ज्ञानम्। तत्र यदा साध्याभाववदवृत्तिर्हेतुरिति ज्ञानं भवति, तदा हेतौ साध्याभाववदवृत्तित्वरूपाया व्याप्तेर्ज्ञानं भवति, हेतोः साध्याभाववदवृत्तिरूपतया तत्र साध्याभाववदवृत्तित्व-धर्मस्य सत्त्वात्। यदा तु 'यावत् साधनाश्रयाश्रितसाध्यसमानाधिकरणो हेतु'रिति ज्ञानं भवति, तदापि हेतौ तादृशसमानाधिकरण्यरूपाया व्याप्तेर्ज्ञानं भवति, हेतोस्तादृशसाध्य-समानाधिकरणरूपतया तत्र तादृशसाध्यसामानाधिकरण्यस्य सत्त्वात्। एतेन ज्ञायमानस्य लिङ्गस्य अनुमितिकरणत्वे अतीतादिलिङ्गकानुमितेरुच्छेदापत्तेः, अतीतादिलिङ्गस्य तदानीमविद्यमानत्वेन ज्ञायमानत्वाभावात्। विद्यमानस्यैव ज्ञानविषयीभूतस्य ज्ञायमानत्वात्।

२. तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः व्याप्तिसंस्कारः कार्य-कारणयोर्व्याप्तिज्ञानाऽनुमित्यो-

न[1] तु तृतीय-लिङ्गपरामर्शोऽनुमितौ करणम्, तस्यानुमितिहेतुत्वाऽसिद्ध्या तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात् ।

अर्थ—व्याप्तिज्ञान, अनुमिति-करण (साधन) है, और उसका (व्याप्ति-ज्ञान का) संस्कार, अवान्तर व्यापार है। तृतीय (तीसरा) लिंगपरामर्श, अनुमिति का करण नहीं है। क्योंकि उसमें अनुमिति का हेतुत्व (कारणत्व) ही असिद्ध है। इसलिये असाधारणकारणत्वरूप करणत्व दूरनिरस्त (अत्यन्त खण्डित) होता है।

विवरण—'धूम वह्निव्याप्य है' इत्याकरक व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण है। अर्थात् व्याप्तिज्ञान ही अनुमान है।

शंका—आपने पहले 'अनुमिति, व्याप्तिज्ञानजन्य है' कहा था, जिससे व्याप्ति-ज्ञान, अनुमिति का कारण है—यह अर्थ निष्पन्न होता है। और अब व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का करण बताया जा रहा है। ये दोनों बातें कैसे संगत हो सकती हैं? (एक ही को कारणत्व तथा करणत्व कैसे हो सकता है?)।

उत्तर—कारणत्व और करणत्व—ये दोनों यदि परस्पर विरोधी होते तो एक ही व्याप्ति ज्ञानको कारण तथा करण नहीं कहा जा सकता था। परन्तु ये दो धर्म (कारणत्व-करणत्व) परस्पर विरोधी नहीं हैं। किन्तु करणत्व, कारणत्व का ही एक विशेष है। क्योंकि असाधारण कारण को ही करण कहते हैं। जैसे एक ही ब्राह्मण पर ब्राह्मणत्व और परिव्राजकत्व रहता है वैसे ही एक ही व्याप्ति-ज्ञान पर कारणत्व तथा

मध्यवर्ती व्यापारः। व्याप्तिसंस्कारस्य व्याप्तिज्ञानजन्यत्वात् व्याप्तिज्ञानजन्याऽनुमिति-जनकत्वाच्च युक्तं तस्य व्यापारत्वम्। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः' इति तल्लक्षणात्। एवञ्च सति व्याप्तिज्ञानस्य अनुमितिकरणत्वं नानुपपन्नम्। व्याप्तिसंस्कार-रूप-व्यापारद्वारैव तस्यानुमितिजनकत्वात्।

१. तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य अनुमितिकरणत्वं प्राचीनैरुक्तम्। तथा चोक्तं न्याय-वार्तिके—"वयन्तु पश्यामः सर्वमनुमानम्, अनुमितेस्तन्नान्तरीयकत्वात्। प्रधानोप-सर्जनताविवक्षायां लिङ्गपरामर्श इति न्याय्यम्" किन्तु मीमांसकानां वेदान्तिनाञ्च तन्न सम्मतम्। महानसादौ दृष्टान्ते हेतौ साध्यव्याप्तिप्रत्यक्षदशायां यल्लिङ्गज्ञानं, तत्प्रथमम्। 'पर्वतो धूमवान् इत्याकारकपक्षधर्मता-ज्ञानदशायां यल्लिङ्गज्ञानं, तद् द्वितीयम्। वह्निव्याप्य-धूमवान् पर्वतः इत्याकारक-परामर्शज्ञानदशायां यल्लिङ्गज्ञानं, तदेव तृतीय-लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते। स च अनुमितौ न करणम्। यतः अशेषसाधना-श्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपस्य व्याप्तिवैशिष्ट्यस्य पर्वतीय धूमे ग्रहणाऽसंभ-वात्, महानसीयधूमे एव धूमत्वेन रूपेण गृहीतव्याप्तिसंस्कारस्यैव हि पक्षधर्मताज्ञान-सहितस्य अनुमितिम्प्रति कारणत्वं मीमांसकैर्वेदान्तिभिश्चाङ्गीक्रियते। अतो व्याप्ति-विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं नानुमितिकारणम्। पक्षधर्मताज्ञान-संस्कारयोरेव अनुमितिहेतुत्वम्, न लिङ्गपरामर्शस्येति विज्ञेयम्।

करणत्व इन अविरोधी धर्मों के रहने में कोई दोष नहीं है। इसीलिए हम 'दण्ड घट में कारण है' और 'दण्ड से घट को उत्पन्न करता है' इत्यादि व्यवहार करते हैं। इस कारण एक ही पदार्थ को कारण और करण कह सकते हैं।

प्राचीन नैयायिक अनुमिति के प्रति लिङ्ग (हेतु = धूमादि) को ही कारण मानते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है। क्योंकि जहाँ लिंग (हेतु) प्रत्यक्ष योग्य नहीं होता वहाँ परामर्श को व्यापारत्व संभव नहीं होता। अर्थात् व्यापार के न होने से लिंग को करणत्व भी नहीं मान सकते। क्योंकि 'व्यापारवत् (व्यापारयुक्त) जो 'असाधारण कारण' उसे ही 'करण' संज्ञा है। सिवाय धूलि में धूम का भ्रम होने से 'पर्वत वह्निमान् है' ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। यहाँ पर लिंग के न होते हुए भी अनुमिति हुई। इसलिए 'लिंग अनुमिति में करण है' नहीं कहा जा सकता। केवल धूम का ज्ञान हुआ और व्याप्तिज्ञान (व्याप्ति-स्मृति) नहीं हुआ, अर्थात् केवल पर्वत धूमवान् है, पर्वत पर धूम है—एतावन्मात्र ज्ञान होने से 'वह वह्निमान् है' यह अनुमिति नहीं होती। और प्रत्यक्ष के अयोग्यहेतुक स्थल में किसी व्यापार का भी सम्भव नहीं। इसलिए लिंगज्ञान को भी करण नहीं माना जा सकता। परामर्श, अनुमिति में करण क्यों नहीं ? इसे ग्रन्थकार आगे बतावेंगे। अतः व्याप्तिज्ञान, अनुमिति-करण (अनुमान) है—कहने से लिंग, लिंगज्ञान, और लिंगपरामर्श को ही अनुमितिकरणत्व है—माननेवाले नैयायिक-वैशेषिकों का खण्डन हो गया।

शंका—आपने 'व्याप्तिज्ञान, अनुमिति के प्रति करण है' बताया। परन्तु यहाँ व्यापार कौन सा है ? क्योंकि 'जो असाधारण, व्यापार से युक्त रहता है उसे ही करण कहते हैं।' व्याप्तिज्ञान में व्यापार कौन सा है, समझ में नहीं आता।

समाधान—अन्तःकरण पर रहनेवाला व्याप्तिज्ञान का संस्कार ही मध्यवर्ती व्यापार है। तस्मात् व्याप्तिसंस्कार से युक्त होने के कारण व्याप्तिज्ञान करण है, अर्थात् व्याप्ति-ज्ञान, संस्कार द्वारा अनुमिति में करण होता है।

परन्तु नैयायिक तृतीय लिंगपरामर्श को ही अनुमिति के प्रति 'करण' कहते हैं। महानस में जब धूम और अग्नि की व्याप्ति ज्ञात होती है तब धूम का जो ज्ञान होता है, वह प्रथम लिंगज्ञान (हेतुज्ञान = धूमज्ञान) है। उसके बाद वह व्यक्ति वन में जाता है। वहाँ उसे पर्वत पर धूम दीखता है—यह द्वितीय लिंगज्ञान है। और उसके बाद 'यह पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है' ज्ञान होता है, इसमें भी 'धूम' विषय है। इसलिये यह तृतीय लिंगज्ञान है। और यही परामर्श कहलाता है। इसके अनन्तर अग्रिम क्षण में ही 'पर्वत वह्निमान् है' अनुमिति होती है। इसलिए यह तृतीय लिंगपरामर्श (वह्निव्याप्यत्व = व्याप्ति रूप धर्म से पर्वतनिष्ठ धूमज्ञान) ही अनुमिति का करण है—यह मानना होगा। इनके मत में 'जो असाधारण कारण हो वही करण है' ऐसा करण का लक्षण में मध्य में (बीच में) व्यापार नहीं मानते।

तात्पर्य यह है कि—प्रथमतः 'पर्वत धूमवान् है' यह ज्ञान होता है। अनन्तर 'जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि भी रहती है' अर्थात् धूम वह्निव्याप्य है—इस प्रकार व्याप्ति का स्मरण होता है।

तदनन्तर 'व्याप्तिविशिष्ट (व्याप्ति से युक्त) धूम पर्वत पर है, इस प्रकार तृतीय ज्ञान होता है—यही लिंगपरामर्श है। तदनन्तर उत्तर क्षण में ही अनुमिति होती है। इसलिये यह तृतीय लिंगपरामर्श ही अनुमितिकरण (अनुमान) है।

परन्तु नैयायिकों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। क्योंकि पक्षधर्मताज्ञान ('पर्वत धूमवान् है' इस प्रकार पक्षपर हेतु का ज्ञान) से महानस में गृहीत व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्‌बुद्ध (जागृत) होता है, तदनन्तर व्याप्ति का स्मरण होते ही वह्नि की अनुमिति होती है। परन्तु लिङ्गज्ञान या पक्षधर्मताज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं होती। इस अन्वय-व्यतिरेक से (संस्कार उद्‌बुद्ध होने पर व्याप्तिस्मरण यदि हुआ तो अनुमिति होती है। इस अन्वय और संस्कारोद्‌बोध के अभाव में अनुमिति नहीं होती, यह व्यतिरेक) अनुमिति में व्याप्तिज्ञान ही कारण है, 'परामर्श' अनुमिति में कारण नहीं है, यह सिद्ध होता है। क्योंकि 'परामर्शसत्त्वे अनुमितिः, परामर्शाभावे अनुमित्यभावः' परामर्श होने पर ही अनुमिति होती है, और उसके न होने पर नहीं होती, इस प्रकार परामर्श के विषय में अन्वयव्यतिरेक नहीं दिखाये जा सकते। क्योंकि जब पक्षधर्मता-ज्ञान और व्याप्तिज्ञान के कारण ही अनुमिति होती है तब विना परामर्श के भी वह होती है—यह अनुभव है। इस कारण व्यतिरेकव्यभिचार हो जाता है। इसलिये परामर्श को अनुमिति का कारण नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में उसे, करण (असाधारण कारणस्वरूप) कहना कैसे सम्भव है ? 'कारण' शब्द सामान्य कारण का वाचक है और उनमें से जो असाधारण हो उसे ही 'करण' संज्ञा है। अर्थात् 'कारणत्व' व्यापक (करणत्व को अपेक्षा अधिक देश में रहनेवाला) धर्म है और 'करणत्व' उसका व्याप्य (कारणत्व को अपेक्षा न्यून देश में रहनेवाला) धर्म है और व्यापक नहीं होता वहाँ व्याप्य भी नहीं होता' अर्थात् परामर्श जब अनुमिति के प्रति कारण ही नहीं, तब वह कारण ही नहीं। तब वह 'करण' नहीं यह पृथक् कहना आवश्यक नहीं है।

जिस प्रकार लिङ्गपरामर्श अनुमिति के प्रति करण नहीं, उसी प्रकार ज्ञायमान (ज्ञात होनेवाला) लिङ्ग (हेतु) भी अनुमिति के प्रति करण नहीं हो सकता अर्थात् मूलस्थ 'तृतीय लिङ्गपरामर्श' शब्द, ज्ञायमान लिङ्ग का उपलक्षक है। ज्ञान में विषय होनेवाला लिङ्ग ही अनुमिति के प्रति करण है, ऐसा मानने पर 'पर्वतो वह्निमान् भविष्यद्‌धूमात्' (पर्वत वह्निमान् है क्योंकि उस पर अग्रिम क्षण में ही धूम उत्पन्न होगा) आदि स्थलों में सबको जो अनुमिति होती है वह नहीं होगी। क्योंकि उस समय वहाँ लिङ्ग नहीं है। इसलिये वहाँ पर उसके कारणत्व का व्यभिचार होता है। अतः उसमें करणत्व तो है ही नहीं। अतः प्राचीन नैयायिकों का यह मत ठीक नहीं है। इसलिये व्याप्तिज्ञान ही करण है।

आपके कथनानुसार व्याप्तिज्ञान ही संस्कार द्वारा अनुमिति का कारण मान लिया जाय तो अनुमिति को संस्कारजन्य मानना होगा। और संस्कारजन्यज्ञान, स्मृतिरूप होने से, अनुमिति को भी स्मृति कहना होगा। इस आशङ्का का निराकरण करते हैं—

[1] न च संस्कार जन्यत्वेनाऽनुमितेः स्मृतित्वापत्तिः, [2]स्मृति-प्रागभाव[3]स्य संस्का[4]रमात्रजन्यत्वस्य वा स्मृतित्व-प्रयोजकतया संस्कार-ध्वंस-साधारण-संस्कारजन्यत्वस्य तदप्रयोजकत्वात्।

अर्थ—अनुमिति को व्याप्तिज्ञांन-संस्कारजन्य मान लिया जाय तो उस अनुमिति को 'स्मृति' कहना होगा। क्योंकि 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' संस्कार से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं—यह स्मृति का लक्षण अनुमिति पर घटित होता है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि स्मृतिप्रागभावजन्यत्व, या केवल संस्कार-जन्यत्व स्मृतित्व का प्रयोजक (कारण) माना गया है। इस कारण संस्कारध्वंस और स्मृति दोनों को साधारण ऐसा 'संस्कारजन्यत्व' रूप प्रयोजक, स्मृति का नहीं माना जा सकता।

विवरण—प्रथमतः महानस में व्याप्तिज्ञान होने पर, उसका अन्तःकरण पर सूक्ष्म संस्कार होता है। वही संस्कार पर्वत पर धूम के देखने पर उद्‌बुद्ध होता है, तदनन्तर व्याप्ति का स्मरणात्मक ज्ञान होता है ततः पश्चात् अनुमिति होती है यह क्रम है। इस क्रम को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याप्तिज्ञान से संस्कार और संस्कार से अनुमिति होती है। अर्थात् अनुमिति में संस्कार कारण है।

परन्तु संस्कार को अनुमिति में कारण कहने पर 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण अनुमिति में घटित हो जाने से अनुमति को भी स्मृति कहना होगा। किन्तु यह अभीष्ट नहीं है। क्योंकि स्मृति, अनुभवरूप नहीं है, किन्तु अनुमिति अनुभव-रूप है, और 'मैंने कल वह्नि का अनुमान किया था' ऐसी अनुमिति की स्मृति,

---

१. संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति स्मृतिलक्षणम्। तदा संस्कारजन्यत्वस्य अनुमितौ स्वीकारे अनुमितेरपि स्मृतित्वप्रसङ्गः इति शंकाकर्तुराशयः।

२. स्मृति प्रागभावजन्यज्ञानस्यैव स्मृतित्वनियमात् अनुमितेः स्मृतिप्रागभावाऽजन्यतया न स्मार्तत्वम्।

३. 'जन्यत्वस्य'· इति पाठान्तरम्।

४. स्मृतिप्रागभावसाक्षात्कारस्य स्मृतिप्रागभावजन्यतया स्मृतित्वापातादात्माश्रय-प्रसंगाच्चेति अरुच्या संस्कारमात्रजन्यत्वस्य प्रयोजकत्वमुच्यते। एवञ्च संस्कारेतरेन्द्रिय-सन्निकर्षाद्यसाधारणकारणाऽजन्यत्वे सति, संस्कारजन्यत्वं स्मृतित्वप्रयोजकमुक्तम्। तेन अनुमिते लिङ्गिज्ञानाद्यसाधारणकारणजन्यत्वान्न स्मृतित्वप्रसंगः इति समाधान-ग्रन्थस्याशयः।

अनुभवसिद्ध है। इसलिए व्याप्तिज्ञान, 'करण' है और संस्कार, 'अवान्तर व्यापार' है ऐसा आप भी नहीं कह सकते। अर्थात् आपके पक्ष में भी दोष है।

संस्कारजन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं—यह स्मृति का लक्षण गृहीत कर वादी ने यह शङ्का की थी। परन्तु 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि वह स्मृति और संस्कारध्वंस दोनों के लिए साधारण है। अर्थात् वह लक्षण केवल स्मृति में ही घटित न होकर संस्कारध्वंस में भी घटित होता है। कारण, संस्कारनाश भी संस्कारजन्य ही होता है। संस्कार ही यदि नहीं होगा तो नाश किसका होगा?

'ध्वंसं प्रति प्रतियोगिनः कारणत्वम्' ध्वंस में प्रतियोगी, कारण होता है—यह नियम है। अर्थात् अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण 'संस्कारजन्यत्व' यह स्मृति का निर्दुष्ट लक्षण नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'संस्कारजन्यत्व' स्मृति का प्रयोजक नहीं है। इसीलिये अनुमति में संस्कारजन्यत्व होने पर भी 'स्मृतित्व' नहीं आ पाता। क्योंकि 'संस्कारजन्यत्व' स्मृति का लक्षण ही नहीं है।

'संस्कारजन्यत्व' यदि स्मृति में प्रयोजक नहीं है तो स्मृति में कौन प्रयोजक है?

'स्मृतिप्रागभावजन्यत्व' या 'संस्कारमात्रजन्यत्व' को स्मृति का प्रयोजक समझना चाहिये।

प्रागभाव का अर्थ है—कार्य की उत्पत्ति से पूर्व स्थित, कार्य का अभाव। जिसका प्रागभाव रहता है उसी की उत्पत्ति होती है। इसलिये प्रत्येक कार्य में उसका प्रागभाव, कारण होता है। इस नियम के अनुसार स्मृति के प्रति भी उसका प्रागभाव कारण है ही। इस कारण——

स्मृतिप्रागभावजन्यत्व को ही स्मृति का प्रयोजक मानना पड़ता है। 'स्मृतिप्रागभावजन्यत्व' रूप स्मृतिलक्षण मानने पर संस्कारध्वंस में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि संस्कारध्वंस, स्मृतिप्रागभावजन्य नहीं है, अपितु संस्कारजन्य है। इसलिये स्मृतिप्रागभावजन्यत्व ही स्मृतित्व में प्रयोजक है।

शंका——प्रत्येक कार्य के प्रति यदि उसका प्रागभाव कारण होता है तो प्रत्येक कार्य का 'तत्तत्प्रागभावजन्यत्व' ही लक्षण किया जाय। फिर किसी भी कार्य के प्रति दूसरा प्रयोजन मानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। 'गो' का लक्षण 'गोप्रागभावजन्यत्व' ही करना चाहिये। तब प्रत्येक पदार्थ के भिन्न-भिन्न लक्षण जो किये गये हैं, वे सब व्यर्थ होंगे। ऐसी स्थिति में स्मृतिप्रागभावजन्यत्व को स्मृति का प्रयोजक कैसे माना जा सकता है? सिवाय स्मृतिलक्षण स्मृतिघटित होने से आत्माश्रय दोष भी आता है।

समाधान—वादी का उपर्युक्त कथन ठीक है। इस अरुचि के कारण ही 'संस्कारमात्रजन्यत्वं वा' यह दूसरा स्मृतिप्रयोजक बताया गया है। इस पक्ष में कोई दोष नहीं आने पाता।

यद्यपि संस्कारध्वंस, संस्कारजन्य है तथापि संस्कारमात्रजन्य (केवल संस्कारजन्य) नहीं है। क्योंकि संस्कारध्वंस के प्रति चिरतरकालीन उद्बोधाभाव (चिरकाल तक संस्कारों का उद्बोध न होना) भी कारण होता है। परन्तु स्मृति को संस्कार के सिवाय किसी भी कारण की अपेक्षा नहीं होती। अनुमिति, लिङ्गज्ञानादि असाधारण कारणजन्य है अर्थात् संस्कारमात्रजन्य नहीं है। इसलिए उसे स्मृतित्व प्राप्त नहीं होता। 'संस्कारमात्रजन्यत्व' का अर्थ है कि संस्कार से जो अन्य, उससे जन्य न होकर केवल संस्कारजन्य। अनुमिति, संस्कारजन्य होने पर भी, संस्कार से भिन्न जो व्याप्ति-ज्ञान उससे भी वह उत्पन्न होती है। इसलिए अनुमिति को स्मृति नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

शंका—अनुमिति में स्मृतित्वापत्ति न होने पर भी आपके पक्ष में अन्यान्य दोष तो आते ही हैं। क्योंकि जब व्याप्तिस्मरण से अनुमिति होती है तब संस्कार, स्मृति को उत्पन्न कर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु ऐसे स्थल में अनुमति का होना तो अनुभव-सिद्ध है। किन्तु आपके कथनानुसार संस्कार (व्यापार) तो वहाँ है नहीं। इस कारण संस्कारजन्यत्व व्यभिचरित होता है।

ग्रन्थकार इस शंका का अनुवाद कर समाधान करते हैं—

न च यत्र व्याप्तिस्मरणादनुमितिस्तत्र कथं[1] संस्कारो हेतुरिति वाच्यम्। व्याप्ति-स्मृतिस्थलेऽपि [2]तत्संस्कारस्यैवानुमितिहेतुत्वात्। न हि स्मृतेः संस्कारनाशकत्व-नियमः, स्मृतिधारादर्शनात्। न[3] चानु-द्बुद्धसंस्काराद्प्यनुमित्यापत्तिः, तदुद्बोधस्यापि सहकारित्वात्।

अर्थ—जहाँ व्याप्तिस्मरण से अनुमिति होती है वहाँ संस्कार को ही उसकी कारणता कैसे ? यह शंका आपको नहीं करनी चाहिये। क्योंकि जहाँ व्याप्तिस्मृति से अनुमिति होती है वहाँ भी व्याप्ति के संस्कार को ही अनुमिति-हेतुत्व होता है। स्मृति को नियम से संस्कारनाशकत्व भी नहीं होता। अर्थात् स्मृति के प्रति कारणीभूत अनुभव-जन्य संस्कार का स्मृति उत्पन्न होने पर नाश होने का कोई नियम नहीं है। क्योंकि

---

१. कथं संस्कारो हेतुः अत्र अनुमितिपूर्ववर्तित्वाऽभावादित्यध्याहार्यम्।

२. संस्कारस्यैव व्याप्तिज्ञानजन्यसंस्कारस्यैव। एवकारेण व्याप्तिस्मृतिजन्य-संस्कारो व्यावर्त्यते।

३. व्याप्तिसंस्कारो न व्यापारः, सत्यपि संस्कारे तदनुद्बोधे अनुमित्यनुदयाद् इति शंकाग्रन्थस्याशयः। उद्बुद्धसंस्कारस्यैव अनुमितिहेतुत्वान्न दोष इति समाधानग्रन्थस्याभि-प्रायः। उद्बोधः अभिव्यक्तिः, फलजननाभिमुखत्वमित्यर्थः।

धारावाहिक (स्मृति का सतत होते रहना) स्मृति का सभी को अनुभव है। यह भी शंका ठीक नहीं होगी कि 'स्मृति में संस्कारनाशकत्व यदि न मानें तो अनुद्बुद्ध (उद्बुद्ध न हुए) संस्कार से भी अनुमिति होने का प्रसंग आवेगा।'

क्योंकि स्मृति के प्रति संस्कारोद्बोध में भी सहकारि-कारणतया होने से स्मृति होने से पूर्व संस्कारोद्बोध होना ही चाहिये।

संस्कारोद्बोध का अर्थ है कि संस्कारों की जागृति = कार्योन्मुखत्व !

विवरण—व्याप्ति का स्मरण होने पर जहाँ अनुमिति होती है वहाँ संस्कार-जन्यत्व कहाँ है ? इससे यह प्रतीत होता है कि संस्कारजन्यत्व व्यभिचरित है। क्योंकि व्याप्ति का स्मरण होने पर संस्कार का नाश हो जाता है। परन्तु ऐसी शंका करना ठीक नहीं।

क्योंकि व्याप्तिस्मृति से जहाँ अनुमिति होती है वहाँ भी हम व्याप्ति के संस्कार को ही अनुमिति में हेतु मानते हैं। क्योंकि 'स्मृति के होने पर उसके कारणभूत संस्कार नष्ट होते हैं' ऐसा सिद्धान्त हमारा नहीं है। इस कारण संस्कारजन्यत्व व्यभि-चरित नहीं होता।

उपर्युक्त सिद्धान्त न मानने में दो कारण हैं—एक लाघव और दूसरा अनुभव। 'स्मृति होते ही पूर्व संस्कार नष्ट होते हैं। यह मानने पर उसी विषय की पुनः स्मृति होने पर अग्रिम स्मृति में कारण होनेवाला दूसरा ही संस्कार मानना पड़ेगा। अग्रिम स्मृति होने पर पूर्वस्मृतिजन्य संस्कार भी नष्ट हो गया, तब तीसरी स्मृति के समय दूसरी स्मृति से उत्पन्न हुआ संस्कार मानना होगा। ऐसे अनन्त संस्कारों की कल्पना करने की अपेक्षा एक व्याप्ति संस्कार को ही अनुमिति के प्रति कारण मानने में लाघव है, और अनुभव भी ऐसा ही है। व्याप्ति के संस्कार से व्याप्ति का स्मरण होता है—यह अनुभव कहीं भी बाधित नहीं है। स्मृति परम्परा का अनुभव होने से स्मृति को संस्कार-नाशकत्व नहीं है। परन्तु तार्किक लोग 'स्मृति को उत्पन्न कर स्मृतिजनक संस्कार नष्ट हो जाता है, क्योंकि संस्कार स्मृति के लिए ही रहता है और स्मृति को उत्पन्न कर वह कृतकार्य हो जाता है। इस कारण संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति होने पर संस्कार का नाश होना अवश्यम्भावी है' ऐसा मानते हैं।

तार्किकों के इस (स्मृति के होते हुए पूर्व संस्कार का नाश होता है) अभ्युपगम के अनुसार यदि विचार किया जाय तो स्मृति परम्परा में द्वितीय, तृतीय स्मृति की उत्पत्ति का कोई कारण ही नहीं रहता। पहली स्मृति में कारण बने हुए एक संस्कार का नाश होने पर भी दूसरे संस्कार से स्मृति होगी' यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि इस पक्ष में अनन्त संस्कारों की कल्पना करनी पड़ती है, जो कि गौरव दोष से दूषित है। और ऐसा मानने में अनुभव या अन्य कोई प्रमाण भी नहीं है।

शंका—संस्कार-व्यक्तियों का आनन्त्य न होने पर भी उद्बोधक के सहित स्थित एक संस्कार से जो एक स्मृति उत्पन्न होती है, वह ही स्वयं नष्ट होते-होते दूसरे

संस्कार को उत्पन्न कर के नष्ट होती है। फिर वह उत्पन्न हुआ संस्कार उसने अग्रिम स्मृति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार स्मृतिपरम्परा (धारा) का होना युक्तियुक्त होता है।

समाधान—तार्किकों की यह कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती। स्मृति के होते ही उसके कारणभूत संस्कार का नाश होता है ऐसी कल्पना करने की अपेक्षा जिस अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न हुआ वही संस्कार, उद्‌बोधक निमित्त से युक्त होने पर उससे स्मृति उत्पन्न होती है। परन्तु उस संस्कार से उत्पन्न हुई स्मृति, अपने उत्पादक संस्कार का नाश नहीं करती, बल्कि उस स्वजनक संस्कार को अधिक दृढ़ करती है। अतः स्मृति, स्वजनक संस्कार का नाश करती है, ऐसी कल्पना करने की अपेक्षा वह स्वजनक संस्कार को दृढ़ करती है, ऐसी कल्पना करने में ही अतिशय लाघव है। कल सुने हुए शास्त्रार्थ का आज स्मरण होता है और उस स्मरण से पूर्व संस्कार दृढ होता है। इससे यह स्पष्ट है कि स्मृति, स्वजनक संस्कार का नाश नहीं करती। श्रुत-शास्त्रार्थ का स्मरण होने पर यदि उसके कारणभूत संस्कारों का नाश हुआ होता, और उस स्मृति के द्वारा अन्य नवीन ही संस्कार उत्पन्न किया होता तो शास्त्रार्थ में दृढत्व कैसे आता ?

सिवाय संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति, और स्मृति के होने पर उत्पन्न होनेवाले संस्कार के द्वारा ही स्मृति का नाश होता है, यह यदि माना जाय तो संस्कार को ही स्मृतिजनकत्व और उसका विनाशकत्व है, यह कहना होगा। इसी प्रकार स्मृति से उत्पन्न हुए संस्कार में ही स्मृतिजन्यत्व और नाश्यत्व है, यह भी कहना होगा। इस प्रकार अनेक विरुद्ध पदार्थों की कल्पना करनी पड़ती है। 'स्मृति को संस्कारनाशकत्व है' यह पक्ष श्रेयोवह नहीं है।

'संस्कार ही अनुमिति में हेतु हैं' यह मानने पर उद्‌बुद्ध न हुए संस्कार से अनुमिति होने लगेगी—यह आशंका उचित नहीं है। क्योंकि पक्षधर्मताज्ञानजन्य संस्कार का उद्‌बोध होना भी अनुमिति में सहकारि-कारण है, अर्थात् उद्‌बुद्ध संस्कार से ही अनुमिति होती है।

एवं[1] च अयं धूमवानिति पक्ष[2]धर्मताज्ञाने[3]न, धूमो[4] वह्निव्याप्य

१. एवं च—अनुमिति परामर्शस्य कारणत्वे निराकृते उद्‌बुद्धसंस्कारस्य कारणत्वे सिद्धे च। 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितौ असाधारणकारणस्य पक्षधर्मताज्ञानस्य आकारः 'अयं धूमवान्' इति।

२. पक्षधर्मताज्ञाने—पक्षस्य धर्म एव पक्षधर्मता, स्वार्थे 'तल्' प्रत्ययः। सा च धूमादिरूपलिङ्गवत्ता, तस्या ज्ञाने अर्थात् लिङ्गप्रकारक-पक्षविशेष्यकज्ञाने। अत एव—'अयं धूमवान्' इत्याकारः प्रदर्शितः।

३. 'ने धूमोः' इति पाठान्तरम्।

४. अनुमितौ द्वितीयमसाधारणं कारणं दर्शयति 'धूमो वह्निव्याप्यः' इति महान-

इत्यनुभवाहितसंस्कारोद्बोधे च सति, वह्निमानित्यनुमितिर्भवति, न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं तज्जन्य[1]वह्निव्याप्य धूमवानित्यादि[2]विशेषणविशिष्टं ज्ञानं वा हेतुत्वेन कल्पनीयम्, गौरवात् मानाभावाच्च।

अर्थ—इस प्रकार 'यह धूमवान् है' ऐसा पक्षधर्मताज्ञान होने पर और 'धूम वह्निव्याप्य है' इस अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार का उद्बोध होने पर 'वह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति होती है। परन्तु पक्षधर्मताज्ञान और अनुमितिज्ञान इन दोनों में व्याप्ति का स्मरण या तज्जन्य (व्याप्तिजन्य) वह्निव्याप्य धूमवान् इत्यादि विशेषण-विशिष्ट ज्ञान, इनमें से किसी की भी अनुमिति के प्रति हेतुरूप से कल्पना करना योग्य नहीं है। क्योंकि कल्पना करने में गौरव दोष है तथा कोई प्रमाण भी नहीं है।

विवरण—पूर्वोक्त प्रकार से व्याप्तिज्ञान में अनुमिति का करणत्व है। और व्याप्तिज्ञान का संस्कार, व्यापार है। तथा पक्षधर्मताज्ञानजन्य-संस्कारोद्बोध, सहकारी है। इतना होनेपर 'यह पर्वत वह्निमान् है' ऐसी अनुमिति होती है।

सादिषु धूमे हेतौ साध्यसहचारदर्शनात् साध्यव्यभिचाराऽदर्शनाच्च साध्यसामानाधिकरण्यरूपाया व्याप्तेरनुभवो जायते, तेन तद्विषयकः संस्कारो जन्यते। अथ तद्व्याप्तिसंस्कारवतः पुरुषस्य लिङ्गदर्शनात् तत्संस्कारस्य असाधारणकारणत्वं प्रदर्शितम्। तथा च 'पर्वतो धूमवान्' इति पक्षधर्मताज्ञाने 'धूमो वह्निव्याप्यः' इति व्याप्ति-संस्कारोद्बोधे च सति 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितिर्जायते इति मध्ये (पक्षधर्मताज्ञानानुमित्योर्मध्ये) व्याप्तिस्मरणं (धूमो वह्निव्याप्यः—इत्याद्याकारकं स्मरणं) तज्जन्यं व्याप्तिस्मरणजन्यं इत्यादि विशिष्टज्ञानं (वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वतः इत्याद्याकारकं परामर्शज्ञानं) न कल्पनीयमितिनिष्कर्षः। अत्र च १—पक्षधर्मताज्ञानं २—व्याप्तिसंस्कारोद्बोधः इति कारणद्वयादेव अनुमितिः, व्याप्तिसंस्कारोद्बोधस्तु धूमज्ञानमात्रेणैव, न तु पक्षधर्मताज्ञानेन। अत एव पक्षधर्मताज्ञानव्याप्तिसंस्कारयोर्द्वयोरेवानुमितिकारणत्वमिति लघुचन्द्रिकायामुक्तम्।

नैयायिकास्तु—व्याप्तिज्ञानं, व्याप्तिस्मरणं, पक्षधर्मताज्ञानं, लिङ्गपरामर्शश्च अनुमितिसामग्रीति मन्यन्ते। पक्षधर्मताज्ञानोद्बुद्धसंस्कारेतिसामग्रीद्वितयेनानुमित्युपपत्तौ अधिकसामग्रीकल्पने गौरवं बाधकम्। यदि व्याप्तिस्मरणस्य परामर्शज्ञानस्य चानुमितिहेतुत्वं प्रामाणिकं भवेत् तदा तद्गौरवं प्रामाणिकत्वादबाधकं भवेदपि। किन्तु व्याप्तिस्मरणादेरनुमितिहेतुत्वे किञ्चित् प्रमाणं नास्ति। तस्मात् अप्रामाणिकगौरवस्य बाधकत्वमुचितमेवेत्यवगन्तव्यम्।

१. 'न्यं'—इति पाठान्तरम्।

२. 'दि विशिष्टज्ञानं वा०'— इति पाठान्तरम्।

इस कारण पूर्वोक्त अनुमिति की सामग्री और अनुमिति इन दोनों में गौरव दोष के तथा प्रमाणाभाव के कारण परामर्श आदि की कल्पना की आवश्यकता नहीं है।'

'पर्वतो वह्निमान्' इसे एक ही अनुमित्यात्मक ज्ञान समझने वालों के निराकरणार्थ सिद्धान्ती कहता है—

तच्च[1] व्याप्तिज्ञानं वह्निविषयक[2]ज्ञानांश एव करणम्, न तु पर्वतविषयक[3]ज्ञानांश इति। पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवाऽनुमितित्वं न पर्वताद्यंशे, तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात्।

अर्थ—और वह व्याप्तिज्ञान वह्निविषयक ज्ञान अंश में ही करण है, पर्वतविषयक ज्ञान अंश में नहीं। इसलिये 'पर्वतवह्निमान् है' इस ज्ञान को वह्नि अंश में ही अनुमितित्व है, पर्वत आदि अंश में नहीं। पर्वत आदि अंश में उस ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है। यह यह हमने प्रत्यक्षपरिच्छेद में उपपादन किया है।

विवरण—प्रत्यक्ष परिच्छेद में—जिस अनुमितिज्ञान में पक्ष, इन्द्रियसन्निकृष्ट रहता है उस अनुमितिज्ञान में अनुमित वह्नि-आदि अंश में ज्ञान को अनुमितित्व रहता है और इन्द्रियसन्निकृष्ट पर्वत आदि अंश में प्रत्यक्षत्व रहता है—उपपादन किया है। 'मैं पर्वत को देखता हूँ और वह्नि का अनुमान करता हूँ' यही अनुभव में आता है। इसलिये वहाँ अनुमिति और प्रत्यक्ष, दो प्रकार का ज्ञान मानना पड़ता है। जातित्व, उपाधित्व आदि तार्किकों की परिभाषा में कोई प्रमाणं नहीं है, यह पीछे कह चुके हैं। इस कारण एक ही ज्ञान में अंश भेद से परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व के होने में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त उपपादन से 'अनुमिति में कारण व्याप्तिज्ञान है'—यह सिद्ध होने पर भी व्याप्ति का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न पैदा होता है। इसलिये ग्रंथकार अग्रिम ग्रन्थ से से व्याप्ति का स्वरूप बताते हैं।

---

१. 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यस्य ज्ञानस्य अंशद्वयम्—एकः पर्वतविषयकत्वांशः, द्वितीयः वह्निविषयकत्वांशः। तत्र वह्निविषयकत्वांशे एव ज्ञाने व्याप्तिज्ञानं करणम्। न सन्निकृष्टपक्षकांशे पर्वताद्यंशे व्याप्तिज्ञानं करणम् व्याप्तिज्ञानाऽजन्यत्वात्, तस्य तु प्रत्यक्षत्वेन इन्द्रियजन्यत्वात्। एवं च पर्वतांशे ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं, वह्न्यंशे च अनुमितित्वम्। वह्निविषयकत्वांशे—पर्वतवह्निसम्बन्धांशे इत्यमरः। तदुक्तं शास्त्रदीपिकायाम्—"यथा दध्ना जुहोति इति विशिष्टविषयोऽपि विधिः विशेषणपरो भवति तथैव इहापि विशिष्टविषयमेव अनुमानं विशेष्य-विशेषणयोः प्राप्तत्वात् सम्बन्धविषयं भवति।"

२. 'कत्वांश एव कारणम्'—इति पाठान्तरम्।

३. 'कत्वांश इति'—इति पाठान्तरम्।

व्याप्तिश्च[1] अशेष-साधनाश्रयाश्रित-साध्य-सामानाधिकरण्यरूपा। सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते। तच्च सहचार-दर्शनं भूयो दर्शनं सकृद्दर्शनं वेति[2] विशेषो नादरणीयः, सहचार-दर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्।

अर्थ—अशेष साधनों का जो आश्रय, तदाश्रित जो साध्य, उससे हेतु का जो सामानाधिकरण्य—यही व्याप्ति है। और उस व्याप्ति का ग्रहण, व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार के दर्शन से होता है। उस सहचारदर्शन में भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन रूप विशेष का कोई आदर नहीं है क्योंकि उस व्याप्ति में प्रयोजक सहचारदर्शन ही है।

विवरण—व्याप्तिस्वरूप क्या है? यह प्रश्न है। उसका उत्तर यह है कि—'अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यम्' इसका अर्थ इस प्रकार है—अशेष = समस्त, साधन = धूम, के आश्रय = पर्वत आदि, के आश्रित = अग्न्यादि साध्य, के साथ हेतु (धूम) का सामानाधिकरण्य ही जिसका रूप है, वह व्याप्ति है। इसी का निष्कृष्ट लक्षण इस प्रकार है—'साधनतावच्छेदकावच्छिन्नसाधनाश्रयाश्रितसाध्य-तावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा'। इस लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा। 'वह्निमान् धूमात्'—इस अनुमिति में धूम, साधन है। साधनता, धूमनिष्ठ है। साधनता का अवच्छेदक धूमत्व है। उस धूमत्व से अवच्छिन्न (पर्वत, चत्वर आदि भिन्न-भिन्न स्थान के साधनरूप) धूम व्यक्तियाँ हैं। उनकी आश्रय पर्वत आदि पदार्थ हैं, उन्हीं का आश्रय की हुई, साध्यतावच्छेदकरूप वह्नित्व से अवच्छिन्न वह्नित्वरूप साध्य व्यक्तियों, के साथ धूमव्यक्तियों का सामानाधिकरण्य (पर्वतादि समान अधिकरण पर वृत्तित्व) होना ही व्याप्ति का स्वरूप है। अर्थात् पर्वत आदि पक्ष पर, धूम और अग्नि का होना 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः' इस आकार का जो सामाधिकरण्य (एकाधिकरणवृत्तित्व) वही व्याप्ति का स्वरूप है। इस प्रकार व्याप्ति का लक्षण करने से, किसी एक वह्न्यादि साधन व्यक्ति के आश्रय महानसादि में रहनेवाले किसी

---

१. ननु व्याप्तिज्ञानं न संभवति, व्याप्तिग्राहकाऽनिरूपणात्। न च तर्कः व्याप्ति-ग्राहकः, तर्कस्यापि व्याप्तिमूलकत्वेन तस्यापि तर्कापेक्षायामनवस्थानात् न च सहचार-दर्शनं तद्ग्राहकम्, सकृत् असकृद् वा सहचारदर्शने सत्यपि व्यभिचारज्ञाने सति व्याप्ति-ग्रहाभावः, इत्यतो व्याप्तिस्वरूप प्रतिपादयति साचेति ग्रन्थेन। व्यभिचाराज्ञाने साध्य-वदन्यवृत्तित्वज्ञानाभावे सति। तस्मात् व्यभिचाराऽदर्शनसहकृत-सहचारदर्शनस्यैव व्याप्ति-ज्ञानहेतुत्वमवगन्तव्यम्। एतेन "कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविना-भावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्।" इति बौद्धोक्तं तादात्म्य-तदुत्पत्त्योर्व्याप्तिग्राहकत्व निराकृतं भवति।

२. 'सकृद्दर्शनं भूयोदर्शनं वेति'—इति पाठान्तरम्।

एक धूमादि साध्य का सामानाधिकरण्य ग्रहण कर 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' यह यदि किसी ने अनुमान किया तो वह्निरूप असद्हेतु में व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति होगी—ऐसी आशंका करने पर उसका निवारण इस प्रकार होगा—महानस में अग्नि है, इसलिये महानस उसका आश्रय है। महानस में उसके आश्रय से धूम भी रहता है। इसलिये महानस की अग्नि को साधन बनाकर और महानस के ही धूम को साध्य बनाकर उन दोनों का समानाधिकरण्य है अर्थात् ये दोनों एक ही अधिकरण महानस में रहते हैं। इसी आधार पर जहाँ अग्नि वहाँ धूम, ऐसी व्याप्ति मानकर '(१) पर्वत धूमवान् है (२) क्योंकि उस पर अग्नि है' यह अनुमान यदि कोई करे तो इसमें अग्नि रूप हेतु सत् न होकर असत् है, क्योंकि वह्नि-व्याप्य धूम की तरह धूम-व्याप्य वह्नि नहीं है। अयोगोलक में (तपाकर लाल किये हुए लोहे के गोले में) अग्नि होता है, किन्तु धूम नहीं होता। इसलिए वह्नि सत् हेतु नहीं है, किन्तु व्यभिचारी है। यहाँ पर साधनतावच्छेदक (वह्नित्व) से अवच्छिन्न—समस्त वह्नियों के आश्रय महानस, पर्वत, तप्तायोगोलक आदि इनमें से आयोगोलक रूप आश्रय पर साध्यतावच्छेदक (धूमत्व) से अवच्छिन्न हुआ एक भी धूम नहीं है। इस कारण उनका (वह्नि और धूम का) पूर्वोक्त सामानाधिकरण्य नहीं दिखाया जा सकता। इसलिये व्याप्ति का लक्षण वह्निरूप असत् हेतु पर अतिव्याप्त नहीं है।

शंका—ऐसी व्याप्ति का ग्रहण किस प्रमाण से होता है? तर्क से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करना रूप जो तर्क है, वह व्याप्ति के अधीन है। सहचारदर्शन से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि दो पदार्थों का साहचर्य एक बार या बार-बार दीखने पर भी उसका (साहचर्य का) क्वचित् व्यभिचार भी दिखाई देता है। इस शंका का समाधान 'सा च०' ग्रंथ से किया है। व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचारदर्शन से उस व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है।' जैसे धूम अग्नि का व्यभिचार दिखाई न देते हुए उनका सहचार दीखने से ही धूम-वह्नि-व्याप्य है, यह ज्ञान होता है। जहाँ धूम हो वहाँ अग्नि अवश्य ही होती है। धूम है और अग्नि न हो, यह कभी नहीं होता। इस रीति से धूम और अग्नि के व्यभिचार का अनुभव न आकर सहचार के अनुभव होने से ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है। दो पदार्थों का नियमेन एकत्र दीखना ही सहचारदर्शन है। चाहे वह अनेक बार देखने से हुआ हो या एक बार के देखने से हुआ हो। केवल व्यभिचारशून्य सहचारदर्शन की आवश्यकता है अर्थात् जिनका सहचार ज्ञात हुआ हो, उनकी व्याप्ति का ग्रहण होता है और जिनका सहचार ज्ञात नहीं हुआ उनकी व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता। इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सहचारदर्शन ही व्याप्तिज्ञान में हेतु है, यह लाघव से सिद्ध होता है। इसलिये सहचारदर्शन में ही व्याप्ति का प्रयोजकत्व है। भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन उसमें प्रयोजक नहीं है।

इस रीति से अनुमिति में व्याप्तिज्ञान करण होने से उसे ही अनुमानत्व है। यह सिद्ध कर अब वेदान्त-सिद्धान्त में नैयायिकों की तरह अनुमान का त्रिविधत्व (तीन प्रकार) स्वीकार नहीं किया है, इस आशय से ग्रन्थकार कहते हैं—

[1]तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव, न तु केवलान्वयि। सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावाप्रतियोगि-साध्यकत्वरूप-केवलान्वयित्वस्याऽसिद्धेः।

अर्थ—और वेदान्तमत में वह अनुमान अन्वयिरूप एक ही है। केवलान्वयि नहीं। क्योंकि हमारे मत में समस्त धर्म, ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होने से, जिस अनुमान का साध्य, अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी हो ऐसे केवलान्वयी की असिद्धि है।

विवरण—नैयायिक केवलान्वयि, केवलव्यतिरेक और अन्वयव्यतिरेकि भेद से तीन प्रकार का लिंग (हेतु) मानते हैं। किन्तु वेदान्त सिद्धान्त में अन्वयिरूप एक ही लिङ्ग का स्वीकार किया गया है। अन्वयिरूप का अर्थ है अन्वयमुख व्याप्तिज्ञानरूप।

शंका—नैयायिकों के बताये हुए लिंग के तीन भेद लोक में प्रसिद्ध हैं, तब आप एक ही प्रकार का अनुमान किस तरह स्वीकार कर रहे हैं ?

समाधान—नैयायिकों के पहले भेद का निराकरण 'न तु केवलान्वयि'-ग्रन्थ से किया है। नैयायिकों के कथनानुसार—केवलान्वयि-लिंग हमें मान्य नहीं है। हम तो अन्वयिरूप एक ही लिंग मानते हैं। क्योंकि उनके स्वीकृत केवलान्वयि लिंग का साध्य, अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होता है, अर्थात् केवलान्वयि लिंग का साध्य, कभी भी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं हुआ करता। (केवलान्वयि लिंग के साध्य का अभाव

---

१. अनुमानत्रैविध्यमपि नैयायिकवत् वेदान्तिनां मते नास्ति। नैयायिकास्तु अनुमानं त्रिविधम्—अन्वयव्यतिरेकि केवलान्वयि केवलव्यतिरेकि चेति वदन्ति। तत्र साधनसत्त्वे साध्यसत्त्वमन्वयः, तन्मूलिका या व्याप्तिः, सा च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा, तन्मात्रमूलकं यदनुमानं तत् केवलान्वयि। साध्याभावे साधनाभावो व्यतिरेकः, तन्मूलिका व्याप्तिः व्यतिरेकव्याप्तिः, सा च साध्याभावव्यापकसाधनाभावप्रतियोगित्वरूपा, तन्मात्रनिबन्धमनुमानं केवलव्यतिरेकि। उभयव्याप्तिमूलकमनुमानमन्वयव्यतिरेकि। तत्र 'सर्वं वाच्यं प्रमेयत्वात्' इति प्रथममनुमानम्। 'पृथ्वी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्' इति द्वितीयमनुमानम्। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इति तृतीयमनुमानम्।

मीमांसकास्तु—व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानेन नानुमितिः, साध्याभाव-साधनाभावयोर्व्याप्तिग्रहेण कथं साधनेन साध्यानुमानं भवेत् ? अतोऽन्वयिरूपमेकमेवानुमानं, नान्वयव्यतिरेकि केवलव्यतिरेकि वानुमानं किञ्चिदस्तीति वदन्ति। तन्मीमांसकमतमेव मनसि निधाय ग्रन्थकारः 'तच्चानुमान'मिति वर्णयति।

कभी नहीं रहता)। परन्तु हमारे मत में ऐसा कोई साध्य पदार्थ ही सम्भव नहीं है। क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से ब्रह्मातिरिक्त समस्त वस्तुओं में ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रहता है। अर्थात् ब्रह्म रहने वाला समस्त वस्तुओं का जो अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता समस्त वस्तुओं में है। (ब्रह्म में कोई भी द्वैत वस्तु नहीं होती) इस कारण अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यक ऐसे केवलान्वयित्व की सिद्धि नहीं हो पाती।

इस प्रकार नैयायिकाभिमत तीनों लिङ्गों में केवलान्वयी रूप पहले भेद का निराकरण कर केवल-व्यतिरेकी रूप दूसरे भेद का निराकरण करते हैं—

नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकि-रूपत्वम्। साध्याभावे साधनाऽभाव-निरूपित-व्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात्। कथं तर्हि धूमादावन्वय-व्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेक-व्याप्तिज्ञानादनुमितिः ? अर्थापत्ति-प्रमाणादिति वक्ष्यामः।

अर्थ——केवलव्यतिरेकि-अनुमान भी नहीं हो सकता (अनुमान में केवलव्यतिरेकि रूपता भी नहीं है) क्योंकि साध्य के अभाव में साधनाभाव निरूपित व्याप्तिज्ञान का, साधन के द्वारा साध्य की अनुमिति कर्तव्य होने पर (करनी हो तो) कोई उपयोग नहीं है।

शंका—धूमादि हेतु के होने पर अन्वय व्याप्ति का ज्ञान न रखने वाले व्यक्ति को भी व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से ही अग्नि की अनुमिति कैसे हो जाती है ?

समाधान—वह अनुमिति अर्थापत्ति प्रमाण से होती है यह हम आगे बतावेंगे।

विवरण—व्यतिरेक-व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होने वाली अनुमिति का कारणत्व ही, व्यतिरेकित्व है। नैयायिकों ने व्यतिरेकव्याप्ति का परिष्कृत लक्षण किया है—— 'साध्याभावव्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्वं-व्यतिरेकव्याप्तिः' साध्य का अभाव जहाँ हो वहाँ नियम से रहने वाला जो साधन का अभाव, उसका प्रतियोगित्व ही व्यतिरेक व्याप्ति कहलाती है। यथा——साध्य (अग्नि) का जहाँ अभाव रहता है वहाँ साधन (धूम) का भी अभाव रहता है। इसलिये धूम, साध्याभावव्यापकीभूत अभाव का प्रतियोगी होता है। उसका इस प्रकार प्रतियोगी होना (जहाँ वह्नि का अभाव हो वहाँ धूम का भी अभाव रहना) ही व्यतिरेकव्याप्ति है। धूम का सत्त्व (अस्तित्व) यदि हो तो वह्नि का भी सत्व (अस्तित्व) रहता है। इस कारण, व्याप्य (धूम) व्यापक (वह्नि) की कल्पना हो सकती है। परन्तु दो अभावों का कार्यकरणभाव और व्याप्यव्यापकभाव इसके विपरीत रहता है। यथा—जहाँ जहाँ वह्नि का अभाव रहता है, वहाँ वहाँ धूम का भी अभाव रहता है। इस कारण साध्य जो अग्नि, उसके अभाव से,

साधन जो धूम; उसका अभाव, सिद्ध किया जाता है। परन्तु उसका अनुमिति के लिए क्या उपयोग? अर्थात् कोई उपयोग नहीं। इससे अधिक से अधिक लाभ हुआ तो साध्य के अभाव से साधन का अभाव सिद्ध होगा, परन्तु साध्य की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि साधन से साध्य का अनुमान किया जाता है। यह प्रसिद्ध है, और उस अनुमिति में साध्य-साधन का व्यप्तिज्ञान, उपयुक्त है। परन्तु साध्यभाव और साधनभाव के—व्याप्तिज्ञान का अनुमिति में कोई उपयोग नहीं है। (१) पृथ्वी, इतर (अन्य) से भिन्न है, (२) गन्धत्व के कारण, (३) जो इतर से भिन्न नहीं रहता, वह गन्धवत् भी नहीं रहता जैसे जलादि' इत्यादि केवल व्यतिरेकिलिंग के उदाहरण नैयायिकों ने दिये हैं। परन्तु वास्तव में ये सब उदाहरण, अर्थापत्ति प्रमाण के उदाहरण हैं, क्योंकि गन्धत्व, इतर भेद का उपपादक है, अर्थात् पृथ्वी का गन्धत्व ही 'पृथ्वी इतरों से भिन्न है' यह ज्ञान करा सकता है।

शंका—अन्वय व्याप्ति का ज्ञान न रहने पर भी व्यक्तिरेकव्याप्ति के ज्ञान से भी अनुमिति होती है। अर्थात् 'जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि होता है' इत्याकारक अन्वय व्याप्ति का जिसे ज्ञान नहीं है ऐसे व्यक्ति को भी 'जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है—इत्याकारक व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से भी अनुमिति हो सकती है। परन्तु अन्वयिरूप एक ही लिंग को मानने वाले आप के मत में वह अनुमिति कैसे उत्पन्न हो सकेगी?

समाधान—जिसे अन्वयव्याप्ति का ज्ञान नहीं रहता उसे अर्थापत्ति प्रमाण से अग्नि आदि का ज्ञान होता है। अनुमान से नहीं। इस कारण आप की उपर्युक्त शंका ही ठीक नहीं है। अर्थापत्तिप्रमाण की आवश्यकता को हम आगे बतावेंगे। आप के व्यतिरेक-अनुमान का अर्थापत्ति प्रमाण में अन्तर्भाव हो सकता है। इसलिये व्यतिरेक-अनुमान, पृथक्तया मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

अब नैयायिकों के माने हुए तीसरे भेद का निराकरण करते हैं।

अत एवाऽनुमानस्य नान्वयव्यतिरेकि-रूपत्वं व्यतिरेकव्याप्ति-ज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात्।

अर्थ—इसीलिए अनुमान को अन्वय-व्यतिरेकिरूपता भी नहीं है। क्योंकि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान में अनुमिति के प्रति हेतुत्व नहीं है।

विवरण—जब कि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान में अनुमिति-जनकत्व नहीं है तब नैयायिकों द्वारा मानी हुई अन्वय, व्यतिरेक-उभयरूपता, अनुमान से सम्भव नहीं होती। क्योंकि अन्यवरूप और व्यतिरेकरूप दोनों में से एक अन्वयव्याप्तिज्ञान से ही यदि अनुमिति हो सकती है तो व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति हेतु मानना व्यर्थ

है। 'व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति हेतुत्व नहीं है' यह बात केवल व्यतिरेकि का निराकरण करते समय हम बता चुके हैं।

इस प्रकार 'अन्वयिरूप एक ही अनुमान है' यह सिद्ध कर अब उसका द्विविधत्व बताते हैं—

तच्चानुमानं[1] स्वार्थ-परार्थ-भेदेन[2] द्विविधम्। तत्र स्वार्थं तूक्तमेव, परार्थं तु न्यायसाध्यम्। न्यायो नामावयव-समुदायः। अवयवाश्च त्रय एव[3] प्रसिद्धाः—प्रतिज्ञाहेतूदाहरण-रूपाः, उदाहरणोपनय-निगमन-रूपा वा, न तु पञ्चावयव[4]रूपाः। अवयव-त्रयेणैव व्याप्ति-पक्षधर्मतयोरुपदर्शन-सम्भवेनाऽधिकावयव-द्वयस्य व्यर्थत्वात्।

अर्थ—और वह अनुमान, स्वार्थ और परार्थ भेद से दो प्रकार की (स्वार्थानुमान

---

१. अन्वय व्यतिरेक-व्याप्तिद्वयमूलकमनुमानं स्वार्थ-परार्थभेदेन द्विविधम्। तत्र धूमेन्द्रियसन्निकर्षदशायामुत्पन्नं स्वार्थानुमानम्, तच्च न्यायप्रयोगानपेक्षं स्वमात्रनिष्ठ-प्रतीतिफलम् परार्थानुमानं च न्यायप्रयोगापेक्षं परपुरुषनिष्ठप्रतीतिफलम्। अत्र नैयायिकाः प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमाः पंचावयवाः परार्थानुमाने अपेक्षिता भवन्तीति वदन्ति। तत्र साध्यनिर्देशरूप-प्रतिज्ञया यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् इत्युदाहरणेन धूमादिति हेतूपन्यासेन च व्याप्ति-पक्षधर्मताज्ञानयोरुत्पत्त्या अनुमिति-संभवात् नोपनय-निगमनयोरपेक्षा। अथवा उदाहरणोपनयनिगमनैरेवाऽनुमिति-संभवात् न प्रतिज्ञा-हेतुवाक्ययोरुपयोगः इति शास्त्रदीपिकोक्तिमनुसरति ग्रन्थकारः 'अवयवाश्चे'त्यादि ग्रथेन।

ननु अनुमानलक्षणादिनिरूपणस्य वेदान्तग्रन्थेषु क उपयोगः? ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्य उपनिषदेकसमधिगम्यत्वान्न तत्रोपयोगः। अपि तु द्वैतमिथ्यात्वतात्पर्यग्राहकतया उपपत्ति-पदाभिधेयस्य अनुमानस्य अपेक्षणीयत्वात्। तदुक्तमद्वैतसिद्धौ—'अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्व-सिद्धिपूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्" इति। अत्र उपपादनीयमित्यस्य अनुमानेन साधनीयमित्यर्थः। एवं च द्वैतमिथ्यात्वनिर्णये अनुमानस्योपयोगः। यद्यपि श्रुतिरेव अद्वैतिनां मुख्यं प्रमाणम्, तथापि तत्तात्पर्यनिर्णायकतया उपपत्तिपदाभिधेयमनुमानमपि सार्थकम्। तदुक्तम्—

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य-निर्णये॥" इति।

२. 'दाद्'—इति पाठान्तरम्।

३. 'एव–प्रति०'—इति पाठान्तरम्।

४. 'वाः'—इति पाठान्तरम्।

तथा परार्थानुमान) है। उनमें से स्वार्थानुमान तो बता ही चुके हैं। इसलिये परार्थानुमान को ही बताते हैं। वह न्यायसाध्य है। न्याय का अर्थ है अवयवों का समूह। अनुमान के अवयव तीन ही प्रसिद्ध हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन—उन अवयवों के ये तीन स्वरूप हैं। तार्किक लोग पाँच अवयव मानते हैं। परन्तु हमारे मत में अनुमान के पाँच अवयव नहीं हैं। क्योंकि उपर्युक्त किन्हीं तीन अवयवों से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता का ठीक-ठीक ज्ञान होने के कारण अधिक दो अवयवों की कल्पना करना व्यर्थ है।

विवरण—अपने विवाद का विषय बने हुए अर्थ के साधक अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं। अर्थात् अपने मन में किसी विशिष्ट स्थान पर विशिष्ट पदार्थ है या नहीं–ऐसा संशय उत्पन्न होने पर जिस बाह्य प्रत्यक्ष लिंग के ज्ञान से वह निवृत्त हो, वह स्वार्थानुमान है। इस स्वार्थानुमान को पहले ही ('व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार के दर्शन से व्याप्ति का ग्रहण होता है' पीछे बताया है। यह व्याप्तिज्ञान ही स्वार्थानुमान है) बता चुके हैं।

दूसरी व्यक्ति के विवाद का विषय बने हुए पदार्थ के साधक अनुमान को परार्थानुमान कहते हैं। वह परार्थानुमान न्याय से सिद्ध होता है। यहाँ 'न्याय' शब्द का अर्थ अवयव-समुदाय है, यह मूल में ही बताया है। अर्थात् अवयवघटित वाक्य ही 'न्याय' है। न्याय का परिष्कृत लक्षण इस प्रकार है–'अनुमान-प्रयोजक-वाक्यार्थ-ज्ञान-जनक-वाक्यत्वं न्यायत्वम्'–अनुमान प्रयोजक जो वाक्यार्थ ज्ञान, उसे उत्पन्न करने वाले वाक्य को ही न्याय कहते हैं। ऐसे ही न्याय से उत्पन्न हुए ज्ञान का प्रयोज्य (कार्य) व्याप्तिज्ञान है और वही परार्थानुमान है। परार्थानुमान के अवयव तीन ही प्रसिद्ध हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण, या उदाहरण, उपनय और निगमन। यथा—'पर्वत वह्निमान् है' यह प्रतिज्ञा रूप अवयव का उदाहरण है। 'क्योंकि उस पर धूम है' यह हेतुरूप अवयव है। 'जो जो धूमवान् रहता है वह वह अग्निमान् रहता है, जैसे महानस' यह उदाहरण रूप अवयव है। 'वैसे ही यह पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है' यह उपनय रूप अवयव है। 'इसलिये वह अग्निमान् है' यह निगमन रूप अवयव है। अनुमान के इन पाँचों अवयवों को नैयायिक मानते हैं। परन्तु वेदान्ती इस प्रकार पाँच अवयव नहीं मानते। किन्तु धर्ममीमांसकों के तीन अवयवों का स्वीकार करते हैं। क्योंकि तीन अवयव-समुदाय से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता (व्याप्ति विशिष्ट हेतु का पक्ष पर रहना) का ज्ञान यदि होता है तो अधिक दो अवयवों को मानना व्यर्थ है। मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत किये गये पूर्वोक्त दो पक्षों में से पहले पक्ष में उपनय और निगमन का कार्य, हेतु और प्रतिज्ञा के द्वारा हो सकता है। और दूसरे पक्ष में हेतु और प्रतिज्ञा का कार्य, उपनय और निगमन से हो सकता है। इसलिए प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को मानने पर

उपनय और निगमन रूप अधिक अवयवों के मानने की आवश्यकता नहीं है, और उनका स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा और हेतुरूप अवयवों की आवश्यकता नहीं होती। अनुमिति ज्ञान के उपयुक्त ज्ञान को पैदा करना ही सब अवयवों का कार्य है।

इस प्रकार अनुमान का निरूपण कर उसका प्रकृत प्रसंग में उपयोग बताते हैं—

एवमनुमाने निरूपिते [1]तस्माद् ब्रह्मभिन्न-निखिल-प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसिद्धिः। तथा हि—ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वात्, यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरूप्यम्। न च दृष्टान्ताऽसिद्धिः, तस्यसाधितत्वात्। न [2]चाप्रयोजकत्वं, शुक्तिरू[3]प्यरज्जुसर्पादीनां मिथ्यात्वे ब्रह्मभिन्नत्वस्यैव लाघवेन प्रयोजकत्वात्।

अर्थ—इस रीति से अनुमान का निरूपण कर चुकने पर अब उसी अनुमान के द्वारा ब्रह्म-भिन्न समस्त प्रपञ्च की मिथ्यात्व-सिद्धि हो जाती है। तथाहि—ब्रह्मभिन्न (ब्रह्म से भिन्न) सर्व (समस्त पदार्थजात) मिथ्या (असत्य) है। क्योंकि वह सब ब्रह्मभिन्न है। जो ब्रह्मभिन्न रहता है वह मिथ्या होता है, जैसे शुक्तिरूप्य। 'इस अनुमान में तीसरे दृष्टान्त रूप अवयव की सिद्धि नहीं होती'। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि शुक्तिरूप्य का मिथ्यात्व हमने प्रत्यक्ष प्ररिच्छेद में सिद्ध कर दिखाया है। उसी तरह 'ब्रह्मभिन्नत्व' हेतु अप्रयोजक (साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ) है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि शुक्तिरूप्य, रज्जुसर्प आदि के मिथ्यात्व में लाघव से ब्रह्मभिन्नत्व हेतु में ही प्रयोजकत्व है।

विवरण—यहाँ तक अपने पक्ष में अनुमान का स्वरूप क्या है—बताया। इस तरह के अनुमान से ही 'ब्रह्मभिन्न सर्व प्रपंच मिथ्या है,' यह सिद्ध होता है। मीमांसकों को मान्य ऐसे दो पक्षों में से प्रथम पक्ष, हमें अधिक संमत है इसलिए प्रतिज्ञादि अवयव-त्रयात्मक वाक्य का मूल में उपयोग किया गया है। इस अनुमान में 'ब्रह्मभिन्न

---

१. तस्मात् अनुमानात्। पूर्वोक्तेषु त्रिषु अवयवेषु प्रतिज्ञाद्यवयवत्रये स्वसम्मतिम्प्रदर्शयितुमाह—'ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात्' इति। शुक्तिरूप्यादौ सिद्धसाधन-वारणाय सर्वमिति। ब्रह्मणि बाधनिरासाय ब्रह्मभिन्नमिति। न च दृष्टान्तासिद्धिः, तस्य दृष्टान्तस्य प्रत्यक्षपरिच्छेदे साधितत्वात्।

२. अविद्या-तत्कार्यसाधारणस्य ब्रह्मभिन्नत्वस्य प्रयोजकत्वे न गौरवम् अपितु लाघवम्। अतस्तस्य मिथ्यात्व-प्रयोजकत्वम्। न च तत्र व्यभिचार-शङ्कोदयः, 'ब्रह्म-भिन्नत्वं यदि मिथ्यात्वव्यभिचारि स्यात्, तदा दृग्-दृश्ययोः सम्बन्धो न स्यात्' इत्याकारकस्य व्यभिचारशंकानिवर्तकस्य अनुकूलतर्कस्य जागरुकत्वात्।

३. 'प्यादीनां मि०'— इति पाठान्तरम्।

सर्वं' पक्ष है। इसमें 'सर्वं' शब्द का प्रयोग, शुक्तिरूप्यादि उदाहरण में सिद्धसाधन दोष के निवारणार्थं किया गया है। और ब्रह्म में बाध-प्रसंग के निवारणार्थं 'ब्रह्मभिन्न' कहा गया है। रज्जुसर्पादि उदाहरणों में मिथ्यात्वरूप साध्य की सिद्धि होने पर भी सिद्धसाधन दोष नहीं आ पाता। क्योंकि अन्यान्यवादियों ने भी 'वाक् और मन दोनों अनित्य हैं' इस प्रतिज्ञा में अंशतः 'सिद्धसाधन-दोष' का स्वीकार किया है।

शंका—शुक्तिरूप्य के मिथ्यात्व में कोई प्रमाण न होने से शुक्तिरूप्य का दृष्टान्त असिद्ध है। उसके मिथ्यात्व में अनुमान प्रमाण कहें तो अनवस्था दोष होगा।

समाधान—शुक्तिरूप्य के मिथ्यात्व का प्रतिपादन हमने प्रथम परिच्छेद में किया है। इसलिये दृष्टान्त 'असिद्ध' नहीं है।

शंका—यह अनुमान, अप्रयोजक है अर्थात् सर्व, ब्रह्मभिन्न रहे, परन्तु मिथ्या नहीं। इससे अन्यान्य पदार्थों में सत्यत्व होने पर भी ब्रह्मभिन्नत्व हो सकता है।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि शुक्तिरजतादि के मिथ्यात्व में कारण, अविद्या' से अतिरिक्त दोषजन्यत्व न होकर लाघव से 'ब्रह्मभिन्नत्व' ही है। ऐसा लाघव-रूप अनुकूल तर्क होने से अनुमान, मिथ्यात्व साधन में अप्रयोजक नहीं है।

शंका—शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थों में जो प्रत्यक्षसिद्ध मिथ्यात्व है, उसका क्या लक्ष्य है? जिस मिथ्यात्व को आप समस्त प्रपंच में अनुमान से साधन करना चाह रहे हैं।

इस शंका का समाधान—

[1]मिथ्यात्वं (२) च स्वाश्रयत्वेनाऽभिमत यावन्निष्ठात्यन्ता-

१. चित्सुखाचार्योक्तिमनुस्मरन् साध्यं मिथ्यात्वं निर्वक्ति—'स्वाश्रयत्वेनाऽभिमत-यावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्, स्वस्य आश्रयत्वेन अभिमताः यावन्तः तेषु निष्ठः यः अत्यन्ताभावः तत्प्रतियोगित्वम्,। अत्र 'स्व' पदं, यस्य मिथ्यात्वं साधनीयं तत्परम्। अभिमतपदं प्रमितिव्यावृत्ति-प्रतीति विशेष्यपरम्। यावत् पदमशेषपरम्। तथा च—स्वाश्रयत्वेन स्वप्रकारक-प्रतीतिविशेष्यत्वेन अभिमते प्रतीते यावति सकले निष्ठः स्थितः विद्यमानः यः स्वात्यन्ताभावः तत्प्रतियोगित्वं स्वस्य मिथ्यात्वमित्यर्थः। यथा 'इदं रजतम्' इत्यत्र स्वं शुक्तिरूप्यं तदाश्रयत्वेन तत्प्रकारकप्रतीतिविशेष्यत्वेन अभिमतं प्रतीतं यद् यद् इदमात्मकं पुरोवर्तिद्रव्यं, तस्मिन् यावति समस्ते पुरोवर्तिनि द्रव्ये निष्ठः स्थितः यः स्वस्य शुक्तिरूप्यस्य अत्यन्ताभावः तत्प्रतियोगित्वं शुक्तिरूप्यस्य इति मिथ्याभूते प्रातिभासिके लक्षण-समन्वयः। एवं स्वप्रकारकप्रतीतिविशेष्ये स्वाधिष्ठान-चैतन्ये सर्वस्यापि व्यावहारिकाभावस्य विद्यामानत्वात् तत्प्रतियोगित्वं सर्वस्यैव व्यावहारिकस्येति व्यावहारिकेऽपि लक्षणसमन्वयः।

भाव-प्रतियोगित्वम् । अभिमतपदं[1] वस्तुतः स्वाश्रयाप्रसिद्धया असंभव-वारणाय । यावत्पदमर्थान्तर-वारणाय । तदुक्तम्—

[2]सर्वेषामेव भावानां स्वाश्रयत्वेन सम्मते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ।। इति । चि० ७ ।

अर्थ—मिथ्यात्व से यह विवक्षित है कि स्वाश्रय से अभिमत जितनी वस्तु हो, तन्निष्ठ (उसमें रहनेवाला) अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व । इस मिथ्यात्व के लक्षण में 'अभिमत' पद, वस्तुतः स्व-श्रय की अप्रसिद्धि होने से उस पर आनेवाले असंभव दोष की निवृत्ति करने के लिये है और 'यावत्' पद, अर्थान्तर का निवारण करने के लिये है। इस विषय में चित्सुखी में इस प्रकार कहा है—'स्वाश्रय से सम्मत पदार्थ में स्थित अत्यन्ताभाव का सब पदार्थों में प्रतियोगित्व रहता है, यही सब पदार्थों का मिथ्यात्व है ।

विवरण—घटादि किसी कार्य की समवाय से स्थिति, कपालादि अपने कारण-प्रदेश के अतिरिक्त प्रदेश में नहीं हुआ करती । अर्थात् कपाल, तन्तु आदि कारण, जिस स्थान में होते हैं उससे भिन्न स्थान में घट, पट आदि कार्य हुआ करते हैं ऐसा कोई नहीं मानता, और वे कार्य, कपालादि कारणों में भी नहीं रहते, यह प्रमाणसिद्ध है । परन्तु उसके विपरीत प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । इसलिये सब कार्य मिथ्या हैं । इस विषय में "यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ।" जो वास्तव में न होकर भी भासता हो वह मिथ्या है । जैसे स्वप्नगजादि—यह सांप्रदायिकों का अभ्युपगम है । ब्रह्मभिन्न समस्त पदार्थों का मिथ्यात्व बतानेवाले अनुमान-प्रमाण का उपन्यास ऊपर हम कर ही चुके हैं । 'परन्तु उस अनुमान का प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होता है, क्योंकि सृष्टि में सभी पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं । इसलिये पूर्वोक्त अनुमान से उनका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता' परन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है । क्योंकि चन्द्रबिम्ब, एक प्रादेशमात्र हमें प्रत्यक्ष दीखता है । परन्तु शब्द-प्रमाण से उस प्रत्यक्ष-प्रत्यय का बाध हो जाता है । इससे जो प्रत्यक्ष दिखाई दे वह सत्य ही है—यह नियम नहीं । 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस ब्रह्म में नानात्व (द्वैत) का लेश तक नहीं है । इत्यादि अर्थ के आगम, ब्रह्म

---

१. दमसंभव०'–इति पाठान्तरम् ।

२. सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन सम्मते अत्यन्ताभावं प्रति यत् प्रतियोगित्वम्, तदेव तेषां मृषात्मत्वं मिथ्यात्वमितियावत् । भावानां सताम् । सत्त्वञ्च कालसंबन्धित्वम्, तेन अभावस्यापि परिग्रहः स्वाश्रयत्वेन स्वोपादानत्वेन, 'स्वपदं मिथ्यात्वेन अभिमतपरम् । सम्मते प्रतीते, न तु प्रमिते । तेन च बाधः परिहृतः । सप्तम्यर्थो निष्ठात्वम् । तथा च सर्वेषां घटपटादीनां भावानां सतां स्वाश्रयत्वेन स्वोपादनत्वेन सम्मताः प्रतीता ये तन्त्वादयः तन्निष्ठः यः स्वात्यन्ताभावः तत्प्रतियोगित्वमेव तेषां मिथ्यात्वमिति श्लोकार्थः ।

आगम, ब्रह्म भिन्न वस्तु का निषेध करते हैं। इस कारण समस्त द्वैत, मिथ्या है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार हमने यहाँ पर घटादि पदार्थों के मिथ्यात्व का केवल दिग्दर्शन करा दिया है।

अब मूल ग्रन्थ को विवृत करते हैं—

स्वाश्रयत्व से अभिमत जितना पदार्थ हो उसमें स्थित जो 'स्व' का (आश्रित का) अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। भाव रूप से स्वीकार किये हुए घटादि पदार्थों के आश्रय रूप से (अधिकरण) अभिमत कपालादि उपादान-कारणभूत पदार्थ में विद्यमान, वास्तविक रूप से (वस्तुतः) घट का जो अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व (घट का वस्तुतः वहाँ न रहना) ही मिथ्यात्व है। इसी का प्रकृत विषय से सम्बन्धित दूसरा उदाहरण—उपर्युक्त लक्षण में 'स्व' शब्द से समस्त प्रपञ्च की विवक्षा है। उसके आश्रय रूप से ब्रह्म है। इस प्रकार स्वाश्रयत्व से अभिमत ब्रह्म में स्थित समस्त-प्रपंच का अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व समत-प्रपंच में है। अर्थात् ब्रह्म में प्रपञ्च का लेश तक नहीं है, यही प्रपंच का मिथ्यात्व है।

शंका—इस मिथ्यात्व के लक्षण में 'अभिमत' पद का क्यों निवेश किया है? 'स्वाश्रययावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्' इतना ही मिथ्यात्व का लक्षण किया जाय।

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि सभी स्वाश्रयों में स्वात्यन्ताभाव का असंभव (स्वयं के ही अत्यन्ताभाव का जो असम्भव, उसका निवारण करने के लिये लक्षण में 'अभिमत' पद की आवश्यकता है। अन्यथा 'जितना भी स्वाश्रय' शब्द से शुक्त्यादि भी गृहीत हो सकते हैं, उनमें रहने वाला जो अत्यन्ताभाव शुक्त्यादिकों का ही अत्यन्ताभाव लेना होगा, परन्तु यह तो असम्भव ही है। इसलिये लक्षण, असम्भव दोष से दूषित होता है, उसके निवारणार्थ 'अभिमत' पद का निवेश, लक्षण में किया गया है। वस्तुतः शुक्त्यादि, रजतादिकों का आश्रय नहीं है, तथापि 'इदं रजतम्' यह भ्रम होने पर शुक्ति को उसका आश्रय मानना पड़ता है। इस प्रकार स्वाश्रयत्व से अभिमत शुक्ति आदि पदार्थों में जो रजतादिकों का अत्यन्ताभाव उसका प्रतियोगित्व, शुक्तिरूप्यादिकों में है, इसलिये लक्षण में 'अभिमत' पद का निवेश करना उचित ही है।

शंका—यदि 'अभिमत' पद के निवेश करने से ही मिथ्यात्व लक्षण का निर्वाह हो जाता है तो पुनः 'यावत्' पद के निवेश की क्या आवश्यकता?

समाधान—लक्षण में 'अभिमत' पद के निवेश करने पर भी जब तक 'यावत्' पद का निवेश न किया जाय, तब तक लक्षण निर्दुष्ट नहीं हो पाता। लक्षण में 'यावत्' पद के निवेश न करने पर कपि-संयोग के आश्रय रूप से अमित जो वृक्ष है, उस पर मूलावच्छेद से (मूल प्रदेश में विद्यमान) विद्यमान जो कपि-संयोग का अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व शाखावच्छेद से विद्यमान कपिसंयोग में है। इस कारण सामाना-

धिकरण्यरूप अर्थान्तर की सिद्धि हो जाती है। इस अर्थान्तर के निवारणार्थ लक्षण में 'यावत्' पद का निवेश अवश्य करना चाहिये। जिससे, स्वाश्रयत्व से अभिमत जितना भी शाखादि पदार्थ है उसमें कपि-संयोग का अत्यन्ताभाव नहीं है। इस कारण अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी, कपिसंयोग नहीं वन पाता। इसलिये 'अर्थान्तरसिद्धि' रूप दोष नहीं है। हमारे मत में 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' पूर्वोक्त सत्य-ज्ञानानन्त-लक्षण ब्रह्माख्य आत्मा में आकाश उत्पन्न हुआ। ऐसी श्रुति होने से तार्किकों के द्वारा नित्य माने गये आकाशादि में भी जन्यत्व ज्ञात होता है। जन्य होने से वे कार्य हैं। कोई भी कार्य, अपने कारण के आश्रित रहता है। इस कारण आकाशादि सभी कार्य, ब्रह्मरूप आश्रय में स्थित है। इसलिये पूर्वोक्त लक्षण पर अव्याप्ति दोष नहीं आ पाता। यह लक्षण, प्राचीन विद्वानों को भी सम्मत है। इस विषय में 'सर्वेषामेव' इत्यादि चित्सुखाचार्य की कारिका उद्धृत की गई है।

इस प्रकार प्राचीन वेदान्तियों के द्वारा किये गये जगन्मिथ्यात्व-साधक अनुमान का उपपादन कर, नवीन वेदान्तियों का मिथ्यात्व के अनुमान का प्रकार बतात हैं—

[1]यद्वा-अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगी पटत्वात् पटान्तरवदित्या[2]द्यनुमानं मिथ्यात्वे प्रमाणम्। तदुक्तम्—

[3]अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः।
अंशित्वादितरांशिव दिगेषैव गुणादिषु॥ इति। चि० ८।

अर्थ—अथवा (१) यह पट, एतत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। (२) क्योंकि उसमें पटत्व है। (३) अन्य पट के समान। यह अनुमान, मिथ्यात्व में प्रमाण है। इस विषय में चित्सुखाचार्य ने इस प्रकार कहा है—(१) अवयवी पदार्थ में, उसके अवयव में विद्यमान जो अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता होती है। (२) क्योंकि उसमें अवयवित्व है। (३) अन्य अवयवी के समान। गुणादिकों के मिथ्यात्व का अनुमान करने का यही मार्ग है।

---

१. प्राचीनोक्तमनुमानप्रयोगमुपपाद्य नवीनोक्तमनुमानप्रयोगमाह—यद्वेति।

२. 'त्यनुमा०'—इति पाठान्तरम्।

३. चित्सुखाचार्योक्तेन श्लोकेन अनुमानप्रयोगं दर्शयति—अंशिन इति। अंशिनः अवयविनः। स्वांशगात्यन्ताभावस्य स्वोपादाननिष्ठात्यन्ताभावस्य। 'स्वपदं पक्षीभूत-पटविशेषपरम्। अनेन अवयविविशेषस्य पक्षत्वं—स्वोपादाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य च साध्यत्वं दर्शितम्। अंशित्वात् इति हेतुः। कार्यत्वेन सम्मतत्वादित्यर्थः। इतरांशिव इतरांशिन इवेत्यर्थः। यथा इतरांशिनामंशित्वात् एतदवयवनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, तद्वत् एतदंशिनोऽपि अंशित्वात् एतदवयव-निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वसिद्धौ मिथ्यात्वसिद्धिः।

विवरण—यहाँ '(१) यह पट, इस तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। (२) क्योंदि उसमें पटत्व है। (३) अन्य पटों के समान। इस अनुमान में 'अयं पटः' इस शब्द से वह पूरा (सम्पूर्ण) पट विवक्षित है। उसका उसी पट में विद्यमान किसी एक तन्तु में अत्यन्ताभाव है। इस कारण वह पट एक तन्तु में विद्यमान अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है। यहाँ पर एक तन्तु के अवच्छेद से रहने वाला पट का जो अत्यन्ताभाव, वह 'तादात्म्य' सम्बन्ध से रहता है, यह समझना चाहिये। जिससे पहले की तरह अर्थान्तरता नहीं हो पायेगी। यथा— एक तन्तु पर संयोग सम्बन्ध से जैसे पट रहता है वैसे ही उस पट का अत्यन्ताभाव भी रहता है। अतः प्रतियोगी और उसके अभाव का सामानाधिकरण्य ही अर्थान्तर है। और इस अनुमान से उसी की सिद्धि होती है। मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो पाती। परन्तु 'तादात्म्य संबन्ध से वृत्ति' विशेषण देने पर, अर्थान्तर की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध से ही अभाव लेना अभीष्ट होने से संयोग सम्बन्ध से अभाव का ग्रहण ही नहीं किया जा सकेगा।

इसी तरह एक और 'व्यधिकरण-धर्मानवच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व' विशेषण, अत्यन्ताभाव में जोड़ देना चाहिए। (व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न अभाव का ग्रहण करने पर अर्थान्तर नहीं होता)। तथा हि––तन्तु पर तादात्म्य-सम्बन्ध से तथा पटत्व धर्म से पट का अत्यन्ताभाव न रहने पर भी 'घटत्व' धर्म से वह रहता है, क्योंकि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस तन्तु पर घटत्वरूप से पट नहीं है, प्रतीति होती है। ऐसे अभाव को ही व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव कहते हैं। अर्थात् 'घटत्वेन पाटो नास्ति' इस अभाव की पट में रहने वाली जो प्रतियोगिता, वह पट के व्यधिकरण (पट पर न रहने वाले घटत्व) धर्म से, अवच्छिन्न (युक्त) है। ऐसे अभाव का ग्रहण कर मिथ्यात्व-साधक पूर्वोक्त अनुमान से तन्तु पर घटत्वेन पट का अभाव रूप अर्थान्तर की ही सिद्धि होती है। इस दोष के निवारणार्थ 'व्यधिकरण धर्म से जिसकी प्रतियोगिता अवच्छिन्न नहीं है' इतना विशेषण लगाकर अत्यन्ताभावं का ग्रहण करना चाहिए। जिससे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव को लेकर अर्थान्तरसिद्धि रूप दोष, उपर्युक्त अनुमान पर नहीं आता। क्योंकि अब उस अभाव का ग्रहण ही नहीं हो सकेगा।

अब 'पटः' शब्द से जिस किसी भी पट को पक्ष न बनाकर 'अयं पटः' इसे पक्ष बनाया है। कारण यह है कि जिस किसी पट को पक्ष बनाकर 'एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' को साध्य किया जाय तो वही अर्थान्तर दोष पुनः प्राप्त होता है। क्योंकि अन्य कोई भी पट, एतत्तन्तुनिष्ठ नहीं होता। इसलिये 'अयं पटः' इतना पक्ष कोटि में रखना पड़ा। इसी प्रकार इसी दोष के निवारणार्थ 'एतत्कालिनत्व' विशेषण भी देना चाहिये। इस पर कदाचित् आप यह कहें कि 'इस तन्तु में पट का समवाय है' इस प्रत्यक्ष अनुभव का बाध होगा। परन्तु यह भी उचित नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष

प्रमाण, भ्रम और प्रमा दोनों के लिए साधारण होने से 'चन्द्र प्रादेशमात्र है' इस प्रत्यक्ष अनुभव का शास्त्र से जैसा बाध होता है वैसे समवाय से प्रत्यक्ष का कहीं बाध तो नहीं होता, इस प्रकार के सन्देह मात्र से ही समवाय का प्रत्यक्ष, बाधित समझा जाता है। इसलिए तन्तु और पट के समवाय के प्रत्यक्ष का बाध रूप दोष नहीं होता। इस विषय में चित्सुखाचार्य की सम्मति ऊपर निर्दिष्ट कर ही चुके हैं। इसी प्रकार अन्यान्य अनुमानों में भी बताया जा सकता है। 'रूप, रूपी पदार्थ में विद्यमान अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। क्योंकि उस पर गुणत्व है। स्पर्श के समान। क्रिया आदि में भी ऐसी ही अनुमानों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

किन्तु आपका यह मिथ्यात्वानुमान 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है। यह शङ्का और उसका समाधान ग्रन्थकार स्वयं करते हैं—

न च घटादेर्मिथ्यात्वे सन् घट इति प्रत्यक्षेण[1] बाधः। अधिष्ठानब्रह्मसत्तायास्तत्र विषयतया घटादेः सत्यत्वासिद्धेः। न च नीरूपस्य ब्रह्मणः कथं चाक्षुषादिज्ञान-विषयतेति वाच्यम्। नीरूपस्यापि रूपादेः प्रत्यक्षविषयत्वात्। न च नीरूपस्य द्रव्यस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वमिति नियमः। [2]मन्मते ब्रह्मणो द्रव्यत्वासिद्धेः। गुणाश्रयत्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यत्वमिति तेऽभिमतम्। न हि निर्गुणस्य ब्रह्मणो गुणाश्रयता। नापि समवायिकारणता, समवायासिद्धेः। अस्तु वा द्रव्यत्वं ब्रह्मणः, तथाऽपि नीरूपस्य कालस्येव चाक्षुषादि-ज्ञान-विषयत्वेऽपि न विरोधः।

अर्थ—घटादि ब्रह्मभिन्न पदार्थों में, ब्रह्मभिन्नत्व होने से ही मिथ्यात्व है, इस प्रकार अनुमान करने पर 'सन् घटः'—विद्यमान-घट,—इस प्रत्यक्ष ज्ञान से उसका बाध होता है, यह कहना ठीक नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि यह 'विद्यमान घट' इस ज्ञान में अधिष्ठानरूप ब्रह्मसत्ता विषय है, इस कारण उस सत्ता से पृथक् स्थित घटादि पदार्थों के सत्यत्व की सिद्धि नहीं होती।

---

१. 'क्षविरोधः'—इति पाठान्तरम्।

२. मन्मते अद्वैतवेदान्तिमते। तथा च द्रव्यप्रत्यक्षे चक्षुषो रूपापेक्षा, न तु अन्यप्रत्यक्षे। ब्रह्म तु न द्रव्यम्। तथा चोक्तं विवरणे "ब्रह्म तु न द्रव्यं प्रमाणाभावात्। समवायिकारणत्वाद् द्रव्यमिति चेत्, न, आरम्भवादानभ्युपगमात्। उपादानकारणत्वाद् द्रव्यमिति चेत्, न, गुणादीनामपि ग्रहणधर्मत्वादि-धर्मोपादानत्वात्" इति। तस्मात् तस्य प्रत्यक्षत्वं युक्तमितिभावः।

इस पर आप यदि पूछें कि रूपरहित ब्रह्म, चाक्षुष ज्ञान का विषय कैसे होता है ? तो उसका उत्तर यह होगा कि रूपरहित रूप में प्रत्यक्षविषयता जैसी आपने मानी है। वैसी ही रूपरहित ब्रह्म में चाक्षुषज्ञान-विषयता के होने में कोई विरोध नहीं है।

परन्तु नीरूप-रूप, गुण है, और नीरूप-द्रव्य में चाक्षुष प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं होती—ऐसा हमारा विशेष नियम है, तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि हमारे मत में 'ब्रह्म' द्रव्य नहीं है। कारण यह है कि 'गुणाश्रयत्व या समवायिकारणत्व को ही तार्किकों ने 'द्रव्य' माना है।' परन्तु निर्गुण-ब्रह्म में गुणाश्रयत्व का सम्भव नहीं। समवायिकारणत्व रूप लक्षण का ब्रह्म में सम्भव नहीं। क्योंकि 'समवाय' नामक कोई पदार्थ ही नहीं है। अथवा 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से 'ब्रह्म' को द्रव्य मान लेने पर भी जैसे रूपरहित काल का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही 'ब्रह्म' का भी यदि चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो तो इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

विवरण—"ब्रह्म से भिन्न समस्त प्रपंच मिथ्या" यह अनुमान ऊपर किया गया है। परन्तु ब्रह्म से भिन्न घट-पटादि समस्त पदार्थ, 'असत्' न होकर, 'सत्' हैं। यह अनुभव प्रत्यक्ष है और इस प्रत्यक्ष ज्ञान से अनुमान का बाध हो जाता है।

परन्तु ऐसा समझना अनुचित है, क्योंकि 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान में 'सन्' और 'घट' ये दो विषय हैं। उनमें 'सन्' इस ज्ञान का विषय 'सत् ब्रह्म' है और 'घट' इस ज्ञान का विषय, 'सद्भिन्न असत् घट' है। इसलिए 'सन् घटः' इस प्रत्यक्षज्ञान का विषय, अधिष्ठान 'ब्रह्मसत्ता' होने से, उससे भिन्न की (घटादि असत् पदार्थों की) सत्यता सिद्ध नहीं होती।

शंका—रूपरहित ब्रह्म का चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, तब 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष का विषय 'सत् ब्रह्म' है, कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—'नीरूप पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता' आपका यह नियम, अव्यभिचारी नहीं है, किन्तु व्यभिचारी है। क्योंकि रूप स रहित रूपादिकों का प्रत्यक्ष होता है। अतः नीरूप-पदार्थ का प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता, यह नियम व्यभिचरित है।

इस पर आप यह कहें कि 'रूपरहित रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता' ऐसा नियम हमारा नहीं है, किन्तु 'रूपरहित द्रव्य में चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं होती' यह नियम है।

तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि हमारे मत में 'ब्रह्म' की द्रव्य में गणना नहीं है। अतः द्रव्य के विषय में आपका विशेष नियम होने पर भी हमारी कोई हानि नहीं है।

शंका—'ब्रह्म' में द्रव्यत्व नहीं है, यह आप कैसे कहते हैं ?

समाधान—तार्किकों ने द्रव्य के दो लक्षण दिये हैं, उन दोनों की ब्रह्म में सम्भावना न हो सकने से उसमें द्रव्यत्व नहीं है। आपके यहाँ 'गुणाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्'—गुण के

आश्रय को द्रव्य कहा गया है। परन्तु 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ६–११) इस श्रुति में ब्रह्म को स्पष्टतया निर्गुण कहा है। इसलिए सत्त्वादि-गुणरहित ब्रह्म, रूपादि गुणों का भी आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि वैशेषिकों के सम्मत रूपादि गुण, सत्त्वादि तीन गुणों के ही परिणाम हैं। इस कारण 'गुणाश्रयत्व' रूप द्रव्यलक्षण, ब्रह्म में घटित नहीं होता। 'समवाय' पदार्थ का अस्तित्व ही न होने से ब्रह्म में समवायिकरणता नहीं है। उसके न होने से 'समवायिकारणत्व रूप द्रव्य-लक्षण भी ब्रह्म में घटित नहीं होता।

अथवा ब्रह्म में यथा कथंचित् द्रव्यत्व मान भी लें तथापि 'नीरूप-द्रव्य, प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होता' यह नियम नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि 'इस काल में यहाँ घट नहीं है' इस प्रतीति के बल पर अध्वर-मीमांसकों ने जैसे इन्द्रियविषयता, काल में स्वीकार की है, उसी प्रकार 'सन् घटः' इत्याकारक प्रतीति में अन्य किसी कारण के न होने से उस अनन्यथा–सिद्ध प्रतीति के बल पर हम भी ब्रह्म में चाक्षुसत्व स्वीकार करते हैं। इसलिए ब्रह्मव्यतिरिक्त पदार्थ की चाक्षुषत्व में ही 'महत्त्व के साथ उद्भूत-रूपवत्त्व' प्रयोजक होता है। ब्रह्म की चाक्षुषता में नहीं।

"रूपरहित काल का प्रत्यक्ष मानने पर 'आकाश में बलाका' इस प्रतीति के बल पर आकाश का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष कहना होगा" इस आशंका के कारण पूर्व समाधान में अरुचि होने से दूसरा समाधान कहते हैं—

यद्वा–त्रिविधं सत्त्वं[1]-पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं च। पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः, व्यावहारिकं[2] सत्त्वमाकाशादेः, प्राति–भासिकं[3] सत्त्वं शुक्ति[4]रजतादेः। तथा च घटः सन्निति प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकसत्त्व-विषयत्वेन प्रामाण्यम्। अस्मिन्पक्षे[5] च घटादेर्ब्रह्मणि निषेधो न स्वरूपेण,[6] किन्तु पारमार्थिकत्वेनैवेति न विरोधः। अस्मिन्पक्षे[7] च मिथ्यात्वलक्षणे पारमार्थिकत्वावच्छिन्न–प्रतियोगिता

१. 'पारमार्थिकसत्त्व'–इति पाठान्तरम्।
२. 'कसत्त्व' इति पाठान्तरम्।
३. 'कसत्त्व'–इति पाठान्तरम्।
४. 'रूप्यादेः'–इति पाठान्तरम्।
५. 'क्षे घटाः' इति पाठान्तरम्।
६. न स्वपेण न व्यावहारिकत्वेन।
७. अस्मिन् पक्षे सत्तात्रैविध्यपक्षे।

कत्वमप्यन्ताभाव-विशेषणं द्रष्टव्यम् । [1]तस्मादुपपन्नं मिथ्यात्वानुमानमिति ।

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र-विरचितायां वेदान्त-परिभाषायाम्

अनुमान-परिच्छेदः

समाप्तः ।

अर्थ—अथवा—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद से तीन प्रकार का सत्त्व है । ब्रह्म का सत्व, पारमार्थिक है । आकाशादि भूत भौतिकों का सत्त्व, व्यावहारिक है । शुक्तिरजत, स्वप्नगज आदि का सत्त्व, प्रातिभासिक है । इस कारण 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष का प्रामाण्य, 'व्यावहारिक' सत्त्व, उसका (प्रत्यक्ष का) विषय होने के कारण है । इस पक्ष में घटादि का ब्रह्म में स्वरूपतः निषेध नहीं किया जाता किन्तु परमार्थतः ही उसका निषेध किया जाता है । अतः कोई किसी प्रकार का विरोध नहीं होता । और इस पक्ष में पूर्वोक्त मिथ्यात्व के लक्षण में, 'जिसकी प्रतियोगिता पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न है' यह विशेषण, अत्यन्ताभाव में देना चाहिये । इस रीति से पूर्वोक्त मिथ्यात्वानुमान सर्वथा उपपन्न है ।

विवरण—पारमार्थिकत्व, व्यावहारिकत्व और प्रातिभासिकत्व—ये सब, विषयभेद के कारण एक ही सत्त्व के तीन प्रकार हैं । ब्रह्म का सत्त्व, पारमार्थिक है, आकाशादिकों का सत्त्व व्यावहारिक और रज्जु-सर्पादिकों का सत्त्व, प्रातिभासिक हुआ करता है । प्रातिभासिक सत्ता का व्यावहारिक सत्ता से बाध होता है, और व्यावहारिक सत्ता का ब्रह्म की—पारमार्थिक सत्ता से बाध होता है । ब्रह्म की सत्ता का किसी से भी बाध न होने से वह पारमार्थिक है । 'घटः सन्'–घट विद्यमान है, इस प्रकार घटसत्ता का जो प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसका व्यावहारिक सत्त्व, विषय है और उस प्रत्यक्ष में प्रामाण्य भी व्यावहारिक सत्त्वविषयत्वेनैव ही है, अर्थात् व्यावहारिक सत्ता में ही उसे प्रामाण्य है । पारमार्थिक सत्ता में नहीं ।

यदि आप ऐसा कहें कि सत्त्व की त्रिविधता के स्वीकार पक्ष में वृक्ष पर कपिसंयोग और उसका अभाव दोनों का समानाधिकरण्य जैसे सिद्ध होता है, वैसे ही ब्रह्म में घट और उसका अभाव दोनों का समानाधिकरण्य सिद्ध होगा, परन्तु घटादिकों का उससे मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा ।

तो उस पर हमारा यह उत्तर है कि ब्रह्म में घटादि पदार्थों का जो निषेध किया गया है, वह स्वरूपेण (व्यावहारिक रूप से = यह व्यावहारिक घट नहीं) नहीं किया

---

१. मिथ्यात्वलक्षणस्य पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावघटितत्वात् । अनुमानस्य पारमार्थिकत्वाभावविषयकत्वात् प्रत्यक्षस्य च व्यावहारिकसत्त्वविषयकत्वात् तयोर्भिन्नविषयत्वेन अविरोधात् मिथ्यात्वानुमानं समुचितमेव ।

गया है। किन्तु पारमार्थिकत्व रूप से (यह घट पारमार्थिक = वास्तविक, नहीं) किया गया है। और 'जो जो पारमार्थिक से भिन्न रहता है, वह मिथ्या होता है' यह नियम है। घट, पारमार्थिक से भिन्न है, इस कारण घटादिकों के मिथ्यात्व के साथ कोई विरोध नहीं है।

शंका—इस त्रिविध सत्ता पक्ष में 'स्वाश्रयत्वेनाभिमत यावत्' मिथ्यात्व का लक्षण, उचित नहीं होगा। क्योंकि स्वाश्रयत्व से अभिमत यावत् (ब्रह्म) में व्यावहारिकत्व धर्म से घटादि के अभाव का संभव नहीं होता, इसलिये उनमें अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नहीं कह सकते।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि इस त्रिविध सत्ता पक्ष में मिथ्यात्व लक्षणगत अत्यन्ताभाव में विशेषण जोड़ देना चाहिये, अर्थात् जिसकी प्रतियोगिता पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न है ऐसा अत्यन्ताभाव। ऐसा करने से लक्षण पर पूर्वोक्त दोष नहीं आवेगा। ब्रह्म में घटादि का अभाव व्यावहारिकत्व रूप से हमें विवक्षित नहीं है। किन्तु पारमार्थिकत्व रूप से (व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व रूप से) अभाव का ग्रहण करना है। अर्थात् व्याधिकरण धर्म से जिसकी प्रतियोगिता अवच्छिन्न है, ऐसे अभाव का ही ग्रहण करना है। ब्रह्म में व्यावहारिकत्व रूप से घटादिकों के होने पर भी पारमार्थिकत्वरूप से उनका ब्रह्म में अत्यन्ताभाव है ही। इस कारण 'पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक-स्वात्यन्ताभाव-सामानाधिकरण्यम्'—पारमार्थिकत्व धर्म से जिसकी प्रतियोगिता अवच्छिन्न है ऐसे स्व के अत्यन्ताभाव का, स्व से सामानाधिकरण्य रहना ही मिथ्यात्व का निष्कृष्ट लक्षण सिद्ध होता है और वह घटादि में उत्पपन्न होता है। अतः मिथ्यात्व का अनुमान सर्वथा युक्तियुक्त है।

श्रीगजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरविरचिते

सविवरण-प्रकाशे

अनुमान-परिच्छेदः

समाप्तः।

—:०:—

अथ उपमान-परिच्छेदः ३

प्रतिज्ञात छह प्रमाणों में से प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण का निरूपण किया गया। अब उद्देश्यक्रम के अनुसार क्रमप्राप्त उपमान प्रमाण के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं।

[1]अथोपमानं निरूप्यते। तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्[2]। तथा हि; [3]नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवयेन्द्रिय-

---

१. आनन्तर्यार्थकः 'अथ' शब्दः। तेन अनुमाननिरूपणानन्तरमुपमाननिरूपणं क्रियते। शावरभाष्य-श्लोकवार्तिक-शास्त्रदीपिकानुसारेण अनुमाननिरूपणानन्तरं शब्द-प्रमाणं निरूप्यापि उपमानं निरूपयितुं शक्यते, तथापि सूचीकटाहन्यायेन नैयायिकादृत-क्रममनुसृत्यैवात्रापि अनुमानानन्तरमुपमाननिरूपणमेवक्रियते।

ननु अद्वैत-द्वैत-मिथ्यात्वादीनां सादृश्याऽघटितत्वात् अद्वैतज्ञाने उपमानस्य अनुप-योगात् अत्र उपमानप्रमाणविचारोऽयं किं प्रयोजनः ?

तत्रेदं समाधानम्—अद्वैतिनामपि अद्वितीयब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तं चित्तशुद्धयाद्यर्थं कर्मानुष्ठानमपेक्षितं भवति, तत्र प्रकृति-विकृति-भावादिज्ञानस्य अपेक्षितत्वात् तत्समर्प-कतया उपमानप्रमाणविचारः सार्थक इति केचिन्निरूपयन्ति। अन्ये च वार्तिकमनुसृत्य भ्रमात्मकं प्रमात्मकञ्चेति द्विविधमुपमानमिति वदन्ति। तत्र प्रपञ्चे सत्यत्वादिना ब्रह्मसादृश्यानुभवादिकं च ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तमबाधेऽपि ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारा-नन्तरं बाध्यत एवेति भ्रमात्मकमेवेतिसिद्धिरुपमानविचारस्य प्रयोजनम्।

उपमानप्रमाणलक्षणादिकं मीमांसकसम्मतलक्षणाद्यनुसारेणैवाभिमतम्। न नैयायिक-सम्मतलक्षणाद्यनुसारेणेत्यवगन्तव्यम्।

२. भट्टमतमनुसृत्याह—'सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्' इति। सादृश्यप्रमायाः करण-मिति विग्रहः। सादृश्यप्रमा च असन्निहितगोगतगवयसादृश्यविषयिणी प्रमा, सैव उप-मितिः, प्रत्यक्षादिविलक्षणत्वात्। तत्करणञ्च सन्निहितगवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानम्, तदेव उपमानम्। तेन उपमितिकरणमुपमानमिति लक्षणं फलितम्। सादृश्यञ्च असाधारण-धर्मशून्यत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वम्। तेन सादृश्यं पदार्थान्तरमिति प्राभाकरमतं निराकृतं भवति। एवं च सादृश्यप्रमैवोपमितिः। उपमिनोमि इति अनुव्यवसायस्य तत्रैव विद्यमान-त्वात्। कमलेन लोचनमुपमिनोमीत्यनुभवोऽपि तत्रैव भवति। एतादृशी उपमितिः गोस-दृशो गवय इति सादृश्यज्ञानेनैव जायते। तच्च अतिदेशवाक्यानुसन्धानं नापेक्षते। तस्मात् अयं गवय-पदवाच्यः इति ज्ञानमेव उपमितिरिति नैयायिकाभिमतः पक्षो ग्रन्थकाराऽन-भिमत इति सूचितं भवति।

३. 'प्राङ्गणेषु'–इति पाठान्तरम्।

सन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः, 'अयं पिण्डो गोसदृश' इति। तदनन्तरं[1] भवति निश्चयः, अनेन सदृशी मदीया गौरिति। तत्रान्वय-व्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठ-गोसादृश्यज्ञानं करणम् । गोनिष्ठ-गवयसादृश्यज्ञानं फलम् ।

अर्थ—अब उपमान प्रमाण का निरूपण किया जाता है। 'सादृश्य प्रमा के करण' को उपमान कहते हैं। वह इस प्रकार है—जिस व्यक्ति ने शहर में गोव्यक्ति को देखा हो, वह अरण्य में जाकर जब 'गवय' को देखता है (चक्षुरिन्द्रिय का गवय के साथ सन्निकर्ष होता है)। उस समय उसे 'यह व्यक्ति, गाय जैसी है' ज्ञान होता है। तदनन्तर उसे 'इस गवय जैसी ही मेरी गाय है' निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इन दो ज्ञानों में से अन्वय और व्यतिरेक के बल से गवय में होने वाला जो गोसादृश्यज्ञान (यह गवय, गाय जैसा है) है, वह करण (उपमान) है, और गोनिष्ठ गवय का सादृश्यज्ञान (इसके जैसी ही मेरी गाय है) फल (उपमिति) है।

विवरण—अनुमान का निरूपण करने के अनन्तर उपमान प्रमाण ही निरूपण का विषय होता है। इसीलिए यहाँ उसके निरूपण की प्रतिज्ञा की है। निरूपण का अर्थ है—वस्तु के लक्षण, प्रमाण तथा स्वरूप का कथन करना। उनमें से यहाँ प्रथमतः उपमान का लक्षण कहना है इसलिये ग्रन्थकार ने 'तत्र' शब्द का प्रयोग किया है। 'अनुमान' शब्द के समान ही अव्युत्पन्न 'उपमान' शब्द, लक्ष्य है और 'उपमीयते अनेन तत् उपमानम्' इस रीति से व्युत्पन्न 'उपमान' शब्द, लक्षण है। सादृश्य, प्रमा (उपमिति) के करण (असाधारण-कारण) को 'उपमान' प्रमाण कहते हैं। नगर में 'गाय' को देखा हुआ व्यक्ति अरण्य में जाकर कदाचित् उसे 'गवय' पशु दिखाई देने पर 'यह प्राणी गाय जैसा है' इस प्रकार गवय में गाय का सादृश्य ज्ञान होना ही उपमान है (यही उपमान का स्वरूप है)। इसके अनन्तर ही 'मेरी गाय इस पशु जैसी ही है' इस प्रकार होने वाली सादृश्यप्रमा को ही उपमिति कहते हैं। अर्थात् उपमानरूप सादृश्यज्ञान और उपमितिरूप सादृश्यप्रमा के मध्य में अन्य कोई व्यापार विद्यमान नहीं रहता। इसलिये 'असाधारणं कारणं करणम्' इतना ही करण-लक्षण यहाँ स्वीकार किया है। उसे व्यापारघटित मानने की यहाँ आवश्यकता नहीं। यहाँ 'सादृश्यज्ञान' को प्रमाण और प्रमा भी कहा है। दोनों के सादृश्यज्ञान-रूप होने पर भी उनमें भेद है।

प्रमाणरूप सादृश्यज्ञान में 'गो' की 'गवय' को उपमा दी गई है। अर्थात् इस ज्ञान में 'गो' उपमान और 'गवय' उपमेय है। और प्रमारूप सादृश्यमान में 'गो' को 'गवय' की उपमा दी गई है। अर्थात् इस ज्ञान में 'गवय' उपमान और 'गो' उपमेय है। यही

१. 'रञ्च'–इति पाठान्तरम्।

दोनों में भेद है। इनमें प्रथम सादृश्यज्ञान, द्वितीय सादृश्यज्ञान का जनक (कारण) है। और द्वितीय सादृश्यज्ञान, उसका फल (कार्य) है। इस प्रकार उनमें जन्य-जनक भाव है। इस सादृश्यज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियादिकों से नहीं होती, अतः उपमान, एक पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है।

उपमान को वेदान्ती तथा नैयायिक दोनों के मानने पर भी उसमें जो भेद है, उसे बताना भी अनुचित न होगा।

नैयायिक का अभिमत 'उपमान' प्रमाण—किसी आरण्यक व्यक्ति से 'गवय गोसदृश होता है' सुनकर अरण्य में गये हुए शहरी व्यक्ति का 'गवय' के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर 'यह गोसदृश है' ऐसा गोसादृश्यज्ञान होता है। तदनन्तर आरण्यक व्यक्ति के बताये हुए 'गवय, गोसदृश होता है' वाक्यार्थ का स्मरण होता है। इसके पश्चात् 'अयं गवयपदवाच्य = यह गवय पशु 'गवय' शब्द का वाच्य अर्थ है—यह ज्ञान होना ही उपमिति है। इनके मत में उपमान प्रमाण वस्तुबोधक न होकर शक्ति-ग्राहक है। 'गवय' पद की एक विशिष्ट पशु में शक्ति है' इस प्रकार ज्ञान कराना ही 'उपमान' का प्रयोजन है।

परन्तु वेदान्तियों के मत में 'उपमान' का यह प्रयोजन नहीं है। उनके मत में 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इस गवय जैसी ही मेरी गौ है—यह ज्ञान होना ही, उपमान का फल (उपमिति) है। अनुभव भी 'इस पशु जैसी मेरी गाय है' ऐसा ही होता है। अतः 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश-वाक्य के स्मृतिरूप व्यापार की कल्पना कर पश्चात् उससे 'गवय, गवयशब्द का वाच्य है' ज्ञान की कल्पना करना, यह सब अनुभव के विरुद्ध है।

नैयायिक 'यह व्यक्ति गवयपद का वाच्य है' इस प्रकार उपमिति ज्ञान नहीं मानते किन्तु 'गवय, गवयपद का वाच्य है' इस प्रकार के ज्ञान को उपमान का फल (उपमिति) बताते हैं।

परन्तु जहाँपर गो, गवय, गज, अज आदि सामने स्थित हों, वहाँ पर इनमें से 'गवय पद का वाच्य कौन सा है' इस प्रकार किसी के प्रश्न कर देने पर उसे 'गवय', गवय पद का वाच्य है उत्तर दिया जाय तो हँसी उड़ेगी। वहाँ तो 'यह व्यक्ति गवय पद का वाच्य है' यही उत्तर देना चाहिये, और ऐसा मानने पर उपमान को शक्ति-ग्राहक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एक गवय की शक्ति को वह दिखा सकेगा किन्तु अन्य गवय में उस शक्ति का ज्ञान कराने में उसका उपयोग नहीं होगा। इसलिये अनुभव के अनुरूप ही उपमिति का स्वीकार करना चाहिये।

शंका—आपके मत में उपमान यदि शक्तिग्राहक नहीं है (उपमितिरूप प्रमा से यदि गवयादि पदार्थों की शक्ति = वाच्यत्व का ज्ञान नहीं होता) तो उसका होना ही व्यर्थ है, क्योंकि अनुमान जैसे जगन्मिथ्यात्व को सिद्ध करता है, उस प्रकार उपमान का कोई उपयोग नहीं दिखाई देता।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वैतब्रह्मसाक्षात्कार होने तक मुमुक्षु

को चित्तशुद्धयर्थं वेदोक्त कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। कर्मानुष्ठान को यागसम्बन्धी 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' प्रकृतिभूत दर्श-पौर्णमासादि के समान विकृति-भूत सौर्ययागादिकों का अनुष्ठान करना चाहिये। इस प्रकृति-विकृतिभाव के ज्ञान की अपेक्षा होती है। और वह ज्ञान, सादृश्यमूलक होने से उपमान प्रमाण के अधीन है, अतः हमारे मत से तो इस ज्ञान को करा देना ही उपमान का उपयोग है।

इस पर आप यदि यह शंका करें कि 'अनेन सदृशी मदीया गौः' आदि ज्ञान, प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भी हो सकेगा। उसके लिए उपमान को एक स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं अग्रिम ग्रन्थ से देते हैं—

न[1] चेदं प्रत्यक्षेण संभवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्नि[2]कर्षात्। ना[3]प्यनुमानेन, गवयनिष्ठ-गोसादृश्यस्यातल्लिङ्गत्वात्।

नापि 'मदीया गौरेतद्गवय-सदृशी, एतन्निष्ठ-सादृश्यप्रतियोगित्वाद्, यो यद्गत-सादृश्यप्रतियोगी, स तत्सदृशः, यथा मैत्रनिष्ठसादृश्य प्रतियोगी चैत्रो मैत्रसदृश' इत्यनुमानात्तत्संभव इति वाच्यम्। एव विधानुमानानवतारेऽप्यनेन सदृशी मदीया गौरिति प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात्। उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्च। तस्मादुपमानं मानान्तरम्।[4]

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र-विरचितायां वेदान्तपरिभाषायाम्
उपमानपरिच्छेदः समाप्तः ॥ ३ ॥

---

१. उपमानस्य न प्रत्यक्षे नाप्यनुमाने अन्तर्भावो भवति। गवि जायमानमुपमिति-पदवाच्यं गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षेण भवति इति वदन् वादी प्रष्टव्यः—किं गवयज्ञानं प्रत्यक्षेण भवतीति तात्पर्यम्, उत सादृश्यज्ञानम्, आहो गोज्ञानम् आहोस्वित् गोसादृश्य-वैशिष्ठ्यज्ञानम्? तत्र आद्ये इष्टापत्तिः, अत एव न द्वितीयः, तुरीये उपमानप्रमाणं विना स्मृतायां गवि सादृश्यवैशिष्ठ्यग्रहाऽसंभवः, अत एव न तृतीयः, गवांशे इन्द्रियसन्निकर्षा-भावेन प्रत्यक्षत्वं न संभवति इति स्मृतिरेव वक्तव्या। तदुक्तं वार्तिके—"नगरस्थस्य तु गोर्ज्ञानं स्मरणान्नातिवर्तते" इति। तथा च न प्रत्यक्षे उपमानस्य अन्तर्भावः।

२. 'कृष्टत्वात्'—इति पाठान्तरम्।

३. अनुमानेऽपि उपमानस्य नान्तर्भावः। यतो हि 'मदीया गौः गवयसदृशी एतन्निष्ठ-सादृश्यप्रतियोगित्वात्' इत्यनुमानं तस्यैव पुरुषस्य भवेत्, यो हि युगपत् द्वौ पदार्थौ मिथः सदृशौ पश्यति। यस्य तु युगपत् तादृशं दर्शनं नास्ति, तस्य सम्बन्धग्रहणाऽभावात् न उक्तानुमानं भवितुमर्हति।

४. उपमानं प्रमाणान्तरमेव प्रत्यक्षानुमानयोरनन्तर्भूतत्वात्। तस्य च संज्ञा-

अर्थ—'यह गवयनिष्ठ सादृश्यज्ञान, प्रत्यक्ष से भी हो सकता है' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि उस समय 'गो' व्यक्ति से इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं रहता। 'अनुमान'-प्रमाण से उसका (सादृश्य का) ज्ञान होता है, यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि 'गवय' में रहने वाला 'गो' का सादृश्य, 'गो' में रहने वाले 'गवय' के सादृश्य का लिङ्ग (साधक हेतु) बन नहीं सकता।

इस पर '(१) मेरी गाय इस गवय जैसी है। (२) क्योंकि उसमें एतद्गवय-निष्ठ सादृश्य का प्रतियोगित्व है। (३) जो जिसमें रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह उसके जैसा होता है।'[1]

उदाहरण—'चैत्र, मैत्र में रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी है, इसलिये वह मैत्र जैसा है' ऐसे अनुमान से 'गवयनिष्ठ सादृश्य का ज्ञान हो सकेगा' यह शंका करना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा अनुमान न करने पर भी 'इस गवय जैसी मेरी गाय है' यह ज्ञान होता है, यह बात अनुभवसिद्ध है और इस ज्ञान के अनन्तर 'मैं इस बात को उपमान-प्रमाण से जानता हूँ' यही अनुव्यवसाय होता है। इसलिये 'उपमान' स्वतन्त्र प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

विवरण—सांख्य[2]-दर्शनकार 'प्रत्यक्ष' में ही उपमान-प्रमाण का अन्तर्भाव करते हैं। उनका कहना है कि 'गवय' के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर उसमें जो 'गोसा-दृश्य' का ज्ञान होता है और वह जैसे प्रत्यक्षात्मक ही रहता है, उसी प्रकार 'गो' का स्मरण होने के बाद 'गो' में जो गवयसादृश्य का ज्ञान (जिसे आप उपमिति कहते हैं) होता है वह भी प्रत्यक्ष रूप ही है, यह मानना चाहिये। क्योंकि गवय में भासित होने वाला सादृश्य, गो में भासित होने वाले सादृश्य से भिन्न नहीं है। जो सादृश्य गवय-निष्ठ है वही गोनिष्ठ है। क्योंकि किसी एक जाति का, अन्य जाति में रहने वाला जो भूयोऽवयवसामान्ययोग (बहुत से अवयवों का साम्य) रूप सम्बन्ध को सादृश्य कहते हैं। और ऐसे सादृश्य का गवय में जिस प्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है उसी

संज्ञिसम्बन्धसिद्धिः न प्रयोजनम्। अपि तु सादृश्यज्ञानमेव फलम् तस्य च प्रतिनिध्यादि-निर्णयः वार्तिकोक्तं फलमित्यवगन्तव्यम्।

१. 'मदीया गौः एतद्गवयसदृशी एतद्गवयनिष्ठसादृश्यप्रतियोगितावत्त्वात्।'

२. सांख्याः उपमानं न प्रमाणान्तरं प्रमेयाभात्। यतः असन्निहिते गवि यद् गवयसादृश्यं, तत् न तस्य प्रमेयं, तस्य तु प्रत्यक्षविषयत्वात्। गवयनिष्ठसादृश्यस्य प्रत्यक्षत्वे गवि अपि तस्य प्रत्यक्षत्वौचित्यात्, गुणकर्मावयवसामान्ययोगरूपस्य तस्य एक-रूपत्वात्। तथा चोक्तं तत्त्वकौमुद्याम्—"भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते। सामान्ययोगश्चैकः। स चेत् गवये प्रत्यक्षः गवि अपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्तीति वर्णयन्ति।

प्रकार गो में भी उसका प्रत्यक्ष होना ही उचित है। इसलिये सादृश्य, प्रमाणान्तर नहीं है, उसका प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव होता है।

परन्तु सांख्य का यह अभ्युपगम ठीक नहीं है, क्योंकि आपके कथनानुसार यद्यपि सादृश्य सर्वत्र एक सा ही है तथापि उसके धर्मी और प्रतियोगी सर्वत्र भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिये तत्तद्-विशेष-व्यक्ति पर रहने वाला सादृश्य भिन्न होता है, यह मानना ही पड़ेगा। सादृश्य जिसमें प्रतीत होता है, वह उस सादृश्य का धर्मी होता है, उसी को सादृश्य का अनुयोगी भी कहते हैं और जिसका सादृश्य भासित होता है उसे प्रतियोगी कहते हैं। 'गोसदृशो गवयः' इस ज्ञान में—गवय में, गो का सादृश्य भासित होता है, इसलिये इस सादृश्य का 'गवय' धर्मी या अनुयोगी और 'गो' प्रतियोगी है, यह कहना चाहिये। परन्तु यह धर्मि-प्रतियोगिभाव 'गवय-सदृशी गौः' गवय जैसी मेरी गाय है, इस ज्ञान में नहीं रहता। यहाँ पर 'गो' धर्मी और गवय प्रतियोगी होता है। इसलिए गोगत और गवयगत सादृश्य को एकरूप (समान) ही मान लेने पर जिस व्यक्ति को 'गोसदृशो गवयः' इस प्रकार गवयनिष्ठ गोसादृश्य का ज्ञान हुआ है उस व्यक्ति को 'गोगतगवयसादृश्यं पश्यामि' 'मैं गोनिष्ठ गवयसादृश्य को देखता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिये, परन्तु होता नहीं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति में 'सादृश्य' पृथक्-पृथक् ही रहता है, यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसीलिए गवय-प्रत्यक्ष होने के कारण उसके साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है अतः 'तद्गत-सादृश्य' प्रत्यक्ष भासित होता है। परन्तु गोव्यक्ति, वहाँ पर उस समय समीप नहीं होने से उसके साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं रहता। इसलिये गोनिष्ठ-सादृश्य, प्रत्यक्ष का विषय हो नहीं सकता। तस्मात् 'सादृश्य का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है' यह सांख्यमत, युक्ति तथा अनुभव के विरुद्ध होने से सर्वथा उपेक्षणीय है।

इस पर कदाचित् वैशेषिक कहे कि—प्रत्यक्ष में उपमान का अन्तर्भाव न होने पर भी अनुमान में उसका अन्तर्भाव हो सकेगा। इसका निराकरण करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं—उपमान प्रमाण का 'अनुमान' में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि 'गो' के साथ गवय के सादृश्य का ज्ञान, अनुमान-प्रमाण से होना सम्भव नहीं। 'अनुमान से गवय-सादृश्य का ज्ञान होता है' स्वीकार करनेवाले वैशेषिकों को यहाँ इस प्रकार अनुमान[1] करना चाहिए—(१) मेरी गौ, इस गवय से निरूपित (गवयप्रतियोगिक) सादृश्य से युक्त है। (२) क्योंकि वह गोनिरूपित (गोप्रतियोगिक अर्थात् 'गो' जिसका प्रतियोगी है अर्थात् 'गवय' जिसका अनुयोगी है) सादृश्य से युक्त है। (३) इस गवय के समान।

---

१. 'मदीया गौः एतद्गवयनिरूपितसादृश्यवती गोप्रतियोगिकगवयानुयोगिकसादृश्य-विशिष्टत्वात्, एतद्गवयवत्।'

परन्तु ऐसा अनुमान होना संभव नहीं। क्योंकि उस पर 'स्वरूपासिद्धि' दोष आता है। 'हेतु का पक्ष पर न रहना' स्वरूपासिद्धि दोष कहलाता है। यहाँ पर हेतु है—'गोप्रतियोगिक सादृश्य'। वह (हेतु) 'गो' रूप पक्ष पर नहीं रहता। गो में गवय-निरूपित सादृश्य रहेगा, परन्तु गोनिरूपित (स्वयं गो का) सादृश्य कैसे रह सकेगा? सादृश्य भेद-घटित होने से, दो पदार्थों में भेद के बिना उनमें सादृश्य है, नहीं कहा जा सकता। और जो हेतु अपने पक्ष पर रहता ही नहीं, वह वहाँ पर साध्य की सिद्धि कैसे कर सकेगा। इसलिये अनुमान से उपमान की गतार्थता नहीं होती। इस पर वैशेषिक ऐसा कहें कि—आपके कथनानुसार यदि हम अनुमान करें तो हमारे पक्ष में उपर्युक्त दोष आवेगा, परन्तु हम वैसा अनुमान नहीं करते। हम [1]अनुमान-प्रयोग इस प्रकार करते हैं—(१) मेरी गाय इस गवय जैसी है। (२) क्योंकि उसमें एतद्गवय-निष्ठ सादृश्य का प्रतियोगित्व है (यह गवय जिस सादृश्य का अनुयोगी है और यह गो जिस सादृश्य की प्रतियोगी है, अर्थात् गवय का सादृश्य गो पर रहता है)। (३) जो पदार्थ, जिस पदार्थगत सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह पदार्थ उस पदार्थ के सदृश रहता है। जैसे—चैत्र, मैत्र में रहने वाले अपने सादृश्य का प्रतियोगी (आधेय) है, इसलिये वह मैत्रसदृश है। अर्थात् मैत्र व्यक्ति यदि चैत्र व्यक्ति जैसा है तो चैत्र भी मैत्र जैसा अवश्य ही होगा। ऐसा अनुमान करने पर कोई दोष नहीं आने पाता। इसलिए अनुमान से ही उपमान चरितार्थ हो जाता है।

परन्तु यह शंका भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस अनुमान पर किसी प्रकार का दोष न आने पर भी प्रत्येक सादृश्य-प्रमा के समय ऐसा अनुमान किया ही जाय, यह कोई नियम नहीं है। बिना अनुमान के भी 'अनेन सदृशी मदीया गौः' ऐसी अबाधित प्रतीति होती है। इसलिए जहाँ पर साध्य (वह्नि आदि) प्रत्यक्ष है, वहाँ पर भी आप 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' अनुमान करते हैं, परन्तु उतने से ही प्रत्यक्ष-प्रमाण की व्यर्थता जैसे सिद्ध नहीं होती (अनुमान से प्रत्यक्ष अगतार्थ है), वैसे ही अनुमान से यद्यपि उक्त सादृश्य-ज्ञान सिद्ध होने पर भी उपमिति-प्रमा का पृथक् अनुभव होने से उपमान-प्रमाण, अनुमान से चरितार्थ नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इस सादृश्यज्ञान के अनन्तर

---

१. 'मदीया गौ एतद्गवयसदृशी (एतद्गवयप्रतियोगिक सादृश्यवती) गवयानुयोगिकसादृश्यप्रतियोगित्वात्। यत्र सादृश्यं, स तत्सादृश्यस्य अनुयोगी। यस्य सादृश्यं, स तत्सादृश्यस्य प्रतियोगी। यदा गवये गोसादृश्यं, तदा तत्सादृश्यस्य गवयः अनुयोगी गौश्च प्रतियोगीति तत् सादृश्यं गवयानुयोगिकं गोप्रतियोगिकमिति व्यवह्रियते। अत एव गवयानुयोगिक-सादृश्यप्रतियोगित्वस्य गवि विद्यमानत्वात् तस्य तल्लिङ्गत्वं युक्तमिति।

'अहम् अनुमिनोमि' मैं गवय-सादृश्य का अनुमान करता हूँ, यह अनुव्यवसाय नहीं होता। किन्तु 'उपमिनोमि' मैं उपमान से जानता हूँ—यह अनुव्यवसाय होता है। इससे भी 'गोनिष्ठ सादृश्यज्ञान' अनुमित्यात्मक न होकर उपमित्यात्मक है, यह सिद्ध होता है। अतः 'उपमान' यह स्वतन्त्र पृथक् प्रमाण है, यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

श्रीगजाननशास्त्रि-मुसलगाँवकर-विरचिते सविवरण-प्रकाशे

॥ उपमानपरिच्छेदः समाप्तः॥

—:०:—

अथ आगमपरिच्छेदः ४

उपमान प्रमाण का निरूपण करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त आगम प्रमाण (शब्द प्रमाण) के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं।

[1]अथागमो निरूप्यते। यस्य[2] वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो

---

१. उपमानप्रमाणनिरूपणानन्तरमद्वैतब्रह्मसाक्षात्कारानुकूलमागमप्रमाणनिरूपणाय 'अथागम' इत्यादिग्रन्थः प्रतिज्ञापरः। 'आ सम्यग् गम्यते ज्ञायते अर्थः अनेन' इत्यागमो वाक्यविशेषः। स एव प्रमाणम्।

वैशेषिकादयः प्रत्यक्षाऽनुमाने द्वे एव प्रमाणे इति वदन्ति। तेषां मते शब्दस्य अनुमानविधया प्रामाण्यमभ्युपगम्यते। तेषामाशयः श्लोकवार्तिककारेणोपवर्णितः शब्दानुमानयोरैक्यम्०' इत्यादिभिः ४१६ तमे पृष्ठे पञ्चमसूत्रगते व्याख्याने (३५, ३६, ३७,) त्रिभिः श्लोकैः। तदनन्तरं मतमिदं वार्तिककारेव सम्यगपाकृतम्। वार्तिककारचरणाः कथयन्ति—शब्दो न अनुमानविधया अर्थप्रत्यायकः। अनुमाने हि पक्षः, पक्षधर्मः सपक्षान्वयः, विपक्षव्यतिरेकश्च अपेक्षिता भवन्ति। शब्दे चतुष्टयमपि नैतद्विद्यते। यदि अत्र वाक्यं पक्षः, अर्थवृत्तित्वं साध्यं, वाक्यमेव हेतुः (वाक्यम् अर्थवृत्ति वाक्यत्वात्'), तर्हि पक्षहेत्वोरैक्यम्। तदर्थं यदि अर्थो धर्मी पक्षः तर्हि शब्दस्य आकाशवृत्तेः अर्थेन सम्बन्धाऽभावात् न हेतोः पक्षवृत्तिता संभवति। एतेन सपक्षान्वयरूपा व्याप्तिरपि नास्ति, इति सूच्यते, विपक्षव्यतिरेकस्तु न भवत्येव, युधिष्ठिराद्यर्थाभावेऽपि शब्दसत्त्वात्। अतः 'शब्दः' अतिरिक्तम्प्रमाणम्। यथा हि धूमाग्न्योः सम्बन्धग्रहे सत्येव धूमेन अग्नेरनुमानं भवति, तथा वाक्यस्य वाक्यार्थेन सम्बन्धग्रहे सत्यव वाक्यार्थज्ञानं भवतीति न नियमः। यद्यपि अन्विताभिधानमते वाक्यार्थेऽपि वाक्यस्य शक्तिरिष्यते, तथापि सा स्वरूपसती एव वाक्यार्थं गमयति, न तु तद्ग्रहस्तत्र कारणम्। एतेन अभिहितान्वयवादोऽपि व्याख्यातः। तत्रापि पदार्थनिष्ठायाः स्वरूपसत्याः एव शक्तेः वाक्यार्थानुभावकत्वात्। व्याप्त्यादिज्ञानं विनापि शब्दबोधस्य आनुभविकत्वात् वैशेषिकमतं प्रत्युक्तं भवति। तदुक्तं शब्दशक्तिप्रकाशिकायाम्—"साकांक्षशब्दैर्यो बोधः तदर्थान्वयगोचरः। सोऽयं नियन्त्रितार्थत्वान्न प्रत्यक्षं न चानुमा॥" इति। तदुक्तं श्लोकवार्तिके—पृ० ४२२। ५ सूत्रे—६२½, ६८½, ६९½, ७०½, ७१, ७२, ७३½, ७७, ८२½, ८६, ९७½, १०९। पृ० ४३० यावत्।

यथा—"अथ शब्दोर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न कल्प्यते।
प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते॥" इत्यादिभिः।

२'तथा च आगमोऽपि प्रमाणमेव। ननु शब्द प्रमाणनिरूपणस्य वेदान्तिनो मते किं

प्रयोजनम् ? न च अद्वितीय ब्रह्मावगतिः प्रपञ्चमिथ्यागतिश्च प्रयोजनमितिवाच्यम्। वेदान्तिनां मते वेदस्यापि मिथ्यात्वेन तेन सत्याद्वितीयब्रह्मावगत्यसंभवात्।

अत्रोच्यते–मिथ्याभूतादपि सत्यार्थावगतिः संभवत्येव। तदुक्तं भामत्याम्–"अतात्त्विकप्रमाणभावेभ्योऽपि व्यावहारिकप्रमाणेभ्यः तत्त्वज्ञानोत्पत्तिहेतवः। नहि लौकिका नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं, तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः॥" इति। एवं च पारमार्थिकाऽद्वितीयनिरस्तसमस्तोपाधिनित्यशुद्धबुद्धमुक्तप्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपादिसिद्धिरागमपरिच्छेदस्य फलमिति मन्तव्यम्। सर्वथा च शब्दप्रमाणनिरूपणमावश्यकमेवेति। (प० प्र०)

२. अन्विताभिधानवादः अभिहितान्वयवादः इति मतद्वयं मीमांसकानामिति प्रसिद्धम्। तत्र अन्विताभिधानवादे पदैः पदार्थानां स्मरणम्, स्मृतानां पदार्थानां संसर्गोऽपि पदैरेव अवगम्यते इति मतम्। तत्र पदे एव शक्तिद्वयम्—एका स्मारिकाशक्तिः, या ज्ञायमानैव पदार्थं स्मारयति। अपरा अन्वयानुभाविकाशक्तिः, या तु स्वरूपसती वाक्यार्थमन्वयं गमयति। अत्र मते वाक्यमेव वाक्यार्थं प्रमापयति।

अभिहितान्वयवादे तु पदेभ्यः पदार्थानुभावकशक्तिरेका, यया पदार्थानामनुभवो जायते। अयं च अनुभवः न स्मृतिर्नाप्यनुभव इति 'अभिधा' पदेन व्यवह्रियते। एवं च पदैः पदार्था अभिधीयन्ते। तदुक्तम्—

'अभिहितघटना यदा तदानीं स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः।
परदृशि पुनरन्विताभिधाने पदयुगलात् स्मृतियुग्ममेव जन्यम्॥

अभिहितेषु च पदार्थेषु एका शक्तिः, या स्वरूपसती वाक्यार्थमनुभावयति। अस्मिंश्च मते वाक्यं न वाक्यार्थं प्रमापयति। किन्तु अभिहिताः पदार्था एव। तत्र तु पदार्थद्वारकं परम्परया जनकत्वमादाय वाक्यस्यापि प्रमाणत्वेन व्यवहारः। तदुक्तं शबरभाष्ये—"तस्माद्वाक्यव्यतिरेकेऽपि पदार्थान्वियेऽन्वीयमानः पदार्थनिमित्त एव वाक्यार्थप्रत्ययः।" श्लोकवार्तिकेऽप्युक्तं सप्तमे वाक्याधिकरणे—

"पश्यतः श्वेतिमारूपं हेषाशब्दं च शृण्वतः।
खुरविक्षेपशब्दञ्च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः॥
दृष्टा वाक्यविनिर्मुक्ता न पदार्थैर्विना क्वचित्।
मानसेनापराधेन पदार्थान् ये न गृह्णते॥
ते तद्वाक्यार्थं गृहीत्वापि नार्थं गृह्णन्ति कर्हिचित्॥

श्लो० वा० पृ० ९४७। श्लो० ३५७½–३६०

न्यायरत्नेऽप्युक्तम्—"क्लृप्तं तावत् पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशेन समान्यतोऽन्वयबोधनम्, तद्विशेषनियमस्तत्त्वर्थापत्त्येति।"

मानान्तरेण न बाध्यते [1]तद्वाक्यं प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने[2] च आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि[3]।

अर्थ—अब आगम प्रमाण (शब्द-प्रमाण) का निरूपण किया जाता है। जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग, अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता, वह वाक्य, प्रमाण होता है। वाक्यजन्य ज्ञान में, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्यज्ञान—ये चार कारण होते हैं।

श्लोकवार्तिकेऽन्यत्राप्युक्तम्—

"साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥"

तथा च—पदार्थनिष्ठैव वाक्यार्थानुभावकशक्तिरिति अभिहितान्वयवादाशयः।

तत्र अन्विताभिधानवादे वाक्यसामान्यस्य संसर्गविषयकत्वमावश्यकम्। अभिहितान्वयवादेऽपि एवमेवेति मीमांसका मन्यन्ते। ब्रह्मानन्दसरस्वत्यस्तु मतद्वयेऽपि तात्पर्यविषयार्थबोधकत्वमेव। तात्पर्यविषयश्च क्वचित् संसर्गः—यथा, 'गामानय' 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ। क्वचित्तु अखण्डस्वरूपम्—यथा, 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इत्यादौ। 'अन्वित' पदस्य तात्पर्यविषय इत्यर्थः इति न्यायरत्नावल्यां निरूपयन्ति। तथा च—तात्पर्यविषयार्थानुभावकवाक्यत्वं शब्दप्रमाणत्वमिति वेदान्तिनां सिद्धान्तः। तमिमं सिद्धान्तं मनसि निधाय वाक्यप्रमाणं लक्षयति—'यस्य वाक्यस्येति संसर्ग इति प्रायिकाभिप्रायम्। न तु वाक्यसामान्यस्य संसर्गविषयकत्वमावश्यकमित्यभिप्रायः। तेन 'मानान्तराऽबाधिततात्पर्यविषयार्थानुभावकवाक्यत्वं वाक्यप्रमाणत्वम्'। अत्र 'मानान्तरपदेन' वेदान्तेतरप्रमाणस्य परिग्रहः। तेन 'घटमानय' 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि वाक्यानां न असंग्रहः।

१. तद्वाक्यं प्रमाणम् व्यापारवत्तासम्बन्धेन प्रमायाःअसाधारणकारणमितियावत्। अत्र वाक्यशब्दः न वाक्यसामान्यपरः, किन्तु आकांक्षा-योग्यतादिमद्वाक्यविशेषपरः, तेन आकांक्षायोग्यतादिकमपि कारणतावच्छेकत्वेन विवक्षितम्। अतः वाक्यजन्यज्ञाने वाक्यस्य कारणत्वमुक्त्वा पुनराकांक्षादीनां कारणत्वोक्तिरनुपपन्नेति शङ्कायानावकाशः।

२. 'ने आकाङ्क्षा' इति पाठान्तरम्।

३. कारणानि सहकारिकारणानीत्यर्थः। यथा अभिहितान्वयवादे परम्परया शब्दस्य उपयोगित्वात् शाब्दबोध इति व्यवहारः, तथा अकांक्षादिजन्यस्यापि ज्ञानस्य शाब्दबोध इति व्यवहारः कुतो नोपपद्यते? उपपद्यत एवेति यावत्। एतेन अनुमानविधया शब्दप्रामाण्यवादः परास्तः। न हि अनुमितौ आकांक्षायोग्यतासत्तीनां तात्पर्यज्ञानस्य वा कारणत्वमस्ति।

विवरण—इस प्रकार उपमान-प्रमाण का निरूपण करने के अनन्तर अब शब्द प्रमाण का निरूपण करना क्रम से ही प्राप्त है। 'यस्य', इत्यादि वाक्य से शब्दप्रमाण का लक्षण बताया है। जिसका निष्कृष्ट अर्थ इस प्रकार है–जिसका पदार्थ-संसर्ग, किसी भी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं होता ऐसे और वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग के बोधक वाक्य को ही शब्द-प्रमाण कहते हैं। यहाँ पर वाक्य के संसर्ग में 'मानान्तरा-बाधित्व' और 'तात्पर्य-विषयीभूतत्व' ये दो विशेषण दिये गये हैं। इन दोनों की आवश्यकताओं का क्रम से विचार करें। 'मानान्तराबाधित्व' विशेषण के न देने पर 'वह्निना सिञ्चेत्' = अग्नि से सेचन करे, इस वाक्य में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि इस वाक्य का अग्नि-सेचन रूप अर्थ, वक्ता के तात्पर्य का विषय है। उपर्युक्त विशेषण के देने पर उसका निवारण हो जाता है। क्योंकि अग्निकरणक (अग्निसाध्य) सेचन, यद्यपि तात्पर्य का विषय है तथापि प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित हो रहा है। सेचन का होना द्रव पदार्थ से ही संभव है। अग्नि जैसे अद्रव पदार्थ से द्रवद्रव्यकरणक-व्यापार रूप सेचन का होना संभव नहीं। इसी प्रकार 'तात्पर्यविषयीभूतत्व' विशेषण के देने पर 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' उस प्रजापति ने अपनी वपा को उपट (खरोंच) कर निकाला, इत्यादि श्रुतिवाक्य पर अव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि अपनी वपा का स्वयं उच्छेद करना रूप अर्थ, प्रमाणान्तर से बाधित है, क्योंकि वपोत्खेद होने पर जीवित रहना ही असंभव है।

इस कारण ऐसे वाक्य को प्रमाण वाक्य नहीं कहा जा सकेगा। अन्यथा वेद का प्रामाण्य नष्ट होगा। अतः इस अव्याप्ति के निराकरणार्थ 'तात्पर्यविषयीभूतत्व' विशेषण देना आवश्यक है। यहाँ पर श्रुति के तात्पर्य का विषय, याग की अवश्यकर्तव्यता ही है। अर्थात् स्वयं ब्रह्मदेव ने भी इतनी श्रद्धा से याग (यज्ञ) किया, तब हम संसारी मनुष्यों को तो वह अवश्य ही कर्तव्य है—इस प्रकार बोधन कराना ही उस मंत्र का तात्पर्य है। जो किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता। इसलिये वह श्रुतिवाक्य, वाक्य होने से उपर्युक्त अव्याप्ति नहीं होने पाती।

शब्द के लक्षण में 'वाक्यस्य' कहने की आवश्यकता यह है कि—शब्द-प्रमाण से जिस अर्थ का हमें ज्ञान होता है वही अर्थ, अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है। इसलिए अन्य प्रमाणों को भी शब्द या आगम कहना पड़ेगा। इसके निराकरणार्थ लक्षण में 'वाक्यस्य' अवश्य ही निविष्ट करना चाहिये। अन्यथा—'यह घट है' इस चक्षुरिन्द्रिय-जन्य ज्ञान का विषय 'घट' है और वह बाधित भी नहीं है। ऐसे प्रत्यक्ष में, शब्द का लक्षण अतिव्याप्त होगा।

शंका—आपके मत में घटादि सभी जगत् मिथ्या है। तब शब्द से व्यक्त किया हुआ सभी अर्थ बाधित है। ऐसी स्थिति में 'अबाधितार्थकत्व' रूप विशेषण, संसर्ग में कभी संभव ही नहीं हो सकता। इसलिये यह लक्षण, असंभव दोष से दूषित है।

समाधान—घटादि पदार्थों में पारमार्थिक-सत्तारूप से बाधितत्व होने पर भी उनका व्यावहारिक प्रामाण्य अबाधित ही है। क्योंकि 'बाधित' शब्द से व्यवहारकालीन बाध ही विवक्षित है। इसी कारण 'नेह नानास्ति किंचन' श्रुति से स्वर्गादि-साध्य-साधन भाव का बाध होने पर भी उपर्युक्त दोष नहीं आता। इस रीति से शब्द-प्रमाण का लक्षण सिद्ध होता है। अतः 'शब्द का अनुमान में ही अन्तर्भाव होने से उसे पृथक् प्रमाण के रूप में मानने की आवश्यकता नहीं' कहने वाले वैशेषिकों का खण्डन हो जाता है। वैशेषिकों का कथन है कि—(१) 'वत्सं बधान' वत्स को बाँधो, आदि पद अर्थ-संसर्गज्ञानपूर्वक हैं। (२) क्योंकि उनमें आकांक्षा आदिकों से युक्त पदसमूहत्व है। (३) 'दण्ड से गाय लाओ' आदि पदसमूह के समान। ऐसे अनुमान[1] से शब्द-प्रमाण गतार्थ होता है। इसलिए 'शब्द' को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं। दण्डादि पदों की शक्ति के अनुमान के लिए अन्य पदों का दृष्टान्त देकर उनकी शक्ति का अनुमान कर लेना चाहिये। इस पर वेदान्तादि शब्द-प्रामाण्य-वादी शास्त्रकारों का कथन है कि—'ऐसे अनुमान से शब्द-प्रमाण गतार्थ होता है' कहने पर शाक्य, भिक्षु आदि के वाक्य में भी वह संसर्ग है ही, इस कारण वे भी प्रमाण होने लगेंगे। 'उनके वाक्यों में प्राप्त होना हमें इष्ट ही है' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि श्रुति से तत्प्रतिपादित अर्थ का बाध होने से [1]शाक्यादिकों के वाक्य अप्रमाण हैं। तस्मात् बौद्धादि नास्तिकों के मूल-प्रमाण रहित दर्शनों में अप्रामाण्य सिद्ध करने के लिये शब्द-प्रमाण को पृथक् स्वीकार करना ही चाहिये।

इसके अतिरिक्त यह ज्ञान, आकांक्षा, योग्यता आदि की सहायता से होता है, वहाँ अनुमान का नियत रूप से अनुभव नहीं आता। इससे भी अनुमान-प्रमाण की अपेक्षा शब्द-प्रमाण का पृथक् फल सिद्ध होता है। इस कारण भी शब्द रूप प्रमाण पृथक् सिद्ध होता है। यही प्रदर्शित करने के लिए ग्रन्थकार ने आकांक्षादिकों के निरूपण की 'वाक्यजन्यज्ञाने च' आदि वाक्य से प्रतिज्ञा की है। आकांक्षादि पदों के अर्थ और लक्षणों को ग्रन्थकार अग्रिम ग्रन्थ से स्वयं कथन करते हैं।

तत्र[2] पदार्थानां परस्पर-जिज्ञासा-विषयत्व-योग्यत्वमाकाङ्क्षा[3]।

---

१. 'वत्सं बधानेतिपदम् अर्थसंसर्गज्ञानपूर्वकम् आकांक्षादिमत्पदसमूहत्वात् दण्डेन-गामानयेति पदसमूहवत्।

२. तत्र आकांक्षा-योग्यता-आसत्ति-तात्पर्यज्ञानानां मध्ये।

३. 'येन विना यस्य अन्वयाननुभावकत्वं तादृशपदवत्त्वमाकांक्षा' इति नैयायिकाः। किन्त्विदमभिहितान्वयवादे न संभवति, आकांक्षायां पदार्थधर्मत्वात्, पदधर्मत्वाऽभावात्। अन्विताभिधानवादेऽपि 'वाजिभ्यो वाजिनमि'त्यादौ वाजिनपदस्य वाजिनपदादि विना अन्वयानुभावकत्वाभावात् वैश्वदेवयागविवक्षायामपि आकांक्षासत्वात् द्वितीयाध्याये गुणात् तत्र कर्मभेदवर्णनमनुपपन्नं स्यात्। अतः मीमांसकमतानुसारेण आकांक्षास्वरूपं वर्णयति ग्रन्थकारः।

क्रिया-श्रवणे कारकस्य कारक-श्रवणे क्रियायाः[1] करण[2]श्रवणे इति-कर्तव्यतायाश्च[3] जिज्ञासाविषयत्वात् । अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थ–बोधाद् योग्त्वमुपात्तम् । तदवच्छेदकं च क्रियात्व-कारकत्वादिकमिति नाति-व्याप्तिः 'गौरश्व'[4] इत्यादौ । [5]अभेदान्वये च समान-विभक्तिक[6]प्रति-पाद्यत्वं तदवच्छेदकमिति तत्त्वमस्यादिवाक्येषु नाव्याप्तिः ।

अर्थ–-आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य ज्ञान, इनमें से पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा में विषय होने की योग्यता को आकांक्षा कहते हैं। क्रिया का श्रवण होने पर कारक के ज्ञान की इच्छा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार कारक का श्रवण होने पर क्रिया की और करण का श्रवण होते ही इति कर्तव्यता की आकांक्षा होती है। (इस आकांक्षा के लक्षण में 'योग्यत्व' पद की आवश्यकता को बताते हैं) जिज्ञासारहित व्यक्ति को भी वाक्यार्थ का बोध होने से उसमें (बोध में) आकांक्षा का लक्षण अव्याप्त न हो इसलिये लक्षण में 'योग्यत्व' पद दिया है। क्रियात्व, कारकत्व आदि धर्म, उस योग्यता के अवच्छेदक होने से आकांक्षा के लक्षण की 'गो, अश्व, पुरुष' आदि पदसमूह में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेदान्वय-प्रतिपादक वाक्यों में समान विभक्तिवाले पदों से प्रतिपाद्यत्व ही अवच्छेदक है। इस-लिए वहाँ भी लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—दो अथवा अधिक पदों में से एक पद का श्रवण होने पर उसके ज्ञान के लिये समीपस्थित दूसरे पद के ज्ञान की अपेक्षा होती है। उस दूसरे पद को प्रथम पद की या अन्य पदों की अपेक्षा होती है। ऐसी परस्पर अपेक्षा की योग्यता जिन पदों में रहती है उन पदों को साकांक्ष शब्द कहते हैं। जैसे 'गामानय' गाय को लाओ। इस वाक्य में 'गाम्' और 'आनय' दो पद हैं। वैसे ही 'आनय' मध्यम पुरुष के एकवचन की क्रिया का 'त्वं' कर्ता भी अर्थतः ही प्राप्त होता है। इन तीन पदों में से 'आनय' पद के उच्चारण करते ही, 'क्या लावें और कौन लावें' यह आकांक्षा उत्पन्न होती है। अर्थात् 'आनय' क्रिया को 'गाम्' और 'त्वं' इन कारकों की अपेक्षा होती है। इसी तरह 'गाम्' इस कर्म कारक को 'आनय' क्रिया की अपेक्षा होती है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो

---

१. क्रियायाः आख्यातार्थार्थभावनायाः।
२. करणश्रवणे धात्वर्थश्रवणे।
३. इतिकर्तव्यतायाः उपकारकक्रियायाः।
४. 'श्वः पुरुषोहस्ती'–इति पाठान्तरम्।
५. अभेदान्वये क्रियाबोधं विना स्वरूपमात्रान्वये।
६. 'क-पद'–इति पाठान्तरम्।

यजेत' स्वर्गेच्छुव्यक्ति दर्श-पूर्णमास याग करे। इस श्रुति-वाक्य से दर्शपूर्णमासयाग, स्वर्ग का करण (साधन) है, ऐसा ज्ञान होने पर 'कथम्' इन दर्शपूर्णमासों से स्वर्ग किस प्रकार का साधा जाय—इस प्रकार इति-कर्तव्यता की आकांक्षा होती है अर्थात् 'इति-कर्तव्यता', जिज्ञासा का विषय होती है, और इस आकांक्षा की निवृत्ति 'समिधो यजति' 'इडो यजति'—'समिध् यागादि–प्रयाज' और 'अनुयाजादि' से दर्शपूर्णमास याग को करे, आदि वाक्यों से होती है। इस प्रकार क्रिया को कारक की, कारक को क्रिया की और करण को इति-कर्तव्यता की परस्पर जिज्ञासा होने की योग्यता का होना अर्थात् ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न कराने वाले पदों का वाक्य में होना ही आकांक्षा का लक्षण है।

आकांक्षा का 'जिज्ञासाविषयत्व' इतना लक्षण करने पर भी सर्वत्र समन्वय हो जाता है, तब 'जिज्ञासाविषयत्व-योग्यत्व' इतना गुरुभूत-लक्षण क्यों किया गया है ?

इस आशंका का निराकरण 'अजिज्ञासोः' आदि ग्रन्थ से ग्रन्थकार करते हैं। वाक्यार्थ-ज्ञान की इच्छा न रखने वाले व्यक्ति को भी वाक्य को सुनते ही उसके अर्थ का ज्ञान होता है। परन्तु उस समय उन पदार्थों में जिज्ञासाविषयत्व नहीं रहता। 'जिज्ञासाविषयत्व' मात्र आकांक्षा का लक्षण करने पर ऐसे स्थलों में उसका संभव नहीं हो पाता। अर्थात् इस लक्षण की जिज्ञासारहित वाक्यार्थ बोध में अव्याप्ति होती है। उसे दूर करने के लिये लक्षण में 'योग्यत्व' पद का निवेश आवश्यक है।

जिज्ञासारहित व्यक्ति को होने वाले वाक्यार्थ-बोध में पदार्थों को परस्पर जिज्ञासा-विषयत्व न होने पर भी उसकी योग्यता उनमें रहती है, अर्थात् वे पदार्थ परस्पर की जिज्ञासा में विषय बनने के योग्य रहते हैं। अतः उक्त अव्याप्ति का निराकरण हो जाता है। पदार्थ में यह योग्यता किस धर्म से आती है ? अर्थात् इस योग्यता का अवच्छेदक (भेदक) धर्म कौन-सा आप मानते हैं ? लक्ष्यता के अन्यूनानतिरिक्तवृत्तिधर्म को ही अवच्छेदक कहते हैं। अर्थात् जो धर्म अपने लक्ष्य से अन्यत्र कहीं नहीं रहता और यावत् (समस्त) लक्ष्य पर रहता है वही अवच्छेदक बन सकता है। जैसे दण्ड, घट का कारण है। परन्तु दण्ड में घट के प्रति जो कारणता है, वह किस धर्म से है, ऐसी आकांक्षा होने पर, दण्ड में विद्यमान पार्थिवत्व या पीतदण्डत्व को उसका अवच्छेदक नहीं कह सकते। क्योंकि पार्थिवत्व यद्यपि यावत् दण्डों में रहने पर भी दण्डभिन्न पटा-दिकों पर भी रहता है, इसलिये वह अतिरिक्त वृत्ति है। उसी तरह पीतदण्डत्व, रक्त-दण्ड में नहीं रहता। इसलिये वह पीतदण्डत्व, न्यून वृत्ति है, अतः न्यून या अधिक प्रदेश में न रहने वाला ऐसा 'दण्डत्व' धर्म ही वहाँ पर अवच्छेदक है, समझना चाहिये। उसी प्रकार आप प्रकृत स्थल में योग्यता का अवच्छेदक किसे कहते हैं ? अर्थात् योग्यता में अन्यून, अनतिरिक्त वृत्ति कौन-सा धर्म आपको सम्मत है ! 'अर्थवत्पदवत्त्व'—वाक्य में अर्थयुक्त पदों का होना, इसे यदि आप अवच्छेदक मानें तो उस धर्म से अवच्छिन्न हुई योग्यता से घटित जो आकांक्षालक्षण, वह 'गौरश्वः' आदि पदसमूह में,

अतिव्याप्त होगा। इसलिये उसे अवच्छेदक नहीं मान सकते। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि हम अर्थवत्पदवत्त्व को योग्यतावच्छेदक नहीं मानते, अपितु कारक पर विद्यमान कारकत्व और क्रिया पर विद्यमान क्रियात्व को ही योग्यतावच्छेदक कहते हैं। केवल 'गाय, घोड़ा, पट' आदि पदों में क्रियात्व या कारकत्व अवच्छेदक नहीं है। इसलिये ऐसे निराकांक्ष पदों पर जिज्ञासा-विषयत्व-योग्यत्वरूप आकांक्षा का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता। इसी प्रकार इतिकर्तव्यताबोधक वाक्य में इतिकर्तव्यतात्व को ही अवच्छेदक समझना चाहिये। 'गौरश्वः' आदि पद-समूह में अतिव्याप्ति न होने के लिये क्रियात्व, कारकत्व आदिकों को योग्यता का अवच्छेदक मानने पर भी 'तत्त्वमसि' आदि अभेदार्थक वाक्यों में क्रियात्व या कारकत्व आदि का अवच्छेदक होना संभव नहीं। इसलिए उन वाक्यों में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है।

समाधान—तत्त्वमस्यादि वाक्यों में क्रियात्व, कारकत्व को हम अवच्छेदक नहीं कहते। किन्तु जिनकी विभक्ति समान (एक) है, ऐसे पदों से प्रतिपाद्यत्व को—ऐसे स्थल पर योग्यता का अवच्छेदक हम मानते हैं। 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' ये पद, समानविभक्तिक हैं, अर्थात् दोनों को ही 'प्रथमा' यह एक ही विभक्ति है। और उन पदों से जीव और ब्रह्म का अभेद प्रतिपाद्य है। अतः उपर्युक्त अव्याप्ति नहीं हो पाती।

समानविभक्तिकपद-प्रतिपाद्यत्व को अवच्छेदक मानने पर 'गौरश्वः' आदि स्थल में लक्षण की पुनः अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि वहाँ पर 'गौः' और 'अश्वः' आदि पद भी एक ही प्रथमा विभक्ति में हैं।

परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि 'गौरश्वः' आदि पदसमूह से वहाँ अभेद प्रतिपाद्य नहीं है। गाय कभी अश्व नहीं होती, और न अश्व कभी गाय। इसलिये उन पदों को अभेद-प्रतिपादक मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध होगा। अर्थात् उनका अभेदार्थ मानने के लिए योग्यतारूप कारण के अभाव में (न होने पर) उन पदों में अभेदान्वय का होना संभव नहीं। इसलिये समानविभक्तिकपद-प्रतिपाद्यत्व रूपावच्छेदक, जो अभेदान्वय योग्यता स्थल में अवश्य अपेक्षित होता है उसका यहाँ संभव नहीं है। इसलिए उक्त अतिव्याप्ति की शंका करना ठीक नहीं है। इस प्रकार भेदान्वयस्थल में क्रियात्व-कारकत्वादि को और अभेदान्वय स्थल में समानविभक्तिकपद-प्रतिपाद्यत्व को ही, योग्यता का अवच्छेदक धर्म कहते हैं। यद्यपि सर्वत्र एक अवच्छेदक मानने में गौरव है तथापि वह फलमुख होने से उस पर अननुगम रूप दोष नहीं आता।

नैयायिक आकांक्षा का इस प्रकार लक्षण करते हैं—

'पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम्' इसका अर्थ इस प्रकार है—अपने को अपेक्षित दूसरे पद के अभाव के कारण (अनुच्चारण के कारण) एक पद का

शाब्दबोध न होना ही आकांक्षा है। जैसे—'गामानय' = गाय लाओ। यह वाक्य है। परन्तु यदि कोई 'गाम्' इतना ही पद कहे, तो उसे अपेक्षित 'आनय' पद के अभाव के कारण 'गाम्' पद से अन्वय का (शाब्द-ज्ञान का) बोध नहीं होता। अर्थात् 'गाम्' के साथ 'आनय' पद का उच्चारण होने पर ही अन्वय-बोध होगा। बिना उसके नहीं होगा। इसलिये वह वाक्य साकांक्ष है और ऐसे आकांक्षायुक्त वाक्य से ही वाक्यार्थबोध होता है। नैयायिकों के आकांक्षालक्षण का यह आशय है।

परन्तु यह नैयायिकाभिमत आकांक्षा, वाक्यार्थ-निर्णयक मीमांसकों को मान्य नहीं है। इसलिये वह अग्राह्य है। वाक्यार्थ के निर्णयार्थ ही मीमांसा प्रवृत्त हुई है। इसलिये वाक्यार्थ-निर्णय के प्रसंग में मीमांसकों का मत ही अधिक ग्राह्य है। इसी आशय से ग्रन्थकार कहते हैं—

'एतादृशाकाङ्क्षाऽभिप्रायेणैव बलाबलाधिकरणे 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र वैश्वदेव-यागस्यामिक्षाऽन्वितत्वेन न वाजिनाकाङ्क्षेत्यादिव्यवहारः।

अर्थ—हमारा बताया हुआ आकांक्षा का लक्षण मीमांसकों को भी अभिमत होने से उन्होंने भी इसी प्रकार की आकांक्षा को मानकर बलाबलाधिकरण में 'वह आमिक्षा वैश्वदेवी (विश्वेदेव देवताक) है, और वाजिन वाजिदेवताक है' इस वाक्य का विचार करते समय वहाँ पर वैश्वदेव याग का आमिक्षा के साथ अन्वय होने से वाजिनान्वय की उसे आकांक्षा नहीं रहती। इसलिये वैश्वदेवयाग का वाजिन से अन्वय नहीं होता, कहा है।

विवरण—पूर्वमीमांसा के तीसरे अध्याय के तीसरे पद में 'बलाबलाधिकरण' नामक अधिकरण है। 'सन्दिग्ध-वाक्यार्थ का विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और संगति, इन पाँच अवयवों से निर्णय करना' इसे 'अधिकरण' यह पारिभाषिक संज्ञा मीमांसकों की है। इस अधिकरण में श्रुति, लिङ्ग आदिकों के दौर्बल्य, प्राबल्य का विचार किया है। इस कारण इसे 'बलाबलाधिकरण' कहते हैं। इस अधिकरण का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१४)। इस सूत्र ने श्रुत्यादिकों के बलाबल का निर्णय किया है। यहाँ पर श्रुति-लिङ्गादिकों के बलाबल का विचार ही विषय है। क्योंकि एक ही स्थल में जब श्रुति-लिङ्ग आदि अनेक की प्राप्ति होती है, तब उनमें से

---

१. 'येन विना यस्यान्वयाननुभावकत्वं तत्त्वमाकांक्षा' इत्यङ्गीकारे तादृशाकांक्षायाः वाजिभ्यो वाजिनमित्यत्र वाजिनस्य विश्वदेवयागसम्बन्धेऽपि सत्त्वात् बलाबलाधिकरण-विरोधः आपद्येत, तत्परिहारार्थं 'जिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वं पदार्थनिष्ठमेवाकांक्षा' इत्येवं युक्तम्।

प्रबल और दुर्बल प्रमाण का विचार कर दुर्बल का बाध करके प्रबल प्रमाण के द्वारा निर्णय करना होता है। इस विषय में मीमांसा का उदाहरण इस प्रकार है—"ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते" यह श्रुति, 'ऐन्द्रीऋचा से गार्हपत्य का उपस्थान करे,' बताती है। और 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रसश्चसि दाशुषे' इस वचन में 'इन्द्र' यह लिङ्ग उससे उस मन्त्र का इन्द्रोपस्थान में विनियोग करना बताया गया है। ऐसी परिस्थिति में लिङ्ग से श्रुति का बाध करके इन्द्रोपस्थान किया जाय ? या श्रुति से लिङ्ग का बाध कर गार्हपत्योपस्थान किया जाय ? ऐसा संशय उपस्थित होता है।

इस पर इस प्रकार पूर्वपक्ष किया जाता है—जब कि श्रुति, गार्हपत्य का उपस्थान (स्तवन) करने को कहती है और 'इन्द्र' रूप लिङ्ग इन्द्रोपस्थान करना बता रहा है, तब 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्जुहोति' यहाँ पर जैसे व्रीहि से अथवा यव से याग करे—ऐसा विकल्प स्वीकार किया गया है, वैसे ही यहाँ पर भी अपनी इच्छा के अनुसार इन्द्र या गार्हपत्य का उपस्थान करे, अर्थात् उनके उपस्थान का विकल्प या समुच्चय समझा जाय।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उपर्युक्त 'श्रुतिलिङ्गवाक्य०' आदि सूत्र से सिद्धान्त बताया है। जो इस प्रकार है—'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या इनकी एकत्र प्राप्ति होने पर आगे-आगे के लिङ्गादि दुर्बल हैं। अर्थात् लिङ्गादि पाँचों की अपेक्षा श्रुति प्रबल है। वाक्यादिकों की अपेक्षा लिंग प्रबल, और सबकी अपेक्षा समाख्या दुर्बल है। गार्हपत्योपस्थानरूप श्रुत्यर्थ संनिकृष्ट है और इन्द्रोपस्थान रूप लिंगगम्य अर्थ विप्रकृष्ट है। गार्हपत्योपस्थान रूप अर्थ साक्षात् श्रुति के द्वारा बताये जाने के कारण प्रथमतया बुद्धि में शीघ्र उपस्थित होता है परन्तु 'इन्द्र' रूप लिंग का अर्थ शीघ्र उपस्थित नहीं होता। क्योंकि लिंग से इतना ही प्रतीत होता है कि इन्द्र का और इस मंत्र का सम्बन्ध है, इतना ही अर्थ प्रथमतः मन में उपस्थित होता है और पश्चात् 'जब कि इनका सम्बन्ध है तब इस ऋचा से इन्द्रोपस्थान करे' इस प्रकार श्रुति का अनुमान करना पड़ता है। इस प्रकार 'ऐन्द्रचा इन्द्रमुपतिष्ठेत्' ऐसी श्रुति की कल्पना करने से पूर्व ही उक्त श्रुति 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' स्वार्थ का विधान कर देती है। यही न्याय लिंगादि अन्य प्रमाणों की ओर लगाकर उनके द्वारा वाक्यादिकों का बाध समझना चाहिए। इस अध्याय का विषय अंगांगिभाव बताना होने से ही उसकें अनुरूप संगति की कल्पना कर लेनी चाहिये।

प्रकृत में बलाबलाधिकार का स्वरूप बताने का प्रयोजन यह है कि वाक्य और श्रुति की एक जगह प्राप्ति होने पर श्रुति के द्वारा वाक्य का बाध किस प्रकार होता है, इसका 'आमिक्षावाजिनन्याय' उदाहरण है। इस अधिकरण का भी संक्षेप में स्वरूप बताते हैं—'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इस श्रुति वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—तपे हुए दूध में दही डालने पर फटे हुए दूध में जो घनभाग तैयार होता है—वह आमिक्षा, वैश्वदेवी = विश्वेदेवदेवता की है, और जो पानी

बचा रहता है उसे 'वाजिन' कहते हैं, वह वाजिदेवताओं के लिए है। इस अधिकरण में 'वाजिभ्यो वाजिनम्' रूप वाक्यांश, विषय है। यहाँ पर जिसका वाज (आमिक्षा रूप अन्न) है—वह वाजी, इस (मत्वर्थीय इन्) व्युत्पत्ति से वाजि शब्द, विश्वेदेवबोधक हैं, और वैश्वदेव याग में ही वाजिन द्रव्य का विधान है ? या वाजी नामक कोई अन्य देवता है, और उसका बोधक यह वाजिन शब्द है, ऐसा समझ कर वाजिदेवताक एक स्वतन्त्र याग का विधान है ? इस प्रकार संशय उत्पन्न होता है। तब पूर्वपक्ष इस प्रकार करते हैं—उक्त व्युत्पत्ति से वाजिन में वैश्वदेव याग का ही अंगत्व समझना चाहिये।

शंका—'तप्ते पयसि-वाक्य में आमिक्षा नामक द्रव्य भी कहा गया है तब उस उत्पत्तिशिष्ट आमिक्षा द्रव्य से वाजिन का बाध होगा' परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि दोनों का जब कि विधान है तब इन दो द्रव्यों का विकल्प समझ लिया जाय अथवा वाजिन तथा आमिक्षा दोनों का समुच्चय कर (मिलाकर) वैश्वदेव याग करे।

इस पर सिद्धान्त किया गया कि—वाजिन में वैश्वदेवयागांगत्व का होना संभव नहीं। क्योंकि 'वैश्वदेवी आमिक्षा' यहाँ वैश्वदेवी शब्द से 'विश्वेदेव जिसकी देवता है' यह अर्थ विवक्षित है। विश्वेदेव शब्द से 'साऽस्य देवता' इस पाणिनिसूत्र से देवता अर्थ में तद्धित 'अण्' प्रत्यय किया है। इसलिये आमिक्षा की विश्वेदेवं रूपं देवता तद्धित-श्रुतिरूप प्रमाण से प्राप्त है, और वाजिन का विश्वेदेव से जो सम्बन्ध होगा, यह 'समभिहाररूप वाक्य' से ही होगा। अतः श्रुति-प्रमाण, वाक्य-प्रमाण की अपेक्षा प्रबल होने से श्रुति से वाक्यप्राप्त 'वाजिन' का बाध होता है। क्योंकि वैश्वदेव-याग की देवता-विषयक आकांक्षा, तद्धितश्रुति से प्राप्त होने के कारण प्रबल हुई 'आमिक्षा' से ही शान्त होती है, पुनश्च उस याग को 'वाजिन' की आकांक्षा नहीं रहती। क्योंकि 'वाजिन' से अन्वय करते समय वह 'वाजिन,' निराकांक्ष हुए 'वैश्वदेव' याग की जिज्ञासा में विषय होने के योग्य नहीं है। इसलिये यहाँ 'वाजिन' और 'अमिक्षा' का विकल्प या समुच्चय स्वीकार न कर आमिक्षा से वैश्वदेव याग करे और वाजिन द्रव्य से वाजिदेवताक स्वतंत्र (पृथक्) याग करे। इस प्रकार दो पृथक् यागों का विधान है।

ग्रन्थकार ने जो पदार्थ, जिज्ञासा के विषय होने में योग्य रहता है तद्विषयक ही आकांक्षा मीमांसकों को मान्य होती है। नैयायिकों की अभिमत आकांक्षा, प्रमाणरहित होने से मान्य नहीं है। अतः उसका स्वीकार न किया जाय, यह कथन करने के लिये ही यहाँ बलाबलाधिकरण का और आमिक्षा का उल्लेख किया है। इससे वेदान्तियों का बताया आकांक्षा-लक्षण ही युक्त है।

अब नैयायिकाभिमत आकांक्षा और मीमांसकों से बताई हुई आकांक्षा में क्या भेद है ? और नैयायिक के पक्ष में कौन से दोष हैं, उन्हें बताते हैं। नैयायिक—एक पद को दूसरे पद की आकांक्षा मानते हैं और वह अन्वयबोधाभावरूप (अन्वयबोध के प्रागभाव रूप) है, कहते हैं।

वेदान्ती—आकांक्षा, पदों में न मानकर उनके अर्थों में स्वीकार करते हैं। और वह 'अन्वय-बोध'-प्रागभावस्वरूप न होकर, जिज्ञासाविषयस्व-योग्यत्वरूप (भावरूप) स्वीकार करते हैं। नैयायिकों के समान आकांक्षा को पदनिष्ठ और अभाव रूप मानने पर 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्' इस श्रुतिवाक्य में–वैश्वदेव-याग का जैसा आमिक्षा से अन्वय होता है, उसी प्रकार वाजिन से भी अन्वय होने लगेगा और इस याग के दो द्रव्य हैं, ऐसा अनुपपन्न अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा। जिससे कर्म में विप्रतिपत्ति होगी। क्योंकि 'आमिक्षा' पद के समान 'वाजिन' पद को भी विश्वेदेवान्वयबोधप्रागभावरूप आकांक्षा है ही। तस्मात् आकांक्षा, वाजिनादि पदों में न होकर अर्थ में रहती है, और वह अन्वयबोधाभावरूप न होकर जिज्ञासा-विषयत्व-योग्यत्वरूप ही स्वीकार करनी चाहिये।

आपके कथनानुसार आकांक्षा का लक्षण स्वीकार करने पर भी वाजिन का वैश्व-देव के साथ अन्वय होने का अतिप्रसंग नहीं टलता। अर्थात् आपका आकांक्षा का लक्षण निराकांक्ष (आकांक्षारहित) वाजिन में अतिव्याप्त होता है। इस आशय की शंका कर ग्रन्थकार उसका–समाधान भी करते हैं।

ननु तत्रापि वाजिनस्य जिज्ञासाऽविषयत्वेऽपि तद्योग्यत्वमस्त्येव। प्रदेय-द्रव्यत्वस्य यागनिरूपित-जिज्ञासा-विषयता[1]वच्छेदकत्वादिति चेत्, न। [2]स्व-समानजातीय-पदार्थान्वय-बोध[3]विरहसहकृतप्रदेय-द्रव्यत्व[4]स्यैव तदवच्छेदकत्वेन वाजिनद्रव्यस्य[5]स्वसमानजातीयामिक्षा-

१. 'तायोग्यता'–इति पाठान्तरम्।

२. स्वसमानजातीयेत्यत्र 'स्व' पदं यस्मिन् 'जिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमभिमतं' तत्परम्। तस्य समानजातीयः प्रदेयद्रव्यत्वेन समभिव्याहृतत्वेन वा सदृशः यः पदार्थः तस्य योऽन्वय-बोधविरहः अन्वयबोधाभावः तेन सहकृतं विशिष्टं यत् प्रदेयद्रव्यत्वं तस्यैवेत्यर्थः। एव-कारेण अविशिष्टप्रदेयद्रव्यत्वस्य योग्यतावच्छेदकत्वनिरासः।

३. 'धासह'–इति पाठान्तरम्।

४. 'स्य तद'–इति पाठान्तरम्।

५. स्वसमानजातीयेत्यत्र 'स्व'पदं वाजिनपरम्। तस्य समानजातीयं प्रदेयद्रव्यत्वेन सदृशं यत् आमिक्षाद्रव्यं, तस्य यो वैश्वदेवयागे अन्वयबोधः तेन सहकृतत्वेन विशिष्टत्वेन। अनेन वाजिननिष्ठप्रदेयद्रव्यत्वे विशेषणाभावः प्रदर्शितः। तादृशावच्छेदकत्वाभावात् परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यतावच्छेदकत्वाऽभावात्। यस्मात् वाजिनद्रव्यनिष्ठं प्रदेयद्रव्य-त्वं स्वसमानजातीय-पदार्थान्वयबोध-सहकृतं, तस्मात् तत् न स्वसमानजातीय-पदार्थान्वय-बोधविरहसहकृतम्। तेन तत्र तादृशान्वयबोधविरहकृतप्रदेयद्रव्यत्वाभावे सिद्धे, सिद्धो

द्रव्यान्वयबोधसहकृतत्वेन तादृशावच्छेद[1]काभावात्। [2]आमिक्षायां तु नैवम्, वाजिना[3]ऽन्वयस्य तदाऽनुपस्थितत्वात्।

उदाहरणान्तरेष्वपि दुर्बलत्वप्रयोजक आकाङ्क्षा-विरह एव द्रष्टव्यः।

अर्थ—'तप्ते पयसि' इत्यादि वाक्य में भी वाजिन को–वैश्वदेव-याग की जिज्ञासा का विषयत्व न होने पर भी जिज्ञासा का विषय होने की योग्यता है ही। (वैश्वदेव याग को वाजिन की आकांक्षा होना रूप दोष आपके पक्ष में भी आता ही है) क्योंकि प्रकृत में यागनिरूपित (याग में जिज्ञासाविषयत्व होने की योग्यता का) अवच्छेदक 'प्रदेयद्रव्यत्व' (देने के योग्य द्रव्य होना) है, और वह प्रकृत वाजिन में भी है।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि हम केवल 'प्रदेयद्रव्यत्व' को ही योग्यता का अवच्छेदक नहीं मानते। किन्तु स्वसमानजातीय पदार्थ के अन्वयबोधाभाव से सहकृत (युक्त) प्रदेयद्रव्यत्व ही प्रकृत स्थल में योग्यता का अवच्छेदक है। इस कारण 'वाजिन' से अन्वय करते समय उक्त अवच्छेदक नहीं है, किन्तु 'आमिक्षा' से याग का अन्वय करते समय उक्त योग्यतावच्छेदक (प्रदेयत्व) उसमें रहता है। क्योंकि आमिक्षा से याग का अन्वय करते समय उसका वाजिन से अन्वय उपस्थित (प्राप्त) ही नहीं होता। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी (श्रुति-लिंग आदि की युगपत्प्राप्तिरूप उदाहरणों में भी) श्रुति से अन्य लिंगादि प्रमाणों में 'पारदौर्बल्य' न्याय से आकांक्षा का अभाव रहता है, यह समझ लेना चाहिये।

विवरण—शंका करने वाले का आशय यह है कि—आप 'जिज्ञासा के विषयत्व को तो आकांक्षा का लक्षण मानते नहीं, किन्तु आपके मत में 'जिज्ञासाविषयत्व-योग्यत्व' ही आकांक्षा का लक्षण है। परन्तु ऐसा मानने पर 'वाजिन का भी वैश्वदेव-याग से अन्वय होने लगेगा' इस प्रकार का दोष आपके पक्ष में भी स्थित है। क्योंकि वैश्वदेव-याग की आकांक्षा, श्रुति-प्रमाण से प्राप्त आमिक्षा से ही शान्त हो जाने के कारण उस याग की जिज्ञासा में 'वाजिन' के विषय न होने पर भी उसमें (वाजिन में) जिज्ञासा का विषय

जिज्ञासाविषयत्वयोग्यतावच्छेकत्वाभावः, तादृशप्रदेयद्रव्यत्वस्यैव योग्यतावच्छेदकत्वात् तस्य चात्राभावात्।

१. 'कत्वाभा'–इति पाठान्तरम्।

२. आमिक्षायान्तु न स्वसमानजातीय-पदार्थान्वयबोधसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वमस्ति। यदा तत्र स्वसमानजातीयपदार्थान्वयबोधसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वं स्यात्, तदा तत्र स्वसमानजातीय-पदार्थान्वयबोधविरहसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वं न स्यात्, तादृशयोग्यतावच्छेदकस्य तादृशप्रदेय-द्रव्यत्वस्य अभावेन तादृशयोग्यत्वरूपाकांक्षाऽपि न स्यात्, किन्तु न तथाऽस्ति।

३. 'नोऽन्व'–इति पाठान्तरम्।

बनने की योग्यता तो है ही। कारण यह है कि प्रकृत स्थल में याग की योग्यत्व रूप आकांक्षा का अवच्छेदक, प्रदेयद्रव्यत्व को ही मानना चाहिये। तथाहि—

याग का अर्थ है—देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग (दान)। उस त्याग (दान) को देय पदार्थ (वस्तु) की अपेक्षा रहती है। अर्थात् 'किस वस्तु का त्याग (दान) करें, ऐसी द्रव्याकांक्षा याग को होती है, तब समीप में पठित प्रदेय-द्रव्य से वह आकांक्षा पूर्ण होती है। अतः जो द्रव्य सन्निहित होते हैं, वे 'देने के योग्य हैं' ऐसा निश्चित होते ही वे द्रव्य, याग की जिज्ञासा के विषय होते हैं। अर्थात् आमिक्षादि द्रव्यों में जिज्ञासा का विषय होने की योग्यता ही, योग्यता का अवच्छेदक धर्म है अर्थात् 'प्रदेयद्रव्यत्व' ही अवच्छेदक धर्म है, यह आपको मानना चाहिये। ऐसा मानने पर वह प्रदेय-द्रव्यत्व जैसे आमिक्षा में है वैसे ही वाजिन में भी है। क्योंकि वाजिन, आकाश जैसा अदेय (देने के अयोग्य) पदार्थ तो है नहीं। जिस प्रकार अमिक्षा प्रदेय-द्रव्य है उसी प्रकार 'वाजिन' भी है। इसलिये उस अवच्छेदक से अवच्छिन्न (युक्त) योग्यत्वरूप आकांक्षालक्षण, प्रकृत 'वाजिन' में अतिव्याप्त होता है। अतः हमारे पक्ष में जो दोष आपने दिया, वही आपके मत में भी आता है।

इस पूर्वपक्ष का 'इति चेत्' पदों से अनुवाद कर 'न' आदि ग्रन्थ से उसका समाधान बताया है। उसका आशय इस प्रकार है—हम प्रदेय-द्रव्यत्व मात्र को ही यहाँ योग्यता का अवच्छेदक मानते होते तो आपके कथनानुसार वह दोष हमारे पक्ष में भी आया होता। परन्तु हम केवल प्रदेय-द्रव्यत्व को योग्यतावच्छेदक नहीं मानते और वैसा मानना उचित भी नहीं है। कारण यह है कि द्रव्य में, प्रदेयत्व धर्म के होने मात्र से ही वह द्रव्य (पदार्थ) याग की जिज्ञासा का विषय होने योग्य रहता ही है यह नियम यदि कर दिया जाय ('प्रदेयद्रव्यत्व' मात्र ही योग्यता का अवच्छेदक मानने पर) तो जिस वाक्य से एक बार शाब्दबोध हो गया है उसी से पुनः शाब्दबोध होने का प्रसंग प्राप्त होगा। अर्थात् 'वैश्वदेवी आमिक्षा' इस वाक्य से एक बार 'आमिक्षा से वैश्वदेव-याग करे' यह अर्थ प्रतीत होने पर भी आमिक्षा का प्रदेय-द्रव्यत्व रूप धर्म निवृत्त न होने से पुनः-पुनः उस वाक्य से वही अर्थ प्रतीत होने का अतिप्रसंग प्राप्त होगा। इसलिये प्रदेयद्रव्यत्वरूप धर्म को योग्यतावच्छेदक नहीं स्वीकार कर सकते। अतः हम 'प्रदेय-द्रव्यत्व में 'स्वसमानजातीय०' इत्यादि विशेषण देकर जो प्रदेयद्रव्यत्व, अपने सहित कहे गये अन्य प्रदेयद्रव्य के अन्वयबोधाभाव से युक्त होने का (जिस प्रदेय-द्रव्य का याग के साथ अन्वय होते समय यागसन्निधिपठित अन्य द्रव्य से अन्वित होने का) ज्ञान यदि न हो तो उस प्रदेय-द्रव्य में प्रदेयद्रव्यत्वरूप धर्म ही, योग्यता का अवच्छेदक होता है' ऐसा मानते हैं। यहाँ 'स्वसमानजातीयपदार्थान्वयबोधाभाव' विशेषण है और 'प्रदेयद्रव्यत्व' विशेष्य है। इस विशेषण से विशिष्ट हुए प्रदेयद्रव्यत्व को ही अवच्छेदक माना है। इस कारण उन विशेषण-विशेष्य में से एक के न होने पर भी विशिष्टाभाव सिद्ध होता है।

वाजिन में 'प्रदेयद्रव्यत्व' रूप विशेष्य तो है परन्तु 'अन्यबोधाभाव' रूप विशेषण नहीं है। कारण यह है कि याग का वाजिन के साथ अन्वय करते समय अपने साथ पढ़े गये आमिक्षा द्रव्य के साथ याग के अन्वय का ज्ञान हुआ रहता है। इसलिये विशेषण के न होने से 'विशिष्टद्रव्यत्व' वहाँ नहीं है। अर्थात् वाजिन में हमारा माना हुआ विशिष्टयोग्यतावच्छेदक न होने से वह (वाजिन) याग की जिज्ञासा के विषय होने योग्य नहीं है। इसलिये हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं आने पाता।

इस पर यदि आप कहें कि इस प्रकार के विशिष्ट अवच्छेदक के मानने पर याग का आमिक्षा के साथ भी अन्वय न हो सकेगा। क्योंकि अमिक्षा के साथ अन्वित होते समय याग का अपने समीप में पठित वाजिन के साथ अन्वय होने का ज्ञान नहीं है, नहीं कहा जा सकता। (याग और वाजिन के अन्वय का ज्ञान तो रहता ही है) अर्थात् वाजिन के साथ उसके अन्वय का ज्ञान होते रहने से 'अन्वयबोधाभाव' रूप विशेषण वहाँ भी नहीं है, तब आपका विशिष्ट अवच्छेदक वहाँ कैसे होगा ? उसके न होने पर आमिक्षा, यागनिरूपित (याग की) जिज्ञासा का विषय भी कैसे बनेगी ? अर्थात् ऐसे अवच्छेदक के मानने पर याग की जिज्ञासा का विषय न 'वाजिन' होता है और न आमिक्षा' ही होती है। क्योंकि जैसे वाजिन से अन्वय होते समय आमिक्षान्वय उपस्थित रहता है उसी प्रकार आमिक्षा से अन्वय करते समय वाजिनान्वय भी उपस्थित रहता है।

परन्तु यह शंका ठीक नहीं है, कारण, वाजिनान्वय जैसी आमिक्षान्वय के समय स्थित नहीं है। 'आमिक्षा', श्रुतिप्रमाण से प्राप्त है, इसलिये वह वाक्य-प्रमाण से प्राप्त होने वाले वाजिन की अपेक्षा पूर्वोक्त बलाबलाधिकरण-न्याय से प्रबल है। प्रबल होने से 'आमिक्षा' का याग के साथ प्रथमतः अन्वय होता है, उस समय वाजिनान्वय की प्राप्ति भी नहीं रहती। क्योंकि वाक्य से प्राप्त 'वाजिन', प्रथम लिङ्ग की तदनन्तर श्रुति की कल्पना कर याग के साथ अन्वित होने के योग्य हो पाता है। परन्तु 'आमिक्षा' साक्षात् श्रुत होने से उसे अन्वित होने में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिये वह प्रथम क्षण में ही याग से अन्वित होती है। उस समय वाजिनान्वयबोध का अभाव रहता है। उससे (अभाव से) विशिष्ट अवच्छेदक का होना आमिक्षा में संभव है। अत एव याग को आमिक्षाविषयक जिज्ञासा होती है, और उसकी पूर्ति प्रत्यक्षश्रुत आमिक्षा से होती है। तत्पश्चात् वाजिनान्वय के समय में आमिक्षान्वयबोध के विद्यमान होने से उक्त योग्यतावच्छेदक का वाजिन होना सम्भव नहीं। इस कारण 'वाजिन से याग का अन्वय होने लगेगा' यह दोष हमारे पक्ष में नहीं होता।

इसी न्याय से जहाँ श्रुति-लिंगादिकों में से दो की प्राप्ति होगी वहाँ श्रुत होने से प्रबल हुए पदार्थ के साथ एक बार अन्वय होने के बाद, दुर्बल लिंगादिकों से प्राप्त पदार्थ के साथ याग का अन्वय नहीं होता, समझ लेना चाहिये। तस्मात् उक्त विशिष्ट-योग्यतावच्छेदक से युक्त आकांक्षा-लक्षण, जो पूर्वोत्तर-मीमांसा सम्मत है, सर्वथा समुचित

है। इस प्रकार आकांक्षा का लक्षण बताकर अब योग्यतारूप (वाक्यार्थ ज्ञान के) कारण का निरूपण करते हैं—

योग्यता च तात्पर्यविषयीभूत-[1]संसर्गाबाधः। वह्निना सिञ्च[2]-तीत्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्न योग्यता। 'स प्रजापतिरात्मनोवपामुदखिदत्' इत्यादावपि तात्पर्य-विषयीभूत[3]-पशुप्राशस्त्याबाधाद् योग्यता। तत्त्वमस्यादिवाक्येष्वपि वाच्याभेद-बाधेऽपि [4]लक्ष्यस्वरूपाभेदे बाधाभावाद् योग्यता।

अर्थ—'तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का बाध न होना' ही योग्यता है। 'अग्नि से सिंचन करता है' आदि वाक्य में योग्यता नहीं है। क्योंकि उस वाक्य का अग्निकरणक आर्द्रीकरणरूप अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है। 'उस प्रजापति ने अपनी वपा (पेट के भीतर की कोमल महीन वस्तु) को खींचकर निकाला और उससे अग्नि में हवन किया' आदि वाक्य का पशुप्राशस्त्य ही तात्पर्यविषयीभूत अर्थ है और वह किसी प्रमाण से बाधित न होने के कारण उस वाक्य में योग्यता है। उसी तरह 'वह ब्रह्म तू है' आदि वाक्य में भी योग्यता के लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि 'तत्' और 'त्वम्' इन पदों के वाच्य-अर्थ में अभेद का बाध होने पर भी लक्ष्यार्थभूत चैतन्य के अभेद रूप अर्थ का बाध नहीं होता।

विवरण—वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का (कर्मत्वादि सम्बन्ध का) बाध न होना—योग्यता का लक्षण है। 'वत्सं बधान' बछड़े को बाँधों, इस वाक्य में योग्यता है। क्योंकि यहाँ वत्सकर्मक बन्धन—तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग है। वह किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता। परन्तु, यहाँ 'संसर्गाबाधः' न कहकर केवल 'तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गः' इतना ही लक्षण यदि किया होता तो 'अग्निना सिञ्चेत्' आदि वाक्य में उसकी अतिव्याप्ति हुई होती। इस आशय से ग्रन्थकार ने 'वह्निना' इत्यादि कहा है। 'अग्नि से सिंचन करे, इस वाक्य का 'अग्नि-करणक सेचन' रूप अर्थ वक्ता के तात्पर्य का विषय है। परन्तु उस करणत्व संसर्ग का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाध होता है। क्योंकि दाहक

---

१. अत्र संसर्गपदं न लक्षणघटकं तात्पर्यविषयाऽबाधस्यैव लक्षणत्वात्। तदुक्तमद्वैत-सिद्धौ—'योग्यताऽपि तात्पर्यविषयाऽबाध एव" इति। अन्यथा अखण्डार्थपरे वाक्ये लक्षणस्य अव्याप्तिर्भवेत्।

२. ञ्चेदित्या०'—इति पाठान्तरम्।

३. यूपरपशु०'—इति पाठान्तरम्।

४. लक्ष्यस्वरूपाभेदे इति प्राचीनमतेन उक्तम्। स्वमते तत्वमसीत्यादौ लक्षणा-भावस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

अग्नि से तद्विरुद्ध आर्द्रीकरण क्रिया का होना संभव नहीं। इसलिये उक्त योग्यता के लक्षण की ऐसी वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी तरह 'जलेन दहेत्' इत्यादि वाक्य में योग्यता नहीं है--समझना चाहिये।

'संसर्गाबाधः' इतना ही लक्षण न कर उस संसर्ग में 'तात्पर्यविषयीभूत' विशेषण क्यों दिया ? यह 'स प्रजापतिः' आदि वाक्य से बताया गया है।

'संसर्गाबाधः' इतना ही लक्षण यदि करें तो 'स प्रजापतिः' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में अव्याप्ति होगी। क्योंकि अपनी वपा का उत्खेद करने पर कोई जीवित नहीं रह सकता। इस कारण उस वाक्य का कर्मत्व रूप संसर्ग, अन्य प्रमाणों से बाधित होता है। इसीलिये वह अर्थ, तात्पर्यविषयीभूत होना चाहिये—यह हमारा कहना है। प्रकृत स्थल में प्रत्यक्ष वपा का उत्पाटन, श्रुति के तात्पर्य का विषय नहीं है किन्तु पशुप्राशस्त्य ही श्रुति को विवक्षित है। जो प्रजाकाम हो 'स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत्' 'वह इस प्रजापतिदेवताक तूपर = शृंगरहित पशु का आलंभन = हनन करे' इस विधि का प्रशस्तत्व बताने के लिये 'स प्रजापतिः' इत्यादि वाक्य श्रुति में पठित है जिस पशु को सींग नहीं होते उसे 'तूपर' कहते हैं। इस गुणवाद रूप अर्थवाद का वाच्यार्थ इस प्रकार है कि पूर्व समय में जब पशु नहीं थे, तब प्रजापति ने अग्नि में अपनी वपा का हवन करते बराबर तूपर–अज उत्पन्न हुआ। इससे तात्पर्य इतना ही है कि 'तूपर' पशु का हवन कर प्राजापत्य याग करने से विपुल पशुओं की प्राप्ति होती है। (मी. १–२–१०) इस अर्थ का किसी प्रमाण से बाध नहीं होता। इस कारण उस वाक्य में योग्यता की व्याप्ति नहीं होती।

इसी प्रकार 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' उसने रुदनकिया इसलिये उसे 'रुद्र' कहते हैं। ऐसे अर्थवाद-वाक्यों में योग्यता है—समझना चाहिये। क्योंकि इस वाक्य का तात्पर्यार्थ इस प्रकार है--'बर्हिषि रजतं न देयम्' बर्हियाग में रजत का दान न करे, इस निषेध का यह अर्थवाद है। जो बर्हियाग में रजत देगा उसे एक वर्ष के भीतर ही रुदन का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिये बर्हियाग में रजतदान अप्रशस्त है। यह उस वाक्य का तात्पर्य-विषयभूत अर्थ है।

'तत्त्वमसि' वह ब्रह्म तू है 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं सच्चिदानन्द रूप ब्रह्मस्वरूप हूँ, इत्यादि वाक्यों में जीव और ब्रह्म का अभेद ही तात्पर्यविषयभूत संसर्ग है। किन्तु वह आपके कथनानुसार बाधित होता है। क्योंकि 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है, और 'त्वं' पद का अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है। किन्तु उन परस्परविरुद्धधर्म-युक्त चैतन्यों में अभेद का सम्भव नहीं, इसलिये वह अर्थ बाधित होता है। इसी तरह 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में 'अहं' और 'ब्रह्म' इनके अभेदान्वय का सम्भव नहीं होता। इसलिये आपका योग्यता-लक्षण अभेदार्थक वाक्यों में अव्याप्त होता है।

इस शंका का 'तत्त्वमस्या'दि वाक्य से निराकरण इस प्रकार किया है—'तत्त्वम्' इत्यादि पदों का वाच्य (शक्य = शक्ति से ज्ञात होनेवाला) अर्थ, श्रुति को विवक्षित नहीं है। किन्तु उन पदों का लक्ष्य (लक्षणा से ज्ञात होनेवाला—शुद्ध चैतन्य का अभेद रूप) अर्थ बताने में ही श्रुति का तात्पर्य है और वह अबाधित होने से पूर्वोक्त दोष नहीं आता। इसी तरह जहाँ पर (गङ्गायां घोषः) लक्ष्यार्थ विवक्षित रहता है वहाँ लक्ष्यार्थ का अबाध रहना रूप दृष्टि से ही योग्यता का लक्षण विवक्षित है। तस्मात् 'तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गाबाधः योग्यता' यह योग्यता का निर्दोष लक्षण है।

अब क्रमप्राप्त आसत्ति का लक्षण बताते हैं—

आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्य-पदार्थोपस्थितिः। मानान्तरोपस्थापितपदार्थस्यान्वय-बोधाभावात्पदजन्येति। अत एवाश्रुत-पदार्थस्थले तत्तत्पदाध्याहारः 'द्वारम्' इत्यादौ 'पिधेहि' इति। अत एव 'इषे त्वा'[1] इत्यादिमन्त्रे 'छिनद्मि'[2] इति पदाध्याहारः। अत एव विकृतिषु 'सूर्य्याय[3] जुष्टं निर्वपामि' इति पदप्रयोगः।

अर्थ—अव्यवधान से (बीच में अन्य पदों का व्यवधान = उपस्थित न होकर) जो पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति उसे आसत्ति कहते हैं। प्रत्यक्षादि शब्देतर प्रमाणों से उपस्थित होने वाले पदार्थों का अन्वय में बोध नहीं होता, इसलिये 'पदजन्य' यह पद लक्षण में दिया है। पदजन्य पदार्थोपस्थिति अपेक्षित होने से ही जहाँ पर क्रिया कारकादि दूसरा पद नहीं कहा हो ऐसे 'द्वारम्' इस एक शब्द के अर्थ की पूर्ति करने के लिये 'पिधेहि' ऐसे पदों का अध्याहार करना पड़ता है, और इसी कारण 'इषे त्वा' इत्यादि मंत्रों में 'छिनद्मि' ऐसे पद का ही अध्याहार करना चाहिये। यह निर्णय मीमाँसा में किया है (मी० २–१–४७)। ऐसी पदजन्य—उपस्थिति मीमांसकों को मान्य होने से सौर्यादि विकृति यागों में 'सूर्य्याय जुष्टं निर्वपामि' मैं सूर्यदेवता को उद्देश्य कर सावित्र हवि का निर्वाप करता हूँ—इन पदों का उच्चारण करना चाहिये, यह सिद्धान्त किया गया है।

विवरण—पदजन्य पदार्थ की अव्यवधान से उपस्थित होना ही आसत्ति है। जिस क्रिया-कारकादि पदसमूह वाक्य से शाब्दबोध होता है उस वाक्य के वे पद, अन्य पदों के व्यावधान से (प्रतिबन्ध से) रहित होने चाहिये। जैसे—'गाम्' और 'आनय' ये दोनों पद, एक के बाद एक ऐसे क्रम से, बीच में अन्य पद के व्यवधान से रहित, उच्चारण करने पर ही, उससे वाक्यार्थ बोध होता है। परन्तु यदि कोई 'गाम्'

१. 'त्वेत्यादौ०'—इति पाठान्तरम्। २. 'द्मीत्यादि०'—इति पाठान्तरम्।
३. 'त्वा'—इति पाठान्तरम्।

कहकर चुप हो जाय या बीच में ही अप्रकृत कोई शब्द कह दे, बाद 'आनय' कहे तो श्रोता को उस वाक्य से कुछ भी अर्थबोध नहीं होगा। इसलिये आसत्ति, शाब्दबोध में कारण रहती है। इसी प्रकार 'चन्द्रं भुंक्ष्व ओदनं पश्य' इत्यादि वाक्यों से भी अर्थबोध नहीं होता। क्योंकि यहाँ 'चन्द्रं' का 'पश्य' क्रिया से सम्बन्ध है। परन्तु 'पश्य' क्रिया, अव्यवधान से नहीं कही गई है। 'भुंक्ष्व' और ओदनम्' इन दो पदों के व्यवधान से कही गई है। इस कारण ऐसे वाक्य में आसत्तिलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' ऐसे पदसमूह में यद्यपि क्रिया कारकादि समस्त पद उपस्थित रहते हैं और उनमें परस्पराकांक्षा तथा अन्वययोग्यता भी रहती है, तथापि उन पदों की अव्यवधान से उपस्थिति न होने के कारण उस वाक्य से 'देवदत्त ने खाया' और 'पर्वत अग्निमान् है।' इस अर्थ की प्रतीति नहीं होती।

यहाँ अव्यवधान से जो पदार्थोपस्थिति होनी है, वह पदजन्य हो, यह क्यों कहा, उस का कारण ग्रन्थकार ने 'मानान्तरोपस्थापित०' आदि ग्रन्थ से बताया है। उसका निष्कर्ष यह है—'सामने घट दीखने पर भी कोई व्यक्ति अंगुलि-निर्देश करते हुए 'सोमदत्त ! देखो' कहता है। उस समय सोमदत्त को घट का बोध होता है, परन्तु उस वाक्यार्थ में घट का अन्वयबोध (शाब्दबोध) नहीं होता। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उस समय घट का बोध होता है।

आसत्ति के लक्षण में 'पदजन्य' यदि न दें तो प्रत्यक्षात्मक उपस्थिति भी 'सोमदत्त पश्य' इस वाक्य में अव्यवधान से ही होती है, अतः उस लक्षण की प्रत्यक्ष में अति-व्याप्ति होगी। उसकी निवृत्ति के लिये 'पदजन्य' पद आवश्यक है। घट का ज्ञान उक्त वाक्य में अव्यवधान से होने पर भी वह पदजन्य नहीं अर्थात् 'घटम्' इत्याकारक पद से नहीं हुआ है, इसलिये अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

पदार्थ की उपस्थिति पदजन्य होने पर ही उस पदार्थ का शाब्दबोध होता है और अन्य उपाय से पदार्थ का बोध हुआ तो वह प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से होता है, यह आप कह रहे हैं। किन्तु ऐसा मानने पर 'द्वारम्' इतना ही शब्द श्रवण करने के बाद 'पिधेहि' क्रिया का जो ज्ञान होता है वह शाब्दबोधात्मक नहीं है कहना पड़ेगा। क्योंकि यहाँ पर 'पिधान' अर्थ की उपस्थिति पदजन्य नहीं होती। किन्तु सभी शास्त्रकारों ने तो 'पिधान' क्रिया का ज्ञान शाब्दबोधात्मक माना है। तब सिद्धान्त में इसकी उपपत्ति किस प्रकार होगी ? यह आकांक्षा होने पर ग्रन्थकार ने 'अत एवाश्रुत०' इत्यादि ग्रन्थ से उसका समाधान बताया है। तथा हि—'पिधेहि' क्रिया का जो शाब्दबोध होता है वह पदजन्य ही होता है। क्योंकि पदजन्य पदार्थबोध ही शाब्दबोध में कारण होने से ऐसे अश्रुत पदार्थ के स्थल में 'पिधेहि' पद का अध्याहार (योजना) करना होता है। इस प्रकार ऐसे अध्याहृत पद से बोध के होने से यहाँ आसत्ति-लक्षण की अव्याप्ति

नहीं होती। प्रत्युत (विपरीत) 'पदार्थोपस्थिति पदजन्य होनी चाहिये' यह सिद्धान्त ही, इस उदाहरण से पुष्ट होता है।

'द्वारम्' के अनन्तर 'पिधेहि' क्रिया (पद) का अध्याहार किसलिये है ? उसके बिना किये भी केवल 'पिधानरूप' अर्थ के अध्याहार करने से भी उपर्युक्त बोध की उपपत्ति का संभव हो सकती है' इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि वृत्ति के द्वारा जिस अर्थ की उपस्थिति नहीं होती, वह अर्थ (पदार्थ) भी शाब्दबोध का विषय होता है, ऐसा मानने पर अनेक दोष उपस्थित होंगे।

१—जिस पद से पदार्थ का किसी प्रकार का संबंध हो उस पदार्थ का शाब्दबोध होता है—यह कहने पर 'घट शब्द' आकाश के साथ समवाय संबंध से संबद्ध होने से 'घटमानय' वाक्य का 'आकाशमानय' अर्थ भी होने लगेगा। इसलिये पद-पदार्थों का वृत्तिरूप विशेष संबंध ही मानना चाहिये। और उसे मानने पर सर्वत्र वृत्ति के द्वारा ही शाब्दबोध के होने से 'द्वारम्' में मात्र विना वृत्ति के भी सामान्य संबंध से 'पिधेहि' अर्थ का शाब्दबोध होता है, यह मानने में गौरव है।

२—वैसे ही 'द्वारम्' यहाँ द्वितीया का जो कर्मत्व रूप अर्थ है उसका कहीं भी अन्वय नहीं होगा। क्योंकि पदजन्य अर्थ का पदजन्य अर्थ से ही अन्वय करने का नियम है।

३—इसी प्रकार 'पुष्पेभ्यः' शब्द का उच्चारण कर 'स्पृहयति' पद का अध्याहार न करके 'सामान्य इच्छा' रूप अर्थ का अध्याहार करने से 'स्पृह्' धातु के योग में ही होने वाली चतुर्थी विभक्ति की उपपत्ति नहीं लगेगी। तस्मात् प्रकृत में भी 'पिधेहि' पद का ही अध्याहार करना चाहिये। केवल पिधानादि अर्थ का अध्याहार कर शाब्दबोध की उपपत्ति नहीं लग सकती। पदजन्य पदार्थोपस्थिति का ही पूर्व-मीमांसकों ने भी स्वीकार किया है, यह प्रदर्शित करने के लिये ग्रन्थकार ने 'अत एव इषे त्वा' इत्यादि कहा है। उसका विवरण मीमांसा के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में इस प्रकार किया है—

'इषे त्वोर्ज्जेत्वा०' यह श्रुति, इस अधिकरण का विषय है। यहाँ संशय इस प्रकार किया है कि यह समस्त मंत्ररूप एक ही वाक्य है या विभिन्न दो वाक्य हैं ? इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि यह एक ही वाक्य मानना चाहिये, क्योंकि यह मंत्र अदृष्टार्थ है। और दो अदृष्ट अर्थों की कल्पना करने की अपेक्षा, एक अदृष्ट के मानने में ही लाघव है। यहाँ 'क्रिया' श्रुत नहीं है। इसलिये यह 'मंत्र' कर्मप्रकाशक होने से दृष्टार्थ है, नहीं मान सकते। तस्मात् यह अदृष्टार्थ-प्रतिपादक एक वाक्य है, यही कहना चाहिये।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्' (२-१-४७) सूत्र से सिद्धान्त बताया है—ये दो भिन्न वाक्य हैं, ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि 'इषे त्वा' और 'उर्ज्जे त्वा' ये पद सम (परस्पर) की आकांक्षा नहीं रखते हैं।

यहाँ क्रिया पद के न होने पर भी ये दो वाक्य कैसे माने जा सकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि 'इषे त्वा' के बाद 'छिनत्ति' क्रिया का अध्याहार करना चाहिये, और 'ऊर्ज्जे त्वा, के अनन्तर 'अनुमार्ष्टि' = सम्मार्जन करता है, क्रिया का अध्याहार करना चाहिये। ये दोनों वाक्य क्रमशः पलाश-शाखा के छेदन और मार्जन रूप दो पृथक् कर्मों का प्रकाशन करने वाले दृष्टार्थक ही हैं, अर्थात् 'इषे त्वा' का अर्थ है—हे पलाशशाखे ! मैं तुझे इच्छित अन्न के लिये तोड़ता हूँ। और 'उर्ज्जे त्वा' का अर्थ है—हे पलाशशाखे ! मैं तुम्हारा रस के लिये अथवा बल के लिये सम्मार्जन करता हूँ, यह अर्थ निश्चित होता है। इसी तरह दूसरे एक वेदवाक्य में अश्रुत पद का अध्याहार बताने के लिये भी मीमांसा में एक अधिकरण बताया गया है। तथाहि—आग्नेय नामक प्रकृतियाग में 'देवस्य त्वा सवितुः······अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि मंत्र पठित हैं, उसका निर्णय मीमांसा में नवमाध्याय के प्रथम पाद में ३८-३९ सूत्रों से किया है। तथाहि—उपर्युक्त मंत्र में 'अग्नि' शब्द का सौर्यादि विकृति याग में ऊह किया जाय या न किया जाय। अर्थात् 'अग्नि' शब्द के स्थान पर 'सूर्य' शब्द की योजना की जाय या न की जाय ? यह संशय आने पर 'सवितुः' यहाँ 'सवितृ' शब्द का ऊह न करने के लिये जैसे पीछे के अधिकरण में बताया गया है, उसी प्रकार यहाँ पर 'अग्नि' पद का ऊह न किया जाय—यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सवित्रादि शब्द कर्म से प्रत्यक्ष संबद्ध नहीं है इसलिये उनका ऊह संभव न होने पर भी 'अग्न्यादि' शब्द तो कर्म से प्रत्यक्ष संबद्ध होने से विकृतियाग में 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' यह ऊह करना चाहिये—यह सिद्धान्त किया है। यहाँ पर भी पदाध्याहार ही बताया गया है। सारांश यह है कि 'पद का अध्याहार न कर पद के अर्थ का अध्याहार किया जाय' यह मानने पर मीमांसा के पूर्वोक्त अधिकरणों से विरोध होता है। इसलिये उस पक्ष को छोड़कर पदाध्याहार पक्ष का ही स्वीकार करना चाहिये। तस्मात् आसक्ति को लक्षण में 'पदजन्य पदार्थोपस्थिति' का स्वीकार करना उचित ही है।

पदजन्यपदार्थोपस्थिति, शाब्दबोध में कारण है, यह बताया गया। परन्तु वह पदार्थ कितने प्रकार का है, यह आकांक्षा होने पर ग्रन्थकार कहते हैं—

पदार्थश्च द्विविधः—शक्यो लक्ष्यश्चेति। तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः, यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृति-विशिष्टे वस्तुविशेषे वृत्तिः। सा[1] च शक्तिः पदार्थान्तरम्। सिद्धान्ते कारणेषु कार्य्यानुकूल-शक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात्।

---

१. सा च शक्तिरिति। नैयायिकास्तावत् संकेत एव शक्तिः न तु पदार्थान्तरम् प्रमाणाभावात्। स च संकेतः 'अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः इतीच्छारूपः। तत्रापि न संकेतमात्रं शक्तिः, किन्तु ईश्वरसंकेत एवेति न पामरादिसंकेतितानामपभाषितानामपि

अर्थ—और वह पदार्थ शक्य तथा लक्ष्य भेद से दो प्रकार का है (उनमें शक्य का अर्थ है शाक्त रूप वृत्ति से युक्त और लक्ष्य का अर्थ है लक्षणा रूप वृत्ति से युक्त)। पदों के वाच्य अर्थ में स्थित मुख्य वृत्ति को ही शक्यपद की घटक शक्ति कहते हैं। जैसे—'घट' पद की तल तथा मध्य भाग में वर्तुल आकार से युक्त वस्तु विशेष में रहने वाली वृत्ति ही शक्ति कही जाती है। वह शक्ति, पृथक् (अतिरिक्त) पदार्थ है। क्योंकि कारण में विद्यमान होती हुई कार्योत्पत्ति के अनुकूल (जनक) समस्त (यावत्) शक्ति को सिद्धान्त में पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है।

विवरण—कुछ लोग शक्य, लक्ष्य और गौण भेद से तीन पदार्थ मानते हैं। किन्तु मूल में 'पदार्थ द्विविध है' कहकर उनका निराकरण किया है। गौणपदार्थ का लक्ष्यपदार्थ में ही अन्तर्भाव होता है, यह आगे चलकर ग्रन्थकार स्वयं कहेंगे। पद का अर्थ के साथ जो सम्वन्ध उसे वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति शक्ति तथा लक्षणा भेद से द्विविध है। इनमें से 'शक्ति नामक वृत्ति से युक्त पदार्थ को शक्य या वाच्य और लक्षणा नामक वृत्ति से युक्त पदार्थ को लक्ष्य, यह शास्त्रीय संज्ञा है। इस कारण शक्य और लक्ष्य में से शक्य पदार्थ का निरूपण कर्तव्य होने पर पदार्थ को 'शक्य' संज्ञा जिस शक्ति के कारण प्राप्त होती है उस शक्ति का ही यहाँ निरूपण किया है। वृत्तिरूप सम्वन्ध साक्षात् और परम्परा भेद से दो प्रकार का है। उनमें से पद का पदार्थ के साथ मुख्य (साक्षात्) अर्थात् प्रथमोपस्थित जो सम्वन्ध = वृत्ति, उसे शक्ति कहते हैं—यह शक्ति का लक्षण है।

शक्तत्वम्। स चेश्वरसंकेतो न ईश्वरसंकेतत्वेन गृह्यमाणः कारणम्। किन्तु संकेतत्वेन। अतः अविदुषामपि घटादिशब्दात् शाब्दबोधोपपत्तिः। आधुनिकसंकेतितानां चैत्रादिशब्दानां 'द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' इति सामान्यतः ईश्वरसंकेतित्वमस्त्येवेति न दोष इति वदन्ति।

तदिदं मीमांसका न सहन्ते। तेषामयमाशयः अभिधा नाम शक्तिः। सा च पदार्थान्तरम्। कारणेषु कार्यानुकूलशक्तिमात्रमतिरिक्तमङ्गीकरणीयम्। वह्निर्मणिसमवहितो दाहं न जनयति, मण्यसमवहितः उत्तेजकमण्यन्तरसमवहितो वा दाहं जनयति, इत्यत्र हि शक्तिसत्त्व-तद्विनाशौ एव नियामकौ सा च शक्तिः न द्रव्यं, गुणः, कर्मादिकं वा, तद्गुणराहित्यादित्यतिरिक्तः पदार्थः। एवं च शब्दनिष्ठा शक्तिरपि अतिरिक्तैव अंगीकरणीया। कस्मिन् पदे कीदृशार्थबोधनानुकूलशक्तिर्विद्यते इति नु व्यावहारादिसिद्धशक्तिविषयः पदार्थः शक्यः इति ज्ञेयम्। यदि सर्वत्रैव शक्तिः पदार्थान्तरम्, तदा किमु वक्तव्यं शक्तिविशेषस्य पदनिष्ठस्य पदार्थान्तरत्वे इति। एवं च मीमांसकसिद्धान्ते अद्वैतसिद्धान्ते च यथा कारणनिष्ठा कार्यानुकूला शक्तिः पदार्थान्तरं तथा पदनिष्ठा पदार्थोपस्थित्यनुकूला शक्तिरपि पदार्थान्तरं, तस्या अपि कारणनिष्ठकार्यानुकूलशक्तित्वात्। कारणत्वात् पदार्थोपस्थितेश्च कार्यत्वात्।

उदा०—'घट' पद से प्रथमतः ही बड़े वर्तुल—मध्य भाग वाले, कुश कण्ठ वाले पदार्थ की उपस्थिति 'शक्ति' वृत्ति से होती है। परन्तु लक्ष्य पदार्थ के साथ पद का पहले जैसा साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् पद श्रवण होने के अनन्तर प्रथमतः ही लक्ष्य पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, अपितु शक्य (वाच्य) पदार्थ के द्वारा, परम्परा से (शक्य-पदार्थ-ज्ञान के व्यवधान से) होता। इस कारण शक्ति का लक्षण लक्ष्य पदार्थ में अतिव्याप्त नहीं होता।

प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि 'पद' के साथ अर्थ का जो सम्बन्ध हो उसे शक्ति कहते हैं। यह शक्ति द्रव्य-गुणादि सात पदार्थों से पृथक् (अतिरिक्त) पदार्थ नहीं है। किन्तु 'इस पद से यह अर्थ समझना' इत्याकारक जो ईश्वरेच्छा (आत्मगुणरूप पदार्थ) उसी में शक्ति का अन्तर्भाव होता है। आधुनिक 'देवदत्तादि' नाम में भी शक्ति है ही। क्योंकि 'पिता ग्यारहवें दिन पुत्र का नाम रखे' ऐसी ईश्वरेच्छा वहाँ भी रहती ही है। और नवीन नैयायिक—"ईश्वरेच्छा को शक्तिरूप न मानकर उसे केवल इच्छारूप ही मानते हैं। इस कारण आधुनिक संकेत में शक्ति का होना सिद्ध है।

नैयायिकों के मत का खण्डन करने के लिये ग्रन्थकार ने 'सा च शक्तिः' इत्यादि वाक्य से शक्ति को पृथक् पदार्थ सिद्ध किया है। तथाहि—प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार शक्ति का ईश्वरेच्छारूप होना सम्बन्ध नहीं। क्योंकि मनुष्य की इच्छा से नदी-नगर आदिकों की जो संज्ञायें रूढ़ हुई हैं, उनमें ईश्वरेच्छा नहीं होती। अब नव्य नैयायिकों से कथनानुसार सामान्य इच्छारूप शक्ति को मानें तो वह भी संभव नहीं। क्योंकि मनुष्य पट आदि की इच्छा से घट आदि पद का उच्चारण करे तो वहाँ भी इच्छा के विद्यमान होने के कारण घट पद की पट में भी शक्ति का स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिये इस वृत्तिरूप शक्ति को पृथक् पदार्थ के रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। इतना ही नहीं, हम वेदान्तियों ने संसार की समस्त वस्तुओं के कारणों में विद्यमान कार्योत्पादनानुकूलता (कार्य उत्पन्न करने को योग्यता) को ही शक्ति समझ, सामान्य शक्ति को भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकृत किया है। तब पददिष्ठ अर्थबोध रूप कार्य की जनक शक्ति हमारे मत में पृथक् पदार्थ है, यह तो अत्यन्त स्पष्ट है।

हम लोग 'अर्थापत्ति' प्रमाण से शक्ति का पार्थक्य (पृथक् पदार्थत्व) सिद्ध करते हैं। तथाहि—केवल अग्नि, दाह करने में समर्थ है, किन्तु मणि के सान्निध्य से दाह नहीं होता। इस कारण मणि के सान्निध्य से दाहकारणीभूत अग्नि शक्ति नष्ट हो गई, यह कल्पना करनी पड़ती है। इसलिये यह नष्ट होने वाला शक्तिरूप पदार्थ, अन्य सब पदार्थों को अपेक्षा विलक्षण (पृथक्) पदार्थ सिद्ध होता है। यदि यह कहें कि—प्रतिबन्धक का अभाव, कार्यमात्र के प्रति कारण होता है। यहाँ तो मणिरूप प्रतिबन्धक पदार्थ के विद्यमान होने से प्रतिबन्धकाभावरूप कारण नहीं है, इसलिये दाहरूप कार्य नहीं होता।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि है प्रतिबन्धकाभाव अभावरूप होने से उसमें किसी भाव कार्य के प्रति कारणता नहीं बन सकती। इसके अतिरिक्त (१) दाहादिकार्य वह्निनिष्ठ दाहानुकूल शक्तिरूप पदार्थ से युक्त है, (२) क्योंकि उसमें कार्यत्व है, (३) घटादि के समान। यह[1] अनुमान भी शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध करता है। इसी प्रकार 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इस परमात्मा की अनेकविध (सत्त्वादिगुणों से अनेकरूप) पर (सूक्ष्म), कार्यगम्य शक्ति है। 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञान-गोचराः' सब पदार्थों में अचिन्त्य (अनिर्वचनीय) और कार्यज्ञानैगम्य शक्तियाँ हैं, आदि अनेक श्रुतियाँ शक्ति का पार्थक्य सिद्ध करती हैं। तस्मात् शक्ति, अतिरिक्त पदार्थ है और पदनिष्ठ शक्ति भी इच्छारूप नहीं है। तव पदनिष्ठ शक्ति का ज्ञान किस प्रमाण से होता है ? उत्तर है कि 'अनुमान प्रमाण' उसमें ज्ञापक है।

सा[2] च तत्तत्पदजन्य-पदार्थज्ञान-कार्य्यानुमेया। तादृशशक्ति-विषयत्वं शक्यत्वम्।[3] तच्च जातेरेव न व्यक्तेः, व्यक्तीनामानन्त्येन

---

१. 'दाहादिकार्यं वह्निनिष्ठस्वानुकूलशक्तिपूर्वकं कार्यत्वात् घटवत्'।

२. ननु कारणषु कार्यानुमेयाः शक्तयः सन्तु नाम, किन्तु प्रकृते केन कार्येण पदनिष्ठा शक्तिः अनुमीयते, यतः पदनिष्ठा शक्तिः नैव सिद्धा प्रमाणाभावात्, कैव कथा तदति-रिक्ततायाः। तत्रेदं समाधानं करोति ग्रन्थकारः—सा च तत्तत्पदजन्येति। सा च पदनिष्ठा शक्तिः तत्तत्पदजन्यं यत् पदार्थज्ञानं तद्रूपं यत् कार्यं तेन अनुमेया भवति।

३. उक्तलक्षणशक्तिविषयत्वं (शक्तिजन्यबोधविषयत्वं) शक्यत्वं जातेर्व्यक्ते र्वा ? इति जिज्ञासायां गौतमीयाः (नैयायिकाः) जात्याकृतिव्यक्तीनां पदशक्यत्वं वदन्ति। दीधित्यनुयायिनस्तु व्यक्तेरेव, वैयाकरणा अपि व्यक्तेरेवेति। तत्र ग्रन्थकारो ब्रवीति—तच्च जातेरेव। जातिरत्र अनुगतो धर्मः, परैः जातिशब्देन व्यवह्रियमाणो विज्ञेयः। ननु इतः पूर्वं जातेर्निरसनं कृतम्, अत्र च जातेः शक्यत्वं व्यवस्थाप्यते। इति परस्परविरुद्धम्। तत्रैवं बोद्धव्यम्—पूर्वग्रन्थेन जातेर्निरसनं न कृतं किन्तु जातेः पदार्थान्तरत्वं तल्लक्षणादिकं च निरस्तमासीत्। सकलगोव्यक्तिषु अनुगतः गोत्वरूपो धर्मस्तु अभ्युपगत एवेति न किञ्चि-दपि परस्परं विरुद्धम्। अतो वेदान्ते सर्वत्र जातिपदेन अनुगतो धर्म एव स्वीकर्तव्यः। एवञ्च मीमांसकाः अनेकशक्तिकल्पनाप्रसङ्गात् व्यक्तौ जातिविशिष्टव्यक्तौ वा शक्तिं नाङ्गीकुर्वन्ति। तेन गवान्तरबोधापत्तेः एव गवि शक्तिरिति मतं प्रत्युक्तं भवति। अन्यच्च व्यक्तिशक्तिवादे अनेककार्यकारणभावकल्पनाप्रसंगेन गौरवं भवति। जातिशक्तिवादे तु नैवमिति आकृति-(जाति-) शक्तिवाद एव युक्तः। तेन 'श्येनचितं चिन्वीत' इति वाक्यमपि श्येनाकारचयनविधानात् सार्थकं भवति। नहि श्येनपक्षिभिः चयनं कर्तुं योग्यम्। 'गामानय, व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादौ व्यक्तीनां बोधः आक्षेपात् भवति। आक्षेपो

गुरुत्वात् । कथं तर्हि गवादि-पदाद् व्यक्तिभानमिति चेत्, जातेर्व्यक्ति-समान-संवित्संवेद्य[1]त्वादिति ब्रूमः ।

अर्थ—और वह पदनिष्ठ शक्ति, तत्तद् विशेष पद से तत्तद् विशेष पदार्थ के ज्ञान-रूप कार्य से अनुमेय (अनुमान प्रमाण से जानने योग्य) है । पदार्थ में ऐसी शक्ति की विषयता होना उसकी शक्यता है । वह शक्यत्व (ता) जाति में ही रहता है, व्यक्ति में नहीं । क्योंकि व्यक्ति अनन्त (असंख्य) होने से प्रत्येक व्यक्ति पृथक् शक्यत्व मानने में गौरव है । व्यक्ति में यदि शक्यत्व (शक्ति) नहीं है तो 'गो' आदि पदों के श्रवण करते ही सास्नादिमान् गोव्यक्ति का ज्ञान कैसे होता है ?' उत्तर यह है कि—जाति, व्यक्ति

नामार्थापत्तिः । तथा च व्यक्तिबोधं विना आनयनादिक्रियान्वयानुपपत्त्या लक्षणया व्यक्ति-बोधः । तथापि 'गोरस्ति' इत्यत्र तु अपेक्षाऽभावेन अन्वयानुपपत्त्यभावात् व्यक्तिबोधाऽसंभवः इति जातेर्व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्वेन जातिभासकसामग्र्यैव व्यक्तेरपि भानमिति अन्ये मन्यन्ते । व्यक्तेः समाना संविद् व्यक्तिसमानसंविद्, तया संवेद्या—व्यक्तिसमान-संवित्संवेद्या, तस्याः भावः, तस्मात् । यया संविद्व्यक्त्या (ज्ञानव्यक्त्या) घटवृत्ति घटत्वं गृह्यते, तयैव घटस्यापि ग्रहणं भवति । जातिव्यक्त्योः अभेदाभ्युपगमात् न सामग्र्यन्तरस्यावश्यकता भवति ।

गुरुमते तु जातौ व्यक्तौ च शक्तिः । तथापि जातौ सा ज्ञायमाना कारणम् व्यक्तौ तु स्वरूपसती (स्वरूपेण विद्यमाना) हेतुः । तथा च व्यक्तौ स्वरूपेण विद्यमानैव शक्तिः तदुपस्थितौ हेतुः, तेन व्यक्तेरपि शक्यत्वं शब्दबोध्यत्वं चोपपन्नम् तथा चोक्तं तत्त्वप्रदीपि-कायाम्—"आकृतेः शब्दार्थत्वेऽपि तस्या एव शब्दार्थत्वमितिनियमानङ्गीकारात्" इति । ज्ञायमानशक्त्या जात्युपस्थितिदशायां स्वरूपेणवर्तमानया शक्त्या व्यक्त्युपस्थितेरुपपत्तौ सत्यां व्यक्तिशक्तिज्ञानं तदुपस्थितौ न अपेक्षितं भवति । एवन्तर्हि जात्युपस्थितावपि जातिशक्तिज्ञानं कारणं न स्यात्, तत्रापि स्वरूपसत्या शक्त्या तदुपस्थितिः संभविष्यति । परं नैतदुचितम् यतो जातौ यदि शक्तिः स्वरूपसती हेतुः स्यात्, तदा अगृहीतशक्तिकाना-मपि पुंसां तत्तच्छब्दात् तत्तदर्थोपस्थितिः स्यात्, तत्र तत्रापि तत्तच्छक्तेः स्वरूपेण विद्य-मानत्वात् । न च तथा दृश्यते, जातौ सा ज्ञाता हेतुर्भवति ।

किन्तु मतमिदं नाभिमतं भाट्टानाम् । ते हि व्यक्तौ स्वरूपसती शक्तिरपि न गौरवा-दङ्गीकरणीयेति मन्यन्ते । तन्त्रवार्तिकेऽपि—"आकृति-व्यक्त्योरत्यन्तभेदाभावात् कदा-चिद् व्यक्तिरूपेण आकृतिरभिधीयते, कदाचित् सामान्यरूपेण । शब्दस्य उभयरूपं वस्तु अर्थत्वात् । अत एव 'गामानय' इति चोदिते अर्थप्रकरणाभावे यां कांचित् सामान्ययुक्तां गाम् आनयति, सर्वां न विशिष्टाम् । अतः आकृतिरेव शब्दार्थः इति सिध्यति ।"

१. 'तयेति'—इति पाठान्तरम् ।

ज्ञानरूप एक ही ज्ञान से संवेद्य होने से, जाति ज्ञान के होते ही व्यक्तिज्ञान और व्यक्तिः-ज्ञान के होते ही उसमें ही जातिज्ञान होता है। ऐसा हम कहते हैं।

विवरण—'घट' पद के श्रवण करते ही कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ का ज्ञान (स्मरण) होता है। 'पट' पद के श्रवण करने पर कंबुग्रीवादिमान् पदार्थ की मन में उपस्थिति नहीं होती। अतः इस अन्वयव्यतिरेक से 'घट' पद की शक्ति 'कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ में है' यह सिद्ध होता है। इस विषय में अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—

(१) 'पदार्थज्ञान, पदनिष्ठ-स्वबोधानुकूल-शक्तिपूर्वक है, (२) क्योंकि वह पदार्थ-ज्ञान पदजन्य-पदार्थज्ञान कार्यरूप है, (३) जैसे घटरूप पदार्थ का ज्ञान 'घट' पद की कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ में विद्यमान शक्ति से युक्त है।' इस[1] अनुमान से पदनिष्ठ शक्ति, अतिरिक्त सिद्ध होती है। इस प्रकार शक्ति का निरूपण किया। अब 'तादृश०' इत्यादि वाक्य से उस शक्ति से युक्त ऐसे शक्य पदार्थ का स्वरूप बताया है। पूर्वोक्त शक्ति से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का जो विषय होता है वह पदार्थ 'शक्य' होता है। अर्थात् उस पदार्थ में उस पद का शक्यत्व रहता है। जैसे—'घट' पद से घटत्व' अर्थ का बोध होता है, अतः 'घट' पद की शक्ति से होनेवाले इस ज्ञान में 'घटत्व' विषय रहता है अर्थात् वह 'घटत्वविषयक' घटत्व का ज्ञान है। इस कारण घटपद का 'घटत्व' शक्य है, अर्थात् शक्यत्व घटनिष्ठ है।

'पद का शक्य अर्थ कौन सा ?' इस विषय में तत्तद् शास्त्रकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोग 'गो' पद की सास्नादिमान् (सास्ना = गाय के कण्ठ के नीचे लटकती मांसमय झालर) गोव्यक्ति में शक्ति मानते हैं। नैयायिक—जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति है ('गो' पद गोत्वविशिष्ट गोव्यक्ति में शक्ति रहती है अर्थात् गोत्वविशिष्ट गो, गोपद का शक्य है) ऐसा कहते हैं। इन सब कल्पों का निरसन करने के उद्देश्य से ग्रन्थकार ने पूर्वोत्तर मीमांसा-साधारण शक्यत्व कहाँ रहता है यह 'तच्च' आदि ग्रन्थ से बताया है। गवादि (गो आदि) पदों की शक्ति, जाति में ही रहती है, इसे स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि व्यक्ति में शक्ति मानने पर गोव्यक्तियों के अनन्त होने से उनमें रहने वाली शक्तियाँ भी अनन्त माननी होंगी। परन्तु इस प्रकार अनन्त शक्तियों की कल्पना करने में बहुत गौरव है। इसके अतिरिक्त एक 'गो' पद से एक व्यक्ति में शक्तिग्रहण (शक्तिज्ञान) होने पर भी अन्य गोव्यक्ति का उस पद से ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहाँ की शक्ति भिन्न है, और उसका ज्ञान होने के लिये अन्य गोनिष्ठ शक्ति का ज्ञान आवश्यक है। इस रीति से असंख्य गौओं की शक्ति का ज्ञान सहस्र युगों में भी नहीं हो पायगा। इस प्रकार 'गो' आदि पदों की शक्तिग्रह का होना संभव ही नहीं

---

१. पदार्थज्ञानं पदनिष्ठस्वानुकूलशक्तिपूर्वकं पदजन्यपदार्थज्ञानरूपकार्यत्वात् घटरूप-पदार्थज्ञानवत्।

होगा। ऐसे अनेक दोष व्यक्तिशक्तिवाद में पैदा होते हैं। तस्मात् व्यक्ति में शक्ति को नहीं मान सकते।

नैयायिकों के 'जातिविशिष्ट व्यक्ति-शक्तिवाद' पक्ष में भी अनन्त व्यक्तियों का ज्ञान न होने के कारण अमुक शब्द की अमुक अर्थ में ही शक्ति है, ऐसा नियम नहीं किया जा सकेगा, आदि पूर्वोक्त दोष तदवस्थ ही हैं। इसलिये मीमांसकों का अभिमत जातिशक्तिवाद ही स्वीकार करना चाहिये। यह मानने पर गोत्व जाति के एक होने से एक व्यक्ति में गोत्व जाति का ज्ञान होने पर भी सर्वत्र गोत्व जाति के एक होने से अन्य व्यक्तियों में भी शक्तिग्रह होता है, और इस पक्ष में लाघव भी है।

शंका—प्रत्यक्ष परिच्छेद में 'जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतया०' इत्यादि कहकर जाति और उपाधि का खण्डन किया है। और यहाँ पदों की शक्ति 'सकलप्रमाणागोचर' ऐसी जाति में है—ऐसा कहते हैं, अतः यह कैसे संभव है? जाति पदार्थ ही यदि आपके मत में नहीं हैं तो आप उसमें शक्ति को भी कैसे मान सकेंगे।

समाधान—शंका ठीक है। परन्तु उसका उत्तर इस प्रकार है—हमने (ग्रन्थकार ने (पहिले जाति का खण्डन नहीं किया है किन्तु नैयायिकों की 'जाति अतिरिक्त पदार्थ है' इस परिभाषा का ही खण्डन किया है अर्थात् जाति स्वतन्त्र (पृथक्) पदार्थ नहीं, इतना ही बताया है, इसलिये वहाँ 'घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानम्' यह कहकर 'घटत्वादि' धर्म के सद्भाव का (अस्तित्व का) अङ्गीकार किया है। 'घटत्व घट की अपेक्षा अतिरिक्त एवं उसमें समवाय संबंध से रहनेवाला पदार्थ है' यह नैयायिकों का मत सर्वथा अयोग्य है। तस्मात् यहाँ 'जाति' शब्द को घटत्वादि आकृतियों का वाचक समझना चाहिये। अतएव भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में (अ० १-३-२७) 'आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः' इत्यादि कहकर जाति शब्द के स्थान पर 'आकृति' शब्द की ही योजना की है। अतः यहाँ पर भी जाति शब्द की योजना आकृति को उद्देश्य करके ही की गई है। यह समझना चाहिये। इसलिये किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। नैयायिक जिस अनुगत धर्म को जाति कहते हैं, वह जाति शब्द अनुगत धर्मरूप अर्थ में ही यहाँ प्रयुक्त किया है। 'गोत्वादि अनुगत धर्मरूप अर्थ में शब्दों की शक्ति है' इस सिद्धान्त पर ऐसी शंका उठती है कि—'व्यक्ति में या जाति-विशिष्ट व्यक्ति में पद की शक्ति को स्वीकार करने वाले हमारे मत में जैसे आपने दोष दिये वैसे ही आपके स्वीकृत किये हुए इस जातिशक्तिवाद में भी दोष हैं। क्योंकि 'गामानय' 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि व्यक्तिमात्रबोधक वाक्यों का अर्थ जातिशक्तिवादी आपके मत में 'गोत्व जाति को लाओ' और 'व्रीहित्व जाति का प्रोक्षण करो' होने लगेगा। परन्तु वैसा होना संभव नहीं। क्योंकि अमूर्त 'जाति' पदार्थ का आनयन किंवा प्रोक्षण असंभव है। इस कारण यहाँ पर जो केवल व्यक्ति का बोध होता है, उसकी अनुपपत्ति होगी

अर्थात् व्यक्तिबोध नहीं होगा। यह महादोष जातिशक्तिवाद में आता है, ऐसी स्थिति में आप व्यक्तिबोध की उपपत्ति कैसे लगातें हैं ?

व्यक्तिमान की इस उपपत्ति की मीमांसा के भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया है। कितने ही विद्वान् अर्थापत्तिप्रमाण से व्यक्ति का भान (ज्ञान) मानते हैं। हम 'गामानय' इस उत्तम वृद्धवाक्य को सुनकर मध्यमवृद्ध के द्वारा गोव्यक्ति को लाया जाता हुआ देखते हैं। उसे यदि व्यक्तिबोध न हुआ होता तो 'अनायन' क्रिया में व्यक्ति का अन्वय ही न हुआ होता। इसलिये 'अर्थापत्ति' प्रमाण से ऐसे वाक्यों में व्यक्तियों का भान होना स्वीकार करना चाहिये।

परन्तु यह मत योग्य नहीं है। क्योंकि 'गामानय' इस वाक्य में यद्यपि वैसा ज्ञान (व्यक्तिभान्) हो सकता है तथापि 'गौरस्ति' इस वाक्य में उक्त प्रकार से कैसी भी अन्वयानुपपत्ति संभव नहीं है। अतः यहाँ व्यक्तिबोध नहीं होगा, यह दोष इस पक्ष में आता है, इसलिये ग्रन्थकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने इस ग्रन्थ में उस पद का किंचिन्मात्र भी उल्लेख न कर अन्य तीन आचार्यों के ही मतों उल्लेख किया है। उनमें से ग्रन्थकार को तीसरा भाट्ट पक्ष (कुमारिल भट्ट का पक्ष) ही विशेषतः सम्मत है। तथापि प्रथमतः दो पक्षों बताकर अनन्तर तीसरा पक्ष सिद्धान्त के रूप में बतावेंगे। उक्त शंका का 'न च०' इत्यादि वाक्य में अनुवाद कर 'जातेः' आदि ग्रन्थ से प्रथम पक्ष के समान समाधान बताया है। नैयायिकों के समान वेदान्ती धर्म को धर्मी की अपेक्षा पृथक् नहीं मानते, किन्तु धर्म और धर्मी का तादात्म्य (ऐक्य) मानते हैं। इस कारण वस्तुतः यद्यपि जाति ही शक्य है तथापि जाति और व्यक्तिरूप धर्म-धर्मी का अभेद होने से एक ज्ञान से ही जाति और व्यक्ति का ज्ञान हो जाता है अर्थात् जति का ज्ञान होते ही उसमें ही व्यक्ति का ज्ञान होता है एवं व्यक्ति के ज्ञान में जाति भी भासती है, यह तात्पर्य है। इसलिये जातिशक्तिवाद में व्यक्तिभान की अनुपपत्ति नहीं हो पाती।

पद से व्यक्ति का ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि पद की शक्ति व्यक्ति में है ही नहीं। तब व्यक्ति का भान होता है' यह भी आप कैसे निश्चय करेंगे ? और शक्ति के न होने पर भी पद से पदार्थ का ज्ञान होता है, ऐसा मानने पर जिस किसी भी शब्द से जिस किसी अर्थ का ज्ञान होने लगेगा। ऐसी शंका के निरसनार्थ ग्रन्थकार पूर्वोक्त समाधान की अरुचि से, अग्रिम ग्रन्थ के द्वारा प्रभाकर मतानुसार व्यक्तिबोध की उपपत्ति को बताते हैं।

[1]यद्वा, गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती न तु ज्ञाता

---

१. शाब्दबोधे पदवृत्त्यविषयस्य भानं न भवति। अन्यथा अन्वयेऽपि शक्तिकल्पना न भवेत्। किन्तु अन्वयेऽपि भाट्टैः शक्तिरङ्गीकृता। तदुक्तं न्यायसिद्धान्तमञ्जर्याम् — 'भाट्टास्तु अन्वयविशिष्टे शक्तिग्रहात् अन्वयेऽपि शक्तिरेवेत्याहुरिति'। अतो व्यक्तावपि

हेतुः। जातौ तु[1] ज्ञाता। न[2] व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानमपि कारणं गौरवात्।[3] जातिशक्तिमत्त्व-ज्ञाने सति व्यक्तिशक्ति[4]मत्त्वज्ञानं विना व्यक्तिधी-विलम्बाभावाच्च।

अत एव न्यायमतेऽप्यन्वये शक्तिः स्वरूपसतीति सिद्धान्तः। ज्ञानमान-शक्ति-विषयत्वमेव वाच्यत्वमिति जातिरेव वाच्या।

अर्थ—अथवा 'गौः' इत्यादि पदों की व्यक्ति में स्वरूपतः विद्यमान शक्ति है (और वह व्यक्ति के ज्ञान होने में कारण है) व्यक्ति में विद्यमान वह शक्ति ज्ञात होकर व्यक्ति के बोधन में कारण नहीं होती। किन्तु जाति के बोधन में मात्र वह शक्ति ज्ञात होकर ही कारण होती है। 'व्यक्ति' अंश में व्यक्ति-शक्ति का ज्ञान भी कारण है, यह मानना आवश्यक नहीं है। क्योंकि व्यक्तिशक्तिज्ञान तथा जातिशक्तिज्ञान—दोनों को शाब्दबोध में कारण मानने में गौरव (दोष) होता है। और जाति के शक्तिमत्त्व (शक्ति) का ज्ञान होते पर व्यक्तिशक्ति का ज्ञान होने पर भी व्यक्ति के ज्ञान न होने में विलम्ब (देर) नहीं लगती। इसीलिये जहाँ शक्ति का ज्ञान न होते हुए भी वस्तु का ज्ञान होता है, वहाँ शक्तिज्ञान की कल्पना करना अनुचित है, अतएव न्यायमत में भी 'शक्ति अन्वय में स्व-रूपसती (स्वरूपतः विद्यमान) रहती हैं' (वह ज्ञान नहीं रहती) सिद्धान्त किया है।

(शंका—व्यक्ति में शक्ति को स्वरूपसती मानने पर व्यक्ति भी गवादि पदों की वाच्य होने लगेगी, अतः इसका समाधान करते हैं—) ज्ञायमान शक्ति में (शक्तिजन्यज्ञान में) जो पदार्थ विषय होता है, वही वाच्य होता है—इस प्रकार 'वाच्य' का लक्षण (परिभाषा) होने से (ज्ञानमान-शक्ति-विषय) जाति ही 'गवादि' पदों का वाच्य ठहरती है। (व्यक्ति वाच्य नहीं होती) अतः पूर्वोक्त दोष नहीं आने पाता।

विवरण—शक्ति के विषय में प्रभाकर के सिद्धान्त का आशय इस प्रकार है—कारण की सत्ता कार्य में आवश्यक रहती है, परन्तु कुछ कार्यों की उत्पत्ति में कारण का स्वरूपतः रहना आवश्यक होता है, परन्तु कितने ही कार्यों में कारण के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके केवल ज्ञान से भी कार्य निष्पन्न हो सकता है।

स्वरूपसती शक्तिरपेक्षितैवेति गुरुमतानुसारेणाह—यद्वेति। अर्थात् पदात् व्यक्तिज्ञानं दुर्लभं तत्प्रयोजकशक्तेरभावादित्यरुचिरिति सूच्यते।

१. 'सा'—इति पाठान्तरम्।

२. 'च'—इति पाठान्तरम्।

३. व्यक्तिभाने शक्तिः कारणं, न तु तज्ज्ञानमपि, उभयत्र शक्तिज्ञानस्य कारणत्व-कल्पने गौरवम्।

४. 'क्ति—ज्ञानं'—इति पाठान्तरम्।

उदाहरणार्थ—घटादि कार्यों की उत्पत्ति में आवश्यक दण्डादिकारणों की स्वरूपतः सत्ता आवश्यक होती है, दण्ड के ज्ञानमात्र से घट की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् दण्ड की स्वरूपसत्ता ही घट में कारण होती है। किन्तु धूम से अग्नि का अनुमान जब होता है उस समय अनुमिति में यद्यपि धूम कारण है तथापि उसकी स्वरूपतः सत्ता आवश्यक नहीं होती। धूलि को ही धूम समझकर उसके सहारे से भी 'पर्वत वह्निमान् है' यह अनुमिति होती है। अतः कहीं वस्तु की स्वरूपसत्ता कारण होती है और कहीं उसका ज्ञान अर्थात् ज्ञानसत्ता कार्य की जनक होती है। इसी प्रकार प्रकृत में भी व्यक्ति और जाति दोनों में शक्ति, मान लेनी चाहिये। व्यक्ति के बोध के लिये शक्ति की स्वरूप-सत्ता आवश्यक है और जाति के ज्ञान के लिये शक्ति की ज्ञात सत्ता को कारण मान-कर व्यक्तिबोध की उत्पत्ति लगानी चाहिये, अर्थात् 'गौः' इत्यादि पदों से गोव्यक्ति का ज्ञान होने के लिये इस व्यक्ति में शक्ति है' इस प्रकार के शक्तिज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, अपितु वह शक्ति व्यक्ति में स्वरूपतः होने पर भी व्यक्ति का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि गवादि पदों में व्यक्तिबोधक सामर्थ्य रहता ही है। परन्तु जाति का ज्ञान होने के लिये मात्र 'यह जाति शक्तिमती है' यह ज्ञान रहना आवश्यक होता है।

शंका—जिस प्रकार जातिज्ञान के लिये उसकी शक्ति का ज्ञान होना आवश्यक है उसी प्रकार व्यक्तिज्ञान के लिये भी व्यक्ति-शक्तिज्ञान कारण है, यह क्यों न कहा जाय? सभी जगह ज्ञात शक्ति को ही कारण मानने में लाघव भी है, क्योंकि एक ही प्रयोजक मानना पड़ता है।

ग्रन्थकार 'न व्यक्त्यंशे' वाक्य से उपर्युक्त शंका का अनुवाद कर समाधान करते हैं। व्यक्ति अंश में उसकी शक्ति का ज्ञान भी कारण होता है यह मानने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि ऐसा मानने पर जातिज्ञान के लिये जातिशक्तिज्ञान और व्यक्तिज्ञान के लिये व्यक्तिशक्तिज्ञान—इस प्रकार दो ज्ञान शाब्दबोध में कारण मानने होंगे। परन्तु एक पद के शाब्दबोधार्थ दो ज्ञानों का कारण मानने में 'गौरव' दोष होता है। अतः इसकी अपेक्षा जातिशक्तिज्ञान से जाति की उपस्थिति (ज्ञान) होते ही वहाँ स्वरूपतः विद्यमान शक्ति से ही व्यक्तिज्ञान हो जाता है, यह मानने में लाघव है, क्योंकि इस पक्ष में दो कारणों की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

शंका—व्यक्ति अंश में शक्ति ज्ञान को कारण मानने में यद्यपि गौरव है तथापि वह फलमुख है, क्योंकि पदगत शक्ति का ज्ञान हुए बिना उस शक्तिमान् पद के ज्ञान से भी पदार्थज्ञान कैसे सम्भव हो सकेगा? अतः इस प्रकार के फलमुख गौरव दोषावह नहीं हुआ करते। इसलिये व्यक्ति और जाति के शक्तियों का ज्ञान ही उनके बोध में कारण होता है कहना होगा।

इसके अतिरिक्त शक्तिज्ञान के बिना अर्थात् केवल पद का ज्ञान होने से ही पदार्थ की उपस्थिति मान ली जाय तो जिस व्यक्ति को म्लेच्छ भाषा का ज्ञान न हो उसे भी

उस भाषा के शब्द सुनकर स्वरूपतः विद्यमान शक्ति से ही पदार्थज्ञान होने लगेगा। अतः आवश्यक गौरव का भी स्वीकार कर ज्ञानद्वय से ही (दो शक्तियों के ज्ञान से ही) पदार्थज्ञान का होना स्वीकार करना चाहिये।

ग्रन्थकार ने 'जातिशक्ति०' आदि वाक्यों से इस शंका का समाधान किया है। तथाहि—इस गौरव को फलमुख नहीं कह सकते। क्योंकि पदश्रवण होने पर अर्थात् व्यक्तिशक्ति का ज्ञान न होने पर भी जातिशक्तिज्ञान से जातिज्ञान होते ही तत्काल तदभिन्न व्यक्ति का भी ज्ञान हो जाता है। उसके होने में विलम्ब नहीं लगता। इस अवाधित अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः दो ज्ञानों को कारण मानने की भी आवश्यकता नहीं होती। हम इस अवाधित अनुभव के वल से जातिशक्तिज्ञान ही व्यक्तिज्ञान के प्रति कारण मानते हैं। यह मानने से 'म्लेच्छ भाषा के शब्दों से अनभिज्ञ को बोध होने लगेगा' आदि आपत्ति भी उपस्थित नहीं होगी। क्योंकि म्लेच्छ-भाषा के शब्दों की वाच्य जातियों से सम्बन्धित शक्तियों का ज्ञान न होने से ही अन-भिज्ञ व्यक्ति को उससे अर्थबोध नहीं होने पाता। इसी प्रकार ज्ञानद्वयकल्पनारूप गौरव का भी स्वीकार नहीं करना पड़ता।

शंका—जातिज्ञान उसकी शक्ति के ज्ञान से होता है और व्यक्तिज्ञान 'स्वरूपतः विद्यमान' शक्ति से ही होता है—यह मानने में विनिगमक क्या है? इसके विपरीत, शक्तिज्ञान से ही व्यक्ति का बोध होता है; किन्तु जाति का स्वरूपतः विद्यमान शक्ति से ज्ञान होता है, क्यों न माना जाय? अर्थात् व्यक्तिज्ञान में ज्ञात शक्ति की अपेक्षा होती है और जातिज्ञान में स्वरूपसती शक्ति की आवश्यकता होती है। व्यक्तिशक्ति-ज्ञान से ही शीघ्रतया जातिज्ञान होता है अर्थात् व्यक्ति शक्ति ज्ञान, जातिज्ञान में प्रयोजक है, यह मानने में क्या अड़चन है? अर्थात् आपके पक्ष में विनिगमनाविरह दोष आता है।

समाधान—हमारे मत में उपर्युक्त दोष नहीं आने पाता। क्योंकि व्यक्तिशक्ति-ज्ञान के होने पर अविलम्बेन जाति का ज्ञान होता है—ऐसा नियमेन अनुभव नहीं है। 'अयं गोपदवाच्यः' यह व्यक्ति 'गो' पद का वाच्य है—इस वाक्य से व्यक्तिशक्तिज्ञान (सामने स्थित गोव्यक्ति 'गो' पद का वाच्य है, इस प्रकार शक्ति का ज्ञान) होता है, परन्तु वहाँ ज्ञान की उपस्थिति नहीं होती। इस रीति से व्यक्तिशक्तिज्ञान, जाति-ज्ञान में व्यभिचारी साधन है, और वह व्यभिचार ही व्यक्तिज्ञान को कारण न मानने में तथा जातिशक्तिज्ञान को ही कारण मानने में विनिगमक है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिशक्तिज्ञान में कारणता यदि स्वीकार की जाय तो संसारभर के यच्च यावद् व्यक्तियों का ज्ञान होना अशक्य होने से शक्तिग्रह का सम्भव ही न होगा, और अनन्त शक्तियों के मानने में महान् गौरव है। ये सब दोष व्यक्तिशक्तिवाद पक्ष में आते हैं, इसलिये व्यक्तिशक्तिज्ञान में कारणता नहीं मानी जा सकती। हमारे उपर्युक्त कथन में नैयायिकों की भी सम्मति है। क्योंकि नैयायिक भी कुछ स्थलों में स्वरूपसती शक्ति

और स्थलों में ज्ञानशक्ति को कारण मानते हैं। इस प्रकार प्रभाकर-मत का नैयायिकों से स्वीकार किया गया-सा ही है। इसी आशय से ग्रन्थकार 'अत एव' आदि ग्रन्थ कह रहे हैं। पद और अन्वय दोनों के शक्ति के होने पर भी पदजन्य ज्ञान के लिये शक्ति की ज्ञातसत्ता ही कारण होती है, परन्तु अन्वयबोधार्थमात्र उसकी स्वरूपसत्ता के रहने से भी अन्वयबोध हो सकता है। इस रीति से एक बार स्वरूपसत्त्व को स्वीकार कर लिया तो उसी न्याय से जातिबोध में ज्ञायमानत्वेन शक्ति को और व्यक्तिज्ञान में स्वरूपेणैव शक्ति को कारण क्यों न माना जाय। इसलिये अन्वय में स्वरूपसत्तारूप शक्ति का नैयायिकों से किया हुआ स्वीकार हमारे पक्ष का पोषक ही है।

शंका—किसी रीति से क्यों न हो, आप व्यक्ति में शक्ति को तो मानते ही हैं। अतः शक्तियुक्तत्वरूप शक्यत्व व्यक्ति में भी है। तब 'तच्च जातेरेव न व्यक्तेः' कहकर व्यक्ति का आप निरास क्यों करते हैं? अर्थात् यह पूर्वोत्तर विरोध होगा। इस शंका का 'ज्ञायमान०' आदि वाक्य से निरसन किया गया है। व्यक्ति में शक्ति के मानने पर भी 'व्यक्ति' शक्य होगी, व्यक्ति में शक्यत्व होगा—ऐसा हम नहीं मानते। क्योंकि 'जिस पदार्थ में शक्यत्व (शक्तियुक्तत्व) होता है वह पदार्थ शक्य होता है।' यह नियम हमारा नहीं है। अर्थात् हमारी 'शक्तियुक्तत्वं शक्यत्वम्' शक्य पदार्थ की परिभाषा नहीं है। किन्तु हमारी परिभाषा तो 'ज्ञायमानशक्तिविषयत्वम्'—ज्ञानविषयीभूत (ज्ञान का विषय होने वाली) शक्ति में जो पदार्थ विषय रहता है वह 'शक्य' है—प्रसिद्ध है। इसी आशय से—'तादृशशक्तिविषयत्वम्' यह शक्य की परिभाषा हमने की है। प्रकृत में व्यक्ति में शक्ति तो है परन्तु वह ज्ञायमान नहीं है (उसका वहाँ ज्ञान नहीं रहता) इसलिये व्यक्ति में शक्यत्व नहीं आ पाता। किन्तु शक्यत्व जातिनिष्ठ ही है। इस प्रकार शक्यत्वलक्षण में 'ज्ञायमान' पद का निवेश करने से सिद्धान्त में पूर्वोत्तर-विरोध रूप दोष नहीं रहता।

यहाँ तक बताये गये प्रभाकर-मत में अरुचि इस प्रकार पैदा होती है—यदि व्यक्ति को आप शक्य नहीं मानते तो उसमें शक्ति की कल्पना भी किसलिये करते हैं? क्योंकि एक पद में 'स्वरूपसती' और 'ज्ञायमाना' शक्तियों को मानना भी कल्पना-गौरव ही है। 'जाति और व्यक्ति के शक्तियों का ज्ञान कारण है' इस पक्ष में जिस गौरव-दोष को आप देते हैं, वही दोष आप के पक्ष में भी आता है। इस पर आप (प्रभाकर) यदि कहें कि "इस गौरव को हम स्वीकृत करते हैं, क्योंकि व्यक्ति में शक्ति के न मानने पर तो एक ही पद से जाति और व्यक्ति दोनों की प्रतीति का सम्भव नहीं होगी। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से पद की शक्ति व्यक्ति में भी हम मानते हैं, परन्तु उसके लिये ज्ञान-द्वयकल्पना करना व्यर्थ तथा गौरवपूर्ण है इसलिये हम ज्ञानद्वय का स्वीकार नहीं करते।"

परन्तु यह कथन भी आपका ठीक नहीं बैठता। क्योंकि यदि आप यहाँ पर व्यक्ति-बोध के लिये शक्ति का स्वीकार करें तो 'गंगायां घोषः' यहाँ 'गंगा' पद से 'गंगातीर'

की प्रतीति होने से 'गंगा शब्द की तीर अर्थ में भी शक्ति है, यह आपको स्वीकार करना होगा। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' आदि वाक्यों में 'काक' पद की मार्जार आदि में भी शक्ति को मानना होगा। इसके अतिरिक्त व्यक्ति में शक्यत्व न आ पाये एतदर्थ शक्यत्वलक्षण में 'ज्ञायमान' पद का निवेशरूप गौरव भी आप को स्वीकार करना पड़ता है। अतः स्वरूपसती शक्ति का मानने वाला आपका पक्ष गौरवपूर्ण होने से अनुपपन्न है। प्रभाकर-मत में इस प्रकार अरुचि मानकर ग्रन्थकार स्वाभीष्ट समाधान बताते हैं।

[1]अथवा व्यक्तेर्लक्षणयाऽवगमः। यथा नीलो घट इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुण-विशिष्टे लक्षणा, तथा जातिवाचकस्य[2] तद्विशिष्टे लक्षणा। [3]तदुक्तम्—'अनन्यलभ्यो[4] हि शब्दार्थः' इति। एवं शक्यो[5] निरूपितः।

अर्थ—अथवा व्यक्ति का बोध लक्षणा से मान लीजिये। जिस प्रकार 'नील घट' इस वाक्य में नीलगुणवाचक नील शब्द की गुणी में (नील युक्त अर्थ में) लक्षणा स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार जातिवाचक पदों की भी जातिविशिष्ट व्यक्तियों में लक्षणा कर लेनी चाहिये। अतएव मीमांसकों ने 'जो अर्थ अनन्यलभ्य (अन्य प्रकार से ज्ञात नहीं होता) हो वही शब्दार्थ होता है' यह बताया है। इस रीति से शक्य पदार्थ का निरूपण किया गया।

विवरण—आप (प्रभाकर) प्रथमतः व्यक्ति में स्वरूपसती शक्ति मानते हैं, जिससे व्यक्ति में भी शक्यत्व आता है। उसे हटाने के लिये शक्यत्व के लक्षण में 'ज्ञायमान' पद का निवेश किया जाता है, परन्तु इतना करने पर भी शक्तिद्वयकल्पनारूप गौरव नहीं टलता। अतः गुरुकल्प के स्वीकार करने की अपेक्षा भाट्ट मत के अनुसार ही व्यक्ति-बोध की व्यवस्था लगाना उचित है। वह व्यवस्था इस प्रकार है—वास्तव में 'नील' शब्द गुण (नीलरूप) का वाचक है। परन्तु नीलपदवाच्य नीलगुण को घट द्रव्य तो

---

१. व्यक्तेरशक्यत्वे तत्र शक्तिकल्पनमपि वृथा, तज्ज्ञानस्य लक्षणयैव संभवात् अन्वयस्य च वाक्यगम्यत्वेन पदशक्त्यविषयत्वादित्यरुचिरिति पक्षान्तरमाह—अथवेति। गवादिपदस्य जातौ शक्तिः, तद्विशिष्टव्यक्तौ लक्षणा।

२. कशब्दस्य०—इति पाठान्तरम्।

३. तदुक्तम्—मीमांसकैरिति शेषः। अनन्यलभ्यः इत्यनेन लक्षणादिना लभ्यो यो न भवति स शब्दार्थः शब्दशक्तिगम्य इति बोध्यते।

४. 'भ्याश०'—इति पाठान्तरम्।

५. क्यार्थो', इति पाठान्तरम्।

कह नहीं सकते। इस कारण जब 'नीलो घटः' हम कहते हैं तब इस शब्द के वाच्यार्थ का ग्रहण न हो सकने से नील शब्द की नीलगुणयुक्त अर्थ में लक्षणा कर 'नीलो घटः' का 'नीलगुणयुक्तः' (नीलगुणविशिष्टो घटः) अर्थ (शास्त्रकारों द्वारा) किया जाता है। अर्थात् यहाँ पर यद्यपि एक ही 'नील' पद से नील गुण और तद्विशिष्ट घट दोनों अर्थ प्रतीत होते हैं। तथापि एक ही पद से दो अर्थों की प्रतीति होने के लिये 'नील' पद की नील गुण और तद्विशिष्ट दोनों अर्थों में शक्ति कोई नहीं मानता। किन्तु लक्षणावृत्ति से ही नीलगुणविशिष्ट अर्थ का बोध होने से कारण नील शब्द की नीलगुणरूप अर्थ में ही शक्ति है और 'नीलगुणविशिष्ट' रूप अर्थ लक्ष्य (लक्षणा से ज्ञेय) है। उसी प्रकार घटत्वजातिवाचक 'घट' पद की 'घटत्वजातिविशिष्ट-घट व्यक्ति' रूप अर्थ में लक्षणा समझ लेनी चाहिये। इसी प्रकार गुणवाचक की गुणविशिष्ट में और जातिवाचक की जाति-विशिष्ट अर्थ में लक्षणा स्वीकार कर प्रकृत में भी 'गो' आदि एक ही पद से जाति का शक्ति से बोध होता है और गोव्यक्ति का लक्षणा से बोध होता है—इस रीति से व्यक्तिबोध की उपपत्ति लग जाती है। स्वरूपसत् और ज्ञायमान दो शक्तियों की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती। तथा इस पक्ष में शक्यत्वलक्षण में 'ज्ञायमान' विशेषण का निवेश कर 'ज्ञायमानशक्तिविषयत्वम्' इस गुरुभूत लक्षण के स्वीकार करने का भी प्रसंग नहीं आता। इसी प्रकार (इस पक्ष में) 'गंगायां घोषः' में 'गंगा' पद की 'तीर' अर्थ में शक्ति मानने का भी प्रसंग नहीं आता। क्योंकि 'तीर' अर्थ की प्रतीति लक्षण से ही हो जाती है। इसलिये इस पक्ष का स्वीकार करके ही व्यक्तिबोध की उपपत्ति लगानी चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रभाकर ने अपने मत के पोषक रूप में तार्किकों ने भी 'अन्वय में स्वरूपसती शक्ति को माना है' कहा है किन्तु वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि तार्किकों का स्वरूपसत्तारूप शक्तिवाद भी गुरुभूत ही है। और अन्वय वाक्यगम्य है, पदगम्य नहीं, इस कारण पद में अन्वयबोध करा देने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिये पदों की केवल जाति में ही शक्ति है। और व्यक्ति, अन्वय तथा गंगादि पदों से तीरादिबोध यह सब लक्षणागम्य मानने में अत्यन्त लाघव है। अतः 'शक्तिविषयत्व' ही शक्यत्व का लक्षण ठीक बैठता है। ग्रन्थकार ने अपने इस कथन में 'तदुक्तम्' इत्यादि ग्रंथ से मीमांसकों की सम्मति प्रदर्शित की है। उस वाक्य का तात्पर्य इस प्रकार है—अभिधा वृत्ति से अन्य लक्षणादि वृत्ति से जिस अर्थ का ज्ञान हो सकता हो, उसमें पद की शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं। अन्यथा दूसरी लक्षणावृत्ति को कहीं अवकाश ही नहीं मिलेगा। क्योंकि सभी जगह शक्ति से ही पदार्थोपस्थिति हो सकेगी। यदि शब्द की अभिधारूप एक ही वृत्ति मान लें तो 'तुम शत्रु के घर भोजनार्थ मत जाओ' इस उद्देश्य से 'विषं भुङ्क्ष्व'—विष खाओ, इस प्रकार किसी हितचिन्तक व्यक्ति के कहने पर उन पदों की 'शत्रुगृह में भोजननिवृत्ति' रूप अर्थ में भी है, मानना होगा। इस अतिप्रसंग का निवारण करने के लिये यदि लक्षणा नामक वृत्ति को अभिधा वृत्ति से पृथक् मानना

आवश्यक हो तो जहाँ (जिस अर्थ में) लक्षणा की प्रवृत्ति का संभव है वहाँ (उस अर्थ में) उस शब्द की शक्ति मानना अनुचित है। इसलिये जो अर्थ लक्षणादिलभ्य न हो उसी अर्थ में शब्द की शक्ति माननी चाहिये। इसी न्याय से शब्द की एक अर्थ में शक्ति मानकर उसी शब्द से प्रतीयमान अन्य समस्त अर्थों को लक्ष्य समझना चाहिये। क्योंकि 'अन्यायश्चानेकार्यत्वम्' एक ही शब्द के अनेक अर्थ हैं—यह मानना अन्याय है।

प्रकृत में भी शब्द की जातिरूप अर्थ में शक्ति मानने पर व्यक्तिबोध लक्षणा से होता है, यही कहना उचित होगा।

शंका—यदि ऐसी बात है तो विपरीत ही 'अर्थात् व्यक्ति में शब्द की शक्ति और जाति का भान लक्षण से होता है' क्यों न माना जाय ?

समाधान—शब्द की शक्ति समस्त व्यक्तियों में है या किसी एक व्यक्ति में है ? समस्त व्यक्तियों में यदि आप उसे कहें तो 'गामानय' कहने पर समस्त गौओं को ले आने का प्रसंग प्राप्त होगा। इस आपत्ति से बचने के लिये 'एक व्यक्ति में शक्ति है' कहो तो 'अन्य गोव्यक्ति में शक्ति नहीं है' कहना होगा। यदि अन्य व्यक्ति में भी शक्ति है कहो, तो अश्वादि अर्थों में भी उस शब्द की शक्ति प्राप्त होगी। इसलिये व्यक्तिशक्तिवाद सर्वथा अनुपपन्न है। अतः जाति में ही पद की शक्ति और व्यक्ति आदि का बोध लक्षणाजन्य है, यही मत युक्तियुक्त है। इस प्रकार 'शक्तिविषयत्वं शक्यत्वम्' और 'तच्च जातेरेव न व्यक्तेः' यह हमारा मत सर्वथा उपपन्न है।

इस रीति से शक्य और लक्ष्य इन दो पदार्थों में से शक्य पदार्थ का निरूपण किया गया। अब लक्ष्य पदार्थ के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—

अथ लक्ष्य-पदार्थो निरूप्यते। तत्र लक्षणा-विषयो लक्ष्यः। [1]लक्षणा च द्विविधा, केवललक्षणा लक्षित-लक्षणा चेति। तत्र शक्य-साक्षात्सम्बन्धः केवल-लक्षणा, यथा 'गङ्गायां घोष' इति अत्र प्रवाह-साक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणा।

अर्थ—अब लक्ष्य पदार्थ का निरूपण किया जाता है तत्रेति—शक्य और लक्ष्य में से लक्ष्य वह होता है जो (पदार्थ) लक्षणा में (लक्षणाजन्य ज्ञान में) विषय हो। केवल लक्षणा और लक्षितलक्षणा भेद से लक्षणा दो प्रकार की है। उनमें शक्य का साक्षात्सम्बन्ध जहाँ हो वह केवललक्षणा है। जैसे—'गंगापर घोष' इस वाक्य में गंगा

---

१. मीमांसकानां मते वाक्येऽपि लक्षणा विद्यते। अतः न हि शक्यसम्बन्ध एव लक्षणा, किन्तु बोध्यसम्बन्ध एव। बोधकत्वञ्च वाक्यस्यापि विद्यते। यदि वाक्ये न लक्षणा, तर्हि "वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवते"त्यादिवाक्यानां बहूनामानर्थक्यापत्तिः। यदि पदमात्रे लक्षणा, तर्हि „वायुर्वै" इत्यादौ एकेनैव पदेन कर्मप्राशस्त्यलक्षणोपपत्तेः सर्वेषां पदानां वैयर्थ्यापत्तिः।

पद की गंगा पदवाच्य गंगाप्रवाहरूप पदार्थ के साथ साक्षात् संयोग से सम्बद्ध रहने वाले तीर रूप अर्थ में केवल लक्षणा है।

विवरण—शक्य पदार्थ का निरूपण करने के अनन्तर लक्ष्य पदार्थ ही आकांक्षा का विषय होता है। अतः लक्ष्य पदार्थ का निरूपण करना उचित है। जिस प्रकार 'शक्ति-विषयत्व' यह शक्य का लक्षण बताया उसी प्रकार 'लक्षणा में जो पदार्थ विषय होता है वह लक्ष्य' यह लक्ष्य पदार्थ का सामान्य लक्षण है। परन्तु लक्षणा क्या वस्तु है? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये यहाँ पर लक्षणा का लक्षण कहना उचित था। किन्तु शास्त्रान्तरों में प्रसिद्ध लक्षणा के लक्षण 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' को गृहीत कर यहाँ 'लक्षणा च' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा लक्षणा के प्रकारों का वर्णन किया है।

प्रसंगतः लक्षणा के स्वरूप को बताना अनुचित न होगा। शक्ति और लक्षणा ये दोनों शब्द की सम्बन्धरूप वृत्तियाँ हैं। इनमें जो पदार्थ प्रथमतः उपस्थित (ज्ञात) होता है, उसके साथ पद का मुख्य सम्बन्ध रहता है और वही शक्ति है। ऊपर मुख्य सम्बन्ध कहने से अमुख्य सम्बन्ध भी प्रतीत होता है। अमुख्य सम्बन्ध वह है—पद का श्रवण होते ही मुख्यत्वेन प्रथमतः जिसका ज्ञान नहीं होता, वरन् उसके लक्ष्य अर्थ का शक्यार्थ के साथ संबंधज्ञान होने के अनन्तर ज्ञान हो। यही लक्षणावृत्ति है। इसी कारण 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' यह लक्षण लक्षणा का किया गया है। पद के वास्तविक अर्थ का मुख्य वृत्ति से ही सर्वत्र बोध मानना उचित है, परन्तु जहाँ इस मुख्य वृत्ति का संभव ही नहीं रहता वहाँ इस अमुख्य वृत्ति का स्वीकार करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में अग्रिम अभियुक्त-वचन ध्यान में रखने योग्य है।

'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते॥'

जहाँ पर मुख्य अर्थ का अन्य प्रमाणों के साथ विरोध रहने से उसका (मुख्यार्थ का) ग्रहण नहीं किया जाता वहाँ पर मुख्य (वाच्य) अर्थ के साथ अविनाभूत (नित्यसंबंध) अर्थ की कल्पना करना ही लक्षणा है। जैसे 'गंगायां घोषः' यहाँ पर गंगा पद का मुख्य (शब्द-श्रवण होते ही प्रथमतः मन में उपस्थित होने वाला) अर्थ 'प्रवाह' (भगीरथ-रथ-रथांग खाता-वच्छिन्न-जलप्रवाह) है। परन्तु उस प्रवाह पर घोष (ग्वाले का घर) का वृत्तित्व (रहना) सम्भव नहीं। अतः गंगापद का मुख्यार्थ प्रवाह का प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ विरोध होता है। इसलिये मुख्यार्थ को छोड़कर उसके साथ (प्रवाहरूप मुख्यार्थ के साथ) संयोग सम्बन्ध से नित्यसंबद्ध तीररूप अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। इसे लक्षणा कहते हैं। यहाँ प्रथमतः तीर का ज्ञान नहीं होता किन्तु प्रवाहरूप मुख्य (शक्य) अर्थ का ज्ञान होने के अनन्तर होता है। इस कारण गंगापद का उस लक्ष्य अर्थ के साथ मुख्य सम्बन्ध न होकर अमुख्य सम्बन्ध है। प्रवाहरूप अर्थ का विद्यमान संयोग सम्बन्ध भी प्रकृत में लक्षणा है। यद्यपि यह संयोग सम्बन्ध गंगा और तीर का सम्बन्ध है और

इसी कारण वह पदवृत्ति नहीं है किन्तु प्रवाहवृत्ति है, तथापि स्वप्रतियोगिवाचकत्व रूप परम्परा सम्वन्ध से तीर पद के साथ भी गंगापद का सम्वन्ध है, इसी कारण यह अमुख्य सम्वन्ध है। इस रीति से लक्षणाजन्य तीरादि पदार्थों के ज्ञान में विषय होने वाला तीरादि पदार्थ लक्ष्य है।

यह शक्य सम्बन्ध (मुख्य संबन्ध) कहीं पर साक्षात् संयोगादि संबन्धरूप रहता है और कहीं पर परम्परा से रहता है, इस कारण लक्षणा के भी दो प्रकार हो जाते है। सम्बन्ध के अनुरोध से 'केवललक्षणा' और 'लक्षितलक्षणा' ये उनके नाम हैं। शक्य (वाच्य, मुख्य) अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध यदि हो तो उसे केवललक्षणा कहते हैं। जैसे—प्रवाहरूप वाच्यार्थ का तीररूप लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् संयोग सम्बन्ध है, इसलिये 'गंगायां घोषः' में केवललक्षणा है।

अब शक्यपरम्परासम्बन्धरूप द्वितीय लक्षणा के प्रकार को बताते हैं—

यत्र शक्यपरम्परा-सम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षित-लक्षणा। यथा द्विरेफ-पदस्य रेफद्वये[1] शक्तस्य भ्रमरपद-घटित-परम्परा-संबंधेन मधुकरे वृत्तिः।

अर्थ—जहाँ पर शक्यार्थ के परम्परासम्बन्ध के द्वारा अर्थान्तिर (वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ) की प्रतीति होती हो वहाँ लक्षितलक्षणा समझनी चाहिए। जैसे 'द्विरेफ' (अर्थात् दो रेफ (रकार) रूप अर्थ में शक्त पद की भ्रमरपद से घटित परम्परासम्वन्ध से मधुकररूप अर्थ में वृत्ति है। (शक्यार्थ रूप दो रेफों के परंपरासम्बन्ध के द्वारा द्विरेफ पद से मधुकररूप अर्थ की प्रतीति होने से यह लक्षितलक्षणा।)

विवरण—द्विरेफ शव्द के सुनते ही मधुकर (भौंरा) अर्थ की प्रतीति होती है। किन्तु मधुकर, द्विरेफ शब्द का वाक्यार्थ नहीं है। क्योंकि 'द्वि' का अर्थ दो और 'रेफ' का अर्थ रकार, यही 'द्विरेफ' शब्द का वाच्यार्थ है। इसलिये द्विरेफपद की 'जिस शब्द में दो रेफ हों वह शब्द' इस अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। किन्तु इस रीति से तो 'शर्करा' आदि दो रेफों से युक्त पदों की की उपस्थिति होती है, उसके निवारणार्थ 'भ्रमर' रूप अर्थ में ही वह निरूढ लक्षणा है—कहना चाहिये। उस भ्रमरपद का भ्रमररूप अर्थ शक्ति सम्वन्ध है, इस कारण मधुकर अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् 'द्विरेफ' पद का दो रेफरूप अर्थ में शक्तिरूप सम्वन्ध, और उन दो रेफों का लक्षणा के द्वारा भ्रमरपद से सम्बन्ध, और उस भ्रमरपद का मधुकररूप अर्थ के शक्ति सम्बन्ध, इस प्रकार परम्परा सम्ब्रन्ध के द्वारा 'द्विरेफ' पद से मधुकर अर्थ की प्रतीति होती है।

'द्विरेफ' पद से भ्रमररूप अर्थ का बोधन शक्तिवृत्ति से न होकर, लक्षणा से होता

---

१. 'यश०'—इति पाठान्तरम्।

है, इसहें सन्देह नहीं, किन्तु 'गंगायां घोषः' यहाँ पर जैसे प्रवाहरूप शक्यार्थ का तीररूप लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् संयोग संबन्ध है, वैसे द्विरेफ पद का जो 'दो रेफरूप' वाच्यार्थ उसका भ्रमर या मधुकररूप अर्थ से साक्षात् कोई भी सम्बन्ध नहीं है, किन्तु द्विरेफ पद से लक्षित भ्रमर पद के द्वारा 'दो रेफों का भ्रमर' अर्थ से संबन्ध होता है, इस कारण यह शक्य-परम्परासम्बन्धरूप लक्षितलक्षणा है। यहाँ पर शक्ययुक्त-भ्रमरपद-प्रतिपाद्यत्व (वाच्यरूप रेफद्वयों से युक्त भ्रमरपद से प्रतिपाद्य = वाच्य) ही 'द्विरेफ' पद का मधुकररूप अर्थ के साथ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में भ्रमर पद घटक (अवयव) है। इसलिये यह सम्बन्ध भ्रमरपद से घटित कहा जाता है। यहाँ पर दो लक्षणाएँ करनी होती हैं। उनमें 'द्विरेफ' पद की रेफद्वययुक्त भ्रमरपद में जो लक्षणा की जाती है उसे केवल लक्षणा कहते हैं। कारण यह है कि शक्य (वाच्य) रेफद्वय का रेफद्वययुक्त भ्रमरपद के साथ अवयवावयविभावरूप साक्षात् सम्बन्ध है और मधुकररूप अर्थ का उसके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है किन्तु भ्रमरपद के साथ वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है। अर्थात् यहाँ शक्य के साथ सम्बन्ध न होकर लक्षित के साथ लक्ष्य का सम्बन्ध है। इस कारण शक्य के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध करना यदि अपेक्षित हो तो वह लक्षित के द्वारा ही होगा। इसलिये वहाँ संभवनीय परंपरासम्बन्ध अर्थात् स्वलक्ष्यपदवाच्यत्व (स्व = रेफद्वय) लक्ष्य भ्रमरपद का वाच्यत्व मधुकर अर्थ में है। यहाँ पर वाच्यार्थ का सम्बन्ध न होकर वाक्यार्थ से लक्षित 'भ्रमरपद' का 'मधुकररूप' लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने के कारण इस लक्षणा को 'लक्षितलक्षणा' यह अन्वर्थ संज्ञा दी गई है।

कुछ लोग शब्द की शक्ति, लक्षणा और गौणी रूप तीन वृत्तियों को मानकर शक्य लक्ष्य और गौण रूप से पदार्थ को भी त्रिविध बताते हैं। परन्तु उसका निराकरण 'पदार्थश्च द्विविधः' कहकर कर दिया गया है। उसी का विवरण करने के लिये गौणी वृत्ति का लक्षितलक्षणा वृत्ति में ही अन्तर्भाव होने से उस वृत्ति से युक्त गौण पदार्थ को पृथक्रूप से स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इसी बात को बताते हैं—

गौण्यपि लक्षित-लक्षणैव। यथा सिंहो माणवक इति अत्र सिंह-शब्द-वाच्य-सम्बन्धि-क्रौर्य्यादि-सम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः[1]।

अर्थ—गौणी भी लक्षितलक्षणा ही है। जैसे—'यह वटु सिंह है' इस वाक्य में 'सिंह' शब्द का वाच्यार्थ जो सिंह पशु उसके साथ सम्बद्ध रहने वाले क्रूरत्वादि धर्मरूप सम्बन्ध से माणवक (वटु) की प्रतीति होती है।

विवरण—'सिंहो माणवकः' यह बटु (कुमार) सिंह है, यहाँ पर 'सिंह' शब्द का 'सिंह पशु' वाच्यार्थ है। परन्तु उसके साथ 'वटु' का किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं है,

---

१. 'तिः'—इति पाठान्तरम्।

इस कारण यहाँ शक्यससम्बन्धरूप लक्षणा का संभव नहीं है। अतः शब्द की गौणी नामक पृथक् वृत्ति माननी चाहिये। इस प्रकार गौणी-वृत्तिवादी कह सकता है।

परन्तु यहाँ शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध संभव न होने पर भी 'द्विरेफ' पद के समान परम्परासम्बन्ध का संभव हो सकता है। इस कारण 'लक्षित-लक्षणा' नामक लक्षणा के द्वितीय प्रकार में गौणीवृत्ति का अन्तर्भाव होता है, इसलिये गौणी वृत्ति को पृथक् रूप से मानने की आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि 'गंगायां घोषः' और 'द्विरेफः' इन शब्दों से प्रतीयमान तीर और मधुकररूप अर्थों की उपपत्ति लगाने के लिये शक्य-साक्षात्सम्बन्ध और शक्य-परम्परासम्बन्धरूप द्विविध सम्बन्ध के कारण केवललक्षणा और लक्षितलक्षणा नामक लक्षणा के दो भेदों का स्वीकार अवश्य करना चाहिये। उनका स्वीकार कर लेने पर 'सिंहो माणवकः' इत्यादि स्थलों में भासमान परम्परासम्बन्ध से उस वाक्यार्थ की उपपत्ति लग जाने के कारण गौणी को पृथक्वृत्ति मानना व्यर्थ है।

प्रश्न—प्रकृत में शक्यार्थ का परम्परासम्बन्ध कौन-सा है?

उत्तर—प्रकृत में 'सिंह पशु' इस वाच्यार्थ का माणवक के साथ अभेद का सम्भव न होने से तात्पर्यानुपपत्ति के कारण लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है, और वह लक्षणा 'यह बटु सिंह के समान क्रूरत्वादि गुणों से युक्त है' इस अर्थ में ही माननी चाहिये, अर्थात् प्रकृत में सिंह पशु—'सिंह' शब्द का वाच्यार्थ है और क्रौर्यादिगुण-विशिष्ट-बटु—यह उस शब्द का लक्ष्यार्थ है। वाच्य अर्थ का माणवक से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी सिंहरूप वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थात् उसमें तादात्म्य सम्बन्ध से विद्यमान शौर्यादि गुणों के द्वारा सिंह पशु माणवक से सम्बद्ध है जैसे सिंह क्रौर्यादि गुणों से युक्त है वैसे ही माणवक भी है। इसलिए प्रकृति में सिंह शब्द 'स्ववाच्यवृत्ति-क्रौर्यादिसामाना-धिकरण्य' सम्बन्ध से लक्ष्यभूत माणवक के साथ सम्बद्ध है। स्व (सिंह शब्द) के वाच्य सिंह पशु में विद्यमान क्रौर्यादि गुणों का अधिकरण जैसे सिंह है वैसे माणवक भी है। इस कारण दोनों में क्रूरत्वादिगुणयुक्त होना ही यहाँ पर शक्य सम्बन्ध है। यहाँ भी पूर्ववत् सिंह पद की 'स्ववाच्यवृत्तित्व' इस साक्षात् सम्बन्धरूप केवललक्षणा से लक्षित क्रौर्यादि गुणों का माणवक के साथ सामानाधिकरण्य सम्बन्ध होने से यह लक्षितलक्षणा है। इस रीति से लक्षितलक्षणा में ही गौणी वृत्ति का अन्तर्भाव होने से उस वृत्ति से विशिष्ट गौण पदार्थ भी पृथक् नहीं है। अतः 'पदार्थ द्विविध है' यह मत सर्वथा योग्य है।

इस रीति से सम्बन्ध के कारण होने वाली लक्षणा के द्विविधत्व को बताया। अब सर्वप्रसिद्ध जहल्लक्षणादि भेद से लक्षणा के तीन प्रकारों को बताते हैं।

प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा,

जहदजहल्लक्षणा चेति । तत्र[1] शक्यमनन्तर्भाव्यं यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र[2] जहल्लक्षणा, यथा[3] विषं भुङ्क्ष्वेति । अत्र[4] स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते[5] ।

अर्थ-- अन्य प्रकार से यह लक्षणा—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहद-जहल्लक्षणा—त्रिविध है। उनमें से जिस लक्षणा में वाच्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में न होकर अन्यार्थ (शक्यभिन्न अर्थ) की प्रतीति होती है (शक्यार्थ भासित न होकर केवल लक्ष्यार्थ भासित होता है) उसे जहल्लक्षणा कहते हैं। जैसे—'विष खा' इस वाक्यगत पदों से विषभक्षण रूप वाच्यार्थ का ज्ञान न होकर 'शत्रु के घर मत जाओ' इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः यह जहल्लक्षणा है।

विवरण—१—लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का यत्किंचित् भी अन्तर्भाव न होना अर्थात् वाच्यार्थ का सर्वथैव त्याग कर केवल लक्ष्यार्थ का स्वीकार करना, २—लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ की भी प्रतीति होना अर्थात् वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग न कर उसका भी लक्ष्यार्थ में स्वीकार करना, ३—शक्यार्थ का कुछ विरुद्ध भाग त्याग कर केवल उसके अविरुद्ध भाग (अंश) का स्वीकार करना, इन तीन कारणों से लक्षण के जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा नामक तीन भेद होते हैं। लक्षणा के ये तीनों नाम अन्वर्थक हैं। 'ओहाक्—' त्यागे = त्याग करना, धातु से सर्वथा त्याग, अंशतः त्याग और विरुद्धांश का त्याग (अविरुद्ध का त्याग न करना) आदि अर्थों को लेकर लक्षणा के उपर्युक्त नाम रूढ़ हुए हैं। 'तत्र शक्य' इत्यादि ग्रन्थ से जहल्लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण बताया गया है। शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव न होकर केवल लक्ष्यार्थ की ही प्रतीति जहाँ होती है वहाँ वाच्यार्थ का सर्वथैव त्याग कर्तव्य होने से उस लक्षणा को जहल्लक्षणा कहते हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'गंगायां घोषः' है। यहाँ 'गंगा' पद के प्रवाह रूप वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर अर्थात् लक्षणा के द्वारा बोध्य अर्थ से वाच्यार्थ को पृथक् कर केवल तत्संबंधी तीररूप लक्ष्यार्थ का ही ग्रहण किया जाता है। इसलिये गंगा पद जहल्लक्षणा का उदाहरण है। सभी लोगों के द्वारा जहल्लक्षणा के उदाहरण रूप में दिखाये गये 'गंगायां घोषः' से अतिरिक्त

---

१. 'तत्र'—इति पाठो नास्ति क्वचित् ।

२. 'रस्य'—इति पाठान्तरम् ।

३. 'विषं भुङ्क्ष्व' अत्र वाक्यलक्षणैव। पदलक्षणापरं केषाञ्चिद्व्याख्यानमनुचितमेव-तात्पर्यस्य प्रत्येकपदाऽज्ञाप्यत्वात् । तथा चोक्तमद्वैतसिद्धेरखण्डार्थत्वोपपत्तौ—"तथा च समुदाय एव लक्षणा, न प्रत्येकपदे, प्रत्येकं तात्पर्यज्ञापकत्वाऽभावात् ।"

४. 'त्रहि०'—इति पाठान्तरम् ।

५. 'लक्षिता' इति पाठान्तरम् ।

उदाहरण यहाँ ग्रन्थकार ने दिया है। दूसरा यह भी. कारण है कि 'गंगायां घोषः' में केवल 'तीरत्व' धर्म से तीररूप लक्ष्यार्थ का बोध नहीं होता। ऐसा न मानने पर अन्य नदी के तीर में भी तीरत्व होने से उस तीर का भी 'गंगा' पद से बोध होने लगेगा। इसलिये 'गंगातीरत्व' धर्म से ही तीर का बोध मानना चाहिये। और ऐसा मानने पर गंगा पद के वाच्यार्थ का भी तीररूप लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव हो जाने से 'नीलो घटः' वाक्य के 'नील' पद के समान इसे भी कोई अजहल्लक्षणा कह देगा। इसलिये ऐसे विवादास्पद स्थल का उदाहरण न देकर ग्रंथकार ने 'विषं भुङ्क्ष्व' इस 'निःसंदिग्धवाक्य को ही उदाहरण के रूप में रखा है। जब कोई व्यक्ति अपने परमप्रिय मित्र से कहे कि 'विषं भुङ्क्ष्व'--विष खाओ, तब 'प्रिय मित्र हालाहल विष खाकर प्राण दे दे' ऐसा उद्देश्य तो कहने वाले का हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह परमप्रिय है। इसलिये इस वाच्यार्थ के स्वीकार करने पर तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है। इस कारण उस समय श्रोता उस वाक्य का अर्थ इस प्रकार ही समझता है जब कि देवदत्त मेरा शत्रु है और वह भोजन के लिये बुला रहा है और यह यज्ञदत्त मेरा परमप्रिय मित्र होता हुआ मुझे 'विष खाओ' कह रहा है। ऐसी स्थिति में 'विष क्यों नहीं खाते' यही उसके कहने का उद्देश्य है। अतः अपने शत्रु देवदत्त के घर भोजनार्थ नहीं जाना चाहिये, वहाँ भोजनार्थ जाने पर अवश्य ही कोई संकट उपस्थित होगा। ऐसा समझकर ही यह सुनने वाला व्यक्ति उस वाक्य का अर्थ यही समझता है कि शत्रु के घर भोजन नहीं करना चाहिये।

इस स्थल में 'विषं भुङ्क्ष्व' इस समस्त वाक्य की 'शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिः' रूप अर्थ में लक्षणा है। किन्तु इस लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का यत्किंचित् भी भान अथवा अन्तर्भाव नहीं है। इसलिये यह शुद्ध-जहल्लक्षणा है। इसमें किसी का भी वैमत्य नहीं है।

प्रश्न—यहाँ शक्य सम्बन्ध कौन-सा है? और यदि वह न हो तो लक्षण के न घट सकने से इसे लक्षणा ही नहीं कह सकते।

उत्तर—'विषं भुङ्क्ष्व' में विष शब्द मुख्य वृत्ति से (अभिधा शक्ति से) विषबोधक न होकर अपकारकत्वरूप शक्यसम्बन्ध से (लक्षणा से) 'शत्रु का अन्न' ही विष शब्द का अर्थ है। इसी प्रकार 'भुङ्क्ष्व' में भुज् धातु अपनी शक्तिवृत्ति से भोजनरूप अर्थ में न होकर वह वैपरीत्य अथवा लक्षणावृत्ति सम्बन्ध से भोजननिवृत्ति का बोधक है। अर्थात् यहाँ पर 'अपकारकत्व' और 'वैपरीत्य' साक्षात् शक्य सम्बन्ध है। इस कारण प्रकृति में लक्षणा का लक्षण अच्छी तरह से घटित हो जाता है। वाक्यार्थ में शब्द की शक्ति होने पर भी शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का सम्भव ग्रन्थकार आगे बताने वाले हैं।

इस रीति से शत्रु-अन्न के भोजन की निवृत्तिरूप लक्ष्यार्थ में हालाहलादिरूप वाच्यार्थ का यत्किंचित् भी ज्ञान नहीं होता। इसलिए यह जहल्लक्षणा है।

अब अजहल्लक्षणा के स्वरूप को बताते हैं—

यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तर-प्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा,[1] यथा शुक्लो घट इति। अत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थं शुक्लगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते।

जहाँ पर शक्यार्थ का अन्तर्भाव करके ही अन्य (लक्ष्य) अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ पर (वाच्यार्थ का त्याग न किया होने से) अजहल्लक्षणा होती है। जैसे—'शुक्लो घटः' इस वाक्य में शुक्ल शब्द, अपने 'शुक्लगुण' रूप स्वार्थ (वाच्यार्थ) का शुक्लगुणविशिष्ट द्रव्यरूप लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव करके ही शुक्लगुणवान् द्रव्य (घट) रूप अर्थ में लक्षणावृत्ति से रहता है अर्थात् उपर्युक्त अर्थ का बोधन करता है, इसलिए यह अजहल्लक्षणा का उदाहरण है।

विवरण—लक्षणा से प्रतीत होनेवाले लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ भी जब अन्तर्भूत होता है तब उस लक्षणा को अजहल्लक्षणा कहते हैं। शक्यार्थविशिष्टविषया-वृत्तिरजहल्लक्षणा' शक्यार्थ से (वाच्यार्थ से) विशिष्ट विषय को विषय करने वाली वृत्ति को अजहल्लक्षणा कहते हैं। क्योंकि—अजहल्लक्षणा में 'गंगायां घोषः' या 'विषं भुङ्क्ष्व' आदि जहल्लक्षणा के उदाहरणों में वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग करना पड़ता है वैसा इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं करना पड़ता। जैसे—'शुक्लो-घटः' में शुक्ल शब्द शुक्लगुण का वाचक है अर्थात् शुक्ल (शुभ्र) वर्ण उसका वाच्यार्थ है। वह गुण होने से 'घट' अर्थात् द्रव्य नहीं है यह स्पष्ट है। इस कारण शुक्ल शब्द के वाच्यार्थ की वाक्य में—उपपत्ति न लग सकने से (अनुपपत्ति होने से) उस शब्द की शुक्लगुण के साथ नित्यसम्बद्ध रहने वाले 'शुक्लगुणवान् घट' रूप अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है। किन्तु लक्षणा के स्वीकार करने पर भी शुक्लगुण रूप वाच्यार्थ की सर्वथा अप्रतीति नहीं होती। क्योंकि शुक्लगुणविशिष्ट घट का ज्ञान 'शुक्ल गुण' रूप विशेषण के ज्ञान के विना सम्भव नहीं है इसलिए यह अजहल्लक्षणा का उदाहरण है। इसी प्रकार 'रक्तो धावति' वाक्य में रक्त शब्द की 'रक्तगुणविशिष्ट अश्व' रूप अर्थ में वृत्ति स्वीकार कर 'लाल घोड़ा दौड़ता है' अर्थ की प्रतीति अजहल्लक्षणा से ही होती है।

अब तीसरी जहदजहल्लक्षणा का लक्षण और उदाहरण बताते हैं—

यत्र हि विशिष्ट-वाचकः शब्दः [2]एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते

---

१. शक्यार्थविशिष्टविषया वृत्तिः अजहल्लक्षणेत्यर्थः।

२. 'स्वार्थैक'—इति पाठान्तरम्।

तत्र जहदजहल्लक्षणा[1], यथा सोऽयं देवदत्त इति । अत्र हि पदद्वय-वाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यानुपपत्त्या पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम् । यथा वा तत्त्वमसीत्यादौ तत् पद-वाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपद-वाच्येनान्तःकरण-विशिष्टेनैक्यायोगादैक्यसिद्धयर्थं स्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः ।

अर्थ—जिस वाक्य में विशिष्ट वाचक शब्द अपने विशेषणरूप एकदेश को (एक अंश को) छोड़कर विशेष्यरूप एक अंश का बोधक होता है, वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है । जैसे—'सोऽयं देवदत्तः'—वह यह देवदत्त—इस वाक्य में 'वह' पद का 'तत्कालविशिष्ट' और 'यह' पद का 'एतत्कालविशिष्ट' अर्थ है । परन्तु 'देवदत्त' परोक्ष और अपरोक्षरूप विरुद्ध उभय कालों से विशिष्ट होकर एक ही समय में स्थित नहीं हो सकता । इसलिये 'वह' और 'यह' दोनों पद केवल देवदत्त रूप विशेष्य अर्थ के ही बोधक हैं अर्थात् दोनों पद केवल विशेष्यपरक हैं । स्वार्थपरक (वाच्यार्थपरक) नहीं हैं । इसलिये यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है । अथवा 'तत् त्वमसि'—वह ब्रह्म तू है—आदि अभेदबोधक वाक्यों में 'तत्' पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य के साथ ऐक्य का संभव नहीं हो सकता । अतः चैतन्यों की एकता के लिये स्वरूप में (शुद्ध चैतन्य में) उनकी लक्षणा करनी पड़ती है ऐसा साम्प्रदायिक (प्राचीन वेदान्ती) कहते हैं ।

विवरण—व्यवहार में 'सोऽयं देवदत्तः' कहा जाता है । इस वाक्य का वाच्यार्थ है 'वह यह देवदत्त' । इसमें 'सः'—वह शब्द का वाच्यार्थ है 'पूर्वकाल में स्थित' अर्थात् वर्तमान में जिसका प्रत्यक्ष न हो । और 'अयम्'—यह शब्द का वाच्यार्थ है, जिसको उंगली से निर्देश कर सकें, ऐसा वर्तमान काल में स्थित व्यक्ति । तत्कालीन देवदत्त तत्काल से विशिष्ट होने से परोक्ष और एतत्कालीन देवदत्त, इस काल से युक्त होने से अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है । किन्तु एक ही देवदत्त का एक ही काल में, उस काल से और इस काल से विशिष्ट रहना सम्भव नहीं । क्योंकि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं । इस कारण पूर्वोक्त वाक्य से तथाकथित विरुद्ध धर्मों से युक्त देवदत्त का ऐक्य संभवनीय नहीं । किन्तु वह वाक्य (सोऽयं देवदत्तः) तत्कालविशिष्ट और एतत्कालविशिष्ट देवदत्त, एक ही है, भिन्न नहीं है—इस उद्देश्य से ही यह वाक्य कहा गया है । इस कारण जहाँ ऐसे विशिष्टों का ऐक्य सम्भव न हो वहाँ उनके विशेषणों का त्याग कर केवल विशेष्य ही दोनों पदों का अर्थ स्वीकृत किया जाता है । ऐसी लक्षणा को ही 'जहदजहल्लक्षणा' या 'भागत्यागलक्षणा' कहते हैं । इसमें विशेषण और

---

१. शक्यैकदेशमात्रवृत्तिः जहदजहल्लक्षणेत्यर्थः ।

विशेष्यवाचक पदों में से 'विशेषण' के भाग (अंश) को त्याग कर 'विशेष्य' भाग का ग्रहण किया जाता है इसलिए इस वृत्ति को भागत्याग या जहदजहल्लक्षणा कहना सर्वथा योग्य है। प्राचीन वेदान्तियों ने अभेदबोधक महावाक्यों का अर्थ लगाने के लिए इस लक्षणा को स्वीकार किया है। परन्तु वेदान्तपरिभाषाकार—श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र को यह साम्प्रदायिक मत मान्य नहीं है—यह अग्रिम ग्रन्थ से ही स्पष्ट होगा। तथापि उन्होंने सम्प्रदाय का अनुसरण कर 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में इस लक्षणा के लक्षण को घटित कर दिखाया है। 'तत्' का अर्थ है सर्वज्ञत्वादिधर्मों से विशिष्ट ईश्वरचैतन्य और 'त्वम्' का अर्थ है अन्तःकरणोपाधिविशिष्ट अल्पज्ञ चैतन्य। इनका अभेद (ऐक्य) होना सम्भव नहीं। क्योंकि मायोपाधिक जो सर्वज्ञ ईश्वर है वह अल्पज्ञ जीव कैसे हो सकेगा ? अर्थात् इस वाच्यार्थ का असंभव होने पर लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु पहले की तरह जहत् और अजहत् लक्षणाओं का लक्षण इसमें घटित न हो सकने से इस वाक्य में उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि उन शब्दों के वाच्यार्थ का त्याग पर चैतन्यरूप विशेष्यांश का भी त्याग करना पड़ता है, और उसके करने पर उस वाक्य का श्रुति को विवक्षित अभेदार्थ नहीं बन पाता और अजहल्लक्षणा के न्याय से वाच्यार्थ सर्वथा त्याग न करने पर भी विवक्षित ऐक्य का असंभव ही रहता है। अतः पूर्वोक्त दोनों लक्षणाओं से भिन्न ऐसी तीसरी जहदजहल्लक्षणा का ही स्वीकार करना पड़ता है। अर्थात् तत्पद के वाच्यार्थ में से सर्वज्ञत्वादि और त्वं पद के वाच्यार्थ में से किंचिज्ज्ञत्वादिरूप औपाधिक विशेषणों का त्याग कर केवल विशेष्यभूत चैतन्य अर्थ को ही दोनों पदों में से स्वीकार करना पड़ता है। इस कारण श्रुतिविवक्षित चैतन्याभेदरूप अर्थ सिद्ध होता है।

इस प्रकार साम्प्रदायिक मत को बताकर अब अपने मत के अनुसार 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अभेदार्थरूप वाक्यार्थ की उपपत्ति बताते हैं—

[1]वयन्तु ब्रूमः—सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचकपदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयोर्विशिष्टयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेवाभेदान्वयाऽविरोधात्।

---

१. साम्प्रदायिकाः सर्वज्ञात्मपादादयो भागत्यागलक्षणामाश्रित्य शुद्धचैतन्यस्वरूपे 'तत्–त्वम्' पदयोर्लक्षणेति वदन्ति। किन्तु ग्रन्थकारायैतन्नरोचत इति 'वयन्तु' इत्यनेन सूच्यते। यतः 'शक्त्यैव तात्पर्यविषयप्रतीत्युपपत्तौ 'लक्षणाश्रयणमन्याय्यम्'। तथा चोक्तमद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षस्य आगमबाध्यत्वप्रकरणे—"सोऽयं देवदत्तः' इत्यादिवाक्य इव शक्यैकदेशस्य अन्वयाभ्युपगमात्, विशेषणबाधेन विशेष्यमात्रान्वयस्यैव अत्र लक्षणाशब्देन व्यपदेशात्"।

यथा घटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहानित्यत्वान्वयः ।

अर्थ—इस विषय में हम तो ऐसा कहते हैं—'वही यह देवदत्त' 'वह ब्रह्म तू है' आदि वाक्यों में 'सः' 'अयम्' 'तत्' और 'त्वम्' ये विशिष्टवाचक पद यद्यपि विशेष्य के एकदेश के ही बोधक हैं तथापि उस बोध के लिये उन पदों की विशेष्यांश में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि शक्ति-वृत्ति से उपस्थित (ज्ञात) हुए तत्काल-तया एतत्काल से विशिष्ट देवदत्त के अभेदान्वयरूप अर्थ की अनुपपत्ति रहने. पर भी शक्तिवृत्ति से ही उपस्थित हुए विशेष्यों का अभेदान्वय करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यथा—'घट अनित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद के 'घटत्व जाति-विशिष्ट घट' रूप वाच्यार्थ का एकदेश (विशेषणांश) यद्यपि-अनित्यत्व के साथ अन्वित होने के योग्य नहीं है, तथापि अन्वययोग्य घटव्यक्तिरूप विशेष्यांश के साथ उसका अन्वय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि—हम 'घट' व्यक्ति को ही अनित्य समझते हैं 'घटत्व' जाति को नहीं–यह ज्ञान-शक्ति से ही होता है। अतः यहाँ लक्षणा मानने की आवश्य-कता नहीं है।

विवरण—ग्रन्थकार ने 'घट' पद की शक्ति 'घटत्वजातिविशिष्ट घट' रूप अर्थ में गृहीत कर अपना मत प्रतिपादन किया है। 'शब्द' की 'विशिष्ट' में शक्ति होती है–ऐसा मानने पर घट पद की 'घटत्व' जाति रूप अर्थ में शक्ति जैसी है तद्वत् वह 'घट व्यक्ति' रूप अर्थ में भी है—यह सिद्ध होता है। इसलिये जहाँ पर विशिष्टपदार्थान्वय का बाध होता हो, वहाँ जिस अंश का बाध नहीं हो रहा है उसी अंश में उस शब्द का पर्यवसान मानना चाहिये। क्योंकि जितने अंश में शक्ति रहती है उस सम्पूर्ण अंश का शाब्द बोध में भान होना ही चाहिये यह कोई नियम नहीं है। 'आकाश' शब्द की शब्दाश्रयत्वविशिष्ट आकाश पदार्थ में शक्ति है, इसलिये 'आकाश हैं' ऐसा कहने पर शब्दाश्रयत्व का बोध जैसे तात्पर्य का विषय नहीं होता उसी तरह विशिष्टवाचकपदों का पर्यवसान एकदेश में मानने पर भी मुख्यवृत्ति से ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों की अखण्डार्थत्व (ऐक्यार्थत्व) उपपन्न होता है। अतः उसके निमित्त लक्षणा मानने का आवश्यकता नहीं।

अन्य दार्शनिकों ने भी ऐसा ही माना है। 'घट अनित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद का 'घटत्व-विशिष्ट घट' वाच्यार्थ है। परन्तु 'घटत्व' और 'घट' दोनों से भी अनि-त्यत्व का अन्वय होना संभव नहीं। क्योंकि 'घटत्व' जाति होने से उनके मतानुसार वह नित्य है। हमारे मत में भी उसे व्यावहारिक नित्यत्व तो है ही। इसलिये नैयायिक यहाँ पर वाच्य के एकदेश रूप विशेष्यांश घट के साथ ही अनित्यत्व का अन्वय स्वीकार करते हैं और 'घटव्यक्ति अनित्य है' यही उपर्युक्त वाक्य का अर्थ करते हैं। यहाँ यह बोध शक्ति से ही होता है। इसलिये लक्षणा नहीं स्वीकार करनी पड़ती।

शंका—ऐसा मानने पर 'घट नित्य है' इस वाक्य में घटरूप विशेष्यांश का नित्यत्व के साथ अन्वय जब बाधित होता है तब उसका घटत्व रूप विशेषणांश में पर्यवसान भी मुख्यवृत्ति से ही होने लगेगा, जिससे 'यह बोध लक्षणा से ही होता है' इस प्रमाणिक व्यवहार का बाध होगा—इस शंका के समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं—

यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः, तत्रैव स्वात्रन्त्र्येणोपस्थितये लक्षणाऽभ्युपगमः। यथा घटो नित्य इत्यत्र घटपदाद्घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्र्येणानुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा।

अर्थ—जिस वाक्य में पदार्थ के एकदेश की (एक अंश की) विशेषण रूप से उपस्थिति हो वहीं पर उसकी (केवल विशेषण की) स्वतंत्रतया उपस्थिति होने के लिये लक्षणा का अभ्युपगम (स्वीकार) करना पड़ता है। जैसे—'घट नित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद से शक्तिवृत्ति के द्वारा केवल घटत्व की स्वतंत्रतया उपस्थिति (ज्ञान) नहीं होती, इसलिये वैसी (विशेषण रूप घटत्व की) उपस्थिति होने के लिये घट पद की घटत्वरूप अर्थ में लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है।

विवरण—शक्ति प्रधानतया विशेष्य में रहती है, इसलिये उसका (विशेष्य का) स्वतंत्रतया (केवल व्यक्ति के रूप से) होने वाला बोध, शक्तिवृत्ति से ही हो सकता है, इसलिये वहाँ लक्षणा की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु विशेषण में गौणता रहती है, इसलिये जिस वाक्य में स्वतंत्रतया (विशेष्य की अपेक्षा न करते हुए) केवल गुणभूत विशेषण से ही पदार्थ का अन्वय होना होता है, उस वाक्य में उस विशेषण रूप अंश की ही उपस्थिति के लिये लक्षणा अवश्य स्वीकार करनी चाहिये। जैसे 'घट नित्य है' कहने पर घट पद से विशेषण और विशेष्य (घटत्व और घटत्वावच्छिन्न घट व्यक्ति) के साथ परस्पर संबद्ध दोनों अर्थों की उपस्थिति का संभव होने पर भी घटव्यक्ति रूप विशेष्यांश से नित्यत्व का अन्वय हो नहीं सकता। क्योंकि घटव्यक्ति के नित्य न होने से विशेष्यरूप अंशके साथ नित्यत्व का अन्वय-बोध न होकर केवल विशेषणीभूत घटत्व रूप एकदेश के ही साथ नित्यत्व अन्वित होता है, इस प्रकार की उपस्थिति के लिये घट पद की घटत्वरूप अर्थ में लक्षणा ही माननी पड़ती है। क्योंकि पदार्थ, पदार्थ के साथ ही अन्वित होता है। 'पदजन्य पदार्थ की प्रतीति में शक्तिवृत्ति के द्वारा विशेष्यभूत अंश के ही साथ पदार्थ का अन्वय होता है, उसके एकदेश के साथ पदार्थ अन्वित नहीं होता' यह नियम होने से 'घट' पद से विशेष्य–निपेरक्ष 'घटत्व' इस विशेषणरूप अंश की उपस्थिति लक्षण के विना नहीं हो पाती। अतः ऐसे स्थल पर लक्षणा माननी ही पड़ती है।

इस प्रकार विशिष्टवाचक पद से केवल विशेष्य की उपस्थिति होने के लिए लक्षणा को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वहाँ तो केवल विशेषण की उपस्थिति

के लिये लक्षणा माननी पड़ती है यह नियम बताया गया। अब उसी नियम को प्रकृत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में लगाकार वहाँ भी लक्षणा के विना ही अखण्डार्थ की उपपत्ति को बताते हैं—

एवमेव तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वम्पदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात्। अन्यथा गेहे घटो, घटे रूपं, घटमानयेत्यादौ घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्यतया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव स्यात्। तस्मात्तत्त्वमसीत्यादिवाक्येषु आचार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेन बोध्या।

अर्थ—इसी न्याय के अनुसार 'तत्त्वमसि' इत्यादि प्रकृत वाक्यों में भी लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शक्तिवृत्ति के द्वारा, स्वतंत्रतया (सर्वज्ञत्वादि विशेषणों की अपेक्षा न करते हुए केवल विशेष्यरूप से) चैतन्यरूप से उपस्थित होने वाले 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों का अभेद से अन्वय होने में कोई भी बाधक नहीं है। अन्यथा (ऐसे स्थल पर यदि लक्षणा को न माने) 'घर में घट है' 'घट में रूप है' 'घट लाओ' आदि वाक्यों में भी घटत्व, गेहत्व आदि धर्मों में गृहादि पदार्थरूप अंशों में अभिमत अन्वय-बोध करा देने की योग्यता न होने से वहाँ पर भी घटादिपदों का केवल विशेष्यपरत्व लक्षणा से ही होने लगेगा। तस्मात् पूर्वाचार्यों ने 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में जहदजहल्लक्षणा का अभ्युपगमवाद से स्वीकार किया है, ऐसा समझना चाहिये।

विवरण—उपर्युक्त नियम मानने पर विशिष्टवाचक पदों से केवल विशेष्य का ज्ञान होने के लिये लक्षणा का स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं, यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि अभेदार्थक वाक्यों में भी लक्षणारूप गौण वृत्ति को नहीं मानना पड़ता। क्योंकि 'तत्' पद से सर्वज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' पद से अल्पज्ञत्व विशिष्ट चैतन्यरूप विशिष्ट अर्थों के उपस्थित होने पर भी तथा उनका अभेदान्वय बाधित होने पर भी वे पद जहदजहल्लक्षणा के द्वारा शुद्ध (सर्वज्ञत्वादिविशेषरहित) चैतन्य के बोधक होते हैं' यह आप का मन्तव्य (केवल विशेष्यमात्र की उपस्थिति) तो ऊपर बताये नियम से ही हो सकता है। तब लक्षणारूप गौण वृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं होती।

शंका—घट आदि पद स्वाभाविक रूप से ही घटत्वादि विशेषण और घटादि विशेष्य दोनों के बोधक होते हैं अर्थात् उनकी शक्ति उन दोनों में होती है, इसलिये जहाँ पर उनमें से एक ही की उपस्थिति होती हो वहाँ वह एकदेश, उन पदों का वाच्यार्थ है, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिये 'घट नित्य है' इत्यादि वाक्यों में केवल विशेषण का

ज्ञान होने के लिये आप को वहाँ पर जैसी लक्षणा माननी पड़ती है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में भी उसे मानना पड़ता है, तब यहाँ लक्षणा की आवश्यकता नहीं है' यह आप कैसे कहते हैं ?

समा०—ग्रन्थकार ने इस शंका का निराकरण 'अन्यथा०' इत्यादि वाक्य से किया है। विशेषण के समान केवल विशेष्य का बोध भी लक्षणा से ही होता है, ऐसा मानने पर 'घर में घट है' इस वाक्य में गृहत्वविशिष्ट गृह इस प्रकार के विशिष्टार्थ-बोधक 'गृह' पद से केवल 'गृह' रूप विशेष्यांश का बोध होने के लिये ऐसे वाक्य में भी लक्षणा का स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि यहाँ पर भी वाच्यैकदेशभूत घटत्वरूप अर्थ के साथ 'गृह' पदार्थ का आधेयता-सम्बन्ध से अन्वय का होना असंभव है। क्योंकि गृह में घटत्व नहीं रहता। उसी प्रकार घट गृह में रहता है, वह गृहत्व जाति में नहीं रह सकता। वैसे ही घट में रूप है' इस वाक्य का घटत्वविशिष्ट घट में अर्थात् घटत्व और घट इन दोनों में रूप है—यह अर्थ उपपन्न नहीं। होता, क्योंकि रूप घट में रहता है, उसका घटत्व-जाति में होना संभव नहीं। इसलिये घटत्व का रूप के साथ आधेयता-सम्बन्ध से अभिलषित अन्वय हो नहीं सकता। इसलिये इस वाक्य से 'घट में रूप है' इत्याकारक जो बोध होता है वह भी लक्षणा से ही होता है—कहना पड़ेगा। इसी प्रकार 'गाय को लाओ' इस वाक्य में 'गो' इस विशिष्ट पद की भी केवल 'गो' इस अर्थ में लक्षणा मानकर ही विशेष्य का आनयन (लाना) क्रिया में अन्वय होता है—कहना होगा, क्योंकि वहाँ भी वाच्यैकदेशरूप (विशेषणरूप) अमूर्त गोत्व का आनयन क्रिया में कर्मत्वरूप से अन्वित होना संभव नहीं है।

इस पर—'गेहे घटः' आदि वाक्यों में हम लक्षणा मानते हैं उसमें क्या बाधक है—यदि कहें तो यह उचित न होगा। क्योंकि 'प्राधान्येन व्यापदेशा भवन्ति' प्राधान्य से सब व्यवहार हुआ करते हैं, इस नियम के अनुसार उस वाक्य के वाच्यार्थ का प्रधानभूत एकदेशरूप विशेष्य की उपस्थिति होने पर वह अर्थ शक्य (वाच्य) है, यही मानना उचित है। वाक्य में विशेषण की प्रधानता न होने से विशेष्यरहित विशेषण का ज्ञान लक्षणा के बिना हो नहीं सकता। इसलिये केवल विशेषणरूप अंश में लक्षणा को अवश्य मानना पड़ता है। क्योंकि 'घट पद का घटत्व वाच्य है' ऐसा प्राधान्य से व्यवहार नहीं होता, इसलिये 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन' यह नियम भी विशेषण-विषयक ही है, ऐसा समझना चाहिये, अर्थात् विशेषण के साथ पदार्थ का अन्वय न होकर विशेष्य के ही साथ होता है, यह उस नियम का अर्थ समझना चाहिये।

शंका—परन्तु ऐसा कहने पर वाक्यवृत्ति, पंचदशी आदि पूर्वाचार्यकृत वेदान्त-ग्रन्थों के साथ विरोध होता है, क्योंकि 'तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में भागलक्षणारूप लक्षणा माननी पड़ती है, इस कहने से विरोध होता है, उसका परिहार किस प्रकार से होगा ?

समाधान—श्रीमदाचार्य ने तथा विद्यारण्य आदिकों ने 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में जो भागलक्षणा मानी है, वह पूर्वपरम्परा का अनुसरण कर मानी है। वस्तुतः उन्हें भी वैसी लक्षणा मानने की आवश्कता नहीं थी।

इस पर यदि कोई ऐसा कहें कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य में अभेदान्वय की उपपत्ति लगाने के लिये ही यह तीसरा प्रकार अर्थात् 'जहदजहल्लक्षणा' माना गया है। यदि आप के कथनानुसार इस वाक्य में भी उसका उपयोग न हो तो 'लक्षणा त्रिविधा' इस प्रकार लक्षणा के तीन प्रकार बताने का क्या उपयोग होगा? इस प्रश्न पर ग्रन्थकार कहते हैं-

जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु——काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्याद्येव। तत्र शक्यकाकपरित्यागेनाशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेण काकेऽकाकेऽपि काकशब्दस्य प्रवृत्तेः।

अर्थ—'कौओं से दही की रक्षा की जाय' इत्यादि वाक्य ही जहदजहल्लक्षणा के उदाहरण हैं। क्योंकि ऐसे वाक्यों में 'काक' शब्द के वाच्यार्थ (काकत्वविशिष्टकाक) का परित्याग कर और अशक्यार्थ (अवाच्य लक्ष्यार्थ—दध्युपघातकत्व) का पुरस्कार कर 'काक' शब्द की काक तथा अकाक (काकभिन्न अर्थात् दधि को दूषित करने वाले मार्जारादि प्राणी) अर्थ में प्रवृत्ति है। (इसलिये यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है।)

विवरण—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है। मूल-ग्रन्थस्थ 'इत्यादि' शब्द से 'छत्रिणो यान्ति' इत्यादि उदाहरणों को समझना चाहिये। इस कारण 'लक्षणा त्रिविधा' इस वाक्य के साथ कोई विरोध नहीं हो पाता।

जब कि घर के बड़े लोग बच्चों से कहते हैं कि 'दही की ओर देखना, कौए उसे दूषित न करने पायें' तब केवल कौए दही को दूषित न करें, बिल्ली, कुत्ते आदि उसे दूषित करें' यह उस वाक्य का आशय नहीं होता, अपितु सभी से उसका (दही का) रक्षण करना ही उस वाक्य का तात्पर्य-विषयभूत अर्थ होता है। इसलिये उस वाक्य का अर्थ श्रोता बालक यह समझता है कि मुझे सभी—दध्युपघातक प्राणियों से दही की रक्षा करने की आज्ञा हुई है। इस प्रकार की प्रतीति उसे काक-शब्द की दध्युपघातक प्राणियों में लक्षणा मानने से ही होती है। यहाँ दधिरक्षण रूप तात्पर्यार्थ की केवल वाच्यार्थ से अनुपपत्ति होने पर लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है, अतः यही जहदजहल्लक्षणा है।

शंका—उपर्युक्त वाक्य में लक्षणा का स्वीकार आवश्यक होने पर भी 'विरुद्ध विशेष अंशों का त्याग कर अविरुद्ध विशेष अंशों का स्वीकार करना' रूप जहदजहल्ल-क्षणा का लक्षण प्रकृत स्थल में संभव नहीं होता, क्योंकि उसमें 'काक' पद के वाच्यार्थ का त्याग नहीं होता है। इसलिये इसे (काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्) जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण कैसे कहा जा सकता है।

समाधान—प्राचीन साम्प्रदायिकों ने 'विरुद्धांश-त्यागपूर्वक अविरुद्ध अंश-विशेष का स्वीकार करना' यह लक्षण जहदजहल्लक्षणा का किया है। परन्तु धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि नवीन वेदान्तियों ने उसे स्वीकार नहीं किया। नवीनों का कहना है कि शक्य और अशक्य अर्थ का सामान्यतया बोध करा देने वाली जो लक्षणा हो वही जहदजहल्लक्षणा है।

प्रकृत उदाहरण में इस लक्षण का समन्वय होता है। क्योंकि यहाँ पर 'काक' शब्द काकत्वरूप वाच्यार्थ का त्याग कर अशक्य (वाच्यार्थभिन्न) 'दध्युपघातकत्व' धर्म का पुरस्कार करता है और मार्जार, श्वान आदि लक्ष्यार्थों के साथ वाच्यरूप 'काक' का भी उसी धर्म से (दध्युपघातकत्वरूप से) बोध कर देता है। इस रीति से यह वाक्य (काक) और अशक्य (मार्जार आदि) का बोधक होने से जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण हो सकता है इसी प्रकार 'छत्रिणो गच्छन्ति' छाते वाले लोग जा रहे हैं—आदि वाक्य भी इसी लक्षणा के उदाहरण बन सकते हैं। इस वाक्य में भी 'एकसार्थवाहित्व'—एक समूह का घटक होना—सम्बन्ध से 'छत्रिन्' पद शक्य (छत्रवान् लोग) और अशक्य (छत्ररहित लोग) दोनों का ही बोधक है।

इस प्रकार लक्षणा का स्वरूप बताकर अब उसका बीज बताते हैं—

लक्षणाबीजं तु तात्पर्य्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः, काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्।

अर्थ—परन्तु तात्पर्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा में बीज है। अन्वय की अनुपपत्ति, लक्षणा में बीज नहीं है। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' वाक्य में अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है। (वाक्य के पदों का परस्पर अन्वय लग सकता है) उसी प्रकार 'गङ्गायां घोषः' आदि वाक्यों में तात्पर्य की अनुपपत्ति का भी सम्भव होता है। (इसलिये एकमात्र तात्पर्यानुपत्ति को ही लक्षणा में बीज मानने में लाघव है)

विवरण—'तत्त्वमसि' आदि अभेदबोधक वाक्यों में गौणी लक्षणा (गौण लक्षणावृत्ति) मानने की आवश्यकता नहीं है, यह ऊपर बताया गया है। इसी पर यदि कोई कह दे कि 'जिस प्रकार 'शक्ति' शब्द की एक वृत्ति है—उसी प्रकार 'लक्षणा' भी शब्द की एक वृत्ति है। इस कारण शक्ति से जैसे शक्यार्थ का ज्ञान होता है वैसे ही लक्षणा से शक्यसम्बद्ध लक्ष्यार्थ का भी ज्ञान होता है, तब उसमें गौणत्व कैसा ?

इस शङ्का के निरसनार्थ यहाँ पर लक्षणा का बीज बताया गया है। शब्द से लक्षणा के द्वारा लक्ष्यार्थ का ज्ञान होने में जो कारण हो उसे लक्षणा का बीज कहते हैं। शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को शक्यार्थ या वाच्यार्थ कहते हैं, जहाँ पर वाच्यार्थ की उपपत्ति नहीं लगती वहाँ अगत्या लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है। इसलिये उसे मुख्य शक्ति की

अपेक्षया गौणत्व समझा जाता है। अर्थात् जहाँ वाक्यार्थ से ही शाब्दबोध का होना संभव हो वहाँ लक्षणा को मानने की आवश्यकता नहीं होती।

परन्तु कुछ वादी—मुख्यार्थ के अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा में बीज मानते हैं। अतः उसका निराकरण करने के लिये ग्रन्थकार ने मूल में कहा है—'अन्वयानुपपत्ति, लक्षणा में बीज नहीं है।' क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य में दधिरक्षण का केवल 'काक' शब्द के साथ (उसके मुख्यार्थ के साथ अन्वय मानने पर भी वह अनुपपन्न नहीं होता, इसलिये अन्वयानुपपत्तिरूप लक्षणाबीज प्रकृत उदाहरण में अव्याप्त रहता है। किन्तु मार्जार आदि प्राणियों को यदि दूषित करने दिया जाय तो 'दधिरक्षण' रूप तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा में बीज मानना आवश्यक है। उसके मानने पर सभी जगह शाब्द-बोध की उपपत्ति लग जाती है। अतः पृथक्रूप से 'अन्वयानुपपत्ति' रूप लक्षणाबीज मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि 'अन्वयानुपपत्ति और तात्पर्यानुपपत्ति' रूप दो लक्षणाबीज मानने की अपेक्षया सर्वत्र एक को ही बीज मानने में लाघव है।

इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं वाक्य में अन्वयानुपपत्ति रहती है वहाँ तात्पर्यानुपपत्ति भी रहती है। 'गङ्गायां घोषः' यह वाक्य अन्वयानुपपत्ति रूप लक्षणाबीज के उदाहरण में दिया जाता है। क्योंकि 'गङ्गा' पद का मुख्यार्थ प्रवाह का घोष के साथ आधेयता-सम्बन्ध से अन्वय हो नहीं सकता। इस अन्वयानुपपत्ति के कारण गङ्गापद की 'गङ्गा-सम्बन्धी तीर' अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है—यह अन्वयानुपपत्ति को बीज मानने वालों का कहना है। परन्तु यहाँ जैसी अन्वयानुपपत्ति है वैसी ही तात्पर्यानुपपत्ति भी है। क्योंकि 'गङ्गा' पद का 'प्रवाह' रूप मुख्य अर्थ करने पर उस वाक्य के 'तीरप्रतीति-जननयोग्यत्व' रूप तात्पर्य का असम्भव हो जाता है। इस कारण इस वाक्य में भी तात्पर्यानुपपत्ति होने से लक्षणा का स्वीकार किया जाना चाहिये। तस्मात् भिन्न-भिन्न उदाहरणों में लक्षणा के भिन्न-भिन्न प्रयोजक मानने की अपेक्षया 'तात्पर्यानुपपत्ति' रूप एक ही बीज मानना उचित है। तात्पर्यार्थ के स्वरूप को ग्रन्थकार स्वयं बतावेंगे। 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में तात्पर्य निश्चय करने के लिये अन्वयानुपपत्ति का उपयोग हो सकता है। उसी प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यहाँ प्रयोजनासिद्धि का और 'सैन्धवमानय' में देश, काल, प्रकरण आदिकों का भी तात्पर्य निश्चय करने में उपयोग होता है। अर्थात् तात्पर्यार्थ के निश्चायक कारण भिन्न-भिन्न होते हैं।

नैयायिकों का कहना है कि—'जिस प्रकार शक्ति केवल पदवृत्ति होती है उसी प्रकार लक्षणा भी पदवृत्ति ही है। क्योंकि लक्षणा में भी शक्ति के समान वृत्तित्व है। अतः जो भी वृत्ति हो उसका पदनिष्ठ होना ही उचित है'। इस मत का निराकरण ग्रन्थकार करते हैं—

लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि। यथा गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यत्र गम्भीरायां नद्यामिति पदद्वयसमुदायस्य तीरे लक्षणा।

अर्थ—लक्षणा केवल पदमात्रवृत्ति नहीं है किन्तु वाक्यवृत्ति भी है। जैसे—'गम्भीरायां नद्यां घोषः' गहरी नदी पर ग्वाले का घर है। इस वाक्य में गंभीर और नदी दो पदों के समूह की तीर अर्थ में लक्षणा है।

विवरण—नैयायिक अनुमान[1] करते हैं कि—'लक्षणा, पदमात्रवृत्ति है, क्योंकि उसमें वृत्तित्व है, शक्ति के समान।' परन्तु उनका यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' वाक्य में पदमात्रवृत्तित्व का व्यभिचार होता है। इस वाक्य में गंभीर विशेषण से विशिष्ट नदी पद की ही तीररूप अर्थ में लक्षणा की जाती है। इस कारण यहाँ लक्षणा में पदमात्रवृत्तित्व का संभव नहीं हो पाता।

इसके अतिरिक्त इस अनुमान में 'वृत्तित्व' हेतु सोपाधिक[2] है, क्योंकि यहाँ 'शक्तित्व' उपाधि है। तथाहि—जहाँ 'पदमात्रवृत्तित्व' रूप साध्य होता है वहाँ (घट पट आदि स्थलों में) शक्तित्व भी रहता है। इस कारण 'शक्तित्व' साध्यव्यापक हुआ। और जहाँ 'वृत्तित्व' रूप हेतु हो वहाँ 'शक्तित्व' के रहने का कोई नियम नहीं है जैसे—गंभीर और नदी दोनों पदों में लक्षणावृत्ति है किन्तु 'शक्तित्व' नहीं है, इस कारण 'शक्तित्व' साधनाव्यापक हुआ। अतः यह अनुमान सोपाधिकत्वरूप दोष से दूषित है।

गंभीरायां नद्यां घोषः। वाक्य में नदी में 'गभीर' विशेषण दिया है। परन्तु गंभीर जल पर घर का होना असंभव है। और यह व्यक्ति तो ऐसा बता रहा है, अतः इन दो पदों के उच्चारण से नदी शब्द का तीररूप अर्थ ही इस व्यक्ति को विवक्षित होगा, यह प्रतीति होती है, इस कारण यहाँ पर दोनों पदों की तीररूप अर्थ मे लक्षणा है—यह मानना होगा। क्योंकि केवल 'नदी' पद की 'तीर' रूप अर्थ में यदि लक्षणा मान लें तो 'गंभीर तीर पर घोष है' यह अर्थ होने लगेगा। परन्तु तीर में 'गंभीर' विशेषण नहीं दिया जा सकता। क्योंकि तीर गंभीर नहीं होता। यदि 'गंभीर' पद की ही तीर अर्थ में लक्षणा मानें तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'गंभीर' और 'तीर' में अभेद का होना संभव ही नहीं, इसी तरह 'तीर' और 'नदी' का भी अभेदान्वय कभी नहीं बन सकता। इसी प्रकार इन दो पदों में से किसी एक पद की तीररूप अर्थ में लक्षणा कर समीप के पद को उस तात्पर्य का केवल ज्ञापक मान लेने पर भी गंभीर और नदी दो पदों की

---

१. 'लक्षणा पदमात्रवृत्तिः वृत्तित्वात् शक्तिवत्।'

२. उक्तानुमाने 'शक्तित्वम्' उपाधिः। यथा—दृष्टान्ते शक्तौ पदमात्रवृत्तित्वरूपं साध्यमस्ति, शक्तित्वमपि अस्ति, अतः साध्यव्यापकत्वम्, साधनं वृत्तित्वं लक्षणायामपि, तत्र शक्तित्वं नास्ति इति साधनाऽव्यापकत्वमपि।

आवृत्ति करने में कोई कारण नहीं है। अतः पुनरुक्ति की उपपत्ति ही नहीं लगाई जा सकती।

इस पर यदि ऐसा कहें कि—'नदी' शब्द की केवल 'तीर' अर्थ में लक्षणा न कर 'नदी तीर' अर्थ में लक्षणा है, और 'नदीतीर' रूप लक्ष्यार्थ के 'नदी' रूप अंश के साथ ही गंभीर पद का अन्वय होता है, ऐसा करने पर कोई दोष नहीं है।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं है—एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ ही अन्वय होता है, उसके एकदेश के साथ नहीं। यह शाब्दबोध के विषय में नियम है। अतः 'नदीतीर' पद के नदीरूप एक अंश के साथ गंभीर पद का अन्वय हो नहीं सकता। इसलिये परिशेषन्याय से गंभीर और नदी दोनों पदों की तीररूप अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है। वह अर्थ गंभीर और नदी परस्परान्वित इन दो पदों से निष्पन्न होता है इस कारण यह वाक्यवृत्ति लक्षणा है। अर्थात् शक्ति के समान लक्षणा भी पदमात्रवृत्ति ही होती है, यह नियम नहीं बनाया जा सकता। प्रत्युत लक्षणा जैसी पदवृत्ति होती है, वैसी वाक्यवृत्ति भी होती है—यह मानना पड़ता है।

शंका—लक्षणा का स्वरूप तो 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' बताया गया है। किन्तु वाक्यार्थ में शक्ति के न होने से उसको शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा कैसे संभव हो सकेगी? इस प्रकार शंका उपस्थित कर उसका समाधान ग्रन्थकार करते हैं—

ननु [1]वाक्यार्थस्याशक्यतया कथं शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा ?। उच्यते। शक्त्या [2]यत्पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा, शक्तिज्ञाप्यश्च यथा पदार्थस्तथा वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः।

अर्थ—वाक्यार्थ में अशक्यता होने से अर्थात् वाक्यार्थ में शक्यत्व के न होने से उसमें शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा है—यह कैसे कहा जा सकेगा? ऐसा शंका यदि हो तो समाधान बताते हैं—शक्ति से पदसम्बन्ध के द्वारा जो बोधित किया जाता है उसका सम्बन्ध ही लक्षणा है, और पदार्थ जैसे शक्ति से ज्ञाप्य (बोध्य) होता है, वैसे वाक्यार्थ भी शक्ति से ज्ञाप्य होता है। अतः वाक्य में लक्षणा के स्वीकार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

विवरण—जब किसी शक्यार्थ (वाच्यार्थ) की उपपत्ति नहीं लगती, तब उसकी शक्यार्थसंबद्ध अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है। परन्तु जो अर्थ, वाच्य ही नहीं है उसकी तत्संबद्ध अर्थ में लक्षणा कहना तो वन्ध्यापुत्र का किसी से सम्बन्ध प्रदर्शन करने के

---

१. क्यस्याश०'—इति पाठान्तरम्।

२. पदेन स्वनिष्ठशक्त्या यज्ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा। तथा च—'स्वबोध्यसम्बन्धत्वं' लक्षणाया लक्षणमुभयसाधारणत्वादावश्यकम्।

समान ही होगा—यह आशय शंका करने वाले का है। इस पर ग्रन्थकार यह समाधान देते हैं—पदार्थ (पदजन्य अर्थ) जैसे शक्य (वाच्य) है वैसे ही वाक्यार्थ भी शक्य (वाच्य) है। इसलिये शक्यसंबंधरूप लक्षणा वाक्य में भी हो सकती है क्योंकि 'जो अर्थ, शक्ति से साक्षात् बोधन किया जाय वही शक्यार्थ है' इस प्रकार शक्य शब्द की व्याख्या यदि हमने स्वीकार की होती तो आपको कथनानुसार हमारे पक्ष में भी वाक्य में लक्षणा की अनुपपत्ति हुई होती। परन्तु शक्यार्थ का वैसा लक्षण न कर 'शक्ति से साक्षात् या परम्परा से जो अर्थ ज्ञात हो वही शक्यार्थ है' लक्षण मानते हैं—इस कारण शक्ति से साक्षात् यद्यपि पदार्थ ही बोधित होता है तथापि परंपरा से वाक्यार्थ भी बोधित होता है। पद से पदार्थ का ज्ञान होते ही उन पदार्थों के परस्पर अन्वय से हमें जो अर्थ ज्ञात होता है, वही वाक्यार्थ है, वह भी शक्ति से ही परम्परया ज्ञात होता है। इसलिये पदार्थ के समान वाक्यार्थ में भी शक्यता है। इस कारण पद के समान वाक्य की भी अपने शक्यार्थ—सम्बद्ध अर्थ में लक्षणा हो सकती है।

अब लौकिक वाक्य में जैसी लक्षणा हो सकती है उसी प्रकार वैदिक वाक्य में भी लक्षणा होती है—इस बात को ग्रन्थकार कह रहे हैं—

एवमर्थवादवाक्यानां प्रशंसारूपाणां प्राशस्त्ये लक्षणा। सोऽरोदी-दित्यादिनिन्दार्थवाक्यानां[1] निन्दितत्वे लक्षणा। अर्थवादगतपदानां [2]प्राशस्त्यादिलक्षणाऽभ्युपगमे एकेन पदेन लक्षणया तदुपस्थितिसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात्। एवं च विध्यपेक्षित-प्राशस्त्यरूपपदार्थ-प्रत्ययकतया अर्थवादपदसमुदायस्य[3] पदस्थानीयतया विधिवाक्येन[4] एकवाक्यत्वं भवतीत्यर्थवादानां[5] पदैकवाक्यता।

अर्थ—इसी प्रकार प्रशंसारूप अर्थवाद-वाक्यों की विधि के प्राशस्त्य में लक्षणा एवं 'सोऽरोदीत्' इत्यादि निन्दार्थक अर्थवादवाक्यों की 'निन्दितत्व' रूप अर्थ में लक्षणा होती है।

---

१. 'वादानां'—इति पाठान्तरम्।

२. स्त्येल०'—इति पाठान्तरम्।

३. 'प्रशस्तः' इत्येकेन पदेन यावानपेक्षितः अर्थो बोध्यते, तावानेव 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' अस्यार्थवादवाक्यस्याप्यर्थः इति पदसमुदायस्यापि अस्य पदस्थानीयत्वम्।

४. 'पदेन'—इति पाठान्तरम्।

५. 'दवाक्यानां'—इति पाठान्तरम्।

शंका—अर्थवादवाक्य के पदों की ही प्राशस्त्यादि अर्थ में लक्षणा होती है—यह क्यों नहीं मानते ?

समाधान—अर्थवादवाक्य के पदों की ही प्राशस्त्य अथवा निन्दितत्व रूप अर्थ में लक्षणा यदि मान लें तो एक ही पद से लक्षणा के द्वारा उन अर्थों की उपस्थिति हो जायगी जिससे अन्य पद व्यर्थ होंगे अर्थात् एक ही पद से प्राशस्त्य या निन्दितत्वादि अर्थों का लक्षणा के द्वारा यदि ज्ञान हो जाय तो अन्य पद व्यर्थ हैं, समझना पड़ेगा। इसलिये अर्थवाद-वाक्य के पदसमूह में विधि से अपेक्षित ऐसे प्राशस्त्यरूप पदार्थ की बोधकता होने के कारण पदस्थानीयत्व होता है। अर्थात् वह पदसमूह एक पद के समान ही होता है। इस कारण उनकी विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता होती है। इसलिये अर्थवादवाक्यों की पदैकवाक्यता मानी जाती है।

विवरण—'गम्भीरायां नद्यां घोषः' इस वाक्य के किसी एक ही पद की लक्षणा न होकर गम्भीर एवं नदी दो पदों की अर्थात् वाक्य की ही तीर अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है।

इस पर यदि कोई कहे कि 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन' यह नियम व्यभिचारी है अर्थात् नित्य (अव्यभिचारी) नहीं। जैसे—'चैत्रस्य गुरुकुलम्' चैत्र के गुरु का कुल इस वाक्य में 'चैत्रस्य' (इस) षष्ठयन्तपद का 'गुरुकुलम्' के गुरु शब्द के साथ अन्वय माने बिना गति ही नहीं है, इसलिये एकदेशान्वय का स्वीकार करना पड़ता है तो प्रकृत में भी उसी प्रकार एकादेशान्वय मानकर, गंभीर ऐसी जो नदी, उसका तीर-ऐसा अर्थ करने में क्या दोष है ? इसलिये ग्रन्थकार ने पूर्व समाधान की अरुचि से 'जहाँ वाक्य की लक्षणा माने बिना गति नहीं है', ऐसे वैदिक अर्थवाद-वाक्यों को दिखाया है।

अर्थवाद, विधि अथवा निषेध के साक्षात् बोधक नहीं होते, किन्तु गुणवाद और अनुवाद रूप से वे अपने अर्थ को बताते हैं। परन्तु वह अर्थ सदैव उपपन्न ही हो सो बात नहीं है। इसलिए अर्थवाद-वाक्यों में साक्षात् विधिनिषेधबोधकत्व का संभव नहीं होता। इस कारण अर्थवाद-वाक्यों के मुख्यार्थ को भी सदैव स्वीकार नहीं किया जाता। अतः लक्षणा के द्वारा विधि के प्राशस्त्यादि का ज्ञान करा देना ही अर्थवादवाक्यों का अर्थ माना जाता है।

वेद में 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—वायु अतिवेगवती देवता है—इत्यादि स्तुतिपरक अर्थवाद-वाक्यों की वायव्यपशुयागरूप विधि की स्तुति में लक्षणा माननी चाहिये। इसी प्रकार 'सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इत्यादि निन्दापरक अर्थवादवाक्यों की 'बर्हियाग में रजतदान नहीं करना चाहिये' इस विवक्षित निषेध के लिए 'जो बर्हियाग में रजतदान करता है वह रोता है' इस प्रकार निन्दा के अर्थ में लक्षणा है, यह स्वीकार करना ही होगा। यहाँ किसी एक पद की लक्षणा है—ऐसा नहीं कह सकते।

शंका—इस उदाहरण में भी प्राशस्त्यादि अर्थों में पदों की ही लक्षणा मान ली जाय। समस्त वाक्य की यह लक्षणा है—यह आग्रह क्यों ?

समाधान—अर्थवाद-वाक्य के अन्तर्गत—पदों की ही प्राशस्त्यादि अर्थ में लक्षणा मान लेने पर उनमें से एक ही पद, प्राशस्त्य-द्योतक होगा और अन्य पद व्यर्थ होने लगेंगे। क्योंकि विधि-निषेधों के प्रतिपादक वचनों को ही स्वार्थ में प्रामाण्य होता है, और अर्थवाद उनके प्रत्यक्षरूप से बोधक नहीं होते। इस कारण 'अनार्थक्यमतदर्थानाम्' इस नियम से उस वेदभाग को अनार्थक्य प्राप्त होने लगेगा।

परन्तु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि से प्रेरित होकर अक्षरशः ग्रहण किये जाने वाले वेदसमूह को अनार्थक्य प्राप्त होना इष्ट नहीं है। इसलिए अर्थवाद-वाक्यों की प्राशस्त्यादि अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। अतः सभी वाक्य, विधेय की स्तुति कर उसकी अवश्यकर्तव्यता का ज्ञान करा देने के कारण उन्हें अनर्थकत्व नहीं है—मानना पड़ता है।

[1]अर्थवाद के चार प्रकार होते हैं। उनमें से 'पुराकल्प' और 'परकृति' इन दो प्रकारों का यथासंभव प्राशस्त्य अथवा निन्दा में ही अन्तर्भाव हो जाने से यहाँ स्तुति-निन्दापरक अर्थवाद से उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

शंका—लक्षणा के द्वारा अर्थवादवाक्यों को प्राशस्त्यबोधक मानने पर भी उनकी अनर्थकता (व्यर्थता) कैसे दूर होगी ? क्योंकि 'जो वाक्य, विधिनिषेध का साक्षात् बोधक होता है वही सार्थक समझा जाता है', यह मीमांसा का नियम है। और अर्थवाद वाक्यों का साक्षात् विधि-निषेध बोधन न करना तो प्रसिद्ध ही है। ऐसी आशंकाके के समाधानार्थ ग्रन्थकार 'एवं च विध्यपेक्षित०' ग्रन्थ प्रारम्भ करते हैं।

स्तुतिपरक अर्थवाद, प्राशस्त्यबोधन के द्वारा विधि के साथ और निन्दापरक अर्थवाद, निषिद्ध पदार्थ के निन्दितत्व को बताते हुए निषेध के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं। इस कारण अर्थवादों को परम्परा से विधिनिषेधबोधकत्व होता है। इसलिये उन्हें व्यर्थ नहीं कह सकते।

इस एकवाक्यता के 'पदैकवाक्यता' तथा 'वाक्यैकवाक्यता' नामक दो प्रकार हैं। इनमें से अर्थवादवाक्यों में पदैकवाक्यता ही होती है। क्योंकि विधि एवं निषेधों को प्रशस्तत्व तथा निन्दितत्व की अपेक्षा रहती है, और समग्र अर्थवादवाक्य, विहित का

---

१. अर्थवादश्चतुर्विधः—स्तुतिः, निन्दा, परकृतिः पुराकल्पश्चेति। (गौ. सू. २।१।६४) तत्र परकृतिः एककर्तृकमुपाख्यानम्—(भाट्टदी० ६।७।२६), पुराकल्पः बहुकर्तृकोविधिः—(जै. सू. वृ. अ. ६)।

प्रकारान्तरेण स त्रिविधोऽर्थवादः—गुणवादः, अनुवादः, भूतार्थवादश्चेति।
—(न्या. सि. मं. ४ पृ. २०)

तदुक्तम्—विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधामतः। —(न्या. सि. मं. ४ पृ. ६१)

मीमांसकास्तु विधिशेषः निषेधशेषश्चेत्यर्थवादं द्वैविध्येन विभेजिरे।—(लौ. भा)।

प्राशस्त्य या निन्दित का निन्दितत्व अर्थ का ही बोधन करते हैं। इसलिए समस्त वाक्य से लक्षणा के द्वारा जितने अर्थ का ज्ञान होता है। उतने ही अर्थ का ज्ञान, प्रशस्त अथवा निन्द्य पदों से भी होता है। इस कारण प्राशस्त्यादि अर्थ, पदार्थरूप ही समझा जाता है। अतः अर्थवाद भी पदरूप है। और उसकी विधि के साथ एकवाक्यता होकर जो बोध होता है, वह पदैवाक्यता से ही होता है। इसलिए अर्थवादों में पदैक-वाक्यता ही होती है। वाक्यैकवाक्यता नहीं होती।

यदि अर्थवाद-वाक्यों में वाक्यैकवाक्यता नहीं होती, तो वह कहाँ होती है ? इस प्रकार अकांक्षा का उत्थापन कर उसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं देते हैं —

क तर्हि वाक्यैकवाक्यता ? । यत्र प्रत्येकं भिन्न-भिन्न-संसर्ग-प्रतिपादकयोर्वाक्ययोराकाङ्क्षावशेन महावाक्यार्थ-बोधकत्वम्[1] । यथा 'दर्श[2]पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि-वाक्यानां 'समिधो यजति' इत्यादि-वाक्यानां च परस्परापेक्षिताङ्गाङ्गि[3]-बोधक-[4]वाक्य-तयैकवाक्यता । तदुक्तं भट्टपादैः—

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्व पुनः संहत्य जायते ।। इति ।

अर्थ—अच्छा तो, वाक्यैकवाक्यता कहाँ होती है ? (उत्तर—) जहाँ भिन्न-भिन्न संसर्गप्रतिपादक (अर्थप्रतिपादक) दो वाक्यों को परस्पर आकांक्षा के कारण महा-वाक्यार्थ-बोधकत्व होता है वहाँ वाक्यैकवाक्यता होती है। जैसे—'स्वर्गकाम व्यक्ति (पुरुष) दर्श-पूर्णमास याग करे' इत्यादि वाक्य और 'समिध नामक याग करे' आदि दसरे प्रयाजवाक्यों को परस्पर अपेक्षित अङ्गाङ्गिभावबोधकत्व होने से उनकी जो एक-वाक्यता सिद्ध होती है, वही वाक्यैकवाक्यता है। अतएव भट्टपाद ने ऐसा कहा है— प्रथमतः स्वार्थ का बोध कराकर चरितार्थ हुए वाक्यों की परस्पर अंगांगिभाव की अपेक्षा से पुनः समुदायरूप से एकवाक्यता होती है।

विवरण—अर्थवादों के वाक्यरूप होने पर भी उनमें पदैकवाक्यता ही यदि संमत है तो वाक्यैकवाक्यता का उदाहरण कहाँ होगा ? इस आशंका के प्रसंगतः प्राप्त होने पर ग्रन्थकार वाक्यैकवाक्यता का उदाहरण बताते हैं। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' स्वर्गेच्छु पुरुष दर्श-पूर्णमास नामक याग करे—इस विधिवाक्य के सुनते ही 'दर्शपूर्णमास-याग, स्वर्ग का साधन है' यह अर्थ समझ में आता है। इसी प्रकार 'समिधो यजति'— समध्संज्ञक याग करे—इत्यादि विधिवाक्य से समिध् याग का विधान भी प्रतीत होता

---

१. 'म् तत्रवाक्यैकवाक्यता'—इति पाठान्तरम् । २. 'पौर्ण'—इति पाठान्तरम् ।
३. 'ङ्गिभावबो'— इति पाठान्तरम् । ४. 'कतयैकवाक्यत्वम्'—इति पाठान्तरम् ।

है परन्तु दर्श-पूर्णमास याग से स्वर्ग कैसे संपादन किया जाय ? इस प्रकार अंगीभूत याग को अंगों की आकांक्षा होती है। उसी प्रकार 'समिधो यजति' इत्यादि प्रयाजरूप यागों का प्रत्यक्ष फल कुछ भी न बताने के कारण इस याग से क्या साध्य है ? ऐसी साध्य (अंगी) की आंकाक्षा होती है। इस कारण प्रथमतः स्वार्थ में चारितार्थ हुए दोनों प्रकार के वाक्यों का परस्पर अन्वय होकर समिधादिरूप अंगों का अनुष्ठान कर 'दर्श-पूर्णमास याग से स्वर्ग को पाना चाहिये' इस प्रकार से जो अगांगिभावरूप महावाक्यार्थ निष्पन्न होता है—उसी को वाक्यैकवाक्यता कहते हैं। यहाँ एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ अन्वय होता है और उन दो वाक्यों से मिलकर एकरूप तात्पर्य निश्चित होता है, इसलिये इसे वाक्यैकवाक्यता कहते हैं। इसी न्याय के अनुसार अन्यत्र भी अंगबोधक एवं अंगिबोधक वाक्यों की एकवाक्यता समझ लेनी चाहिये।

ग्रन्थकार ने अपने इस कथन में 'तदुक्तम्०' इत्यादि ग्रन्थ से मीमांसकों की सम्मति प्रदर्शित की है। मीमांसकों का यह आशय है—प्रत्येक वाक्य की स्वसंनिहित-पदों से कर्मतादिसम्बन्ध से अन्वय होकर पदैकवाक्यता होती है, और प्रत्येक वाक्य का भिन्न-भिन्न शाब्दबोध होने पर वह वाक्य यदि अंगी याग का बोधक हो तो उसे अंग की और वह वाक्य अंग प्रतिपादक हो तो अंगी की—इस प्रकार वाक्यों में परस्पर आकांक्षा होती है। दर्श-पूर्णमास याग से स्वर्ग कैसे संपादन किया जाय—इस आकांक्षा की 'प्रयाजादि अंगों का अनुष्ठान कर दर्श-पूर्णमास याग करे' इस प्रकार निवृत्ति होने से दोनों वाक्यों का परस्पर अन्वय होकर जो एकवाक्यता (एक तात्पर्य-प्रतिपादकत्व) सिद्ध होता है—यही महवाक्यार्थ है और उसी को वाक्यैकवाक्यता कहते हैं।

इसी प्रकार 'पदार्थश्च द्विविधः०' से पदार्थ के द्विविधत्व का आरम्भ किया हुआ निरूपण समाप्त कर उसका उपसंहार करते हैं और प्रकृतप्राप्त आसत्ति में शाब्दज्ञान-हेतुत्व को बताते हैं।

एवं द्विविधोऽपि पदार्थो निरूपितः।

तदुपस्थितिश्चासत्तिः। सा च शाब्दबोधे हेतुः, तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात्। एवं महावाक्यार्थ-बोधेऽवान्तरवाक्यार्थ-बोधो हेतुः, तथैवान्वयाद्यवधारणात्।

अर्थ—इस प्रकार से शक्य और लक्ष्य दोनों पदार्थों का निरूपण कर दिया।

पदजन्य पदार्थ की अव्यवधान से उपस्थिति को ही आसत्ति कहते हैं। वह शाब्दबोध में कारण होती है। क्योंकि आसत्ति रहने पर शाब्दबोध होता है और आसत्ति के न रहने पर शाब्दबोध नहीं होता—यह अन्वय-व्यतिरेक प्रत्यक्षतया सभी के अनुभव में आता है। इसी प्रकार महावाक्यार्थ का बोध होने में अवान्तर वाक्यों के प्रत्येक वाक्य का ज्ञान कारण होता है, क्योंकि उसके अन्वयादि का भी वैसा ही निश्चय होता है।

विवरण—आसत्ति के लक्षण में 'पदजन्यपदार्थोपस्थितिः' कहा गया है। अब पदार्थ क्या है? और वह कितने प्रकार का है? यह आकांक्षा होने पर पदार्थ के शक्य तथा लक्ष्य भेद से दो प्रकार बताते हुए यहाँ तक उन्हीं का निरूपण किया गया है और अब प्रसंगप्राप्त पदार्थ-निरूपण को समाप्त कर प्रकृत आसत्ति से उसके सम्बन्ध को 'तदुपस्थितिश्च' इत्यादि वाक्यों से बताया गया और पदजन्य पदार्थ की जो अव्यवधान से उपस्थिति (प्राप्ति) है, उसी को आसत्ति कहते हैं। इस प्रकार पूर्व प्रकृत आसत्ति-लक्षण का उपसंहार किया है। उपर्युक्त स्वरूप की आसत्ति होने पर पदों से शाब्द-बोध होता है और वह न हो तो शाब्दबोध नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेक को देखने से आसत्ति शाब्दबोध में कारण है, यह निश्चित होता है। और इसी प्रमाण के द्वारा आसत्ति और शाब्दबोध में कार्य-कारण भाव सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आकांक्षा आदि के द्वारा अवान्तर वाक्यों का शाब्दबोध होने पर प्रकरणगत समस्त वाक्यों का मिलकर एक महावाक्यार्थ-बोध होता है, और वह न हुआ हो तो महावाक्यार्थ ज्ञात नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेक से उनमें भी परस्पर ऐसी ही कार्यकारणता सिद्ध होती है।

इस प्रकार शाब्दबोध में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति नामक तीन कारणों का प्रतिपादन कर अब क्रमप्राप्त तात्पर्यज्ञानरूप चतुर्थ अवशिष्ट कारण के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं।

क्रमप्राप्तं तात्पर्यं निरूप्यते। तत्र तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं न तात्पर्यम्। अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरिताद्वेदार्थ[1]प्रत्ययाभावप्रसङ्गात्। अयमध्यापको व्युत्पन्न इति विशेषदर्शनेन[2] तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्यभावात्। न चेश्व[3]रीयतात्पर्यज्ञानात् तत्र शब्दबोध इति वाच्यम्। ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्।

अर्थ—अब क्रमप्राप्त तात्पर्य का निरूपण किया जाता है। तत्रेति। निरूपणीय तात्पर्य के लक्षण प्रमाण को बताते समय यदि 'तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वम्' विवक्षित अर्थ की (तात्पर्यार्थ) प्रतीति की इच्छा से उच्चरितत्व (वाक्य का या शब्द का उच्चारण किया जाना)—यह तात्पर्य का लक्षण करें, तो वह ठीक नहीं होगा। क्योंकि जिस पुरुष को वाक्यार्थ ज्ञान नहीं है ऐसे के द्वारा उच्चारण किये जाने वाले वेदवाक्य से अर्थज्ञान न होने का प्रसंग आवेगा। (अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति के द्वारा कहे गये वेद-वाक्य से अर्थप्रतीति नहीं हो सकेगी।)

१. 'र्थाभान-प्रसङ्गात्'—इति पाठान्तरम्। २. 'न तात्प'—इति पाठान्तरम्।
३. 'रतात्प'—इति पाठान्तरम्।

इसके अतिरिक्त 'यह अध्यापक अव्युत्पन्न है' इस प्रकार के विशेष दर्शन (ज्ञान) से उसमें तात्पर्यभ्रम की अभाव रहता है, इस कारण उसे उसका ज्ञान है—यह भी नहीं कह सकते। अब यदि ऐसा कहें कि उन वाक्यों का अर्थज्ञान ईश्वर के तात्पर्य-ज्ञान से होता है वह भी ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व न मानने वाले व्यक्ति को भी उन वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होता देखने में आता है।

विवरण—इस परिच्छेद के आरम्भ में बताया गया है कि आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान--ये चार कारण, वाक्यजन्य ज्ञान में हुआ करते हैं। उनमें से आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति—इन तीन कारणों को यहाँ तक बताया गया। अब क्रमप्राप्त तात्पर्यज्ञान नामक चौथे कारण का निरूपण करना है, इसलिये तात्पर्य किसे कहते हैं? उसमें प्रमाण क्या है? और वह शाब्दबोध में कैसे कारण बनता है? इन सब बातों को बताना आवश्यक है। इस प्रकार तात्पर्य का लक्षण बताना आवश्यक होने पर प्रथमतः उसका स्वाभिमत लक्षण न बताकर, लोकप्रसिद्धि से प्रथमतः उपस्थित होने वाला नैयायिकाभिमत लक्षण बताते हैं–'वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम्' वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य कहते हैं। वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति श्रोता को हो, इस इच्छा से उसके द्वारा उच्चारण किये हुए शब्द का तात्पर्य उसी अर्थ में होता है। इस प्रकार नैयायिकों का बताया हुआ तात्पर्य का लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि इस लक्षण को मानने पर, संस्कृतभाषानभिज्ञ (पद-पदार्थ-व्युत्पत्तिहीन) व्यक्ति के द्वारा कहे गये वेदवाक्य के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। क्योंकि वक्ता अव्युत्पन्न है। इस कारण 'मेरे द्वारा कहे गये इस वेदवाक्य से श्रोता को अमुक अर्थ की प्रतीति हो' ऐसी इच्छा से वह वेदवाक्य उसके द्वारा कहा जाना संभव ही नहीं।

इसके अतिरिक्त वक्ता को अर्थज्ञान हो, चाहे न हो किन्तु उसके द्वारा 'अग्निमीले' अक्षरों का उच्चारण होते ही सुनने वाले व्युत्पन्न व्यक्ति को तत्काल 'मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ' इस अर्थ की प्रतीति होती दिखाई देती है।

शंका--शाब्दबोध में तात्पर्य, कारण न होकर उसका ज्ञान ही कारण होता है, इस कारण अव्युत्पन्न व्यक्ति को अपने द्वारा कहे गये वाक्य का ज्ञान न होने पर भी 'यह वक्ता अव्युत्पन्न है' यह श्रोता को ज्ञात न होने से 'इस व्यक्ति ने यह वाक्य अमुक अर्थ की प्रतीति की इच्छा से ही कहा है' ऐसा समझता है, इस प्रकार भ्रमरूप तात्पर्य-ज्ञान से उसे उस वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अव्युत्पन्न व्यक्ति के द्वारा कहे गये वाक्य से अर्थप्रतीति नहीं हो सकेगी।

समाधान--जबकि सुनने वाले को यह ज्ञात रहे कि 'यह व्यक्ति अव्युत्पन्न है', तब तो आपके कथनानुसार तात्पर्यभ्रम से ही शाब्दबोध हो सकेगा। परन्तु जब सुनने वाले को यह निश्चित रीति से ज्ञात रहे कि 'यह अध्यापक अव्युत्पन्न है' तब भी उसे वाक्यार्थबोध होता दिखाई देता है। किन्तु भ्रमरूप या प्रमारूप कोई भी तात्पर्य-

ज्ञान नहीं रहता, अतः नैयायिकों का यह तात्पर्य-लक्षण अव्याप्त रहता है। ऐसे अवसर पर श्रोता के अर्थज्ञान की उपपत्ति नहीं लग सकती।

शंका—काव्य का अध्ययन न किये हुए व्यक्ति के द्वारा भी किसी श्लोक के कहने पर उसे उसके अर्थ का ज्ञान होना संभव नहीं रहता तथापि उस श्लोक के मूलकर्ता कालिदास आदि कवि का तात्पर्यज्ञान, दूसरों को शाब्दबोध होने में कारण समझा जाता है, इसी रीति से वेदकर्ता परमेश्वर ने इस वाक्य का यही अर्थ किया है, इस इच्छा से ही वेदवाक्यों का उच्चारण किया होने से उससे तात्पर्यज्ञान से ही व्युत्पन्न श्रोताओं को उन वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होना संभव है।

समाधान—'परमेश्वर के तात्पर्य ज्ञान से व्युत्पन्न श्रोताओं को वेदवाक्यों के अर्थ का ज्ञान हो जाता है' यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'परमेश्वर, वेदकर्ता है' यह सिद्धान्त जिन्हें मान्य हो उनके मत में ईश्वर के तात्पर्यज्ञान से शाब्दबोध होना मान लिया जा सकता है, किन्तु जिन्हें ईश्वर का अस्तित्व ही मान्य न हो उन चार्वाकादि नास्तिकों को वेदवाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है, कहना पड़ेगा। परन्तु अनुभव तो विपरीत है। व्युत्पन्न व्यक्ति आस्तिक हो चाहे नास्तिक हो उसे वैदिक वाक्य के श्रवण होने पर अर्थज्ञान होता दिखाई देता है। इसलिये नैयायिकों का 'वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्'—तात्पर्य का लक्षण निर्दोष नहीं है।

प्रश्न—तो आप अद्वैतवेदान्ती तात्पर्य का कौन-सा लक्षण करते हैं ?

उच्यते। तत्प्रतीति-जनन-योग्यत्वं तात्पर्यम्। गेहे घट इति वाक्यं गेहे घटसंसर्ग-प्रतीति-जनन-योग्यं, न तु पटसंसर्गप्रतीति-जनन-योग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरं, न तु पट-संसर्गपर[1]मित्युच्यते।

अर्थ—हमें तात्पर्य का कौन-सा लक्षण अभीष्ट है सो बताते हैं—'पदार्थों के संसर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की वाक्य में योग्यता का होना' ही तात्पर्य है। 'घर में घट है' यह वाक्य, घर और घट के सम्बन्ध का अनुभव कराने में योग्य है। न कि गृह और पट के संसर्ग (सम्बन्ध) बोध कराने में। इसलिये 'गेहे घटः' यह वाक्य घटसंसर्गपरक (गृह और घट के संसर्ग का बोधक) है, न कि गृह और पट के संसर्ग का—ऐसा कहा जाता है।

विवरण—तात्पर्य का लक्षण 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्वम्' करने पर उपर्युक्त दोष आते हैं, अतः वैसा लक्षण न कर 'तत्प्रतीतीजननयोग्यत्वम्' ही तात्पर्य का लक्षण करना उचित है। वाक्य में वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता को ही तात्पर्य कहते हैं। जैसे—'घर में घट है' इस वाक्य के कहे जाने पर, वक्ता को उस

१. 'ति व्यपदिश्यते' —इति पाठान्तरम्।

वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो चाहे न हो, किन्तु उस वाक्य में गृह और घट के आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान करा देने की योग्यता रहती है। उस कारण श्रोता को विवक्षित अर्थ का बोध होता है। अर्थात् वाक्य में गृह और घट के आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध के ज्ञान करा देने की जो योग्यता रहती है उसका ज्ञान ही तात्पर्यज्ञान है। इस तात्पर्यज्ञान से ही सर्वत्र शाब्दबोध होता है।

यह तात्पर्यनिश्चय (यह वाक्य इसी अर्थ का बोधक है—यह निश्चय) उस वाक्यार्थप्रतीति के अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है। 'गेहे घटः' वाक्य के उच्चारण करने पर गृह और घट के ही सम्बन्ध का ज्ञान होता है। गृह और पट के सम्बन्ध का ज्ञान उस वाक्य से नहीं होता। इस कारण इस वाक्य का इसी अर्थ में तात्पर्य है— यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है।

शंका—जब हमें वाक्यार्थ का बोध होगा तभी यह वाक्य एतत्परक है इस प्रकार उसका तात्पर्यबोध होगा, और तात्पर्यबोध हुए बिना वाक्यार्थज्ञान होना संभव नहीं। अर्थात् शाब्दज्ञान में तात्पर्यज्ञान की और तात्पर्यज्ञान में शाब्दबोध की अपेक्षा होती है, इसलिये आपके लक्षण पर अन्योन्याश्रय दोष आता है।

समाधान—हमारे लक्षण पर अन्योन्याश्रय दोष नहीं आ पाता। क्योंकि 'तत्प्रतीतिजनकत्व'—विवक्षित अर्थ की प्रतीति उत्पन्न करने वाला—इतना ही यदि हमारा तात्पर्यलक्षण होता तो अन्योन्याश्रय दोष आ सकता था, किन्तु उस दोष के न आने देने के लिए ही हमने लक्षण में 'योग्यत्व' विशेषण दिया है। प्रकृत में अन्वय आदि की अनुपपत्ति न होना रूप ही योग्यता अभिप्रेत है। 'गेहे घटः' इस वाक्य के सुनने पर गेह और घट का आधाराधेयभाव संबंध से जो अन्वय होता है (अर्थात् 'गेहे' इस सप्तम्यन्त पद का आधारता से निरूपित 'घट' इस प्रथमान्त पद के साथ जो गेहनिष्ठ आधेयता संबंध से अन्वयबोध होता है) उसका अन्य किसी भी प्रमाण से बोध नहीं होता, इस कारण अन्वय आदि की भी अनुपपत्ति नहीं हो पाती। ऐसे पदों का वाक्य में होना ही तात्पर्य है और उसी से वाक्यार्थ का निश्चय होता है। जैसे—'गंगायां घोषः' इस वाक्य में गंगापदवाच्य प्रवाह—इस सप्तम्यन्त पद का घोषरूप प्रथमान्त पद के साथ आधेयता संबन्ध से होने वाला अन्वय अनुपपन्न होने से ही तीररूप अर्थ का ग्रहण कर उसके साथ अन्वय करना पड़ता है, जिससे अनुपपत्ति नहीं हो पाती। अर्थात् उपर्युक्त स्वरूप का तात्पर्यज्ञान ही शाब्दबोध में कारण होता है, और ऐसे तात्पर्यज्ञान में शाब्दबोध की अपेक्षा नहीं होती। इसलिये हमारे लक्षण पर अन्योन्याश्रय दोष के आने की शंका भी नहीं हो सकती। अन्वयानुपपत्ति, प्रयोजनासिद्धि और प्रकरणादि—तात्पर्य के निश्चायक होते हैं।

इस प्रकार हमारे तात्पर्यलक्षण पर 'अव्युत्पन्न पुरुष के द्वारा उच्चारण किये हुए वेदवाक्य से अर्थबोध नहीं होगा' यह अनुपपत्ति नहीं आ सकती। क्योंकि अव्युत्पन्न के

द्वारा कहे गये वेदवाक्य में भी 'विवक्षितअर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता' रूप हमारा तात्पर्यलक्षण होने से व्युत्पन्न पुरुष को वेदवाक्य का अर्थ ज्ञात हो सकता है। इसके अतिरिक्त हमारे मत में 'ईश्वर के तात्पर्यज्ञान को अर्थबोध में कारण मानना' यह कल्पनागौरव भी नहीं होता । तस्मात्—वाक्य में विवक्षित अर्थ की प्रतीति होने के योग्य (अनुकूल) पदों का होना ही तात्पर्य का लक्षण है ।

शंका—आपके तात्पर्यलक्षण को मान लेने पर अनेक अर्थों में रूढ पदों से युक्त वाक्य के तत्तद् अर्थ के अनुरोध से अनेक तात्पर्य मानने होंगे । अर्थात् उक्त लक्षण की अनेकार्थक पदों से युक्त वाक्य में अतिव्याप्ति होगी । इसका समाधान स्वयं ग्रन्थकार करते हैं।

ननु 'सैन्धवमानय' इत्यादि वाक्यं यदा लवणानयन-प्रतीतीच्छया प्रयुक्तं तदा[1]श्वसंसर्ग-प्रतीतिजनने स्वरूपयोग्यतासत्त्वाल्लवण-परत्व[2]-ज्ञानदशायामप्यश्वादि-संसर्गज्ञानापत्तिरिति चेत् । न । तदितर-प्रतीतिच्छया त्वनुच्चरितत्वस्यापि तात्पर्यं प्रति विशेषणत्वात् । तथा च यद्वाक्यं यत्प्रतीति-जनन[3]-स्वरूपयोग्यत्वे सति [4]यदन्यप्रतीतिच्छया [5]नोच्चरितं तद्वाक्यं तत्संसर्गपरमित्युच्यते ।

अर्थ—(शंका) 'नमक लाओ' यह वाक्य श्रोता को नमक लाने का ज्ञान हो इस इच्छा से जब कहा जाय तब उस वाक्य में अश्वसंसर्ग का ज्ञान करा देने की स्वरूपयोग्यता भी रहती है इस कारण 'यह वाक्य लवणसंसर्गबोधक है' ऐसा ज्ञान होने के समय ही 'वह अश्वादिसंसर्गबोधक है' ऐसा ज्ञान भी होने लगेगा । ऐसी शंका करना ठीक नहीं है । क्योंकि तात्पर्य के लक्षण में 'विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उसका उच्चारण न होना' इस विशेषण का निवेश कर्तव्य है । अर्थात् जो वाक्य उस अर्थ की प्रतीति के उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता से युक्त होकर भी जिस अन्य अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चरित नहीं होगा वह वाक्य उसी संसर्ग का बोधक (तत्संसर्गपरक) कहा जाता है ।

विवरण—आपने तात्पर्य का लक्षण 'तत्प्रतीतिजनकत्व' न कर 'प्रत्प्रतीतिजनन-योग्यत्व' किया है । अर्थात् वाक्य में विशिष्ट अर्थ की प्रतीति उत्पन्न करने की स्वरूप-

१. 'दाप्यश्व'—इति पाठान्तरम् ।
२. 'त्वदशा'—इति पाठान्तरम् ।
३. 'न योग्य'—इति पाठान्तरम् ।
४. 'तदन्य'—इति पाठान्तरम् ।
५. 'अनुच्चरितम्'—इति पाठान्तरम् ।

योग्यता के रहने पर उसमें तात्पर्य का लक्षण घटित हो जाता है—यह आपके कहने का आशय है। परन्तु ऐसा लक्षण करने पर अनेक अर्थों में रूढ़ पदों से युक्त वाक्य में दोष आता है। जैसे कोई—व्यक्ति भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' यह आज्ञा सेवक को करे। उस समय सेवक 'नमक' लावें, यही उसकी विवक्षा होना उचित है। किन्तु 'सैन्धव' पद के 'नमक' और 'घोड़ा' दोनों अर्थ होते हैं। इस कारण उस पद में लवण का बोध करा देने की जैसी योग्यता है वैसी ही अश्व की प्रतीति करा देने की भी योग्यता है। इस कारण श्रोता को उस वाक्य के श्रवण करते ही 'नमक' लाने का जैसे ज्ञान होता है, वैसे ही 'घोड़ा' लाने का भी ज्ञान होता है। क्योंकि सैन्धव शब्द दोनों अर्थों का ज्ञान कराने की योग्यता रखता है। तथापि सेवक, स्वामी के उस वाक्य को सुनकर 'घोड़ा' एवं 'नमक' दोनों पदार्थों को नहीं लाता है। किन्तु उस वाक्य से उसे केवल 'लवण' लाने की ही प्रतीति होता है। अतः 'स्वरूपयोग्यत्व' को तात्पर्य-लक्षण मानकर अनेकार्थक पदवाले वाक्य में वक्ता की इच्छा का भी अन्तर्भाव न कर उसकी आप कैसी उपपत्ति लगावेंगे ? यह आशय 'ननु' इत्यादि शंका ग्रन्थ का है।

परन्तु ऐसी शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि हमें 'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व' इतना ही तात्पर्यलक्षण अभिप्रेत न होकर उसमें 'तदन्यप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्व' यह तात्पर्य विशेषण भी विवक्षित है। इस विशेषण का निवेश करने पर तात्पर्यलक्षण का स्वरूप 'तथा च०' इत्यादि ग्रन्थ से बताया है।

वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति करा देने की योग्यता (सामर्थ्य) जिस वाक्य में होती है एवं जो वाक्य विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ को बताने की इच्छा से उच्चारण नहीं किया हुआ हो—वही उसका तात्पर्य है। ऐसा तात्पर्य का लक्षण करने पर 'एक ही वाक्य से - दो अर्थों की प्रतीति होगी' यह शंका नहीं हो सकती। भोजन के समय वक्ता के द्वारा 'सैन्धव लाओ' वाक्य का उच्चारण, श्रोता को लवण से भिन्न अश्वादि पदार्थ के बोधन की इच्छा से नहीं किया जाता। उस वाक्य में 'लवणप्रतीतिजनन-योग्यता' होती है और लवणेतर पदार्थ की प्रतीति की इच्छा से उसका उच्चारण भी नहीं रहता। इसलिये सेवक को उस वाक्य के सुनते ही 'लवणकर्मक आनयन' = जिसमें लवण कर्म है ऐसी 'आनयन' क्रिया का बोध होता है। अश्वकर्मक आनयन रूप संसर्ग का उससे बोध नहीं होता।

शंका—वक्ता ने 'सैन्धवमानय' वाक्य, अश्वप्रतीति की इच्छा से नहीं कहा, अपितु लवणप्रतीति की इच्छा से ही कहा है—यह उस श्रोता को कैसे ज्ञात हो ? इस प्रश्न के उत्तर में 'प्रकरण आदि' अर्थ निश्चायक होते हैं, पहले कह चुके हैं—भोजनप्रसंग में उस वाक्य के कहे जाने से अश्वप्रतीति की इच्छा से वह कहा गया है—यह बोध होना तो सम्भव ही नहीं, अतः 'तदन्यप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्व' इस तात्पर्य-विशेषण का लक्षण में अन्तर्भाव करने से पूर्वोक्त दोष नहीं आता। और केवल लवणपरक अर्थ की

भी उपपति लग जाती है—इस कारण तात्पर्यलक्षण में इच्छादि विशेषणों का निवेश नहीं करना पड़ता।

इस प्रकार तात्पर्यलक्षण में इच्छादि विशेषणों का सन्निवेश न करने से ही 'शुकादि' वाक्यों की व्यवस्था लगती है तथा पूर्वोक्त अव्युत्पन्न व्यक्ति के द्वारा कहे गये वेदवाक्य में भी उसकी अव्याप्ति नहीं हो पाती—इत्यादि, ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं—

शुकादिवाक्येऽव्युत्पन्नोच्चरित-वेदवाक्यादौ च तत्प्रतीतीच्छाया एवाभावेन[1] तदन्यप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वाभावेन लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिः। न चोभयप्रतीतीच्छयोच्चरितेऽव्याप्तिः। तदन्यमात्र-प्रतीतीच्छयाऽनुचरितत्वस्य विवक्षितत्वात्।

अर्थ—शुक से कहे गये वाक्य में एवं अव्युत्पन्न व्यक्ति से बोले गये वेदवाक्य में वक्ता की विशेषार्थप्रतीतिविषयक इच्छा ही नहीं रहती। इस कारण अन्यार्थ प्रतीति की इच्छा से उस वाक्य को बोला गया है यह नहीं कहा जा सकता, इसलिये 'तदितरप्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्व' लक्षण उन वाक्यों में घटित होने से अव्याप्ति नहीं हो पाती।

शंका—जो वाक्य दोनों अर्थों की प्रतीति की इच्छा से कहा हो उसमें अव्याप्ति होगी क्योंकि उसमें तदितरप्रतीतीच्छया अनुच्चारितत्व नहीं रहता।

परन्तु यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि 'तदितरप्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्व' विशेषण का 'तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्व' रूप अर्थ हमें विवक्षित है। ∵ उभयप्रतीति की इच्छा से उच्चारण किया हुआ वाक्य, केवल तदन्य अर्थ की ही प्रतीति की इच्छा से नहीं कहा रहता, इसलिये वहाँ पर लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो पाती।

विवरण—'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व' होकर तदितरप्रतीतीच्छा से अनुच्चरितत्व' रूप तात्पर्य का लक्षण मानने पर अर्थात् इस प्रकार इच्छाघटित लक्षण के स्वीकार करने पर शुकोच्चारित वाक्य में अव्याप्ति होती है, क्योंकि उच्चारण करते समय 'अमुक अर्थ की प्रतीति हो' या तद्भिन्न अर्थ की प्रतीती न हो' इत्यादि किसी प्रकार की इच्छा शुक में नहीं होती। इस शंका का निराकरण इस प्रकार किया जाता है कि–तोता जब 'स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणम्' आदि पढ़ाए हुए वाक्यों को बोलता है तब उसके मन में 'इस वाक्य से श्रोता को अमुक अर्थ का बोध हो' इत्याकारक इच्छा जैसे नहीं रहती वैसी ही 'इससे भिन्न अर्थ की श्रोता को प्रतीति न हो' इत्याकारक इच्छा भी नहीं रहती। अर्थात् वह वाक्य उसने तदितरप्रतीत की इच्छा से उच्चारणकिया हुआ नहीं रहता, पर विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता तो उस वाक्य में होती है, अतः हमारा तात्पर्यलक्षण वहाँ घटित होने से लक्षण-समन्वय हो जाता है इस कारण अव्याप्ति

१. 'भावात्'–इति पाठान्तरम्।

न होने से ही उस वाक्य से अर्थबोध होता है। इसी प्रकार अव्युत्पन्न व्यक्ति के द्वारा कहा गया वेदवाक्य भी विवक्षित अर्थ या तद्भिन्न अर्थ की इच्छा से उच्चारण किया नहीं रहता पर अर्थप्रतीतिजननयोग्यत्व उस वाक्य में होता है, इस कारण ऐसे वाक्य में तात्पर्य-लक्षण का समन्वय होता है और ऐसा तात्पर्यज्ञान होने से ही 'अर्थप्रत्ययाभाव-प्रसंग' नहीं होता।

शंका—तात्पर्य का उक्त लक्षण स्वीकार करने से अव्युत्पन्न व्यक्ति के उच्चरित वाक्य में दोष न आने पर भी अन्यत्र दोष आवेगा। जैसे कोई ज्ञानवान् वक्ता जब दोनों अर्थों की इच्छा से किसी वाक्य को बोलता हो उस समय उसका वह वाक्य तदितर प्रतीति की इच्छा से अनुच्चरित है, नहीं कह सकते। अतः उक्त लक्षण इस वाक्य में घटित न होने से दोनों अर्थों का बोध होता है—यह अनुपपत्ति दोष आपके मत में आता है अर्थात् तात्पर्यलक्षण की यहाँ अव्याप्ति है। जो विवक्षित अर्थ की इच्छा से वाक्य बोल सकता है वह उस वाक्य को भिन्नार्थप्रतीति की इच्छा से भी बोल सकता है। अर्थज्ञानरहित वक्ता में भिन्नार्थप्रतीति की इच्छा से उच्चारण करने की योग्यता ही नहीं होती।

'तदन्यमात्र०' इत्यादि वाक्य से इस शंका का निराकरण किया है। 'तदितर-प्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वम्' विशेषण के 'तदितर' पद का 'तदन्यमात्र' अर्थ विवक्षित है। अर्थात् वक्ता के द्वारा कहा हुआ वाक्य दोनों अर्थों की विवक्षा से उच्चारण करने पर भी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि उन दोनों अर्थों में उस वाक्य का तात्पर्य है। हमारा कहना केवल इतना ही है कि वह वाक्य तदन्य अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चरित नहीं होना चाहिये—यही उस विशेषण का अर्थ है। जब कोई व्यक्ति 'सैन्धव लाओ' इस एक ही वाक्य को गमनोपयोगी अश्व एवं भोजनोपयोगी लवण–इन दोनों अर्थों की प्रतीति की इच्छा से बोलता है, तब लवणभिन्न जो अश्व अथवा अश्वभिन्न जो लवण—इनकी विवक्षा से वक्ता उस वाक्य को वैसा कहता है, केवल अश्व या केवल तदन्य लवण अर्थ से उस वाक्य का उच्चारण ही नहीं रहता। अतः उक्त तात्पर्यलक्षण की ऐसी स्थल में अव्याप्ति नहीं होती।

शंका—'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' एक बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक समय एक ही अर्थ का बोध कराता है। यह नियम होने से 'अन्यायश्चाने-कार्थत्वम्' को आप मानते हैं, और यहाँ 'सैन्धवमानय' यह एक ही वाक्य, अश्व-लवण-उभयप्रतीति की इच्छा से उच्चरित है—यह कैसे कहते हैं?

समाधान—एक ही बार कहे हुए 'सैन्धवमानय' वाक्य से युगपत (एक ही साथ) अश्व एवं लवण दोनों अर्थों का ज्ञान होता है—ऐसा हम नहीं मानते। वक्ता के द्वारा वह वाक्य यद्यपि एक बार ही उच्चरित रहता है तथापि वक्ता के तात्पर्य को समझकर सुनने वाला व्यक्ति उस वाक्य की अपने मन में आवृत्ति करता है (उस वाक्य को

दुहराता है) और उसे प्रथम लवण की तदनन्तर अश्व की क्रमशः प्रतीति होती है। अतः उक्त नियम के साथ कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार 'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वे सति तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वम्' यह तात्पर्य का निष्कृष्ट लक्षण सिद्ध होता है। इसका आशय यह है कि 'विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करा देने की स्वरूपयोग्यता होते हुए उस अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उस वाक्य का उच्चरित न होना' इस प्रकार तात्पर्य के ज्ञात होने पर शाब्दबोध होता है तब इस तात्पर्यलक्षण पर किसी प्रकार का दोष नहीं आने पाता।

शंका—तत्प्रतीतिजननयोग्यता का अवच्छेदक क्या है ? अर्थात् विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता, शब्द में किस कारण आती है ? क्योंकि 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्वम्' को अवच्छेदक मानें तो अव्युत्पन्न व्यक्ति के द्वारा कहे हुए वेदवाक्य में अव्याप्ति होती है। अतः प्रकृत में 'योग्यतावच्छेदक' किसे मानते हैं ? इस शंका को शान्त करने के लिए ग्रन्थकार स्वयं योग्यता के अवच्छेदक को बताते हैं—

उक्त-प्रतीति[1]-मात्रजनन-योग्यतायाश्चावच्छेदिका शक्तिः, अस्माकं तु मते सर्वत्र कारणतायाः शक्तेरेवावच्छेदकत्वान्न[2] कोऽपि दोषः।

अर्थ—उक्त यावत् शाब्दप्रतीतिजननयोग्यता की अवच्छेदक 'शक्ति' ही है। हमारे मत में सर्वत्र 'शक्ति' को ही कारणता का अवच्छेदक माना है। इस कारण किसी प्रकार का दोष नहीं है।

विवरण—'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्वम्' को योग्यता का अवच्छेदक मानने में अव्युत्पन्नोच्चरित—वाक्य में दोष आता है, इसलिए वैसा अवच्छेदक स्वीकार न कर 'शक्ति' को ही यावत् (समस्त) शाब्दबोधों की कारणता का अवच्छेदक स्वीकार करते हैं। अर्थात् शब्द में विशिष्ट शक्ति होने पर विशिष्टार्थ—प्रतीति करा देने की योग्यता रहती है—समझना चाहिए। 'सैन्धवमानय' यही वाक्य केवल लवण-विवक्षा से जब कहा गया हो तब 'लवणप्रतीतीच्छया उच्चरितत्व' कारणतावच्छेदक होता है और वही वाक्य, उभय (अश्व और लवण) प्रतीति की इच्छा से कहा हो तब 'तदन्यमात्र-प्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्व' आदि भिन्न-भिन्न अवच्छेदक स्वीकार करने की अपेक्षा समस्त शाब्द (शब्दजन्य) बोधों में 'शक्ति' को ही कारणतावच्छेदक मानने में लाघव है।

किं बहुना केवल शब्दजन्य ज्ञान की जो कारणता उसी का अवच्छेदक 'शक्ति' न होकर संसार की समस्त कार्यों की कारणता का भी 'कार्यानुकूलशक्ति' को ही हमने अवच्छेदक माना है। तब शाब्दज्ञान की कारणता में अवच्छेदक 'शक्ति' है—इसे पृथक्

---

१. 'तिजनन'–इति पाठान्तरम्।
२. 'त्वादिति न'–इति पाठान्तरम्।

बताने की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा मानने पर तृण, अरणि, मणि आदि में दाह-जनकत्व का भिन्न-भिन्न तृणत्वादि को अवच्छेदक मानने का गौरव भी नहीं हो पाता, या अननुगमदोष भी नहीं हो पाता।

यहाँ पर शाब्दबोध की अवच्छेदक शक्ति का अर्थ आलंकारिकों के मतानुसार 'सामान्यवृत्ति' समझना चाहिए। आलंकारिक जिस प्रकार शक्य और लक्ष्य अर्थों में पदों की शक्ति ही मानते हैं अर्थात् 'वृत्ति' शब्द के समान ही 'शक्ति' शब्द का अर्थ मानते हैं, उसी प्रकार प्रकृत में ग्रन्थकार ने 'वृत्ति' अर्थ में 'शक्ति' शब्द को मानकर विवेचन किया है। इस कारण 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' आदि स्थलों में तीरादितात्पर्य की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि यहाँ पर 'गंगा शब्द की तीर अर्थ में शक्ति नहीं है' इस शंका का निराकरण हो जाता है तस्मात् यह तात्पर्य का स्वरूप निदुष्ट है।

शंका—शाब्दज्ञान में तात्पर्य को कारण आप कैसे कहते हैं ? क्योंकि विवरणाचार्य ने शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान की आवश्यकता का निषेध किया है। इस शंका का उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं—

एवं तात्पर्यस्य तत्प्रतीतिजनकत्वरूपस्य शाब्दज्ञान-जनकत्वे सिद्धे चतुर्थवर्णके तात्पर्यस्य शाब्दज्ञान-हेतुत्व-निराकरण-वाक्यं तत्प्रतीती-च्छयोच्चरितत्वरूप-तात्पर्यनिराकरणपरम्, अन्यथा तात्पर्य-निश्चय-फलक-वेदान्तविचार-वैयर्थ्य-प्रसङ्गात्।

अर्थ—इस प्रकार तत्प्रतीतिजनकत्वरूप तात्पर्यज्ञान, शाब्दज्ञान में कारण सिद्ध होने से चतुर्थवर्णक में विवरणाचार्य ने 'शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान कारण है' इस मत के निरसनार्थ जो वाक्य लिखा है वह 'तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्व' नैयायिकोक्त लक्षण की अयुक्तता दर्शित करने के लिए है। अन्यथा उपनिषद्वाक्यों के तात्पर्य का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त वेदान्तवाक्य-विचाररूप उत्तरमीमांसा व्यर्थ हो जायेगी।

विवरण—ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुःसूत्री (चार सूत्रों) पर भगवत्पूज्य-पाद श्रीशंकराचार्य का भाष्य है। उस पर उन्हीं के शिष्य श्रीपद्मपादाचार्य की टीका है, जिसे 'पञ्चपादिका' कहते हैं। उस पञ्चपादिका पर श्रीप्रकाशत्ममुनि ने व्याख्या रची है, उसे विवरण कहते हैं। इसमें प्रथम सूत्र के चार वर्णक कर विवरण किया है, उनमें से चतुर्थ वर्णक में 'अत्रेदं विचार्यं, किं तात्पर्यमर्थप्रमितिहेतुः किंवा प्रतिबन्धनिरास-हेतुरिति ?' यहाँ यह विचार करना है कि अर्थ यथार्थ ज्ञान होने में तात्पर्य कारण है या अर्थनिश्चय के प्रतिवन्ध की निवृत्ति के लिए उसकी आवश्यकता है ?—ऐसा विकल्प कर 'अर्थज्ञान में तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है' कहा है, और यहाँ पर तो आप तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध में कारण बता रहे हैं, यह कैसे हो सकता है ? इस शंका का उद्भव होने पर श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं—विवरणाचार्य के आशय को न समझने के कारण

उपर्युक्त शंका उत्पन्न हुई है। क्योंकि प्रमाणसिद्ध वस्तु का निषेध कोई भी नहीं कर सकता। उपर्युक्त तात्पर्यज्ञान से शाब्दबोध होता है —यह अनुभव सभी को होने के कारण अनुभवसिद्ध वस्तु का निषेध विवरणाचार्य भी कैसे करेंगे। तस्मात् उन्होंने जो तात्पर्य का निषेध किया है वह नैयायिकाभिमत 'तत्प्रतीतीच्छा उच्चरितत्व' रूप तात्पर्य का ही किया है, यह समझना चाहिए। क्योंकि वैसे तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध में कारण मानना सदोष है। हमारे उपर्युक्त लक्षण पर किसी प्रकार दोष न आने से उसका निषेध करने का उनका उद्देश्य नहीं है। क्योंकि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध की कारणता सर्वथैव नहीं होती—यह मत यदि उनका होता तो वे वेदान्तों (उपनिषदों) के तात्पर्य-निर्णयार्थ प्रवृत्त--शारीरिक भाष्य के आधार पर 'विवरण' टीका ही न करते। क्योंकि जिस तात्पर्यज्ञान का अर्थज्ञान में उपयोग नहीं है, उस तात्पर्य के निश्चयार्थ किया हुआ उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक षड्विधलिंगों का विचार व्यर्थ होने लगेगा।

इसके अतिरिक्त 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र के भाष्य में आचार्य ने 'सर्वेषु वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यैवार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि' कहा है, उसके साथ भी विरोध होगा। इसलिए ऐसी मूलोच्छेदक कल्पना न कर उक्तार्थ में ही विवरणाचार्य का तात्पर्य मानना योग्य होगा।

अब रत्नकार आदि के मत से उपर्युक्त तात्पर्य-निरसनपरक विवरण ग्रन्थ की उपपत्ति बताते हैं।

केचित्तु शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन न तात्पर्यज्ञानं हेतुरित्येवं परं चतुर्थवर्णकवाक्यम्। तात्पर्य-संशय-विपर्ययोत्तर शाब्दज्ञानविशेषे च तात्पर्यज्ञानं हेतुरेव। इदं वाक्यमेतत्परम्? उतान्यपरमिति[1] संशये तद्विपर्यये च तदुत्तर वाक्यार्थ[2]-विशेषनिश्चयस्य तात्पर्यनिश्चयं विनाऽनुपपत्तेरित्याहुः।

अर्थ—कुछ लोग 'शाब्दज्ञानत्व के अवच्छेद से (यावत्-शब्दज्ञान में) तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है, एतत्परक वह चतुर्थ वर्णक में वाक्य है। तात्पर्य में संशय अथवा विपर्यय (भ्रम) होने पर जो विशेष शाब्दबोध होता है, उसमें तो तात्पर्यज्ञान, कारण होता ही है। यह वाक्य एतत्पर (इस अर्थ का बोधक) है, या अन्यपरक है? ऐसा संशय होने पर या अन्यपर ही है—यह भ्रम होने पर पश्चात् वाक्यार्थ का जो विशेष निर्णय होता है उसकी उपपत्ति तात्पर्यनिश्चय के बिना नहीं हो पाती' ऐसा कहते हैं।

१. 'तात्पर्य सं०'—इति पाठान्तरम्।
२. 'र्थनि०'—इति पाठान्तरम्।

विवरण—रत्नकार आदि कहते हैं कि 'किसी विशेष स्थल पर यद्यपि शाब्दबोध को तात्पर्यज्ञान की अपेक्षा रहती है तथापि शाब्दबोध में सर्वत्र तात्पर्यज्ञान कारण नहीं होता' इस कथन में ही विवरण-वाक्य का तात्पर्य है। इस कारण उन्होंने तात्पर्यज्ञान का सर्वथा निषेध किया है, नहीं कहा जाता और स्वीकार किया है—यह भी नहीं कहा जा सकता। मूल में 'शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन' का यही अर्थ है—शाब्दज्ञानत्व के अवच्छेद से (व्याप्ति से) अर्थात् शाब्दज्ञान में तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है (जहाँ शाब्दज्ञानत्व है वहाँ तात्पर्यज्ञान है), इस प्रकार उनकी (शाब्दज्ञानत्व और तात्पर्यज्ञान की) व्याप्ति नहीं है। किन्तु जहाँ वाक्यार्थज्ञान में—इस वाक्य का यही अर्थ है या अन्य अर्थ है—संशय हुआ हो वहाँ तात्पर्यज्ञान का वाक्यार्थज्ञान में उपयोग होता है। किंवा वक्ता के आशय को न समझ कर यदि विपरीत अर्थ किसी को भासित हुआ हो तो उसकी निवृत्ति के लिए वहाँ पर उतना तात्पर्यज्ञान उपयुक्त होता है। इतरत्र शाब्दज्ञान होते हुए भी तात्पर्यज्ञान वहाँ कारण नहीं रहता। अर्थात् स्थल विशेष पर तात्पर्यज्ञान की शाब्दबोध में अपेक्षा होती है। समस्त शाब्दबोध, तात्पर्यज्ञान के पश्चात् ही हो ऐसा नियम नहीं है। तात्पर्यज्ञान में शाब्दज्ञान की कारणता का निषेध करने में विवरणाचार्य का यही अभिप्राय है। इस रीति से रत्नकार आदिकों ने तात्पर्यज्ञान में कारणता की उपपत्ति को बताया है।

'आहुः' कहकर ग्रन्थकार ने उपर्युक्त समाधान पर अपनी अरुचि सूचित की है। उसका कारण भी यही है कि सामान्यत: समस्त शाब्दबोधों में तात्पर्यज्ञान को ही कारण माना जाय तो शाब्दज्ञाननिष्ठ कार्यता का अवच्छेदक, शाब्दज्ञानत्व ही होगा, परन्तु ऐसा न मानकर संशय–विपर्ययोत्तरशाब्दज्ञान में ही तात्पर्यज्ञान कारण होता है—यदि स्वीकार करें तो 'संशयविपर्ययोत्तरशाब्दज्ञानत्व' इतना गुरुभूत कार्यतावच्छेदक मानना पड़ता है, तथापि कार्यभेद से कारण का और कारणतावच्छेक आदि का भेद यदि मानना हो तो इस मत को भी स्वीकार किया जाय। पूर्वाचार्यों के वचन से हमारे मत का विरोध नहीं हो पाता। यह दोनों समाधानों से सिद्ध है।

शंका—तात्पर्यज्ञान, शाब्दबोध में कारण है—यह सिद्ध होने पर भी वह तात्पर्य-ज्ञान किससे होता है ? तब मूलकार उत्तर देते हैं—

तच्च तात्पर्य्यं वेदे मीमांसा परिशोधित-न्यायादेवावधार्यते, लोके तु प्रकरणादिना। तत्र लौकिक-वाक्यानां मानान्तरावगतार्था[1]-नुवादकत्वम्। वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम्।

अर्थ—और वह तात्पर्य, वेदवाक्यों में मीमांसा के द्वारा परिशोधित न्यायों से ही निश्चित होता है। परन्तु लौकिकवाक्यों में प्रकरणादिकों से (तात्पर्य का निश्चय होता है)।

---

१. 'र्थतयानु०'—इति पाठान्तरम्।

तत्र—लौकिक-वैदिक वाक्यों में से लौकिक वाक्य तो प्रमाणान्तरों से ज्ञात हुए अर्थ का ही अनुवाद करते हैं। परन्तु वैदिक वाक्यों का अर्थ, प्रमाणान्तर से अज्ञात होने के कारण अनुवाद रूप नहीं होता।

विवरण—लौकिक और वैदिक भेद से शब्द के दो प्रकार हैं। वैदिक वाक्यों के तात्पर्य का निश्चय पूर्वोत्तर-मीमांसारूप पूजित-विचार से सिद्ध हुए निर्दुष्ट न्यायों के द्वारा ही होना चाहिये। बिना मीमांसा के वेदों का यथार्थ तात्पर्य ज्ञात होना संभव ही नहीं। वेदों के पूर्वोत्तर काण्डों के तात्पर्य-निर्णयार्थ ही पूर्वोत्तर मीमांसाएँ प्रवृत्त हुई हैं। इस कारण वैदिक वाक्यों का तात्पर्यज्ञान, मीमांसा-न्यायों के अधीन होता है।

लौकिक वाक्यों का तात्पर्य प्रकरणादिकों से ज्ञात होता है। उदाहरण 'देवः प्रमाणम्' वाक्य है। यह राजप्रकरण में पठित होने से यहाँ देव शब्द का राजा अर्थ में तात्पर्य है—निश्चित होता है। प्रकरणादि के 'आदि' पद से लिंग, औचित्य आदि का ग्रहण करना चाहिये। इस विषय में अभियुक्तों का वचन है—

'अर्थात् प्रकरणाल्लिङ्गादौचित्याद्देशकालतः।
शब्दार्थास्तु विभिद्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥'

अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण, लिङ्ग (शब्दसामर्थ्य), औचित्य, देश और काल से शब्दार्थों का भेद होता है। केवल शब्दस्वरूप से शब्दार्थ में भेद नहीं होता।

लौकिक और वैदिक वाक्यों में एक विशेष यह भी है कि—लौकिक वाक्य जिस अर्थ को बताते हैं, वह प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से अवगत (ज्ञात) ही रहता है, अपूर्व नहीं होता। इस कारण लौकिक वाक्यों में सिद्ध वस्तुओं का अनुवादकत्व ही रहता है। अपूर्वार्थप्रतिपादकत्वरूप स्वतः प्रामाण्य नहीं होता। किन्तु वेदमूलकत्वेन प्रामाण्य होता है। वैदिक वाक्यों की यह स्थिति नहीं है। वे जिस अर्थ को बताते हैं वह पहले किसी भी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं रहता। इसलिये वैदिक वाक्य, अनुवादरूप न होकर अपूर्व (पुरुषबुद्धि से अगम्य) अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसी कारण उन्हें (वैदिक वाक्यों को) अज्ञातार्थज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य होता है।

पूर्व मीमांसक कार्यपरक (साक्षात् विधि-निषेधबोधक) शब्दों का ही स्वार्थ में प्रामाण्य मानते हैं। उनका कहना है कि—व्यवहार में दिखाई देता है कि उत्तमवृद्ध पुरुष (वृद्ध आदमी), मध्यमवृद्ध (तरुण पुरुष) को 'गाय लाओ' 'बछड़ा बाँध' इत्यादि आज्ञा देता है। यह सब समीप बैठा बालक देखता रहता है और उससे उसे आनयनादि-क्रियान्वित ही 'गो' आदि पदों का अर्थबोध (शक्तिग्रह) होता है। इस कारण केवल सिद्धवस्तुप्रतिपादक शब्दों से शक्तिग्रह होना संभव ही नहीं। इसीकारण कार्यबोधकत्वेन रूपेण ही शब्दों का प्रामाण्य सिद्ध होता है। सिद्धार्थप्रतिपादक वाक्यों में प्रामाण्य नहीं कह सकते। इसी अभिप्राय से उन्होंने 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' कहा है।

पूर्वमीमांसकों के इस मत का निरसन करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं—

तत्र लोके वेदे च कार्यपराणामिव सिद्धार्थानामपि[1] प्रामाण्यम्, पुत्रस्ते जात[2] इत्यादिषु सिद्धार्थेऽ[3]पि पदानां सामर्थ्यावधारणात् । अत एव वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यम् । यथा चैतत्तथा विषय-परिच्छेदे वक्ष्यते ।

अर्थ—'तत्र'—लोक और वेद में कार्यबोधक शब्दों के समान सिद्धार्थ-बोधक शब्दों में ही प्रामाण्य होता है । क्योंकि 'तुम्हें पुत्र हुआ है' इत्यादि वाक्यों में सिद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन होने पर भी उनके पदों के सामर्थ्य (शक्ति) का निश्चय हम कर पाते हैं इसी कारण उपनिषद्-वाक्यों को ब्रह्म के विषय में प्रामाण्य माना जाता है, उसका प्रकार विषयपरिच्छेद में बतावेंगे ।

विवरण—कार्यपरक शब्दों के समान सिद्धार्थप्रतिपादक शब्दों का भी प्रामाण्य अवश्य स्वीकार करना चाहिये । क्योंकि कार्यपरक शब्दों से जिस प्रकार उन शब्दों का सामर्थ्य समझ में आता है उसी प्रकार 'तुम्हें पुत्र हुआ है' इत्यादि सिद्धार्थपरक शब्दों का भी शक्तिग्रह हमें होता है । 'पुत्रस्ते जातः' किसी को कहने पर सुनने वाले की मुद्रा प्रसन्न होती है, वैसे ही 'कन्या ते गर्भिणी जाता' = तेरी कन्या (अविवाहित पुत्र) गर्भिणी है—इस वाक्य के सुनते ही श्रोता की मुखमुद्रा अप्रसन्न दीखती है । इस मुखप्रसाद और मुखमालिन्य रूप लिंग से उसके हर्षविषाद का अनुमान होता है । उपर्युक्त वाक्य से उक्त अर्थ उस पुरुष को यदि ज्ञात न हुआ होता तो उसके मुख पर ऐसा परिणाम हुआ न दिखाई देता । इस अर्थापत्तिरूप प्रमाण से इस पुरुष को उक्त सिद्धार्थबोधक वाक्यों से भी शाब्दबोध (शक्तिग्रह) होता है । तस्मात् कार्यपरक शब्दों के शक्तिग्रह के समान सिद्धार्थक पदों का भी शक्तिग्रह स्वीकार करना चाहिये, जिससे सिद्धार्थक पदों में भी प्रामाण्य अर्थादेव सिद्ध हो जाता है । क्योंकि जैसे कार्यपरक वाक्य से प्रमात्मक—(यथार्थ) ज्ञान पैदा होता है' वैसे ही सिद्धार्थबोधक वाक्य से भी प्रमात्मक ज्ञान पैदा होता है । अर्थात् उसके 'प्रमाकरणत्व' रूप प्रामाण्य का कोई निषेध नहीं कर सकता । 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य०' इत्यादि सूत्र के द्वारा पूर्व काण्ड के मन्त्र तथा अर्थवादरूप वेदभाग में प्रामाण्य नहीं है, इस आशय से पूर्वपक्ष को उठाया गया है । इस कारण स्वतन्त्र-फल—रहित मन्त्रादि में विधिशेषत्वेन प्रामाण्य के प्राप्त न होने पर भी समस्त अनर्थनिवृत्तिरूप प्रयोजन (फल) से युक्त

---

१. 'प्यपूर्वतया प्रा०'—इति पाठान्तरम् ।
२. 'तः, कन्या ते गर्भिणीत्या०'—इति पाठान्तरम् ।
३. 'र्थेष्वपि'—इति पाठान्तरम् ।

ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषद्वाक्यों में प्रामाण्य सिद्ध होता है। तस्मात् लौकिक एवं वैदिक दोनों शब्दों को कार्य और सिद्ध दोनों अर्थों में प्रामाण्य होता है। वेदान्तवाक्यों की केवल (कार्यसंस्पर्शरहित) ब्रह्मबोधकत्व कैसे होता है ? और उनका ब्रह्म रूप अर्थ में ही ही समन्वय किस प्रकार होता है ? यह सब विषयपरिच्छेद में ग्रन्थकार सविस्तर बतावेंगे अतः वेदान्त 'ब्रह्मज्ञान का विधान करने के लिए है' ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

स्वाभिमत वेद-प्रामाण्य की स्थापना करने के लिए प्रथम नैयायिक और पूर्वमीमांसकों के तद्विषयक मतों को बताते हैं।

तत्र वेदानां नित्यसर्वज्ञ-परमेश्वर-प्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति नैयायिकाः। वेदानां नित्यत्वेन निरस्त-समस्त-पुंदूषणतया प्रामाण्यमित्यध्वरमीमांसकाः। अस्माकं तु मते वेदो न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात्। उत्पत्तिमत्त्वं च 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः[1]' (बृ०–२–४–१०) इत्यादि श्रुतेः।

अर्थ—'तत्र'—लोक तथा वेद इन में से वेदों को नित्य, सर्वज्ञ ईश्वर के निर्मित होने से प्रामाण्य हैं—ऐसा नैयायिक कहते हैं। वेद, नित्य (उत्पत्तिरहित) होने से उनमें पुरुषसुलभ किसी प्रकार के दोष न होने से ही प्रामाण्य है—ऐसा अध्वरमीमांसक (यज्ञकाण्डरूपकर्मपरक वेदभाग का विचार करने वाले पूर्वमीमांसक) मानते हैं। किन्तु हमरे मत में वेद नित्य नहीं हैं क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं। 'यह जो ऋग्वेदादि है वह इस महद्भूत का निःश्वसित है' इत्यादि श्रुति से उनका उत्पत्तिमत्त्व सिद्ध होता है।

विवरण–इनमें से प्रथम लक्षण नैयायिकों का है। 'वेद, नित्य एवं सर्वज्ञ परमेश्वर के प्रणीत होने से उन्हें प्रामाण्य है' यह उनका मत है। 'कर्ता के दोष से उनमें अप्रामाण्य की कोई शङ्का न करे, इसलिये वेदों के परमेश्वर-प्रणीत होने पर भी वह वेदकर्ता परमेश्वर सर्वज्ञ होने के कारण कर्तृदोषप्रयुक्त अप्रामाण्य उनमें प्राप्त नहीं होता यह बात 'सर्वज्ञ' विशेषण से सूचित की है। सर्वज्ञत्व, मन्वादि स्मृतिकारों में भी होने से तत्प्रणीत ग्रन्थों को भी प्रामाण्य प्राप्त हो सकता है, इसलिये परमेश्वर को 'नित्य' विशेषण दिया है। मन्वादिकों के सर्वज्ञ होने पर भी वे नित्य न होने से उपर्युक्त शङ्का ही नहीं उठ सकती। 'प्रणीतत्व' के कहने से वेदान्ती और नैय्यायिक के मतोंमें वैलक्षण्य सूचित कर दिया गया। वेदान्तमत से वेदों में उत्पत्तिमत्त्व के होने पर भी (वेद, उत्पन्न हुए हैं–यह स्वीकार करने पर भी) वे अन्य कल्प की आनुपूर्वी से विजातीय आनुपूर्वीयुक्त एवं ईश्वरप्रणीत हैं—यह नैयायिकों का कथन वेदान्तियों को मान्य नहीं है।

---

१. 'दो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इ०'—इति पाठान्तरम्।

(पूर्व कल्प के वेद का अनुक्रम भिन्न है और ईश्वर-निर्मित इस कल्प के वेद का अनुक्रम अत्यन्त विलक्षण है—ऐसा नैयायिक मानते हैं। यह अद्वैत वेदान्तियों को सम्मत नहीं है। वे आकाशादिकों के समान वेदों की उत्पत्ति मानते हैं। किन्तु उनकी आनुपूर्वी, पूर्वकल्प की आनुपूर्वी के समान ही होती है, यह सिद्ध करते हैं।)

अब मीमांसकों के मत को बताते हैं—हमने वेदों की नित्यता स्वीकार की होने से, उनमें पुरुषगत समस्त दोषों का अभाव है, इस कारण उन्हें प्रामाण्य है। वेदों को यदि अनित्य माना जाय तो उनमें पुरुष-प्रणीतत्व मानना होगा। वेदकर्ता पुरुष में ईश्वरत्व होने पर भी उसमें भक्तपक्षपात आदि दोष होना बहुत संभव है। इस कारण बौद्धप्रणीत आगम के समान वेदों में भी दोष हो सकते हैं। किन्तु वेदों के नित्य होने से उनमें से समस्त पुरुषदोषों का निरसन हो जाता है। उनमें भ्रम-प्रमादादि कोई दोष नहीं कहा जा सकता, इसी कारण वे प्रमाण कहे जाते हैं।

इस प्रकार नैयायिक एवं मीमांसकों के वेदप्रामाण्यविषयक मतों को बताकर अब ग्रन्थकार स्वयं अपना मत बताते हैं। वेद की उत्पत्ति होने से हमारे मत में वे नित्य नहीं है। यहाँ पर 'तु' शब्द उभयपक्षों से अपने मत की विलक्षणता प्रकट करने के लिये है। उत्पत्ति के कारण वेदों के अनित्य होने पर भी प्रलय-काल तक उनकी स्थिरता स्वरूपतः रहती है। इसलिये वे पुरुषदोषों से रहित रहते हैं। उनका पुरुषदोष-निर्मुक्तत्व श्रुतिसिद्धि होने से वेदों के अनित्यत्व में साधक 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु को स्वरूपासिद्ध नहीं कहा जा सकता। 'ऋग्वेदादि, इस महाभूत का निःस्वसित है' इत्यादि श्रुतियाँ वेदों की उत्पत्ति में प्रमाण हैं। यहाँ के 'आदि' शब्द से पुरुषसूक्त की 'ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि श्रुति का ग्रहण करना चाहिये।

'वेद नित्य नहीं हैं' वेदान्तियों के इस कथन से यह प्रतीत होता है कि नैयायिकाभिमत त्रिक्षणावस्थायित्व भी उन्हें अनुमत होना चाहिये। इस शङ्का के निरसनार्थं 'नापि०' आदि ग्रन्थ से ग्रन्थकार बताते हैं कि 'मीमांसकों का अभिमत 'वेदनित्यत्व' जैसे हमें सम्मत नहीं वैसे ही नैयायिकसम्मत 'अनित्यत्व' भी हमें मान्य नहीं।

नापि वेदानां त्रिक्षणावस्थायित्वम्। य एव वेदो देवदत्तेनाधीतः; स एव[1] वेदो मयाऽधीत इत्यादिप्रत्यभिज्ञा-विरोधात्। अत एव गकारादि-वर्णानामपि न क्षणिकत्वं, सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञा-विरोधात्।

अर्थ—वेदों में त्रिक्षणावस्थायित्व भी नहीं है। क्योंकि जिस वेद को देवदत्त ने पढा, उसको मैंने भी पढ़ा' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध आता है। इसी कारण

१. 'मयापीत्या'–इति पाठान्तरम्।

गकारादि-वर्णों को भी क्षणिकत्व नहीं है, क्योंकि 'वही यह गकार' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध आता है।

विवरण—वर्णों के समुदायरूप वेदों में त्रिक्षणावस्थायित्व (क्षणिकत्व) नहीं है। जो वस्तु क्षणिक होती है वह तीन क्षण (उत्पत्ति का एक क्षण, स्थिति का दूसरा क्षण, नाश का तीसरा क्षण) ही रहती है। नैयायिक लोग ऐसी वस्तु को क्षणिक, अनित्य आदि कहते हैं। वर्ण-समुदायरूप वेद में स्वरूपतः ऐसा क्षणिकत्व नहीं रहता, क्योंकि कल्प के आरंभ में जो वेद था वही मध्यकाल में एवं वर्तमान काल में भी है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। नैयायिकों के मतानुसार उनमें त्रिक्षणावस्थायित्वरूप क्षणिकत्व रहता है, परन्तु ऐसा मानने पर उस प्रत्यभिज्ञा से विरोध आता है। इसलिये वर्णसमुदायगर्भ वेदों को स्वरूपतःक्षणिक स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'अत एव' इत्यादि ग्रन्थ से वर्णों के द्वारा भी उनमें क्षणिकत्व नहीं है—बताया है। जब कि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध होने के कारण पदादि समुदायगर्भ वेद में क्षणिकत्व नहीं होता। इसी कारण 'देवदत्त से उच्चारित जो गकार है वही यह है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध आने के कारण वर्णों में भी क्षणिकत्व नहीं होता। एवंच नैयायिकाभिमत-त्रिक्षणावस्थायित्वस्वरूप क्षणिकत्व नहीं है।

शंका—वर्णसमुदाययुक्त वेदों में वर्णों में भी यदि क्षणिकत्व नहीं तो आपके मत में वेदों में उत्पत्तिमत्त्व और उस कारण अनित्यत्व किस प्रकार है? उत्तर देते हैं—

तथा च वर्ण-पद-वाक्यसमुदाय[1]स्य वेदस्य वियदादिवत् सृष्टि-कालीनोत्पत्ति[2]मत्त्वं प्रलयकालीनध्वंस-प्रतियोगित्वं च। न तु मध्ये वर्णानामुत्पत्ति-विनाशौ, अनन्तगकारकल्पने[3] गौरवात्। अनुच्चारण-दशायां वर्णानामनभिव्यक्तिस्तदुच्चारणरूप-व्यञ्जकाभावान्न विरुध्यते। अन्धकारस्थ[4]ले घटानुपलम्भवत्। उत्पन्नो गकार[5] इत्यादिप्रत्ययः सोऽयं गकार[6] इति प्रत्यभिज्ञा-विरोधादप्रमाणम्, वर्णाभिव्य[7]क्ति-जनकध्वनिगतोत्पत्ति-निरूपित-परम्परासम्बन्ध-विषयत्वेन प्रमाणं वा। तस्मान्न वेदानां क्षणिकत्वम्।

अर्थ—वेदों में स्वरूपतः एवं वर्णद्वारा भी क्षणिकत्व नहीं है यह सिद्ध होने पर

---

१. 'रूपस्य'—इति पाठान्तरम्। २. 'त्तिकत्वं'—इति पाठान्तरम्।
३. 'ल्पनायां—इति पाठान्तरम्। ४. 'स्थघ'—इति पाठान्तरम्।
५. 'इति प्रत्यक्षं तु'—इति पाठान्तरम्। ६. 'इत्यादि'—इति पाठान्तरम्।
७. 'व्यंजकध्व' इति पाठान्तरम्।

वर्णसमुदाय, पदसमुदाय और वाक्यसमुदायरूप वेदों में आकाश आदि के समान सृष्टि-कालीन उत्पत्तिकामत्व और प्रलयकालीन ध्वंस का प्रतियोगित्व है। बीच में ही वर्णों की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते, क्योंकि अनंत गकारों की कल्पना करने में गौरव होता है।

वर्णों की अनुच्चारण दशा में (जब कि उनका उच्चारण नहीं किया जाता) उनकी (वर्णों की) अभिव्यक्ति न होने में कारण, उच्चारणरूप व्यंजक का अभाव ही है। अतः अनुच्चारित दशा में उनकी अभिव्यक्ति न होने में कोई विरोध नहीं है। अन्धकार स्थल में (जहाँ गाढ़ अन्धकार हो वहाँ) विद्यमान भी घट, अभिव्यंजक न होने से जैसे नहीं दिखाई देता उसी प्रकार वर्णों के अभिव्यंजक उच्चारण के अभाव से विद्यमान वर्ण भी अभिव्यक्त नहीं होते। अभी 'गकार उत्पन्न हुआ' आदि जो प्रत्यय होता है, वह 'वही यह गकार' इस प्रत्यभिज्ञा के विरोध के कारण अप्रमाण है। अथवा वर्णों की अभिव्यक्ति की जनक जो ध्वनिगत उत्पत्ति, उससे निरूपित हुए परम्परा सम्बन्ध के विषयत्वेन (विषयरूप में) वह प्रत्यय प्रमाण है। तस्मात् वेद, क्षणिक नही हैं।

विवरण—'तथा च'—'वेदों में स्वरूपतः एवं वर्णतः भी क्षणिकत्व के सिद्ध न होने पर आकाश-वायु आदि इतर भूत-भौतिक पदार्थों के समान सृष्टिकाल में उत्पन्न होना और प्रलयकाल में ध्वंस को प्राप्त होना आदि उनके धर्म हैं अर्थात् आकाशादिकों के समान सृष्टि के समय वे उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल में नष्ट होते हैं, स्थितिकाल में वे विद्यमान रहते हैं। इस कारण उत्पत्ति एवं प्रलयकाल के बीच वर्णों की उत्पत्ति नाश नहीं होता। क्योंकि प्रतिक्षण गकारादि वर्ण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं—यह मानने पर गकारादि अनन्त वर्णों की कल्पना करनी पड़ती है और ऐसा करने में गौरव होता है।

शंका—यदि वर्ण नित्य हैं तो वे सदैव अभिव्यक्त क्यों नहीं होते? इस आशंका के समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं—वर्णों के नित्य होने पर भी जिस समय उनका उच्चारण नहीं किया जाता उस समय वे अभिव्यक्त नहीं होते। क्योंकि उच्चारणरूप अभिव्यंजक का अभाव रहता है। इस कारण वर्णों के नित्य होने पर भी उनके सदैव अभिव्यक्त न होने में कोई दोष नहीं है। अन्धकार में विद्यमान घट, नहीं दीखता, उसका अभिव्यंजक प्रकाश है, बिना उसके घट का दीखना अशक्य है। अन्धकार में न दीखने के कारण वह है ही नहीं—यह नहीं कहा जाता। उसी प्रकार बिना उच्चारण किये वर्णों की अभिव्यक्ति नहीं होने मात्र से वे हैं ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता।

'गकार उत्पन्न हुआ' वह नष्ट हुआ' यह प्रत्यय (अनुभव) होते रहने के कारण, उच्चारण करते ही उनकी उत्पत्ति होना और उच्चारण बन्द करते ही उनका नाश होना आप स्वीकार क्यों नहीं करते? ऐसी शंका उठाकर ग्रन्थकार कहते हैं—

यह प्रतीति अप्रमाण है। क्योंकि 'वही यह गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा के साथ उसका विरोध है। अथवा वर्णों की अभिव्यक्ति को उत्पन्न करने वाली ध्वनि की उत्पत्ति से ज्ञात होने वाले 'स्वाश्रयध्वन्यभिव्यंग्यत्व' रूप परम्परासम्बन्ध से वैसा प्रत्यय होने के कारणपरम्परासम्बन्धविषयत्वेन वह प्रत्यय प्रमाण है—यह मानना चाहिए। 'काला घट नष्ट हुआ और लाल घट उत्पन्न हुआ' इस प्रकार की एक ही घट में गुण के सम्बन्ध से प्रतीति होती है, उसी प्रकार वर्ण की अभिव्यक्ति करने वाली ध्वनि की उत्पत्ति से वर्णों की उत्पत्ति का परंपरा-सम्बन्ध ज्ञात होता है। इस कारण उस उत्पत्ति प्रत्यय को साक्षात् प्रमाण न मानकर परंपरा-सम्बन्ध-विषयत्वेन आप चाहें तो प्रमाण मान लें। अतः वेदों में क्षणिकता नहीं है—यह सिद्ध हुआ। क्योंकि वे प्रतिक्षण में उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होते, किन्तु सृष्टिकाल में आकाश आदि इतर पदार्थों के समान उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल में ही नाश को प्राप्त होते हैं। 'स्वाश्रयध्वन्यभिव्यंग्यत्व' का अर्थ है स्वोत्पत्ति का आशय जो ध्वनि, उसका विषयत्व—ध्वनिरूप अभिव्यंजक के द्वारा अभिव्यक्त होना। ध्वनि की उत्पत्ति से वर्ण व्यक्त होते हैं।

सिद्धान्ती के इस समाधान पर मीमांसक अपसिद्धान्त की शंका करते है—

ननु क्षणिकत्वाभावेऽपि वियदादि-प्रपञ्चवदुत्पत्तिमत्त्वेन परमेश्वर-कर्तृकतया पौरुषेयत्वाद[1]पौरुषेयत्वं[2] च वेदानामिति तव[3] सिद्धान्तौ भज्येतेति चेत्। न। न हि[4] तावत्पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वम्। गुरुमतेऽपि अध्यापक-परम्परया पौरुषेयत्वापत्तेः। नापि पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वं[5] पौरुषेयत्वम्। नैयायिकाभिमतपौरुषेयत्वानुमानेऽस्मदादिना सिद्धसाधनत्वापत्तेः[6]। किन्तु सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम्[7]।

अर्थ—वेदों के क्षणिक न होने पर भी आकाशादि प्रपंच के समान उनमें उत्पत्तिमत्त्व होने से और वह उत्पत्ति परमेश्वरकर्तृक होने से (उनका कर्त्ता परमेश्वर होने से) पौरुषेयत्व है। इस कारण वेदों के अपौरुषेयत्व का आपका सिद्धान्त भग्न होगा। यह यदि मीमांसक कहे तो उचित नहीं है। क्योंकि पुरुष के द्वारा उच्चारण किया जाना ही पौरुषेयत्व नहीं है। क्योंकि वैसा मानने पर गुरुमत में भी अध्यापक परम्परा से

---

१. 'त्वसिद्धाव'–इति पाठान्तरम्। २. 'वेदा०'–इति पाठान्तरम्।
३. 'अपि'–इति पाठान्तरम्। ४. हिपुरु०'–इति पाठान्तरम्।
५. 'त्वं नैया०'–इति पाठान्तरम्। ६. 'नापत्ते०'–इति पाठान्तरम्।
७. 'त्वं पौरुषेयत्वम्'–

पौरुषेयत्व की प्राप्ति होने लगेगी। इसी प्रकार 'जिसकी उत्पत्ति पुरुष के अधीन है'— वह पौरुषेय है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नैयायिकों से सम्मत पौरुषेयत्व के अनुमान पर हम वेदान्तियों के द्वारा 'सिद्ध-साधनता' दोष दिया जाता है। इसलिये 'जिसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती ऐसे उच्चारण का विषय होना' ही पौरुषेयत्व है।

विवरण—वेदान्ती के पूर्वोक्त सिद्धान्त पर मीमांसक कहता है—'तुम्हारे मत में भले ही वेदों में क्षणिकत्व न हो तथापि आकाशादि इतर प्रपंच के समान उत्पत्तिमत्त्व है। और उसकी उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर है, इस कारण वेदों में पौरुषेयत्व (पुरुष-कर्तृकत्व) है। ऐसा तुम्हारे सिद्धान्त के ही विरुद्ध सिद्ध होता है। क्योंकि तुम्हारा वेदापौरुषेयत्व का सिद्धान्त ईश्वर-कर्तृकत्व के कारण बाधित हो जाता है।

परन्तु वेदान्ती कहता है—हमारे मत में भले ही वेद पैदा हुए हों तथापि पौरुषेयत्व न होने से अपसिद्धान्त नहीं हो पाता। हमारे मत पर मीमांसक जो पौरुषेयत्व का दोष देते हैं वह कैसे पौरुषेयत्व को मानकर? क्या पुरुष के द्वारा उच्चारण किया जाना पौरुषेयत्व है, या पुरुष के अधीन वेदोत्पत्ति का होना पौरुषेयत्व है? प्रथम पक्ष में मौनी पुरुष के श्लोक को भी अपौरुषेय कहने का प्रसंग प्राप्त होगा। क्योंकि जिसने मौन व्रत धारण किया हो वह अपने श्लोक को मुख से बोलता नहीं किन्तु लिखकर दिखाता है। उच्चारण न करने के कारण आपके लक्षण के अनुसार उसे अपौरुषेय कहना होगा। इसके अतिरिक्त गुरुमत में भी अध्यापक परम्परा से वेदों को पौरुषेय कहना होगा। क्योंकि उनके मत में अध्यापकों की परम्परा से ही वेदों का उच्चारण किया जाता है।

अस्तु, 'पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वं' पौरुषेयत्वम्-इस प्रथम लक्षण को स्वीकार न कर 'पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वम्'-जिसकी उत्पत्ति पुरुष के अधीन होती है, वह पौरुषेय- इस द्वितीय लक्षण को यदि मानें तो उस पर सिद्धसाधन दोष आता है।

नैयायिक—'वेदाः पौरुषेयाः वाक्यत्वात् भारतादिवत्'—वेद पौरुषेय हैं, क्योंकि वे वाक्य हैं, भारतादिकों के तुल्य। ऐसा अनुमान कर वेदों का पौरुषेयत्व साधन करते हैं। परन्तु हम तथा अन्य कुछ वादी भी नैयायिक संमत अनुमान के द्वारा ही स्वीकृत पौरुषेयत्व को साधन करते हैं। इस कारण उनके पौरुषेयत्वानुमान पर सिद्धसाधनता दोष आता है।

वेदान्तियों को कैसा पौरुषेयत्व मान्य है? जिसके घटित न होने के कारण वेदों के उत्पत्तिमान् होने पर भी अपौरुषेयत्व सिद्ध हो जाता है? इस शंका से प्रेरित होकर ग्रन्थकार 'किन्तु' आदि ग्रन्थ से उसका समाधान करते हैं। 'जिसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती—ऐसे उच्चारण का विषय होना ही हमारे मत में पौरुषेयत्व है। भारतादि ग्रंथों के उच्चारण में पूर्व सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु

परमेश्वर सृष्टि के प्रारम्भ में सजातीय उच्चारण की अपेक्षा से ही वेदों का उच्चारण करता है इसलिए उन्हें अपौरुषेयत्व है। इसी सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हैं।

तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः [1]पूर्वसर्ग-सिद्धि-वेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीयं[2] वेदमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं[3] वेदानाम्। भारतादीनां[4] तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्ः एवं पौरुषेयापौरुषेय-भेदेनागमो द्विधा[5] निरूपितः।

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरचितायां वेदान्तपरिभाषायाम्
आगमपरिच्छेदः समाप्तः ॥ ४ ॥

अर्थ—ऐसा होने से परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में पूर्वसर्ग के समय वेदों की सिद्धि आनुपूर्वी के समान ही जिसकी आनुपूर्वी है ऐसे वेद की रचना की। उस आनुपूर्वी से भिन्न (विजातीय) विलक्षण आनुपूर्वीवाले वेद की रचना उसने नहीं की। अतः उसमें (वेदमें) सजातीय उच्चारण की अपेक्षा जिसे नहीं ऐसे उच्चारण का विषयत्व नहीं है। और भारतादि पौरुषेय ग्रन्थों का उच्चारण, सजातीय उच्चारण की बिना अपेक्षा किए ही होती है अतः उनमें पौरुषेयत्व है। इस प्रकार पौरुषेय अपौरुषेय भेद से आगम दो प्रकार का है। यह। यह हमने इस प्रकरण में निरूपण किया।

विवरण—उपर्युक्त प्रकार का पौरुषेयत्व होने से वेदों में पौरुषेयत्व नहीं है। क्योंकि आद्यसृष्टि के समय परमेश्वर ने पूर्वकल्पसिद्ध अनुक्रम के अनुसार ही जिसका अनुक्रम है ऐसे वेद को रचा। भिन्न अनुक्रम से वेद की रचना नहीं की। पूर्वकल्प में वह जैसा था वैसा ही रचा, उसमें एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं किया गया। इसी कारण उसमें पौरुषेयत्व नहीं है किन्तु सजातीय उच्चारण की जिन्हें अपेक्षा नहीं होती ऐसे उच्चारण किये जाने वाले अर्थात् विजातीय आनुपूर्वीवाले ग्रंथ ही पौरुषेय होते हैं - महाभारतादि ग्रन्थों में पूर्वकल्प का सजातीय उच्चारण नहीं रहता इसलिए वे पौरुषेय हैं। इस प्रकार चतुर्थ आगम नामक प्रमाण पौरुषेय एवं अपौरुषेय भेद से दो प्रकार का होता है। उसका हमने यहाँ सविस्तर निरूपण किया।

श्रीगजाननशास्त्रि-मुसलगांवकर-विरचिते सविवरण-प्रकाशे
आगम-परिच्छेदः समाप्तः।

—:०:—

१. 'वंसिद्ध'—इति पाठान्तरम्। २. 'यमिति'—इति पाठान्तरम्।
३. 'त्वम्'—इति पाठान्तरम्। ४. 'नां स'—इति पाठान्तरम्।
४. विधो'—इति पाठान्तरम्।

अथार्थापत्तिपरिच्छेदः ५

इस प्रकार आगम प्रमाण का निरूपण कर अब क्रमप्राप्त अर्थापत्तिसंज्ञक पंचम प्रमाण के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—

इदानीमर्थापत्तिर्निरूप्यते। तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादक-कल्पनमर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्। उपपादक ज्ञानं फलम्। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम्।

अर्थ—अब अर्थापत्ति प्रमाण का निरूपण किया जाता है। तत्रेति—उस प्रमाणरूप अर्थापत्ति में उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना (ज्ञान) ही अर्थापत्ति प्रमा है। इन दो ज्ञानों में से—उपपाद्य ज्ञान प्रमाण (कारण, साधन) है और उपपादक का ज्ञान प्रमा (फल) है। जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है वह उपपाद्य, और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह वहाँ उपपादक होता है। जैसे—रात्रि-भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले पुरुष का पीनत्व अनुपपन्न (असंभव) है, इस कारण वैसा पीनत्व (पुष्टत्व) उपपाद्य है, और रात्रिभोजन के अभाव में वैसे पीनत्व (पुष्टि) की अनुपपत्ति (असंभव) है, इस कारण रात्रिभोजन उस पुष्टि का उपपादक है।

विवरण—कदाचित् कोई दांभिक पुरुष दिन में भोजन नहीं करता किन्तु उसका शरीर पुष्ट दीखता है। परन्तु भोजन के बिना ऐसी पुष्टि असंभव है। इससे यह निश्चित है कि वह पुरुष रात्रि में अवश्य ही भोजन करता होगा। इस प्रकार पीनत्व रूप कार्य से रात्रि-भोजन रूप कारण की कल्पना की जाती है यही अर्थापत्ति प्रमा है। इस प्रमा के प्रमाण को भी अर्थापत्ति ही कहते हैं। सारांश यह हैं कि एक ही अर्थापत्ति शब्द, प्रमा और प्रमाण का भी वाचक है। इस अर्थापत्ति को ही शास्त्रीय ग्रन्थों में 'अन्यथानुपपत्ति' शब्द से भी कहते हैं। किसी अन्य प्रकार से कार्य की उपपत्ति न हो सकने से जो कारण की कल्पना की जाती है, वह ज्ञान कार्य के ज्ञान से ही होता है। इस कल्पक ज्ञान को ही उपपाद्य (उपपन्न होने योग्य) ज्ञान कहते हैं। इसलिये वह उपपाद्य (अर्थापत्ति) का करण है। जिसके कारण उपपाद्य की उपपत्ति लगती है वह रात्रि-भोजनादि का ज्ञान, उपपादक (उपपत्ति बतानेवाला) है। तस्मात् कार्यज्ञान के अनन्तर उसकी अन्यथा (अन्य प्रकार से) उपपत्ति न लग सकते के कारण उसके उचित

कारण की कल्पना करना ही अर्थापत्ति है। और उपपाद्य का (कल्पक का) ज्ञान उसका कारण होने से ही वह अर्थापत्ति प्रमाण है। 'येन विना०' इत्यादि ग्रन्थ से उपपाद्य और उपपादक के लक्षण बताये हैं। 'येन विना०' इस वाक्य के प्रथम 'तत्' शब्द से 'यदनुपपन्नं', के प्रथमान्त 'यत्' शब्द-वाच्य अर्थ का परामर्श किया गया है, और 'तत्र' इस पद से 'येन विना' के यत् शब्दवाच्य अर्थ का परामर्श किया गया है। जिसके बिना जिसकी अनुपपत्ति (अयोग्यरूप से प्रतीति) होती है वह उपपाद्य कहा जाता है। जैसे रात्रि-भोजन के बिना दिन में भोजन न करनेवाले पुरुष का पीनत्व अनुपपन्न होता है, अर्थात् अयोग्यत्वेन प्रतीत होता है। ऐसे पुरुष का शरीर पुष्ट रहना संभव नहीं, इसलिये वह पीनत्व, उपपाद्य है। इसीलिये 'उपपादकाभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व' रूप लक्षण भी यहाँ कहा गया है। प्रकृत स्थल में 'पीनत्व' उपपाद्य है और रात्रि-भोजन' उपपादक है। उपपाद्यरूप पीनत्व का अभाव, उपपादकरूप रात्रि-भोजन के अभाव का व्यापकीभूत (व्यापक) है, अर्थात् जहाँ-जहाँ भोजन का अभाव रहता है वहाँ-वहाँ निश्चय से (नियमेन) पीनत्व का भी अभाव रहता है। भोजन के बिना पुष्टि का होना कभी संभव नहीं। अर्थादेव ऐसे व्यापक अभाव का प्रतीयोगी पीनत्व है, अतः उपपाद्य-लक्षण का 'पीनत्व' रूप लक्ष्य में समन्वय हो जाता है।

इसी प्रकार 'यस्याभावे०' इस वाक्य से उपपादक का लक्षण बताया है। पूर्ववत् यहाँ यत्-तत् शब्दों का व्युत्क्रम (उलटा क्रम) नहीं है। प्रथम 'यस्य' इस शब्द से जिस अर्थ का कथन किया है, उसी का प्रथमान्त 'तत्' शब्द से निर्देश किया है। दिन में भोजन न करने वाले पुरुष के पीनत्व की जिस रात्रि-भोजन के अभाव में अनुपपत्ति होती है, वह रात्रि-भोजन उपपादक है। इस कारण 'उपपाद्याभावव्याप्याभावप्रति-योगित्व' यह उपपादक का लक्षण सिद्ध होता है। उपपाद्य का अभाव उपपादक के अभाव का व्यापक होता है। अर्थात् उपपाद्याभाव व्यापक और उपपादकाभाव व्याप्य होता है ; पीनत्व के अभाव का व्याप्य जो रात्रि-भोजन का अभाव, उसका रात्रि-भोजन प्रतियोगी है। सारांश यह है कि कल्पकज्ञान उपपाद्य होता है और कल्प्यज्ञान उपपादक होता है—यह कल्पना अनुपपत्तिमूलक है। एक ही अर्थापत्तिशब्द प्रमा और प्रमाण दोनों का वाचक कैसे होता है ? उत्तर देते हैं—

रात्रिभोजन-कल्पना-रूपायां प्रमितावर्थस्यापत्तिः कल्पनेति षष्ठी समासेन अर्थापत्तिशब्दो वर्तते, कल्पनाकरण पीनत्वादिज्ञाने त्वर्थस्या-पत्तिः कल्पना यस्मादिति बहुव्रीहि समासेन वर्तते इति फलकरणयोरु-भयोस्तत्पदप्रयोगः[1] ।

---

१. षष्ठीसमासबहुव्रीहिभ्यां फलरूपाप्रमाण (करण) रूपा च अर्थापत्तिरिति तात्पर्यम्।

अर्थ—अर्थ (पदार्थ) की आपत्ति (कल्पना) इस षष्ठी तत्पुरुष समास से 'अर्थापत्ति' शब्द, रात्रि-भोजनकल्पनारूप प्रमा अर्थ में रहता है और जिससे पदार्थ की कल्पना होती है- वह अर्थापत्ति प्रमाण, इस बहुव्रीहि समास से अर्थापत्ति शब्द, उस कल्पना के साधनभूत पीनत्वादिज्ञानरूप अर्थ में रहता है। इस कारण प्रमा और प्रमाण दोनों अर्थो में 'अर्थापत्ति' संज्ञक एक ही शब्द का प्रयोग होता है।

विवरण—शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त यदि एक ही हो तो एक शब्द, दो अर्थों का वाचक नहीं होगा। प्रकृत में प्रमा एवं प्रमाण अर्थ में अर्थापत्ति शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न-भिन्न है। अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः' ऐसा–षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर अर्थापत्ति शब्द का 'कल्पना' अर्थ होने से अर्थापत्ति का 'प्रमा' अर्थ होता है। और उसी शब्द की 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत्' बहुव्रीहि समास से व्युत्पत्ति यदि मानी जाय तो अर्थापत्ति का 'प्रमाण' अर्थ होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति-निमित्त का भेद होने से एक ही अर्थापत्ति शब्द के 'प्रमा और प्रमाण' ये दो अर्थ हो सकते हैं।

इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमा और प्रमाण का लक्षण बताकर अब उसके भेद को बताते हैं।

सा[1] चार्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति। तत्र दृष्टार्थापत्तिर्यथा—इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव [2]निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्यत्व-त्यान्ताभाववत्त्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयतीति[3]।

अर्थ—और वह अर्थापत्ति दो प्रकार की है। दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। उनमें से दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण जैसे–'यह रजत है' इस प्रकार आगे दीखनेवाली वस्तु में ज्ञात होनेवाले रजत का उसी पदार्थ में 'यह रजत नहीं' यह निषेध (उस रजत में)

---

१. अर्थापत्तिनिरूपणस्य अद्वैतिनां मते क उपयोगः? श्लोकवार्तिककाराः कथयन्ति–
स्मृत्या श्रुतिर्या परिकल्प्यतेऽस्मिन् लिङ्गादिभिर्याविनियोजिका च।
फलादिभिर्यत् परिपूरणं च सम्बन्धकृत्तत्र न काचिदस्ति।
तत्सर्वमित्याद्यसमञ्जसं स्यात् न चेदियं स्यादनुमानतोऽन्या॥
इत्थमनुमानात् पृथग्रूपेण स्वीकृतस्य अर्थापत्तिप्रमाणस्य स्मृत्या श्रुतिकल्पनादीनि यानि प्रयोजनानि उक्तानि न तानि अद्वैतिनामसाधरणानि प्रयोजनानि, इति चेत् प्रपञ्चमिथ्या-त्वसिद्धिरेव तत्फलमिति दृष्टार्थापत्त्युदाहरणेन ग्रन्थकारः स्वयं सूचयति।

२. 'प्रतिषिः'–इति पाठान्तरम्।

३. प्रातिभासिकत्वं कल्पयति–इति तात्पर्यम्, परोक्षस्थले परिभाषाकारैः अन्यथा-ख्यातिस्वीकारात् अपरोक्षरजतनिषेध एव प्रातिभासिकत्वसाधकः इति भावः।

सत्यत्व होने पर अनुपपन्न होता है । इस कारण (वह निषेध) उस रजत में सद्भिन्नत्व या सत्यत्वात्यन्ताभाववत्व रूप मिथ्यात्व की कल्पना करा देता है।

विवरण—दृष्टार्थापत्ति[1] एवं श्रुतार्थापत्ति भेद अर्थापत्ति के दो प्रकार हैं। उनमें से जिस अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। जैसे—सामने दीखने वाले पदार्थ का प्रथम 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान होता है। परन्तु किसी आप्त के कहने पर अथवा स्वयं वहाँ जाकर उसे हाथ में लेकर देखने के पश्चात् 'यह रजत नहीं है' ऐसा ज्ञान होता है। वास्तव में वह रजत यदि सत् (वस्तुभूत) पदार्थ होता तो उसका निषेध कैसे होता। अतः ऐसी कल्पना की जाती है कि यहाँ पर वास्तव में रजत की सत्ता नहीं अर्थात् रजत सत्य नहीं है। वह सद्भिन्न अर्थात् असत् (मिथ्या) है। अथवा इस रजत में सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार उसके सत्यत्वात्यन्ताभाववत्वरूप मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। यह मिथ्यात्व की कल्पना निषेध के कारण होती है और रजत तथा शुक्ति दोनों विषय दृष्ट हैं। इस कारण रजत की इस मिथ्यात्वकल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। इस प्रकार दृष्टार्थापत्ति के कारण रजत के मिथ्यात्व का निश्चय होता है। क्योंकि सत्य-पदार्थ का त्रिकाल में भी निषेध होना सम्भव नहीं।

अब श्रुतार्थापत्ति का लक्षण एवं उदाहरण बताते हैं—

[2]श्रुतार्थापत्तिर्यथा—यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तर-कल्पनम्। यथा 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते।

यथा वा जीवी देवदत्तो गृहे नेति वाक्यश्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्त्वं बहिः सत्त्वं कल्पयति।

अर्थ—श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण इस प्रकार है—जब कि सुनाई देने वाले वाक्य

---

१. दृष्टेन अर्थेन अदृष्टस्य अर्थस्य आपत्तिः—दृष्टार्थापत्तिः। तदुक्तं श्लोकवार्त्तिके—

"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहृता॥"

अत्र च 'दृष्ट' पदेन शब्देतर प्रमाणजन्यज्ञानविषयो विवक्षितः।

२. एकैव अर्थापत्तिः कथं न स्वीक्रियते? श्रुतार्थापत्तेः स्वीकारः किमर्थः? तत्रोच्यते-दृष्टार्थापत्तौ 'अर्थस्यैव' कल्पनम्, श्रुतार्थापत्तौ तु शब्दस्य प्रमाणस्य कल्पनमिति भेदेन विभागः। तदुक्तं श्लोकवार्तिके—"प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा।" इति।

३. 'यत्र' इति पदं नास्ति क्वचित्पुस्तके।

की स्वार्थानुपपत्ति के द्वारा (वाक्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण) अन्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है, इसी को श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। जैसे—'आत्मवेत्ता शोक (संसार) से तर जाता है' इस श्रुति में शोक शब्द-वाच्य समस्त बन्धों में बताये हुए ज्ञाननिवर्त्यत्व की अन्यथा उपपत्ति का सम्भव न होने से समस्त बन्धों में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है अथवा 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है' इस वाक्य के सुनने पर जीवित पुरुष का घर में न होना उसके बहिःसत्त्व की कल्पना कराता है।

विवरण—सुने हुए वाक्य के मुख्य अर्थ का असम्भव होने पर उस अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिये जो अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। जैसे—'छान्दोग्योपनिषद्' में—'आत्मवेत्ता पुरुष समस्त शोक को पार कर जाता है' कहा गया है। यहाँ 'शोक' शब्द का अर्थ 'कर्तृत्वादि समस्त बन्ध' है, और ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है, ऐसा श्रुति का आशय है। परन्तु श्रुति का यह अर्थ उत्पपन्न नहीं होता। क्योंकि किसी वस्तु की निवृत्ति उसके ज्ञान से नहीं हुआ करती। हमें पुस्तक का ज्ञान होने पर वह पुस्तक नष्ट हो जाय—ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। ज्ञान केवल अज्ञान का ही निवर्तक होता है। इसलिये इस श्रुतार्थ की अनुपपत्ति होती है। अतः उसकी उपपत्ति लगाने के लिये समस्त बन्ध, ज्ञान-निवर्त्य हैं, (ज्ञान से नष्ट होने योग्य हैं) यह सिद्ध करने के लिये 'बन्ध' अज्ञानमूलक है, (शुक्ति-रजतादि के समान वास्तव में न होकर अज्ञान से ही भासित होता है) ऐसी कल्पना करनी पड़ती है। यही श्रुतार्थापत्ति है। इस रीति से आत्मा के दुःखित्वादि को मिथ्या सिद्ध करना ही अर्थापत्ति-प्रमाण का उपयोग है।

इस प्रकार वेदान्तोपयोगी उदाहरण बताकर 'यथा वा०' इत्यादि वाक्य से लौकिक उदाहरण बताया है। 'देवदत्त जीवित है किन्तु घर में नहीं है' इस वाक्य के सुनने पर जो पुरुष घर में नहीं और घर के बाहर भी नहीं उसका जीवित रहना सम्भव नहीं। इस कारण अर्थात् ऐसी कल्पना करनी पड़ती है कि वह जीवित होते हुए जब घर में है तब वह बाहर होना ही चाहिये। इस प्रकार कल्पना करना भी श्रुतार्थापत्ति का ही उदाहरण है। इस रीति से श्रुति (शब्द से ज्ञान होने वाले) अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिये उसके उपपादक (उपोद्बलक) अन्य अर्थ की कल्पना करना ही श्रुतार्थापत्ति कही जाती है।

इसी श्रुतार्थापत्ति के अवान्तर भेदों को बताते हैं—

श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा—[1]अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च। तत्र, यत्र वाक्यैकदेश-श्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्त्याऽन्वयाभिधानोप-

१. अभिधानानुपपत्तिः—तात्पर्यानुपपत्तिः, तात्पर्यविषयीभूतस्य अन्वयस्यानुपपत्तिरित्यर्थः। अभिहितानुपपत्तिः—वाक्यप्रतिपाद्यस्य अर्थस्य अनुपपत्तिः।

योगि पदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्तिः। यथा द्वारमित्यत्र 'पिधेहि' इत्यध्याहारः, यथा वा 'विश्वजिता यजेत्' इत्यत्र 'स्वर्गकाम' इति[1] पदाध्याहारः।

अर्थ—श्रुतार्थानुपपत्ति के दो भेद होते हैं–एक अभिधानानुपपत्ति और दूसरी अभिहितानुपपत्ति। उनमें से जब हम वाक्य का एक देश (एक भाग) सुन लेते हैं, किन्तु उस एक पद के या कुछ भाग के अन्वय की अनुपपत्ति होने पर उस पद के साथ अन्वित होने योग्य किसी दूसरे पद की कल्पना (अध्याहार) करते हैं, उसे अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। जैसे—हम 'द्वारम्' कपाट शब्द को सुनकर (उसके अन्वय की उपपत्ति लगाने के लिये) 'पिधेहि' (लगा दो) पद का अध्याहार करते हैं, या 'विश्वजित् याग करे' इस विधि के श्रवण करने पर (उस याग का सफलत्व सिद्ध करने के लिए) 'स्वर्गकाम' (स्वर्ग की इच्छा करने वाला) पद का अध्याहार करते हैं—बस यही अभिधानानुपपत्ति कहलाती है।

विवरण—क्रियावाचक पदों को कारकों की आकांक्षा रहती है, और कारकों को क्रिया की अपेक्षा रहती है बिना उसके केवल क्रियार्थक या कारकार्थक पद, विवक्षित अर्थ को नहीं दिखा सकते। कितनी ही जगह ऐसे पद श्रुत न रहने पर भी वक्ता के तात्पर्यविषयभूत अर्थ की उपपत्ति के लिये उनकी कल्पना करके ही अन्वयबोध कर लेना होता है। ऐसे अध्याहार कल्पना को अभिधानानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे—किसी कार्य में अत्यन्त व्यग्र हुआ व्यक्ति शीघ्रता के कारण 'द्वार-द्वार' इतना कहकर ही चुप हो जाता है। उस समय वहाँ की सब परिस्थिति देखकर उस वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिये 'द्वार' इस कर्मवाचक पद को इस समय लगाओ' इस क्रियावाचक पद की ही आकांक्षा है—यह समझकर उस पद का अध्याहार कर उस वाक्य को पूर्ण करते हैं—यही अभिधानानुपपत्ति है।

इसी अभिधानानुपपत्ति का मीमांसक-संमत वैदिक उदाहरण—'यथा वा०' इस वाक्य से दिखाया है। किसी पुरुष की फलरहित कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। श्रुति ने 'विश्वजिता यजेत'—विश्वजित्-संज्ञक याग करे—ऐसा कर्म का विधान किया है। किन्तु 'वायव्यं श्वेतमालभेत पशुकामः' जिस पशु की कामना हो वह वायु देवता को उद्देश्यकर श्वेत पशु का आलंभन करे) इत्यादि विधि के समान प्रत्यक्ष कोई फल नहीं कहा है। इस श्रुत्यर्थ की सफलता के लिये एवं उस याग में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिये सभी को अभिलषित स्वर्ग-सुख की ही फलत्वेन कल्पना करनी चाहिये। और ऐसे स्वर्गकाम (स्वर्गेच्छु) पुरुष को विश्वजित् करना चाहिये–यह उस विधि का अर्थ किया

---

१. 'इति' पदं नास्ति क्वचित्पुस्तके।

जाता है। यहाँ क्रियावाचक पद की कर्तृवाचक पद के विना अनुपपत्ति होती है, इसलिये कर्तृवाचक पद का अध्याहार करना पड़ता है। अन्यथा उस विधि की उपपत्ति का संभव नहीं। अन्वय की अनुपपत्ति होने पर 'विश्वजिता' इत्यादि विधिदर्शक पद उपपाद्य हैं। उनसे 'स्वर्गकामः' इस उपपादक पद की कल्पना होती है। अतः प्रकृत स्थल में अर्थापत्ति के लक्षण का समन्वय होता है। इसी प्रकार अन्य भी उपपाद्य और उपपादक को पहचान कर प्रकृत लक्षण का समन्वय कर लेना चाहिये।

इस पर शंका और उसका समाधान—

ननु द्वारमित्यादावन्वयाभिधानात्पूर्वमिदमन्वयाभिधानं पिधानोपस्थापक-पदं विनाऽनुपपन्नमिति कथं ज्ञानमितिचेत्। न। अभिधान-पदेन करणव्युत्पत्त्या तात्पर्यस्य विवक्षितत्वात्। तथाच द्वारकर्मक-पिधानक्रिया-संसर्गपरत्व पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं तत्रापि सम्भाव्यते।

अर्थ—'द्वारम्' इत्यादि एकदेशरूप वाक्य के उस पद का अन्वय अमुक पद के साथ है इस प्रकार अन्वय का कथन करने से पूर्व उस (द्वार) पद का अन्वयाभिधान, पिधानार्थक पद न होने से ही अनुपपन्न हुआ है, यह आपने कैसे जाना ? यदि पूछो तो उचित नहीं है। क्योंकि हमें अभिधानपद से करण-व्युत्पत्ति के द्वारा तात्पर्य अर्थ ही विवक्षित है। इस कारण द्वारकर्मक पिधान क्रिया ही उस वाक्य का अर्थ, पिधानवाचक पद के बिना ही अनुपपन्न हुआ है, यह ज्ञान उस एकदेशरूप वाक्य में भी हो सकता है।

विवरण—अभिधान का अर्थ है अन्वय, और उसकी अनुपपत्ति का अर्थ है अन्वय-बोधाभाव—यह अभिधानानुपपत्ति का अर्थ है। प्रथम 'द्वारकर्मक पिधान = जिसमें 'द्वार' कर्म है, ऐसी पिधान क्रिया। इस प्रकार यदि अन्वय-बोध होगा तो वह अन्वयबोध पिधानार्थक पद के अभाव में कैसे हो सकेगा ? और अन्वयबोध ही यदि न हो तो अमुक अन्वयबोध की अमुक पद के न होने से अनुपपत्ति हुई है—यह ज्ञान भी कैसे हो सकेगा ? और उस ज्ञान का होना यदि सम्भव नहीं तो आप पिधानार्थक पद के बिना इस अन्वय-बोध के अनुपपन्न होने से 'पिधेहि' पद का अध्याहार करने की कल्पना किस पर से करते हैं ?

यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि भावे व्युत्पत्ति को स्वीकार कर 'अभिधान' शब्द का अन्वयबोध रूप अर्थ यदि माना जाय तो आपका दिया हुआ दोष हमारे पक्ष में आता है। परन्तु हमने उस अर्थ से 'अभिधान' शब्द का प्रयोग नहीं किया, अपितु 'अभिधीयते अनेन इति अभिधानम्' इस करण व्युत्पत्ति को मानकर 'अभिधानानुपपत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। अभिधान शब्द का अर्थ है—तात्पर्य। वक्ता ने जिस तात्पर्य से शब्दोच्चारण

किया हो उसी तात्पर्यार्थ की अनुपपत्ति होना ही 'अभिधानानुपपत्ति' है। ऐसा कहने के अनन्तर प्रकरण आदि पर से 'द्वारकर्मक पिधान' वक्ता के इस तात्पर्य का बोध होता है और यहाँ पिधानार्थक पद का उच्चारण न किया होने से उसकी अनुपपत्ति होती है। अतः इस अनुपपत्ति का परिहार करने के लिये 'पिधेहि' पद का अध्याहार किया जाता है। इस कल्पना को ही अभिधानानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। इस अनुपपत्ति का ज्ञान कल्पना से पूर्व ही होता है और प्रकरणादि से पिधानार्थक पद ही वक्ता को अभिप्रेत है—यह ज्ञान होता है। तस्मात् हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है।

अब अभिहितानुपपत्तिरूपश्रुतार्थापत्ति के लक्षणादि बताते हैं—

अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति, तत्र द्रष्टव्या। यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिक-ज्योतिष्टोमयाग-गततयाऽवग-तस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते।

अर्थ—जहाँ पर वाक्य से ज्ञात हुआ अर्थ अनुपपन्न (प्रमाणान्तरविरुद्ध) है, यह ज्ञात होने पर वाक्य अन्य अर्थ की कल्पना कराता है, वहाँ पर 'अभिहितानुपपत्ति' संज्ञक अर्थापत्ति होती है, ऐसा समझना चाहिये। जैसे—स्वर्गेच्छु पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे' इस वाक्य में क्षणिक ज्योतिष्टोम यागगतत्वेन अवगत हुए स्वर्गसाधनत्व की अनुपपत्ति होने से क्षणिक याग—यह साधन है और स्वर्गप्राप्ति—यह फल है। इनके मध्यवर्ती अपूर्व की कल्पना की जाती है।

विवरण—प्रमाणभूत वाक्य का अर्थ उपपन्न होने के लिये उस वाक्यार्थ से बहिर्भूत अर्थ की कल्पना किये बिना अन्य मार्ग ही नहीं है। क्योंकि बिना उसके उस वाक्यार्थ में पुरुष-प्रवृत्त का होना संभव ही नहीं। अतः ऐसे वाक्य की व्यवस्था लगाने के लिए अन्य (वाक्यार्थ-बहिर्भूत) पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है। यही अभिहितानुपपत्ति है, क्योंकि यहाँ अभिहित (उक्त) अर्थ की अनुपत्ति होती है। जैसे—'स्वर्गेच्छुक पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे' इस वाक्य से याग, स्वर्ग का साधन है, ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु यह श्रुत्यर्थ ठीक नहीं बैठता, क्योंकि क्रिया क्षणिक होती है और देवता के उद्देश्य से हविःप्रक्षेप रूप क्रिया ही याग है। ज्योतिष्टोम याग क्षणिक है—याग होते ही वह कर्म समाप्त (नष्ट) होता है। और याग के होते ही यजमान स्वर्गस्थ हुआ दिखाई नहीं देता। स्वर्ग का साधन ही यदि ऐसा विनाशी है तो उससे स्वर्ग कैसे साधा जाय? कारण के ही नष्ट होने पर कार्य कैसे होगा? इस कारण श्रुति से बताया हुआ अर्थ (याग, स्वर्ग का साधन है) अनुपपन्न होता है। इसलिये श्रुत्यर्थ की उपपत्ति जिस प्रकार हो ऐसे पदार्थ की कल्पना करनी चाहिये। वह पदार्थ, 'अपूर्व' ही है। यद्यपि याग विनाशी है तथापि

वह अपने स्थितिक्षण में ही (उत्पन्न होते ही) स्वर्ग के साधनभूत एक विलक्षण अपूर्व (अदृष्ट) को उत्पन्न करता है, तब नष्ट होता है। वह 'अपूर्व' याग और स्वर्ग का मध्यवर्ती व्यापार है। उस व्यापार से युक्त हुए याग से कालान्तर में स्वर्गरूप फल प्राप्त हो सकता है। जिससे 'याग स्वर्ग का साधन है' इस श्रुत्यर्थ की अनुपपत्ति नहीं हो पाती। क्योंकि व्यापार के कारण व्यापारी (व्यापारवान्) साधन की अन्यथासिद्धि नहीं होती। इस प्रकार पुरुष के स्वर्गगामित्व की उपपत्ति लगाने के लिए 'आत्मा देह से भिन्न है' ऐसी कल्पना करना भी अभिहितानुपपत्ति है।

इस रीति से श्रुतार्थापत्ति के दो प्रकार बताये गये। परन्तु इस पर नैयायिकों का कहना है कि 'अर्थापत्ति' कोई स्वतन्त्र प्रमाण न होकर अनुमान में ही उसका अन्तर्भाव होता है। प्रमाण तो चार ही हैं—प्रत्यक्ष, २—अनुमान, ३—उपमान और ४—शब्द। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'—देवदत्त पुष्ट है, किन्तु वह दिन में भोजन नहीं करता और बिना भोजन के पुष्ट होना सम्भव नहीं, अतः अर्थात् वह रात में भोजन करता होगा। यह कल्पना 'अर्थापत्ति' से मीमांसक लोग करते हैं। परन्तु वास्तव में यहाँ पर रात्रि-भोजन का अनुमान ही किया जाता है। तथाहि—१—देवदत्त रात में भोजन करता है, २—क्योंकि वह दिन में भोजन विना किये भी पुष्ट है, ३—व्यतिरेक से घट के समान जहाँ-जहाँ रात्रिभोजन का अभाव रहता है वहाँ दिन में भोजन न करने पर पीनत्व का भी अभाव रहता है, जैसे—घट दिन में या रात में कभी भी भोजन नहीं करता, तो वह पुष्ट हुआ भी नहीं दिखाई देता। ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति से ही अर्थापत्ति चरितार्थ हो जाती है। इस कारण अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

नैयायिक के इस मत का निरसन करने के लिए ग्रंथकार कहते हैं—

न[1] चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवितुमर्हति। अन्वयव्याप्त्यज्ञाने-

---

१. तार्किकास्तावत् अर्थापत्तेः अनुमाने अन्तर्भावमिच्छन्ति, न तस्याः प्रमाणान्तरत्वं स्वीकुर्वन्ति। परं च ते प्रष्टव्याः यत् अर्थापत्तेः अन्वयिनि अन्तर्भावः व्यतिरेकिणि वा ? अन्वयिनि अन्तर्भावः इति वक्तुं न शक्यम्। यदि बहिः सत्त्व-जीवित्वसमानाधिकरण-गृहासत्त्वयोः अन्वयव्याप्तिज्ञानं स्यात् चेत् अर्थापत्तेः अन्वयिनि अन्तर्भावः स्यात्। किन्तु नास्ति तादृशो व्याप्तिग्रहः। 'न हि चैत्रशरीरे तादृशव्याप्तिग्रहः, तस्य पक्षत्वात्, नापि अन्यत्र, अन्येषां पक्षसमत्वात्। 'न हि पक्षे पक्षसमे वा अन्वयव्याप्तिग्रहः, तत्र साध्यसह-चारस्य अनिश्चयात्। अतः बहिः–सत्त्व-गृहाऽसत्त्वयोः स्वव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्य-रूपान्वयव्याप्तिग्रहो नैव संभवति। व्यतिरेकिणि चेत् अन्तर्भावः, सोऽपि न वक्तुं शक्यः। यतः गृहाऽसत्त्वमात्रं न बहिः सत्त्वस्य अनुमापकम्, मृते बहिः सत्त्वाभाववति गृहाऽसत्त्व-दर्शनेन व्यभिचारात्। जीवित्वविशिष्टन्तु गृहासत्त्वं बहिः सत्त्वस्य अनुमापकं भवेत्। तच्च

नान्वयिन्यनन्तर्भावात् । व्यतिरेकिणश्चानुमानत्वं प्रागेव निरस्तम् । अत एवार्थापत्तिस्थलेऽनुमिनोमीति नानुव्यवसायः, किं तु अनेनेदं कल्पयामीति ।

अर्थ—इस अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । क्योंकि अन्वय-व्याप्ति का ज्ञान न होने से अन्वयि लिंग (अनुमान) में इसका अन्तर्भाव नहीं होता, और व्यतिरेकी लिंग के अनुमानत्व का तो पहले ही निराकरण कर दिया है । इसी कारण अर्थापत्ति स्थल में 'मैं अनुमान करता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, अपितु 'इससे मैं इसकी कल्पना करता हूँ' ऐसा ही व्यवहार होता है ।

विवरण—नैयायिकों से हम ऐसा प्रश्न करते हैं कि 'आप अर्थापत्ति प्रमाण का अन्वयी-अनुमान में अन्तर्भाव करना चाहते हैं या व्यतिरेकी-अनुमान में ? अन्वयी-अनुमान में अन्तर्भाव बताना ठीक नहीं, क्योंकि जो दिन में बिना भोजन किये पुष्ट रहता है वह रात्रि-भोजनवान् होता है अर्थात् रात में जीमता है, ऐसे सहचार दर्शन से हीन होने के कारण अन्वयी, लिंग का तो संभव नहीं । प्रत्युत जो पीन (पुष्ट) होता है वह भोजनवान् होता (जीमता) है । इस प्रकार भोजन और पीनत्व में व्याप्ति दीखती है । रात्रिभोजन और पीनत्व में व्याप्ति नहीं है । पीनत्व, भोजन का अनुमावक है और 'दिवा अभोजन'—दिन में भोजन न करना—रात्रि-भोजन का कल्पक है यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'दिवा अभोजन' और 'रात्रि-भोजन' में व्याप्ति नहीं है । तस्मात् अन्वयी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं कर सकते ।

अच्छा तो—'जो-जो रात्रि-भोजनाभाववान् होता है वह दिन में बिना भोजन किये पीनत्वाभाववान् (पुष्ट नहीं) होता है जैसे घट' ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति का स्वीकार कर व्यतिरेकी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव कहें तो वह भी संभव नहीं । क्योंकि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान अनुमिति में कारण ही नहीं बन सकता, यह पहले कह चुके हैं । साध्याभाव और साधनाभाव के व्याप्तिज्ञान का उपयोग, साधन से साध्य की अनुमिति होने में नहीं हो सकता, यह भी हम पहले बता चुके हैं । तस्मात् व्यतिरेकी अनुमान में भी अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । इसलिये अर्थापत्ति को अनुमान से भिन्न एवं स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहिये । अनुभव भी इस बात का पोषक है । अर्थापत्ति प्रमाण से जो रात्रिभोजन का ज्ञान होता है वह यदि अनुमान से हुआ होता तो मैं 'रात्रि-भोजन का अनुमान करता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय हुआ होता, प्रत्युत 'दिन में बिना भोजन किये पुष्ट दीखनेवाले पुरुष के पीनत्व से उसके रात्रि-भोजनत्व की कल्पना करता

अज्ञाते बहिः सत्त्वे ज्ञातुं न शक्यते । न च अज्ञातो हेतुरनुमापको भवति । एवं च अन्वयिनि व्यतिरेकिणि च अनन्तर्भावात् अर्थापत्तेः अनुमाने अन्तर्भावः न भवति ।

हूँ' इस प्रकार अर्थापत्ति-प्रमाणजन्य ज्ञान का ही अनुभव होता है और वैसा अनुव्यवसाय भी होता है। मनुष्य के ज्ञान का ज्ञापक प्रमाण अनुव्यवसाय ही है। अतः अनुभव के अनुसार 'अर्थापत्ति' संज्ञक पृथक् प्रमाण की कल्पना करनी ही चाहिये।

'इसके बिना यह अनुपपन्न है' यह ज्ञान, व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान ही है या उससे पृथक् है? दिन में बिना भोजन किये किसी व्यक्ति का पुष्ट होना रात्रि-भोजन के अभाव में असंभव है–इस प्रकार जो अनुपपत्ति का ज्ञान होता हैं' वह व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान ही है ऐसा यदि आप कहें तो वह योग्य नहीं होगा। क्योंकि यह मानने पर तो हमारे सिद्धान्त को (अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव) स्वीकार किया-सा होगा। इसलिये द्वितीय पक्ष (व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से पृथक् ज्ञान) स्वीकार करें तो उसका निरूपण करना आपको अशक्य है। इस कारण द्वितीय पक्ष का भी स्वीकार आप नहीं कर सकते—इस आशय से से नैयायिक आक्षेप करता है और ग्रन्थकार उसका संक्षेप से समाधान करते हैं—

नन्वर्थापत्तिस्थले इदमनेन विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं करणमित्युक्तं, तत्र किमिदं तेन विनाऽनुपपन्नत्वम्?। [1]तदभावव्यापका[2]भावप्रतियोगित्वमिति ब्रूमः।

अर्थ—शंका–अर्थापत्ति के स्थल में 'यह इसके बिना अनुपपन्न है' यह ज्ञान करण (साधन) है–ऐसा आपने बताया। किन्तु 'उसके बिना अनुपपन्न होना' क्या है? तो इसके उत्तर में हम कहते हैं—उस अभाव का व्यापक बना जो अभाव उसका प्रतियोगित्व—अनुपपन्नत्व है।

विवरण—किसी वाक्य के प्रसिद्ध अर्थ की अनुपपत्ति हुए विना उसके भिन्न अर्थ की कल्पना नहीं की जाती इसलिये अर्थापत्तिज्ञान को अर्थापत्ति में आप करण बताते हैं परन्तु उस अनुपपत्ति का स्वरूप, नैयायिक के द्वारा पूछे जाने पर धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते

---

१. उपपाद्यज्ञानरूपा अर्थापत्तिः इत्युच्यते, तत्र उपपाद्यलक्षणं प्रदर्शयति—'तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वम्।' अत्र 'तत्' पदमुपपादकत्वेन अभिमतवस्तुपरम्। 'पीनो देवदत्तः' अत्र तत्पदेन उपपादकस्य रात्रिभोजनस्य परिग्रहः, तदभावव्यापकः दिवा अभुञ्जानत्वसमानाधिकरणपीनत्वाऽभावः, तत्प्रतियोगित्वं पीनत्वस्य, इति 'पीनत्वे' उपपाद्यलक्षणसमन्वयः।

एवं 'तदभावव्याप्याभावप्रतियोगित्वमुपपादकत्वम्।' इति उपपादकलक्षणम्। अत्र 'तत्' पदमुपपाद्यत्वेन अभिमततादृशपीनत्वपरम्। तदभावव्याप्यः रात्रिभोजनाभावः, तत्प्रतियोगित्वं रात्रिभोजनस्य इति उपपादके रात्रिभोजने उपपादकलक्षणसमन्वयः।

२. 'कीभूताभा'–इति पाठान्तरम्।

हैं—अपने अभाव का व्यापक जो अभाव उसका प्रतियोगित्व ही अनुपपत्ति है। जैसे—जहाँ भोजन का अभाव रहता है, वहाँ पीनत्व का भी अभाव रहता है। क्योंकि भोजन नहीं और पुष्टत्व हो—यह कभी संभव नहीं। इसलिये 'पीनत्वाभाव', भोजनाभाव का व्यापक है और 'भोजनाभाव' पीनत्वाभाव का व्याप्त है। इसी प्रकार जहाँ रात्रि-भोजन का अभाव हो वहाँ दिन में भोजन न करनेवाले पुरुष के पीनत्व का भी अभाव रहता है। दिन में न जीमने वाले पुरुष का पीनत्वाभाव, रात्रि-भोजन का व्यापक है, ऐसे व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व 'पीनत्व' में होना ही अनुपपन्नत्व है। यही उपपाद्यज्ञान है। देवदत्त में वैसा पीनत्वाभाव नहीं है। किन्तु पीनत्वाभाव का अभाव है—अर्थात् वह पुष्ट है। इसकारण उसमें रात्रि भोजन का अभाव होना शक्य नहीं। इसलिये पीनत्व, रात्रि-भोजन का उपपाद्य है, अर्थात् रात्रि-भोजनाभाव का व्यापक जो पीनत्वाभाव उसका प्रतियोगी पीनत्व है, इसी ज्ञान को अनुपपत्ति ज्ञान कहते हैं। और इसी के बल पर रात्रि-भोजन की कल्पना होती है इसलिये आपका उपर्युक्त प्रश्न अयोग्य है, क्योंकि व्यतिरेकव्याप्तिरूप अनुपपन्नत्व को न मानकर ही हमें दूसरी उपपत्ति का निरूपण करते बनता है।

[1]एवमर्थापत्तेर्मानान्तरत्वसिद्धौ व्यतिरेकि नानुमानान्तरम्, पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते इत्यादौ गन्धवत्त्वमितरभेदं विनाऽनुपपन्नमित्यादिज्ञानस्य करणत्वात्। अत एवानुव्यवसायः पृथिव्यामितरभेदं कल्पयामीति[2]

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र-विरचितायां वेदान्तपरिभाषायाम्
अर्थापत्ति-परिच्छेदः समाप्तः॥ ५॥

अर्थ—इस रीति से 'अर्थापत्ति' पृथक् प्रमाण है, यह सिद्ध होने पर दूसरा व्यतिरेकी अनुमान मानने की आवश्यकता नहीं रहती। पृथ्वी अन्य पदार्थों से भिन्न है आदि स्थलों में पृथ्वी का 'गन्धवत्त्व' इतर भेद के विना अनुपपन्न है। वह पृथ्वी से भिन्न पदार्थों में ही हो सकता है, पृथ्वी में नहीं। यही ज्ञान करण है। इसी कारण 'मैं पृथ्वी में इतर भेद की कल्पना करता हूँ' ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है।

१. तदभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वस्य उपपाद्यत्वे सति अर्थापत्तेः व्यतिरेक्यनुमानत्वमेव किं न स्वीक्रियते यतः 'तदभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वस्यैव व्यतिरेक्यनुमानत्वम्' इति पूर्वपक्षे समाधीयते व्यतिरेकिणः अनुमित्यकरणत्वात् नानुमानत्वम् किन्तु अर्थापत्तित्वमेव।

२. 'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा जलम्'

अत्र पृथिव्यां या इतरभेदप्रमा सा अर्थापत्तिरेव, नानुमितिः। यदि सा अनुमितिः स्यात्, अनुमिनोमीत्यनुव्यवसायः स्यात्, अनुव्यवसायस्यैव ज्ञानसाक्षित्वात्। किन्तु न तथा अनुव्यवसायः। अत्रार्थापत्तित्वसाधक एवानुव्यवसायः।

विवरण—'अनेन इदं कल्पयामि' इस अनुव्यवसाय से 'अर्थापत्ति' पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है। ऐसा स्वीकार करने पर अन्वयरूप एक ही अनुमान मानने योग्य रहता है। अर्थापत्तिको स्वतंत्र प्रमाण मानने पर 'व्यतिरेकी' नामक अनुमान का दूसरा प्रकार मानने का प्रयोजन ही नहीं रहता। क्योंकि अन्वयी लिंग से ही अनुमित्यात्मक ज्ञान हो जाता है। किन्तु नैयायिक जिसे व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं और उससे होने वाले ज्ञान को अनुमिति ज्ञान समझते है, वह वस्तुतः अनुमिति ज्ञान न होकर अर्थापत्तिज्ञान ही है और उस ज्ञान में कारण भी अर्थापत्ति ही है।

शंका—१. पृथ्वी, जलादि अन्य पदार्थों से भिन्न है,

२. क्योंकि उसमें गन्ध है,

३. व्यतिरेक से जल के तुल्य,

इस उदाहरण में जिस पर से उसे अर्थापत्ति कहा जा सके ऐसा कौनसा अनुपपत्ति ज्ञान है? इसके उत्तर में कहते हैं—पृथ्वी का गन्धवत्व ही उसका उपपादक है। अन्य (इतर) पदार्थों से भिन्न हुए बिना पृथ्वी में गन्धवत्व (गन्ध) का होना अनुपपन्न है। यह अनुपपत्तिज्ञान ही वहाँ करण है। क्योंकि इतरभेद के अभाव का व्यापक जो गन्धाभाव उसका प्रतियोगी गंध है। क्योंकि जल में इतर भेद नहीं होता तो वहाँ गंध भी नहीं रहता। इसलिये इतरभेदज्ञान, अर्थापत्ति ही है। व्यतिरेकी अनुमान के अन्य समस्त उदाहरण, अर्थापत्ति प्रमाण के ही हैं। तस्मात् यह पृथक् प्रमाण सिद्ध हुआ।

श्रीगजाननशास्त्रि-मुसलगांवकर-विरचिते सविवरणप्रकाशे
अर्थापत्ति-परिच्छेदः समाप्तः ॥

—:०:—

अथानुपलब्धिपरिच्छेदः ६

इस प्रकार प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के लक्षण प्रमाण आदि बताये गये, अब ग्रन्थकार षष्ठ प्रमाण का प्रतिज्ञापूर्वक निरूपण करते हैं।

इदानीं षष्ठं [1]प्रमाणं निरूप्यते। [2]ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकरणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। अनुमान[3]जन्यातीन्द्रियाभावानुभव हेतावनुमानादावतिव्याप्तिवारणाय अजन्यान्तं पदम्। अदृष्टादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारणहेतु-संस्कारेऽतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति विशेषणम्।

अर्थ—अब छठे प्रमाण का निरूपण किया जाता है। ज्ञान रूप करण से उत्पन्न न होने वाला जो अभावानुभव का (अभाव प्रत्यक्ष का) असाधारण कारण हो वही अनुपलब्धि रूप छठा प्रमाण है। अनुमानप्रमाणजन्य जो अतीन्द्रिय अभाव का अनुमिति रूप अनुभव, उसका कारण अनुमानादि होता है, उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिये अनुपलब्धि लक्षण में 'अजन्यान्त' (ज्ञानकरणाजन्य) पद आवश्यक है, एवं अदृष्टादि साधारण

---

१. षष्ठं प्रमाणाभावरूपम्प्रमाणं निरूप्यते। अनुपलब्धिप्रमाणाङ्गीकारस्य प्रयोजनं श्लोकवार्तिके 'वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया' इत्यादिना असद्रूपेण घटादिज्ञानमित्युक्तम्। एवञ्च ब्रह्मणि प्रपञ्चाभावसिद्धिद्वारा अद्वितीयब्रह्मस्वरूपसिद्धिः अद्वैतिनामसाधारणं फलमिति न तत्प्रमाणविचारः अद्वैतिनां निष्प्रयोजनः।

२. ज्ञानकरणाजन्येति अनुमानादिनिरासः। अभावानुभवेत्यनेन प्रत्यक्ष-स्मृत्योर्निरासः इत्थं श्लोकवार्तिकादिसिद्धमनुपलब्धिलक्षणमेवेदम्। तथा च श्लोकवार्तिककाराः—"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥" इत्युक्त्या 'प्रमाणपञ्चकाभावः'—अनुपलब्धिप्रमाणलक्षणम्, इत्युक्तं भवति। भाष्यकाराः शबरस्वामिनोऽपि—'अभावोऽपि प्रमाणाभावोऽपि नास्तीत्यस्यार्थस्य असन्निकृष्टस्य' इति वदन्त एतमेवार्थमभिप्रयन्ति। अत्र च प्रमाणाभावः स्वरूपत एव चक्षुरादीन्द्रियवत् प्रमाणम्, न तु ज्ञायमानः ज्ञानद्वारेति न अभावहेतुकानुमानस्यापि अनुलब्धित्वम् इति न दोषः। तथा च अनुपलब्धेः स्वरूपं तावदिदम्—ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिः।' अर्थात् ज्ञानरूपं यत् करणं तदजन्यो यः अभावानुभवः तस्य असाधारणकारणम्। एवञ्च लक्षणस्यायमाकारः—ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवाऽसाधारण कारणत्वम्।

३. 'नादि'—इति पाठान्तरम्।

कारणों में अतिव्याप्ति न हो इसलिये 'असाधारण (कारण) पद आवश्यक है। अभाव स्मृति का असाधारण कारण जो संस्कार, उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिये 'अनुभव' पद आवश्यक है।

विवरण—अब छह प्रमाणों में से अन्त्य षष्ठ अनुपलब्धि प्रमाण का निरूपण (लक्षण प्रमाणादि कथन,) कर्तव्य है। ज्ञानरूपी करण जिसका जनक न हो, ऐसा जो अभाव का अनुभव, (अभाव प्रत्यक्ष) उसका जो असाधारण कारण —उसे अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। अनुमितिप्रमा में व्याप्तिज्ञान, एवं उपमितिप्रमा में सादृश्यज्ञान, तथा शाब्दप्रमा में पदज्ञान—करण होता है, और उससे अनुमिति उपमिति तथा शाब्दप्रमा होती है। परन्तु अभावप्रमा, ज्ञानकरणजन्य नहीं है। अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष-ज्ञान से नहीं होता। इसलिये वह ज्ञानकरणजन्य होता है। ऐसे अनुभव का आसाधारण कारण अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) है। उपलब्धि = ज्ञान और अनुपलब्धि = ज्ञान का अभाव, अतः अनुपलब्धि का यह लक्षण उचित है।

इस लक्षण में 'अभावानुभव' पद का निवेश न कर 'ज्ञानकरणाजन्य अनुभवासाधारणकारण' इतना ही लक्षण यदि करते तो उसकी प्रत्यक्ष प्रमाण में अतिव्याप्ति हुई होती, इसीलिये तो नैयायिकों ने 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। लक्षण में 'अभाव' पद का निवेश करने पर अतिव्याप्ति का निरसन हो जाता है। क्योंकि प्रत्यक्ष (चक्षुरादि प्रमाण) अभावप्रत्यक्षज्ञान के करण नहीं होते। अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुपलब्धि से होता है, अर्थात् घट ज्ञानाभाव के कारण घटाभाव का ज्ञान होता है। यदि अत्र भूतले घटः स्यात्, तर्हि उपलभ्येत नोपलभ्यते तस्मान्नास्ति।' —यदि इस भूतल पर घट होता तो दिखाई देता। जबकि नहीं दीखता तो वह नहीं है— इसी तरह अभाव का प्रत्यक्षज्ञान होता है। इसी कारण उस पदार्थ के ज्ञान का अभाव, उस पदार्थ के अभाव ज्ञान में कारण होता है। इसलिए इस प्रमाण की 'अनुपलब्धि' संज्ञा अन्वर्थक है।

शंका—'अभावानुभवासाधारणकारणम्' इतना ही अनुपलब्धि का लक्षण किया जाय। उसमें 'ज्ञानकरणाजन्य' पद किसलिये निविष्ट किया है? ऐसा कौन सा 'अभावानुभव' है कि जो ज्ञानकरणजन्य है, जिसमें अतिव्याप्ति हो जाने के भय से 'अजन्यान्त' पद की आवश्यकता होगी।

समाधान—'ज्ञानकरणाजन्य' पद का लक्षण में यदि निवेश न किया गया तो अतीन्द्रिय अभाव की जो अनुमित्यात्मक प्रमा उसके करण रूप अनुमान में अनुपलब्धि लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि अभाव की अनुमिति में अनुमान असाधारण कारण है। इस अतिव्याप्ति के निरासार्थं 'ज्ञानकरणाजन्य' विशेषण का निवेश अवश्य करना चाहिये। अभावानुमिति, अनुभवव्याप्तिज्ञानरूप अनुमान से जन्य है अर्थात् उस अनुमिति

में व्याप्तिज्ञान करण है। इसलिये वह ज्ञानकरणाजन्य नहीं है, अतः उक्त दोष नहीं आने पाता।

प्रश्न—अभाव की अनुमिति कौन सी है ?

उत्तर—देवदत्तादि किसी व्यक्ति को दुःखी देखकर हम १—'यह धर्माभाववान् है, २—क्योंकि यह दुःखी है' इस प्रकार उसके धर्माभाव का अनुमान करते हैं। यहाँ पर उसके धर्माभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि धर्मादि पदार्थों के अतीन्द्रिय होने से उनका अभाव भी अतीन्द्रिय ही होता है। यही अतीन्द्रियविषयक अनुमिति है। 'अनुमानादि०' यहाँ के आदि पद से आगम तथा अर्थापत्ति का ग्रहण करना चाहिये। 'चान्द्रायण से समस्त पापों का क्षय हो जाता है' इस आगम से ही समस्त पापों के क्षय (अभाव) का ज्ञान होता है। यह पापाभाव का अनुभव आगम–(शब्दप्रमाण) जन्य है। इसी तरह 'द्वचणुक सावयव है' यह वाक्य श्रवण होने पर वह परमाणु से भिन्न है। यह ज्ञान अर्थापत्ति के होता है। 'ज्ञानकरणाजन्य' पद के निवेश न करने पर उपर्युक्त दोनों स्थलों में अतिव्याप्ति हुई होती, (इनके करण भूत पदज्ञान और अनुपपत्तिज्ञान को भी अनुपलब्धि कहने का प्रसंग प्राप्त होता) अतः 'ज्ञानकरणाजन्य' पद आवश्यक है।

लक्षण में स्थित 'असाधारण' पद का प्रयोजन 'अदृष्टादि०' वाक्य से कहा गया है। प्रागभाव, अदृष्ट, काल आदि पदार्थ समस्त कार्यों में साधारण कारण माने गये हैं। इस कारण अभाव के अनुभव में भी अदृष्टादि कारण हैं। 'असाधारण कारण न कहकर केवल 'अभावानुभवकारणम्' लक्षण करें तो अदृष्टादि साधारण कारणों को भी 'अनुपलब्धि' कहना होगा। अतः उसके निरसनार्थं लक्षण में 'असाधारण' पद का निवेश करना चाहिये। अभाव के प्रत्यक्ष में अदृष्टादि साधारण कारण होते हैं। केवल अनुपलब्धि ही उसमें असाधारण कारण है। अतः उक्त अतिव्याप्ति नहीं है।

'अभावानुभवासाधारणकरणम्' लक्षण में 'अनुभव' शब्द के स्थान पर 'ज्ञान' शब्द को रखकर 'अभावज्ञानासाधारणकारणम्' यदि लक्षण करें तो अभावस्मृति के कारणभूत संस्कार में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि अभाव के स्मृत्यात्मक ज्ञान में संस्कार, असाधारण कारण होते हैं 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यही स्मृति का लक्षण है। पूर्वानुभूत पदार्थ का पूर्वज्ञानसंस्कार से ही स्मरण होता है। अतः इस संस्कार में अतिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षण में ज्ञान पद का प्रयोग न कर 'अनुभव' शब्द का प्रयोग किया गया है।

घटादि पदार्थों का अभाव जैसे अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञात होता है वैसे ही अतीन्द्रिय धर्माधर्मादिकों का अभाव भी अनुपलब्धि से ही ज्ञात होता है, मानना चाहिये, क्योंकि उभयत्र अनुपलब्धि तो समान ही है तब 'ज्ञानकरणाजन्य' पद का निवेश करने का क्या प्रयोजन है ? इस आशय से शंका उपस्थित कर उसका समाधान भी करते हैं।

न चातीन्द्रियाभावानुमिति-स्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो[1] गृह्यतां विशेषाभावादिति वाच्यम्। [2]धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभाव-ग्राहकत्वात्।

अर्थ—शंका—'अतीन्द्रिय पदार्थ के अभावानुमिति स्थल में भी अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से ही माना जाय, क्योंकि अतीन्द्रिय भावपदार्थ की अनुपलब्धि और अभाव की अनुपलब्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि धर्माधर्म की अनुपलब्धि होने पर भी उनके अभाव का निश्चय नहीं हो पाता। इसलिये योग्यानुपलब्धि' ही अभावग्राहक है, अर्थात् वही अभाव की ज्ञापिका है।

विवरण—शंका—आप अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोग्यनुपलब्धि (प्रतियोगी का ज्ञान न होना) को कारण बताते हैं। धर्मादिकों का भी प्रत्यक्षज्ञान न होने से उनके अभाव का ज्ञान, इस अनुपलब्धि प्रमाण से ही माना जाय। सर्वत्र अभाव-प्रमा में केवल एक अनुपलब्धि को ही कारण मानने में लाघव है। ऐसी स्थिति में धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का अभाव अनुमानादि प्रमाणों से ज्ञात होता है—यह आप कैसे कह रहे हैं ? जैसी घटादिकों की अनुपलब्धि वैसी ही धर्म-अधर्मादिकों की भी अनुपलब्धि है। इस रीति से अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा धर्मादिकों के अभाव का ज्ञान होता है। यह स्वीकार करने पर लक्षण में 'ज्ञानकरणाजन्य' विशेषण देने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान—हम अभाव-प्रमा में प्रतियोग्यनुपलब्धि को अनुपलब्धित्वेन रूपेण कारण नहीं मानते। अपितु योग्यानुपलब्धित्वेन रूपेण (योग्यानुपलब्धित्वधर्म से) अनुपलब्धि को अभावानुभव में कारण मानते हैं। अर्थात् जिस प्रतियोगी में प्रत्यक्षयोग्यता होती है ऐसे ही प्रतियोगी की अनुपलब्धि, उसके (प्रतियोगीके) अभाव की प्रमापक (प्रमाण, प्रमाजनक) होती है। धर्माधर्म की चक्षुरादि से अनुपलब्धि होती है (ज्ञान होता नहीं) परन्तु इतने ही से उनके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस अभाव के प्रतियोगी स्वरूप अतीन्द्रिय धर्माधर्मादि पदार्थों में प्रत्यक्ष योग्यता नहीं होती। इस कारण उनके अभावों का एवं उनका भी ज्ञान केवल अनुमानादि प्रमाणों से ही मानना चाहिये। इसीलिये अभाव की ग्राहक योग्यानुपलब्धि ही है—ऐसा हम कहते हैं।

ऐसी योग्यानुपलब्धि का होना तो असम्भव ही है—इस आशय से वादी विकल्पपूर्वक प्रश्न करता है।

---

१. 'चाभावा'—इति पाठान्तरम्।

२. धर्मप्रमाणाभावेऽपि तदभावविषयकसत्तानिश्चयरूपग्रहणात्मकज्ञानाभावेन प्रत्यक्षयोग्यप्रतियोगिविषयकप्रमाणाभावस्यैव सत्तानिश्चयात्मकानुभवहेतुत्वात्।

[1]ननु केयं योग्यानुपलब्धिः ? । किं योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिरुत योग्या[2]धिकरणे प्रतियोग्यनुपलब्धिः ? । नाद्यः, स्तम्भे पिशाचादि-भेदस्याप्रत्यक्षत्वापत्तेः । नान्त्यः, आत्मनि धर्माधर्माद्यभावस्या[3]पि प्रत्यक्षता[4]पत्तेः ।

अर्थ—प्रश्न—यह योग्यानुपलब्धि क्या है ? अर्थात् उसका स्वरूप क्या है । (१) योग्य-प्रतियोगी की अनुपलब्धि = ज्ञान न होना (इसे योग्यानुपलब्धि कहते हो,) (२) अथवा योग्य = प्रत्यक्षयोग्य अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि (को योग्यानुपलब्धि कहते हो) ।

इनमें से प्रथम पक्ष तो सम्भवनीय नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर स्तंभ में पिशाचादि के भेद की अप्रत्यक्षत्वापत्ति होगी (स्तम्भ में 'यह पिशाच नहीं' इत्याकारक प्रत्यक्ष नहीं होगा) ।

इसी तरह 'अधिकरण योग्य चाहिये' यह द्वितीय पक्ष भी संभवनीय नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा । तस्मात् दोनों कल्प (पक्ष) संभवनीय न होने से योग्यानुपलब्धि का निरूपण नहीं किया जा सकता ।

विवरण—इस ग्रन्थ के द्वारा केवल वादी की शंका का अनुवाद किया गया है । अनुपलब्धि में प्रत्यक्षयोग्यता चाहिए और ऐसी योग्यानुपलब्धि ही अभाव प्रत्यक्ष में कारण होती है । परन्तु इस योग्यानुपलब्धि का स्वरूप क्या है ? अनुपलब्धि का अर्थ है ज्ञानाभाव । उस अभाव के बल पर पदार्थ में योग्यता क्या होगी ? जिस पदार्थ का ज्ञान नहीं होता वह पदार्थ अनुपलब्धि का प्रतियोगी और प्रत्यक्षयोग्य होना चाहिए—यह आपको सम्मत है, या उस प्रतियोगी की जिस अधिकरण में प्रतीति होती है, वह अधिकरण प्रत्यक्षयोग्य होता है—यह सम्मत है ? परन्तु ये दोनों पक्ष नहीं बन सकते । क्योंकि प्रतियोगी योग्य होना चाहिए—ऐसा यदि कहो अर्थात् 'योग्यस्य अनुपलब्धिः' ऐसा षष्ठी-समास यदि किया जाय तो 'प्रत्यक्ष योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि' यह अर्थ

---

१. प्रत्यक्षानुमानादिभिरेव घटाद्यभावः अनुभूयते इति न अनुपलब्धिः प्रमाणान्तरमिति शङ्कते 'ननु केयं योग्यानुपलब्धिः' इति । अत्र 'योग्यस्यानुपलब्धिः' इति षष्ठीसमासः' किंवा 'योग्ये अनुपलब्धिः' इति सप्तमीसमासो न कार्यः, अपि तु 'योग्याचासौ अनुपलब्धि'-रिति कर्मधारयसमासो विधेयः ।

२. 'ग्येधि०'–इति पाठान्तरम् ।

३. 'स्यप्र०'–इति पाठान्तरम् ।

४. क्षत्वाप०'–इति पाठान्तरम् ।

होगा। परन्तु वह उचित नहीं। क्योंकि प्रतीयोगी को सर्वत्र प्रत्यक्षायोग्य होना ही यदि मानें तो जिसका प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता ऐसे (प्रत्यक्षायोग्य) पिशाच का भेद प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं होगा। किसी स्तम्भ को देखने के पश्चात् प्रथमतः भ्रम से भासित हुए पिशाच की निवृत्ति होकर 'यह स्तम्भ, पिशाच नहीं' इत्याकारक स्तम्भ में पिशाच के भेद (अन्योन्याभाव) का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है—वह अनुपपन्न होगा। अर्थात् वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता है, कहना पड़ेगा। किन्तु ऐसा कहना तो अनुभव के विरुद्ध है। इस कारण योग्यता प्रतियोगी में होती है और उसकी अनुपलब्धि, अभाव-प्रत्यक्ष में कारण है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। अच्छा तो इस दोष के परिहारार्थ आप यदि ऐसा कहें कि प्रतियोगीप्रत्यक्ष रहे चाहे न रहे, केवल उस प्रतियोगी का अधिकरण (आधार प्रतियोगी जिस पर रहता है वह पदार्थ) प्रत्यक्ष योग्य होने पर तन्निष्ठपदार्थ के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, ऐसा सप्तमी तत्पुरुष (योग्ये अनुपलब्धिः) मान लें। जैसे —स्तम्भ में 'यह पिशाच है' ऐसा ज्ञान होने पर भी पिशाच प्रत्यक्षयोग्य नहीं होता, यह प्रसिद्ध ही है। किन्तु उस पिशाच का कल्पित अधिकरण जो स्तम्भ है वह प्रत्यक्ष-योग्य रहता है, इस कारण उसका यथार्थ ज्ञान हुआ, अर्थात् यह पिशाच नहीं है, पिशाच भिन्न स्तम्भ है इत्याकारक पिशाच भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। यह स्तम्भ पिशाच से भिन्न है, पिशाच नहीं हैं—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसलिए अधिकरण में ही प्रत्यक्षयोग्यता का होना उचित है, और उसके कारण ही तन्निष्ठ पदार्थ के अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'योग्ये अधिकरणे अनुपलब्धिः' योग्य अधिकरण में प्रतियोगी की प्रतीति न होना इस प्रकार 'योग्यानुपलब्धि' शब्द की व्युत्पत्ति मानकर अधिकरण की जो योग्यता, वही अनुपलब्धि की योग्यता है, यदि कहें तो भी ठीक नहीं। (प्रथम पक्ष में 'योग्यस्य अनुपलब्धिः = योग्यानुपलब्धिः, षष्ठीतत्पुरुष और दूसरे पक्ष में 'योग्ये अनुपलब्धिः = योग्यानुपलब्धिः' सप्तमीतत्पुरुष समास मानकर दोष देने का प्रयत्न किया है। प्रथम पक्ष में स्तम्भ में पिशाच भेद अप्रत्यक्ष होने का प्रसङ्ग आवेगा। अब वादी दूसरे पक्ष में भी दोष देता है) इस पक्ष में स्तम्भ आदि में पिशाच के भेद प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति न होने पर भी धर्माधर्मादि परोक्ष पदार्थों के अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इस तुम्हारे सिद्धान्त पर दोष आता है क्योंकि उस अभाव के प्रतियोगीरूप धर्माधर्म प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, किन्तु उनका अधिकरणभूत आत्मा प्रत्यक्षयोग्य है। 'अहम्' इस रूप से उसका मानस प्रत्यक्ष होता है। किं बहुना वह साक्षात् अपरोक्ष है। इस कारण अधिकरण योग्यता का स्वीकार करने पर तन्निष्ठ धर्माधर्मों के अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि अभाव-प्रत्यक्ष में आवश्यक अधिकरणयोग्यता और धर्मादि की अनुपलब्धिरूप सामग्री वहाँ भी रहती है। परन्तु आप वैसा नहीं मानते। अतीन्द्रिय वस्तुओं के अभाव का ज्ञान अनुमान से ही होता है, अनुपलब्धि से नहीं—यह तुम्हारा मत योग्य है, क्योंकि जहाँ प्रतियोगी का ही प्रत्यक्ष नहीं होता वहाँ प्रति-

योगी के अभाव का ज्ञान भी होना सम्भव नहीं, तस्मात् ये दोनों पक्ष सम्भवनीय नहीं हैं।

उपर्युक्त आक्षेप का गूढ़ आशय इस प्रकार है—

भेद का प्रत्यक्ष करने के लिये उसका अधिकरण, प्रत्यक्षयोग्य होना आवश्यक है और अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष के लिये प्रतियोगी की प्रत्यक्षयोग्यता आवश्यक है। स्तम्भ में पिशाच भेद का प्रत्यक्ष करने के लिये उसका अधिकरणरूप स्तम्भ प्रत्यक्ष योग्य होने से स्तंभ और पिशाच के अन्योन्याभाव (भेद) का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। स्तंभ में स्थित जो पिशाच भेद है वह अन्योन्याभाव है। इस कारण अनुपलब्धि का प्रतियोगी जो पिशाच, वह प्रत्यक्ष योग्य हो चाहे न हो तथापि उसका अधिकरण स्तंभ, प्रत्यक्ष योग्य होने से उस अन्योन्याभाव (भेद) का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।

किन्तु वेदान्त मत के अनुसार आत्मा में धर्माधर्म का अत्यंताभाव रहता है। इस कारण उसका अधिकरण प्रत्यक्ष हो चाहे न हो तथापि अनुपलब्धि का प्रतियोगी जो धर्माधर्म, उसमें प्रत्यक्षयोग्यता न होने से उससे अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुपलब्धि प्रमाण से हो नहीं सकता। इसलिये प्रतियोगी की योग्यता का पक्ष स्वीकार किया जाय तो उसका उपयोग, अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष में होता है। किन्तु अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष स्थल में उसकी अव्याप्ति होती है। और अधिकरणयोग्यता का पक्ष मानकर योग्यता का निरूपण करें तो अतीन्द्रिय पदार्थों के अत्यन्ताभाव में भी प्रत्यक्षत्वापत्ति होती है। इस रीति से अतिव्याप्ति होती है। एवं योग्यता का निरूपण ही आप नहीं कर सकते।

इस आक्षेप का समाधान ग्रन्थकार स्वयं करते हैं—

इति चेत्। न। योग्या चासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणात्। अनुपलब्धेर्योग्यता च—[1]तर्कित-प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जित-प्रतियोगिकत्वम्। यस्याभावो गृह्यते, तस्य यः प्रतियोगी, तस्य सत्त्वेनाधिकरणे तर्कितेन [2]प्रसञ्जनयोग्यमापादनयोग्यं [3]यत्प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य[4] तदनुपलब्धेर्योग्यत्वमित्यर्थः।

तथा हि, स्फीतालोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तदा घटोपलम्भः

---

१. तर्कितेति। तर्कितेन प्रतियोगिसत्त्वेन प्रसञ्जितः आपादानयोग्यः प्रतियोगी यस्य अनुपलम्भस्य तत्त्वम्' इति विग्रहः।

२. 'प्रसञ्जितमापादनयोग्य०'—इति पाठान्तरम्।

३. 'यत्' इति पाठो नास्ति क्वचित् पुस्तके।

४. 'स्य तत्त्वम्'—इति पाठान्तरम्।

स्यादित्यापादन-सम्भवात्तादृश-भूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः। अन्धकारे तु तादृशापादना[1]सम्भवान्नानुपलब्धि गम्यता। अत एव स्तम्भे[2] पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत्प्रत्यक्षता[3]पत्त्या तदभावोऽनुपलब्धि-गम्यः। आत्मनि [4]धर्मादिसत्त्वेऽ[5]प्यस्यातीन्द्रियतया निरुक्तोपलम्भा-पादनाऽसम्भवात् न [6]धर्माद्यभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वम्।

अर्थ—ऐसा आक्षेप करोगे तो वह उचित न होगा। क्योंकि हमने 'योग्य जो अनुपलब्धि—वह योग्यानुपलब्धि' ऐसा कर्मधारय समास का आश्रय किया है।

तर्कित प्रतियोगी के सत्त्व (अस्तित्व) से प्राप्त हुआ प्रतियोगिकत्व ही अनुपलब्धि की योग्यता है, अर्थात् 'यदि यहाँ होता' इस रीति से तर्कित (जो), अभाव के प्रतियोगी का सत्त्व, उसके योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी प्रसंजित होता है—'तो वह उपलब्ध हुआ होता' इस रीति से प्राप्त होता है, इसी ज्ञान को योग्यता कहते हैं। जिसका अभाव ग्रहण किया जाता है उसके प्रतियोगी के अधिकरण में कल्पित–(कदा-चित् हुआ हो इस आकार में कल्पना किया हुआ) सत्त्व (अस्तित्त्व, सत्ता) योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी रूप उपलंभ (उपलब्धि) ('तो दिखाई देता इस ज्ञान के योग्य होना) ही अनुपलब्धि की योग्यता है। जैसे—स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर 'यहाँ यदि घट होता तो वह दिखाई देता' कह सकते हैं, अतः ऐसे स्पष्ट प्रकाश से युक्त भूतल पर घटाभाव का जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। किन्तु अन्धकार में 'घट होता तो दिखाई देता' ऐसे आपादन का संभव नहीं है। इसलिये वहाँ पर स्थित घटाभाव का ज्ञान, अनुपलब्धि से नहीं होता। इसी कारण पिशाच का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर भी 'स्तंभ में यदि वह होता तो उसका स्तंभ के समान ही प्रत्यक्ष हुआ होता' परन्तु वह होता नहीं, इसलिये स्तंभ में भी पिशाच का अभाव अनुपलब्धिप्रमाणगम्य है। किन्तु आत्मा में धर्माधर्मादि-यदि होते तो दिखाई देते' ऐसा ज्ञानापादन (उसमें धर्माधर्मादि होने पर भी) नहीं सकता इसलिये उन जैसे परोक्ष पदार्थों का अभाव, अनुपलब्धिप्रमाण वेद्य नहीं है।

विवरण—'योग्यानुपलब्धि' में षष्ठी या सप्तमी तत्पुरुष समास मानने पर अव्याप्ति

---

१. 'नाभावान्ना'–इति पाठान्तरम्

२. 'तादात्म्येन पिशा०'–इति पाठान्तरम्।

३. 'क्षत्वा'–इति पाठान्तरम्।

४. 'धर्माधर्मस०'–इति पाठान्तरम्।

५. 'तस्या' इति पाठान्तरम्।

६. 'धर्माधर्माद्य०–इति पाठान्तरम्।

अतिव्याप्ति आदि दोष आते हैं—यह तुम्हारा आक्षेप है, परन्तु वह ठीक नहीं। क्योंकि हम उसमें षष्ठी, या सप्तमी समास नहीं मानते। हमने तो उसमें कर्मधारय-समास (योग्य ऐसी जो अनुपलब्धि) माना है। इस कारण हमारे मत में उक्त दोष नहीं हो पाता। क्योंकि उसका उपयोग, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव दोनों अभावों के प्रत्यक्षज्ञान में होता है।

अनुपलब्धि का अर्थ है ज्ञानाभाव। उस अभाव में योग्यता कैसी ? जिसके न होने से 'योग्य जो अनुपलब्धि' यह अर्थ भी कैसे सम्भव हो सकेगा ? ऐसा यदि कोई पूछे तो उत्तर देते हैं—(अभाव के—प्रतियोगी के तर्कितत्व से) तर्क से अनुपलब्धि के प्रतियोगी की उपलब्धि की प्राप्ति कर सकना ही अनुपलब्धि की योग्यता है। अनुपलंभ के सर्वत्र समान होने पर भी जिस अनुपलब्धि के प्रतियोगी की (उपलब्धि की) 'हुआ होता' तर्क के द्वारा कल्पित सत्ता से 'तो दीखता' यह आपादन किया जा सकता है वही योग्यानुपलब्धि है। उस अनुपलब्धि से अभाव का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है।

तात्पर्य यह है कि—जिस अनुपलब्धि के विषय में 'अमुक पदार्थ यहाँ होता तो दिखाई देता, वह दीखता नहीं, अतः नहीं है', ऐसा कहा जा सकता है, वही योग्यानुपलब्धि है और वही अभाव प्रमा में छठा प्रमाण है। जैसे—स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर 'यहाँ घट होता तो दीखता, जब कि वह नहीं दीखता तो वह नहीं है' यह कह सकते हैं। इसलिये ऐसे भूतल पर जो घटाभाव का ज्ञान होता है वह अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है—यह मानना चाहिये।

इस उदाहरण में घटाभाव अनुपलब्धिप्रमाण से ग्राह्य है। 'घट' उसका प्रतियोगी है। और उस प्रतियोगी के—'घट होता' इत्याकारक तर्क से कल्पना किये हुए अस्तित्व से–'तो दीखता, किन्तु दीखता नहीं–अतः नहीं है' इस प्रकार की-घटानुपलब्धि की प्रतियोगिनी जो घटोपलब्धि, उसका अपादान किया जा सकता है। इसलिये योग्य घट की अनुपलब्धि, छठे प्रमाण से ज्ञात होती है।

अंधकार में स्थित घट का भी ज्ञान नहीं होता। तथापि वह इस अनुपलब्धि प्रमाण से होता है–ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यहाँ 'घट होता' इस तर्कित प्रतियोगी के सत्त्व से 'तो दीखता' इस प्रकार अनुपलब्धि के प्रतियोगी का (घटोपलब्धिका) आपादन (घट होता तो दिखाई देता) नहीं कर सकते। अंधकार में अनुपलब्धि के होने पर भी वह योग्य नहीं होती। इसीलिये उसके बलपर 'इस भूतलपर घटाभाव है' ऐसा भी निश्चित ज्ञान नहीं होता। कदाचित् 'यहाँ घटाभाव है' इस निश्चित ज्ञान से घटाभाव का ज्ञान होनेपर भी उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। अतः उसमें अनुपलब्धि को कारण नहीं कह सकते। वह ज्ञान अनुमित्यादिरूप हो सकता है और उसमें अनुमानादि को कारण भी कह सकते हैं।

हमारे माने हुए योग्यानुपलब्धि के स्वरूप में आप के दिये हुए वैकल्पिक दोष भी नहीं हो सकते। तथाहि—यह स्तंभ है, पिशाच नहीं' इसप्रकार से स्तंभमें पिशाच के भेद (अन्योन्याभाव) का प्रत्यक्षज्ञान होता है। यदि यहाँ पिशाच होता तो स्तंभ के समान दिखाई देता–ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस कारण लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'आत्मा में धर्मादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष होगा और उस कारण लक्षण की अतिव्याप्ति होगी' यह दूसरा आक्षेप भी कर्मधारय पक्ष में नहीं हो सकेगा। क्योंकि आत्मामें धर्माधर्मादि रहते हैं, ऐसा मान भी लें तथापि उनके अतीन्द्रिय (परोक्ष) होने के कारण 'यहाँ धर्माधर्म होते तो दीखते' यह नहीं कह सकते, क्योंकि उनमें इन्द्रियप्रत्यक्ष होने की योग्यता ही नहीं है, और योग्यानुपलब्धि के अभाव के कारण उनके अभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं होता है, इसी कारण अतिव्याप्ति दोष नहीं हो पाता। 'होता तो दीखता' ऐसा जिसके विषय में कह सकते हैं उस अनुपलब्धि को ही हम योग्यानुपलब्धि कहते हैं और वही अभावप्रत्यक्ष में कारण होती है। केवल अनुपलब्धि, अभाव के प्रत्यक्ष में कारण नहीं है। क्योंकि उसमें योग्यता नहीं होती। इस कारण ऐसे प्रत्यक्षायोग्य पदार्थ के अभाव का ज्ञान, अनुमानादि से होता है। तस्मात् अनुपलब्धि का पूर्वोक्त लक्षण सर्वथा उचित है। इस रीति से पदार्थों के ज्ञानाभाव से योग्य पदार्थों के अभाव का प्रत्यक्ष होता है।

जिस इन्द्रिय से पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है—अतः अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने को आवश्यकता नहीं। इस प्रकार से नैयायिकों की शंका और उसका समाधान—.

[1]ननूक्तरीत्याऽधिकरणेन्द्रिय-सन्निकर्ष-स्थले अभावस्यानुपलब्धि-गम्यत्व[2]मनुमतं। तत्र क्लृप्तेन्द्रियमेवाभावाकार-वृत्तावपि करणम्, [3]इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधानादिति चेत्। [4]न, तत्प्रतियोग्यनु-पलब्धेरपि अभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य कल्पनात्। इन्द्रियस्य चाभावेन स[5]मं सन्निकर्षाभावेनाभावग्रहाहेतुत्वात्। इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकयोरधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धेः।

---

१. नानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वमिति नैयायिकः शङ्कते 'नन्वि' त्यादिना।

२. 'त्वं त्वदभिमतम्'—इति पाठान्तरम्।

३. इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानात् इन्द्रियसत्त्वे अभावज्ञानं, तदभावे तद-भावः इति अन्वयव्यतिरेकयोः अनुरोधात्।

४. 'ने' तिग्रन्थेन समाधानमाह—नास्ति ममाद्वैतिनो गौरवं प्रत्युत नैयायिकस्य महद् गौरवम्। ५. 'सह'—इति पाठान्तरम्।

अर्थ—"पूर्वोक्त प्रकार से जहाँ अधिकरण और इन्द्रिय का संनिकर्ष होता है वहाँ अभाव, अनुपलब्धिगम्य होता है" यह तुम्हें संमत है। "किन्तु वहाँ क्लृप्त (निश्चित) इन्द्रिय ही अभावाकारवृत्ति के विषय में भी करण होता है, क्योंकि वहाँ इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान रहता है। 'इन्द्रिय होगा तो अभाव का प्रत्यक्षज्ञान होगा और वह न हो तो नहीं होगा' इन्द्रिय के इस अन्वयव्यतिरेक का अनुरोध अनुभूत होता है। ऐसा यदि कहें तो ठीक नहीं क्योंकि अभावप्रत्यक्ष के प्रतियोगी की उपलब्धि तो कल्पित है, अब तो केवल करणत्व की ही कल्पना करनी पड़ती है। 'तो फिर इन्द्रिय की ही कल्पना क्यों न की जाय ?' यह कहें तो इन्द्रिय का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। इस कारण से अभावज्ञान में इन्द्रिय को हेतुत्व भी नहीं है। 'तब इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक की क्या गति है ?' यदि पूछो तो अधिकरण ज्ञान से अन्वय-व्यतिरेक उपक्षीण होते हैं (अन्वयव्यतिरेकादि अधिकरण का ज्ञान कराकर चरितार्थ हो जाते हैं) इसलिये वे अभाव-प्रत्यक्ष के विषय में अन्यथासिद्ध हैं।

विवरण—हमें 'जिस इन्द्रिय से पदार्थ का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से पदार्थ के अभाव का भी ज्ञान होता है, नील-घट में पीत-रूप के अभाव का जो ज्ञान होता है वह चक्षुरिन्द्रिय से ही होता है क्योंकि नील-घट में पीतरूप है या नहीं, यह जानने के लिये नेत्र से ही देखना पड़ता है। चक्षुर्भिन्न किसी इन्द्रिय से रूप का या रूपाभाव का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। अतः इन्द्रिय का अधिकरण के साथ संनिकर्ष होने पर उस इन्द्रिय से ही तन्निष्ठ अभाव का प्रत्यक्षहोता है, क्योंकि 'यह भूतल घटाभाववत् है' इस प्रकार हमें जब भूतल का ज्ञान होता है, तब हम भूतल के विशेषण-रूप में घटाभाव भासित होता है। वहाँ पर भूतल के साथ चक्षुरिन्द्रिय का 'संयोगसंबन्ध' होता है और भूतल के विशेषणरूप घटाभाव के साथ चक्षु का 'विशेषणता-संबन्ध' रहता है अर्थात् चक्षु का घटाभाव के साथ 'संयुक्त-विशेषणता' संबंध होता है, तब प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार रूपाभाव प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेत-विशेषणता' संबंध से, रूपत्वाभाव का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेतसमवेत-विशेषणता' संबंध से, ककारादिशब्दों में खकारादिकों के अभाव का प्रत्यक्ष समवेत-विशेषणता' संबंध से, कत्व में खत्व के अभाव का प्रत्यक्ष-'समवेतसमवेत-विशेषणता' सम्बन्ध से होता है। उसी प्रकार अनुपलब्धि के होने पर इन्द्रिय का अधिकरण के साथ संनिकर्ष यदि हो तो तन्निष्ठ अभाव का प्रत्यक्ष होता है—यह अन्वय है, और इन्द्रिय का अधिकरण के साथ संनिकर्ष न हो तो अनुपलब्धि के होने पर भी रूपादि के अभाव का चक्षूरहित घ्राणादिकों से प्रत्यक्ष न होना—यह व्यतिरेक है इस अन्वय व्यतिरेक से भी अभाव-प्रमा में करण इन्द्रिय ही सिद्ध होता है। तस्मात् जहाँ पर 'यदि घट होता तो दीखता' यह ज्ञान अनुपलब्धि-प्रमाण से होता है—ऐसा आप कहते हैं। वहाँ अधिकरणज्ञान के साथ इन्द्रिय को ही क्लृप्तकरण-मानना उचित है। क्योंकि घट होता तो दीखता' यह आपादन भी इन्द्रिय का अधिकरण

के साथ संनिकर्ष हुए बिना हो नहीं सकता, अतः तुम अनुपलब्धवादियों को भी इन्द्रिय-संनिकर्ष का तो अवश्य स्वीकार करना ही पड़ता है। और इस कल्पना में लाघव भी है, क्योंकि इन्द्रिय में 'विषयाकारवृत्तिजनकत्व' कल्पित है और 'अनुपलब्धि' कल्प्य है। इस कारण से उसमें अभावप्रत्यक्ष का करणत्व भी कल्प्य है। इसलिये जैसे अधिकरणाकार-वृत्ति, चक्षुरादि इन्द्रियों से ही उत्पन्न होती है, वैसे ही अभावाकार-वृत्ति को भी इन्द्रिय-जन्य ही मानना युक्त है। अतः अभाव-प्रमा के लिये अनुपलब्धि-प्रमाण का अभ्युपगम करने की कोई आवश्यकता नहीं—ऐसा नैयायिक कहते हैं।

'न' इत्यादि ग्रंथ से उपर्युक्त मत का निरसन करते हैं। भाव यह है कि—तुम नैयायिकों ने 'इन्द्रियों में अभाव-प्रमापकत्व क्लृप्त हैं, अनुपलब्धि में अभाव-ग्राहकत्व कल्प्य है, जो कहा वह ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों के समान प्रतियोगी की अनुपलब्धिमें 'अभावप्रत्यक्षहेतुत्व' भी क्लृप्त ही है, क्योंकि अधिकरण के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष के होने पर भी यदि वहाँ प्रतियोगी का ज्ञान (उपलब्धि) हो तो उसके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस कारण अनुपलब्धि यदि हो तो अभाव का प्रत्यक्ष होता है—यह अन्वय, और इन्द्रियसंनिकर्ष होते हुए भी अनुपलब्धि यदि न हो तो अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता—यह व्यतिरेक। 'अन्वयव्यतिरेक' अनुपलब्धि में प्रमाण होने से इन्द्रियों के समान अनुपलब्धि में भी कारणत्व क्लृप्त है, कल्प्य नहीं। इस कारण कल्पना-गौरवदोष हमारे पक्ष में नहीं आता, क्योंकि उस अनुपलब्धि में ही करणत्व होता है।

इन्द्रियाँ और अनुपलब्धि दोनों क्लृप्त होने पर भी उनमें से अनुपलब्धि में ही कारणत्व मानने में विनिगमक (एक पक्ष का ही आश्रय करने में युक्ति) क्या है? इसके विपरीत अभावप्रमा में इन्द्रियसंनिकर्ष ही कारण है—यह मानकर इन्द्रियों में ही कारणत्व क्यों न माना जाय? इस पक्ष में पृथक् छठे प्रमाण की कल्पना नहीं करनी पड़ती—यह लाघव ही विनिगमक होने से इन्द्रियों में ही करणत्व माना जाय—यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों में अभावप्रमा का कारणत्व ही असिद्ध होने से (कारणत्व का ही एक विशेष) करणत्व का भी असंभव है। जिसमें कारणत्व होगा उसी में करणत्व का संभव हो सकता है। परन्तु अभावप्रमा में इन्द्रियों की कारणता ही असिद्ध है। तथाहि—आप अभाव के साथ इन्द्रियों का 'संयुक्तविशेषणता' संनिकर्ष बताते हैं, किन्तु वास्तव में इन्द्रियों का अधिकरण से ही संबंध रहता है, अभाव से नहीं आपका बताया हुआ 'इन्द्रिय-संबद्ध-विशेषणता' संबंध बन नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर परमाणुओं के साथ चक्षु का संयोगसंनिकर्ष होने से उस इन्द्रियसंबद्ध पृथ्वी-परमाणुओं में जलत्वाभाव का भी प्रत्यक्ष होना आपके मत में मानना होगा। इसकारण अभावप्रमा का जनक विशेषणतासंबंध (संनिकर्ष) है, नहीं कहा जा सकता। अतः अभाव के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष नहीं बन सकता और अभावानुभव की इन्द्रियों में कारणता नहीं मानी जा सकती। तस्मात् अभावप्रमा में अनुपलब्धि ही प्रमाण है।

शंका—यदि इन्द्रियों से अभाव का अनुभव नहीं होता तो अधिकरण के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष होने पर ही भूतलनिष्ठ अभाव का प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं होता—इस अन्वयव्यतिरेक की क्या व्यवस्था होगी ? आप ही का तो कहना है कि कार्यकारण-भाव में निश्चायक अन्वयव्यतिरेक ही होते हैं। तब इस अन्वयव्यतिरेक से इन्द्रियाँ अभावप्रमा में जनक हैं यह क्यों नहीं कहते ?।

समाधान—केवल अन्वयव्यतिरेक से ही कार्य-कारण-भाव का निश्चय नहीं किया जाता। क्योंकि दण्डरूप के होने पर घट होता है और उसके न होने पर नहीं होता—ऐसे अन्वयव्यतिरेक के भी संभव हो सकने से दण्ड के तुल्य दण्डरूप को भी (दण्ड का नील पीतादिरूप भी) घट के प्रति कारण मानना होगा। इसलिये आपको भी 'जो अनन्यथा-सिद्ध होता हुआ अन्वयव्यतिरेकशाली हो वही कारण होता है' यह कारण का स्वरूप मानना पड़ता है। (अन्वयव्यतिरेक के रहते हुए भी जो पदार्थ अन्यथासिद्ध हो अर्थात् कार्यनिष्पत्ति में यदि उस पदार्थ का वास्तविक उपयोग न हो तो उस पदार्थ को आप कार्य के प्रति कारण नहीं मानते हैं) इसी कारण घटरूप कार्य के प्रति दण्डरूप में कारणता सिद्ध नहीं होती। उसी प्रकार से हम कहते हैं कि अधिकरण के साथ इन्द्रियों का अन्वयव्यतिरेक होने पर भी अधिकरण के ज्ञान में ही इन्द्रियाँ असाधारणकारण (करण) होती हैं, इसलिये अभावप्रमा में वे इन्द्रियाँ अन्यथासिद्ध हैं। क्योंकि हमारे उपर्युक्त कथनानुसार अभाव के साथ इन्द्रियों का विशेषणतादि कोई संबंध (संनिकर्ष) हो नहीं सकता। इस कारण इन्द्रियाँ अभाव के अधिकरणभूत भूतलादि का ज्ञान-कराकर चरितार्थ हो जाती हैं। उनका अभावानुभव में कोई उपयोग नहीं। तस्मात् अभावप्रमा में इन्द्रियों को करणत्व न होने से ही वे अभाव-ग्राहकप्रमाण नहीं हैं अपितु प्रतियोगी की अनुपलब्धि को ही अभावप्रमापक छठा प्रमाण मानना उचित है।

इस प्रकार नैयायिकों के मत का निरसन करने पर नैयायिक, 'तुम्हारे मत के अनुसार अधिकरणज्ञान में इन्द्रिय को कारण मानने पर भी वह अभावज्ञान में भी कारण हो सकता है' इस आशय से शंका उपस्थित करता है।

न[1]नु भूतले घटो नेत्याद्यभावानुभवस्थले भूतलांशे प्रत्यक्षत्व-मुभय[2]सिद्धमिति तत्र वृत्तिनिर्गमनस्यावश्यकत्वेन भूतलावच्छिन्न-चैतन्यवत्तन्निष्ठघटाभावावच्छिन्न-चैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्य प्रत्यक्ष[3]तैव सिद्धान्तेऽपि।

---

१. नैयायिकः—वेदान्तिनां मतेऽपि अभावप्रमायाः प्रत्यक्षतैव समायाति अतः कथं तत्करणमनुपलब्धिरिति शङ्कते।

२. 'वादि'—इति पाठान्तरम्।   ३. 'रूपतैव'—इति पाठान्तरम्।

अर्थ--'भूतल पर घट नहीं है' इस अभावानुभव स्थल में भूतल का प्रत्यक्ष तो उभयवादिसिद्ध है। अतः वहाँ पर (भूतल पर) वृत्ति का निर्गमन तो अवश्य ही है। अतः भूतलावच्छिन्न चैतन्य के समान भूतलनिष्ठ अभावाच्छिन्न चैतन्य भी प्रमाता से अभिन्न होने के कारण सिद्धान्त में घटाभाव में भी प्रत्यक्षता है ही।

विवरण--वादी कहता है-'भूतलो घटो नास्ति' इस अभाव के ज्ञान में आप का हमारा विवाद रहने पर भी भूतलरूप अधिकरण के अंश में प्रत्यक्ष तो दोनों को सम्मत है ही। इस पर हमारा यह कहना है कि तुम्हारे कथनानुसार विषय के प्रत्यक्ष से तात्पर्य यह है कि घटादि विषय का प्रमातृ-चैतन्य के साथ अभेद रहना।

इस रीति से भूतल के प्रत्यक्ष में भूतलरूप विषय से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृ-चैतन्य के साथ अभेद मानना आवश्यक है। इस प्रकार भूतलावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाता के साथ अभेद होता है। अर्थात् भूतलनिष्ठ जो घटाभाव, उससे अवच्छिन्न चैतन्य के साथ भी प्रमाता का अभेद होता है। इसलिये जैसे 'भूतल' अंश में आप प्रत्यक्षात्मक ज्ञान मानते हैं वैसे ही घटाभाव-ज्ञानांश में भी आपको प्रत्यक्षज्ञान ही मानना चाहिये। अर्थात् घटाभाव का ज्ञान भी प्रत्यक्षात्मक है--यह सिद्ध होता है। प्रत्यक्षज्ञान का करण तो प्रत्यक्ष ही होता है यह आपने प्रत्यक्षज्ञान परिच्छेद में बताया है। तब आप ही के मतानुसार घटाभावप्रत्यक्ष में कारण क्या प्रत्यक्ष, (इन्द्रिय ही) सिद्ध नहीं होता है? ऐसी स्थिति में अभावानुभव के कारण इन्द्रिय को न मानकर यह छठा अनुपलब्धि प्रमाण ही उसमें कारण है, यह कैसे कह रहे हैं?।

नैयायिकों के इस आक्षेप का उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं—

इति चेत्। सत्यम्। [1]अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करण-स्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात्। न हि फलीभूत-ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणता-नियतत्वमस्ति, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्य-जन्य-ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य [2]वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्न-प्रमाणत्वाभ्युपगमात्।

अर्थ—आपका कहना सत्य है। अभावप्रतीति प्रत्यक्ष होने पर भी उसमें करण

---

१. यथा शब्दस्य अतिरिक्तप्रमाणत्वेऽपि विषयविशेषे शब्दः प्रत्यक्षप्रमाकरणमिति दशमस्त्वमसीत्यादौ क्लृप्तम्, तत्र हि विषयविशेषे शब्दस्य प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वं न प्रमाण-स्वभावविशेषकृतं, किन्तु विषयस्वभावकृतमिति तत्र अतिरिक्तस्यैव शब्दप्रमाणस्य प्रत्यक्ष-प्रमाकरणत्वमपि अर्थतः पर्यवस्यति, एवं विषयविशेषे अनुपलब्धिजन्यवृत्यवच्छिन्नस्य विषयचैतन्याभेदेन अनुपलब्धेः अप्रमाणान्तरत्वेऽपि तस्या अतिरिक्तप्रमाणत्वं नानुपपन्नम्।

२. 'वाक्यस्ये'ति पाठो नास्ति क्वचित् पुस्तके।

अनुपलब्धिसंज्ञक पृथक् प्रमाण ही है (ऐसा हम कहते हैं) क्योंकि फलभूत (साध्यभूत) ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसका करण (साधन) प्रत्यक्ष ही हो—यह नियम नहीं। 'तू दशवाँ है' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न हुए ('मैं दसवाँ हूँ') ज्ञान में प्रत्यक्षत्व होने पर भी उसका (ज्ञान का) कारण जो वाक्य है, वह प्रत्यक्षप्रमाण से भिन्न (शब्द रूप) प्रमाण है—ऐसा हमने माना है।

विवरण—'अनुपलब्धिजन्य अभावज्ञान प्रत्यक्षात्मक होना चाहिये' यह आप का कथन ठीक है। किन्तु अभावज्ञान के प्रत्यक्ष होने पर भी उसका करण 'प्रत्यक्षप्रमाण' नहीं हो सकता (इन्द्रिय नहीं हो सकता)। अपितु अनुपलब्धि ही अभाव की ज्ञापिका है। आपने जो शंका की है वह 'साध्यप्रमाप्रत्यक्षात्मक होने पर उसका साधनभूत प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिए' इस नियम को मानकर की है। परन्तु फलभूत ज्ञानप्रमा यदि प्रत्यक्ष हो तो प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिये—यह नियम नहीं हो सकता। क्योंकि कोई मूर्ख मनुष्य अपने को छोड़कर शेष नौ को गिने और अपना दसवाँ मित्र नष्ट हुआ—ऐसी कल्पना कर रोने लगे। ऐसी स्थिति में कहीं से दूसरा आदमी आकर कहे कि 'अरे, तेरा दसवाँ मित्र मरा नहीं किन्तु 'तू ही दसवाँ है' अपने को गृहीत कर (अपने समेत) गिनकर देखो, तब तुम्हें विश्वास होगा। यहाँ पर उस आदमी को 'तू दसवाँ है' इस वाक्य से ही 'मैं दसवाँ हूँ' इस प्रकार दसवें का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रमा के प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नहीं किन्तु 'तू दसवाँ है' इस प्रकार उस आदमी का वाक्य (शब्द) ही है, अर्थात् यह प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षप्रमाण जन्य नहीं किन्तु शब्दजन्य है। इस कारण 'प्रमा के प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष होना चाहिये' इस नियम का भंग हो जाता है। इसीलिये हम कहते हैं कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण (साधन) प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नहीं। अपितु उक्त प्रकार से अनुपलब्धि ही अभावप्रत्यक्ष में करण है। अतः अभाव को प्रत्यक्ष मानकर भी हमारे मत में दोष नहीं है।

'प्रमा यदि प्रत्यक्षात्मक ही है तो उसके लिये दो प्रमाण क्यों मानते हो' वादी की इस आशय की शंका का अनुवाद कर उसका निरसन करते हैं—

[1]फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणभेद इति चेत्[2]। न। वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः[3]। तथा च घटाद्यभावाकार[4]वृत्तिर्नै-

---

१. 'ननुफल०' इति पाठान्तरम्।

२. फलवैजात्यं नाम प्रमाभेदः। प्रमाणभेदः एव प्रमाणभेदप्रयोजकः, तस्मात् प्रमाभेदाऽभावे प्रमाणभेदः कथमिति शंकाकर्तुराशयः।

३. 'रा' इति पाठान्तरम्।

४. प्रमाणभेदे फलवैजात्यं न प्रयोजकम्, अपितु वृत्तिवैजात्यम्। वृत्तिवैजात्यं नाम

न्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेणाऽसन्निकर्षात्। किन्तु घटानुपलब्धि-रूप-मानान्तरजन्या, इति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम्।

अर्थ—'फलों में वैजात्य (भिन्नता) के बिना रहे, उनके प्रमाणों में कैसे भेद होगा ! यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि वृत्ति में भिन्नता होने से ही प्रमाणों में भेद उपपन्न होता है। इसलिये घटाभावाकारवृत्ति, इन्द्रियजन्य नहीं है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय का घटाभावादि विषयों के साथ संनिकर्ष नहीं होता, अपितु घट की अनुपलब्धि (ज्ञान का अभाव) प्रमाण से ही वह (अभावाकारवृत्ति) जन्य है। इसलिये अभावाकारवृत्ति का जनक अनुपलब्धिसंज्ञक पृथक् प्रमाण है।

विवरण—यदि अभावज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही है तो एक ही प्रत्यक्षप्रमा के लिए प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि दो प्रमाणों को क्यों मानना चाहिये। प्रत्यक्ष प्रमा की अपेक्षा अनुमित्यात्मक प्रमा भिन्न होने से उन प्रमाओं के साधक प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानने पड़ते हैं। अर्थात् प्रमाओं में भेद होने पर प्रमाणों में भी भेद होता है। घट प्रत्यक्ष और उसके अभाव के प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षरूपता समान होने पर भी उनके ग्राहक प्रमाणों को भिन्न मानना योग्य नहीं। अतः प्रत्यक्ष-प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्' यह नियम भी नहीं किया जा सकता। इसलिये अभाव-प्रमा में प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना योग्य है यह इस पक्ष में लाघव भी है।

इस पर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—'प्रमाओं में भेद होने पर प्रमाणों में भेद होता है' यह नियम नहीं है। अर्थात् प्रमाओं का भेद, प्रमाओं के भेद में प्रयोजक (कारण) नहीं होता। किन्तु वृत्तियों में भी भेद होने पर प्रमाणों में भेद हो सकता है। इसीलिये 'दशमस्त्वमसि' इस शब्द से प्रमा प्रत्यक्षात्मक ही होती है, तथापि उसका प्रमाण प्रत्यक्ष न होकर शब्द है, इस रीति से प्रमा में भेद न होने पर भी प्रमाणों में भेद हो जाता है—यह अनुभव होने से वृत्ति की भिन्नता ही प्रमाण के भेद में प्रयोजक (कारण) माननी चाहिये। इसलिये प्रत्यक्षता में भेद न होने पर भी अभावाकारवृत्ति का जनक प्रमाण अनुपलब्धि है और इतर विषयाकार वृत्तियों में इन्द्रिय ही प्रमाण है। यह हमारा मत है।

'अभावाकार वृत्ति और इतर विषयाकार वृत्ति में भी वैजात्य (भिन्नता) किस प्रकार है ? यह प्रश्न हो तो उत्तर इस प्रकार है—इतर विषयाकारवृत्तियाँ इन्द्रियजन्य होती हैं, वैसी अभावाकार वृत्ति नहीं होती—यही भिन्नता है। इन्द्रियों का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। क्योंकि इन्द्रियाँ अधिकरणों के साथ संबद्ध होकर भूतलादि अधिकरणाकार वृत्ति को उत्पन्न कर चरितार्थ हो जाती हैं। आपने स्वीकृत किया हुआ विशेषणतादि संनिकर्ष का तो सम्भव ही नहीं रहता, यह पीछे बता चुके हैं। अतः

प्रमाणवैजात्यमित्यर्थः। एवञ्च भूतलाकारवृत्तेः इन्द्रियजन्यत्वात् अभावाकारवृत्तेश्च इन्द्रियाऽजन्यत्वात् वृत्तिवैजात्यम्।

इन्द्रियों से अभावाकारवृत्ति के उत्पन्न न होने के कारण अभावाकार वृत्ति का जनक अनुपलब्धि-प्रमाण पृथक् ही मानना पड़ता है।

घट होता तो दीखता, जब कि वह नहीं दीखता, अतः 'वह यहाँ नहीं है' इस रीति से घट की अनुपलब्धि से ही घटाभाव का ज्ञान होता है, अर्थात् अनुपलब्धि से ही अभावाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। तस्मात् फलभूत ज्ञान में भेद न होने पर भी वृत्तियों में भेद होने से अभावाकार वृत्ति का जनक अनुपलब्धि-प्रमाण पृथक् रूप से स्वीकार करना ही चाहिये। इस पर वादी की शंका—

नन्वनुपलब्धिरूप-मानान्तर-पक्षे[1]ऽप्यभाव-प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे घट-वति घटाभाव-भ्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तौ तत्राप्यनिर्वचनीय-घटाभावोऽ-भ्युपगम्येत। न चेष्टापत्तिः, तस्य मायोपादानकत्वेऽभावत्वानुपपत्तेः, मायोपादानकत्वाभावे मायायाः सकल-कार्योपादानत्वानुपपत्तिः।

अर्थ—अनुपलब्धि को पृथक् रूप से प्रमाण माननेवाले के पक्ष में भी अभाव प्रतीति का प्रत्यक्ष होने से घटवद्भूतल पर जो घटाभाव (यहाँ घट नहीं है) का भ्रम होता है, उसमें भी प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है। तब आपको ऐसे अभावभ्रम के स्थल में भी अनि-र्वचनीय घटाभाव वहाँ उत्पन्न होता है, यह मानना पड़ेगा। उसे आप इष्ट (अभिमत) नहीं कह सकते। क्योंकि वह घटाभाव मायोपादनक है, अर्थात् 'उसका उपादान-कारण माया है' ऐसा मानें तो उस अभाव में अभावत्व उपपन्न नहीं होगा। यदि ऐसा कहें कि वह मायोपादानक नहीं है तो 'माया समस्त कार्य का उपादान (कारण) है, इस तुम्हारे सिद्धान्त की अनुपपत्ति होती है।

विवरण—वादी कहता है—आपके कहने के अनुसार अनुपलब्धि की अभाव-प्रमा का पृथक् प्रमाण हम मान लेते हैं, किन्तु इस पक्ष में भी अनेक दोष आते हैं। जैसे— जब कि आपके मत में भी घटाभावज्ञान, प्रत्यक्षात्मक ही है, तब मान लीजिये किसी व्यक्ति को भूतल पर घट के रहते हुए भी वह नहीं दिखाई दिया तो 'इस भूतल पर घट नहीं है' यह भ्रमात्मक जो घटाभाव का ज्ञान होता है। उसे प्रत्यक्षात्मक ही कहना होगा, क्योंकि वह घटाभावज्ञान, अनुपलब्धिजन्य ही है। प्रत्यक्ष परिच्छेद में आपने यह सिद्ध किया है कि भ्रम का विषयभूत पदार्थ उस समय में अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है। वैसे ही इस भ्रम के विषयभूत घटाभाव को भी अनिर्वचनीय पैदा हुआ ही कहना होगा।

इस पर यदि कदाचित् आप कहें कि हमभी घटाभाव-भ्रम-स्थल में घटाभाव का अनिर्वचनीय उत्पन्न होना ही मानते हैं। अतः आपकी शंका हमारे लिये तो इष्टापत्ति है। परन्तु आप वैसा कह नहीं सकते हैं। क्योंकि हम आप से (सिद्धान्ती से) ऐसा

१. क्षेऽभाव'—इति पाठान्तरम्।

प्रश्न करते हैं कि उस अनिर्वचनीय घटाभाव का कारण (उपादान कारण) माया है या नहीं ? माया को आप घटाभाव में कारण नहीं कह सकते, क्योंकि माया तो भाव-रूप पदार्थ होने के कारण उससे 'घटाभाव' इस अभाव रूप कार्य की उत्पत्ति होना संभव नहीं। भावरूप पदार्थ को अभाव में कारण मानने पर असत्कार्यवाद प्राप्त होता है। इस दोष को दूर करने के लिये यदि माया को घटाभाव में कारण न मानें तो 'माया समस्त कार्य के प्रति उपादान है' इस सिद्धान्त का बाध होता है। ऐसी स्थिति में इस अनुपपत्ति का परिहार आप कैसे कर सकते हैं ? इस शंका का समाधान ग्रन्थकार कर रहे हैं—

इति चेत् । न । घटवति घटाभावभ्रमो न तत्कालोत्पन्नघटा-भाव-विषयकः, किन्तु भूतलरूपादौ विद्यमानो लौकिको घटाभावो भूतले आरोप्यत इत्यन्यथाख्यातिरेव । आरोप्यसन्निकर्ष-स्थले सर्वत्रा-न्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात् ।

अर्थ—ऐसा कहें तो वह उचित नही क्योंकि 'घटवद्-भूतल' पर घटाभाव का जो भ्रम होता है उसका उस समय में उत्पन्न हुआ (अनिवर्चनीय) घटाभाव विषय नहीं होता किन्तु भूतल के रूप आदि में स्थित लौकिक (व्यावहारिक) घटाभाव, भूतल पर आरोपित किया जाता है, अतः वह अन्यथा ख्याति ही है। क्योंकि जहाँ पर आरोप्य पदार्थ के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है वहाँ पर अन्यथाख्याति को मानकर ही हम व्यवस्था करते हैं।

विवरण—यदि हम अनिर्वचनीय घटाभाव का स्वीकार करते तो आपके दिये दोषों का हमारे पक्ष में संभव होता। परन्तु भूतल पर घट के रहते हुए भी 'यह भूतल घटाभाववत् है' इस भ्रम में अनिर्वचनीय एवं उस समय पैदा हुए घटाभाव (अर्थात् प्रातिभासिक सत्तावाले) को हम विषय नहीं मानते।

आपने जो पीछे बताया है कि 'भ्रमस्थल में भ्रम का विषय प्रातिभासिक एवं तत्का-लोत्पन्न घटाभाव ही रहता है' इसका तात्पर्य क्या होगा ? उत्तर देते हैं कि पहले प्रत्यक्षपरिच्छेद में ही हमने 'जहाँ जपापुष्प इन्द्रिय सन्निकृष्ट होगा वहाँ स्फटिक में भासमान रक्तत्व प्रातिभासिक उत्पन्न नहीं होता, अपितु पुष्पगत लौहित्य ही स्फटिक में भासता है, यह मानकर ऐसे स्थल में अन्यथाख्याति मानकर ही व्यवस्था लगानी चाहिये' बताया है। उसी प्रकार प्रकृत में भी भ्रम में भासमान जो घटाभाव, वह प्राति-भासिकसत्ताक उत्पन्न नहीं होता अपितु भूतल के रूप में जो घटाभाव है और जिसकी अनु-लब्धिप्रमाण से 'इस भूतल के रूप में घट नहीं है, इत्याकारक प्रतीति होती है, उसी घटा-भाव का भूतल में आरोप किया जाता है। अतः यह घटाभव-भ्रम अन्यथाख्याति ही है। क्योंकि यहाँ पर भी आरोप्य (भ्रम का विषय) जो घटाभाव, वह सन्निकृष्ट ही है, और

जहाँ आरोप्य पदार्थ हमें प्रत्यक्षतः ज्ञात होता है वहाँ अन्यथाख्याति मानने का ही हमारा सिद्धान्त है। अतः कोई दोष नहीं है। भूतलरूप धर्मी का भूतलत्व धर्म से ज्ञान न होकर उसका भूतल के रूप में वर्तमान घटाभाव रूप धर्म से 'यह भूतल घटाभाववत् है' इत्याकारक ज्ञान होना—अन्यथाख्याति है। इसलिये सिद्धान्त में उक्त दोष नहीं आ पाते। क्योंकि अन्यथाख्यातिपक्ष में घटाभाव प्रातिभासिक नहीं होता, अपितु लौकिक (पारमार्थिक, व्यावहारिक) होता है। क्योंकि जहाँ आरोप्यपदार्थ इन्द्रिय से असन्निकृष्ट होता है, वहीं पर प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति का हम स्वीकार करते हैं।

शंका—अन्यथाख्याति में 'भ्रमविषयभूत पदार्थ इन्द्रिय-संनिकृष्ट होना चाहिये' आपने बताया है। परन्तु यहाँ घटाभावरूप आरोप्य पदार्थ, इन्द्रिय के साथ संनिकृष्ट कहाँ है ? क्योंकि 'अभाव के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष नहीं होता' यह आपने अभी-अभी बताया है। इसी कारण तो अभावाकार वृत्ति की जनक अनुपलब्धि को प्रमाणत्वेन स्वीकार करना पड़ा है। तब यहाँ इन्द्रियसंनिकर्ष के न होने पर भी घटाभाव भ्रमको आप अन्यथाख्याति कैसे कहते हैं ? अतः प्रकृत में आप अन्यथाख्याति के द्वारा व्यवस्था नहीं लगा सकते। पूर्व समाधान की इस अरुचि से ही अब घटाभावभ्रमस्थल में घटा-भाव की अनिर्वचनीय उत्पत्ति को मानकर ही परम समाधान बताते हैं।

[1]अस्तु वा प्रतियोगिमति तदभाव-भ्रमस्थले तदभावस्यानिर्वचनीयत्वम्, तथाऽपि तदुपादानं मायैव। न ह्युपादानोपादेययोरत्यन्तसाजात्यम्, तन्तुपटयोरपि तन्तुत्व-पटत्वादिना वैजात्यात्। यत्किञ्चित्साजात्यस्य मायाया अनिर्वचनीय[2]त्वस्य घटाभावस्य च मिथ्यात्वधर्मस्य विद्यमानत्वात्। [3]अन्यथा व्यावहारिक[4]घटाद्यभावं प्रति कथं मायोपादानमिति कुतो नाशङ्केथाः ?।

अर्थ—अथवा प्रतियोगिमद् भूतल पर उसके (प्रतीयोगी) अभाव का जो भ्रम होता है, वहाँ पर उस अभाव को भले ही अनिर्वचनीयत्व रहे (वह अभाव अनिर्वचनीय

---

१. आरोप्यसन्निकर्षस्थले अन्यथाख्यातिः स्वीक्रियते चेत् लब्धप्रसरा भवन्तीयमन्यथाख्यातिः सर्वत्रैव दुर्वारा भविष्यति। तथाचोक्तं तन्त्रवार्तिके—'प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः। नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचरे।। तथाच अनिर्वचनीयख्यातेर्लोप एव स्यादित्याशंकया मायायाः भावत्वमङ्गीकरोति सिद्धान्तीत्याशयः। अनिर्वचनीयमात्रं प्रति माया उपादानमस्ति, नान्यत्।

२. 'यघटा'–इति पाठान्तरम्।

३. भावाऽभावत्वेन विजातीययोः उपादानोपादेयभावानभ्युपगमे सतीत्यर्थः।

४. 'कं घटाभावं'–इति पाठान्तरम्।

भले ही हो) तथापि उसका उपादान कारण माया ही है क्योंकि उपादानकारण और उपादेय (कार्य) का अत्यन्त साजात्य (सादृश्य) रहना चाहिये—यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि तन्तु और पट ये कारण-कार्यरूप पदार्थ भी तन्तुत्व और पटत्व धर्म से विजातीय ही हैं। यत्किंचित् (कुछ अंश में) (कार्य-कारण का) सादृश्य यदि कहो तो मिथ्यात्व धर्म का सादृश्य, माया और अनिर्वचनीय घटाभाव में भी है। यह न माने तो माया को व्यावहारिक (लौकिक) घटाभाव का उपादानत्व कैसे ? यह शंका तुमने क्यों नहीं की ?

विवरण—सिद्धान्ती कहता है—'भ्रमस्थल में घटाभाव इन्द्रियसंनिकृष्ट न होने से अन्यथाख्याति नहीं मानी जा सकेगी' यह तुम्हारा कहना हो तो हम भी यहाँ प्रतियोगिमत् (घटादिमत्) भूतल पर जो घटाभाव भासता है, उसे अन्यथाख्याति नहीं मानते, किन्तु शुक्तिरजत के तुल्य अनिर्वचनीय घटाभाव ही उस समय उत्पन्न होता है—कहते हैं और आपने जो विकल्प किया था कि इस घटाभाव का उपादान माया है या नहीं ? उसमें हम प्रथम पक्ष का ही स्वीकार करते हैं अर्थात् उसका (अनिर्वचनीय घटाभाव का उपादान माया ही है। अन्यथाख्याति के न मानने पर भी हमारे मत में दोष नहीं आता।

'माया को उपादान कारण मानने पर 'माया' संज्ञक भावरूप पदार्थ से 'अनिर्वचनीय घटाभाव' यह अभावरूप कार्य नहीं हो सकता। यह अनुपपत्तिरूप दोष इस पक्ष में आता है।' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि कारण, अपने सजातीय (अपने जैसा ही) कार्य को ही पैदा करता है, इसलिये कार्यकारण के सादृश्य की अपेक्षा रखनेवाले आप से हम (सिद्धान्ती) प्रश्न करते हैं कि कार्य-कारण का अत्यन्त साजात्य (एकजातित्व) होना चाहिये, या यत्किंचित् साजात्य होना चाहिये ? प्रथम पक्ष (अत्यन्त साजात्य) का तो संभव ही हो नहीं सकता। तन्तु और पट ये कारण और कार्यरूप पदार्थ, द्रव्यत्व या पृथ्वीत्व धर्म से तो सजातीय हो सकते हैं। परन्तु तन्तु में तन्तुत्व जाति रहती है, वह पट में नहीं, और पट में पटत्व जाति (धर्म) रहती है, वह तन्तु में नहीं। अतः कार्य-कारण के साजात्य के प्रसिद्ध उदाहरण तन्तुपट में भिन्न धर्म के कारण विजातीयता प्राप्त होती है, इस कारण तन्तु और पट भी विजातीय होने से उनमें भी कार्यकारण-नहीं हो सकेगा। दूसरी बात यह भी है कि कार्यकारण अत्यन्त सजातीय यदि हों तो उनका कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जायगा। तस्मात् अत्यंत साजात्य पक्ष सर्वथा अनुपपन्न है।

अब द्वितीय पक्ष (यत्किंचित्साजात्य कुछ अंशों में सादृश्य) को यदि आप स्वीकृत करें तो वह हमें भी इष्ट है।

तन्तु और पट में जैसे शुभ्रत्वादि सादृश्य होता है वैसे भावरूप 'माया' कारण का 'घटाभाव' इस अभावरूप कार्य से किसी प्रकार का सादृश्य नहीं बनता, तब प्रकृत में आप इनमें कार्यकारणभाव कैसे मानते हैं ? इस प्रश्न पर उत्तर यह है कि अनिर्वचनीय

घटाभावरूप कार्य का और मायारूप कारण का 'मिथ्यात्व' यह समान (सजातीय) धर्म है। इसलिये 'मिथ्यात्व' धर्म से ही माया और घटाभाव में साजात्य है। अतः वे भावत्व और अभावत्व धर्म से विजातीय होने पर भी मित्यात्व धर्म से तो सजातीय हैं ही। इसलिये उनमें कार्यकारणभाव बन जाता है। अतः अनिर्वचनीय घटाभाव को मानकर उसका कारण 'माया' ही है।

इस पर वादी की शंका और उसका समाधान--

[1]न च विजातीययोरप्युपादानोपादेयभावे ब्रह्मैव जगदुपादानं स्यादिति वाच्यम्। प्रपञ्च-विभ्रमाधिष्ठानत्वरू[2]पेण तस्येष्टत्वात्[3]। परिणामित्व-रूपस्योपादानत्वस्य निरवयवे ब्रह्मण्यनुपपत्तेः। तथा[4]च प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया, न ब्रह्म इति सिद्धान्त इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अर्थ--विजातीय पदार्थों में भी यदि कार्यकारणभाव को आप स्वीकार करते हैं तो ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण मान लीजिये 'माया' को मानने की क्या आवश्यकता? परन्तु यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि प्रपञ्चरूप विभ्रम के अधिष्ठानत्व स्वरूप से ब्रह्म में जगदुपादानत्व हमें इष्ट ही है। प्रपञ्च का परिणामि उपादानकारण ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि परिणामित्वरूप उपादानकारणत्व की निरवयव ब्रह्म में अनुपपत्ति है। इसलिये प्रपंच का परिणामि उपादान कारण माया है, ब्रह्म नहीं--ऐसा वेदान्त सिद्धान्त है। अतः इस वादविवाद के--अतिप्रसंग को अब यहीं समाप्त करते हैं।

विवरण--विजातीय पदार्थों में कार्यकारणभाव के न बन सकने से चेतनब्रह्म, अचेतन जगत् का कारण नहीं होता--यह हम कहते हैं, परन्तु आप यदि विजातीय पदार्थों में भी यत्किंचित्साजात्य से--उपादानोपादेयभाव (कार्यकारणभाव) मानते हैं

१. विजातीययोः उपादानोपादेयभावाभ्युपगमे ब्रह्मैव जगतः उपादानं भवेत्, माया न भवेत्, तदा सिद्धान्त विरोधः स्यादित्याशंकाऽत्रोत्पद्यते।

२. 'रूपस्य' इति पाठान्तरम्।

३. ब्रह्म, जगतः उपादानमिति त्विष्टमेव। उपादानं तावत् द्विविधं--विवर्तोपादानं परिणाम्युपादानञ्चेति। तत्र विवर्तोपादानत्वं ब्रह्मण्येव अभिमतं न मायायाम्। ब्रह्मणि परिणाम्युपादनत्वं न संभवति, यतः अवयवान्यथाभाव एव परिणामः। निरवयवे ब्रह्मणि तदयोगः।.

४. भ्रमोपादानभूतस्य अज्ञानस्य विषय एव अधिष्ठानं भवति। जडभूताया मायाया अज्ञानविषयत्वाभावेन भ्रमाधिष्ठानत्वायोगाद् विवर्तोपादनत्वस्य संभावाभावेऽपि त्रिगुणात्मकत्वात् परिणाम्युपादानत्वं संभवितुमर्हति।

तो ब्रह्म को ही समस्त जगत् का उपादान कारण क्यों नहीं मानते ? माया को उपादान मानकर बीच में माया की निरर्थक कल्पना क्यों करते हैं ? यह पूर्वपक्षी का कहना है।

'प्रपञ्च०' इत्यादि ग्रंथ से सिद्धान्ती उत्तर देता है कि यह तो हमें इष्ट है कि 'ब्रह्म प्रपञ्च का उपादान कारण है,' पर वह परिणामि उपादान' नहीं है, किन्तु प्रपञ्च-भ्रमाधिष्ठान रूप 'विवर्तोपादान' है। उपादान तीन प्रकार का होता है—आरंभि, परिणामि, विवर्ति। उनमें से तन्तु, पट के आरंभोपादान हैं' ऐसा नैयायिक कहते हैं। दूध जैसे दही का कारण है—ऐसे कारण को परिणामि उपादान, सांख्य मानते हैं। और हम वेदान्तियों के मत में रज्जु जैसे सर्प-भ्रम का अधिष्ठान है अर्थात् अधिष्ठान के रूप में रज्जु सर्पभ्रम का उपादानकारण है—वह विवर्तोपादान का कारण है। अतः सच्चिदानन्द ब्रह्म में उसकी सत्ता से भासमान जगद्रूपी मिथ्या-प्रपंच का ब्रह्म, अधिष्ठान है अर्थात् विवर्तोपादान है।

अब ब्रह्म के विवर्तोपादान होने पर भी कार्य के लिये आवश्यक 'परिणामि उपादानत्व' ब्रह्म में नहीं संभव हो सकता, क्योंकि परिणाम (पूर्वरूप को छोड़कर दूसरे रूप की प्राप्ति) सावयव वस्तु का ही हुआ करता है। अवयवों के उपचयापचय से ही (वृद्धि और ह्रास) परिणाम होता है। परन्तु ब्रह्म में अवयव नहीं है, इसलिये निरवयव ब्रह्म में अवयव-विकृतिरूपी परिणाम सम्भव नहीं। इस कारण, प्रपंच के परिणाम्युपादान के रूप में माया का (भावरूप अज्ञान का) स्वीकार अवश्य करना पड़ता है। एवं च ब्रह्म, प्रपञ्च का परिणामि-उपादान नहीं, किन्तु माया ही उसका परिणामि-उपादान है। तस्मात् हमारे मत में ब्रह्म में परिणाम्युपादान मानने का तथा माया की व्यर्थता आदि का कोई दोष प्राप्त नहीं हो पाता।

अभाव-भ्रम कैसे होता है ? इस प्रासंगिक शंका के उठने से कार्य-कारण के सजातीय, विजातीय भाव का निरूपण करना पड़ा। अब मुख्य अनुपलब्धि रूप प्रकृत विषय के प्रतिपादनार्थ ग्रन्थकार कहते हैं कि इस अतिप्रसंग की (प्रासंगिक विषय के निरूपण-रूपी विषयान्तर की) चर्चा बहुत हुई। अब प्रकृत अनुपलब्धि प्रमाण का ही निरूपण करें।

इस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण आदि बताये। अब इस अनुपलब्धि के द्वारा जिसका प्रत्यक्ष होता है, उस प्रमेयभूत-अभाव का निरूपण करने के लिये अभाव के भेद बताते हैं।

स चाभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति। तत्र[1] मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरुत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः, स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः।

---

१. अभावचतुष्टयघटकः स प्रागभावः, यः घटादेरुत्पत्तेः पूर्वं मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य अभावः इति विज्ञेयः।

अर्थ—वह अभाव चार प्रकार का है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। इनमें से मृत्पिण्डादि कारणों में घटरूप कार्य का उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव वह प्रागभाव है। वह 'भविष्यति' होगा—इत्याकारक प्रतीति का विषय होता हैं।

विवरण—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव–इस रीति से अनुपलब्धि प्रमाण के प्रमेयभूत अभाव के चार भेद होते हैं। उनमें से प्रागभाव का स्वरूप इस प्रकार है—प्राक् (कार्य उत्पन्न होने के पूर्व) उस कार्य का जो अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। जैसे—घटरूप कार्य उत्पन्न होने के पूर्व जो घटाभाव वह घट-प्रागभाव है। प्रागभाव, कार्य के उपादान कारण में रहता है। घटरूप कार्य का अभाव मृत्पिण्डरूप कारण में रहता है। क्योंकि प्रागभाव की प्रतीति 'भविष्यति' यहाँ कार्य होगा—इस प्रकार से मृत्पिण्ड में ही होती है। उस प्रतीति की उपपत्ति के लिये ही प्रागभाव का स्वीकार करना पड़ता हैं। मृत्पिण्ड के अतिरिक्त तन्तु आदि कारणो में 'यहाँ घट होगा' ऐसी प्रतीति नहीं होती, इसलिये घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड में ही रहता है—यह मानना होगा। इस प्रकार कार्य उत्पन्न होने से अव्यवहित पूर्वक्षण तक कार्य का कारण में जो अभाव प्रतीत होता है, वह प्रागभाव है।

अब प्रध्वंसाभाव का निरूपण करते हैं—

[1]तत्रैव घटस्य मुद्गर-पातानन्तरं योऽभावः स[2] प्रध्वंसाभावः ः ध्वंसस्यापि[3] स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव। न[4] चैवं घटोन्मज्जनापत्तिः, [5]घटध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिक-ध्वंसत्वात्। अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मक-घटस्य[6] विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः।

अर्थ—वहीं पर (मृत्पिण्ड में) घट का मुद्गरपात के अनन्तर जो अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव है। ध्वंस का भी (प्रध्वंसाभाव का) अपने अधिकरणभूत कपाल के नाश होने पर नाश होता ही है। इस प्रकार ध्वंस का ध्वंस मानने पर घट का ध्वंस

---

१. तत्रैव मृतपिण्डे एव घटस्य यः अभावः प्रतियोगितासंबंधेन घटजन्यः योऽभावः इति विज्ञेयम्। तेन प्रतियोगिजन्याभावत्वं ध्वंसत्वमिति फलति।

२. यत्तु नैयायिकाः—ध्वंसोऽपि नित्य एवेति वदन्ति, तन्निरसनार्थं 'ध्वंसस्यापी'ति ग्रंथो बोद्धव्यः। आश्रयनाशे आश्रितनाशनियमो वर्तते।

३. ध्वंसे ध्वंसध्वंसे च एकम्प्रतियोगितावच्छेदकम्।

४. 'सध्वंसा०'–इति पाठान्तरम्।

५. 'न च घटो०'–इति पाठान्तरम्।

६. 'स्यनाशे०'–इति पाठान्तरम्।

नष्ट होने के कारण पुनः घट उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि घटध्वंस का जो ध्वंस (नाश) होता है वह घटप्रतियोगिक ही रहता है अर्थात् उसका प्रतियोगी घट ही होता है। अन्यथा प्रागभावध्वंस रूप जो घट उसका विनाश होने पर पुनः घट का प्रागभाव उत्पन्न होता है—मानना पड़ेगा।

विवरण—कार्यनाश के अनन्तर जो उसका अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव है। प्रागभाव के समान ही प्रध्वंसाभाव का भी अधिकरण, कार्य का उपादान कारण ही होता है। जैसे—उसी—मिट्टी के घट पर एक मुद्गर मारने पर वह फूट जाता है अर्थात् उस मृत्तिका को जो घट का आकार प्राप्त हुआ था वह नष्ट होता है। घटादिकों के इस ध्वंस को ही प्रध्वंसाभाव कहते हैं। उसका आधार घट के उपादान कारण कपाल ही हैं। क्योंकि कपाल की ओर देखकर ही 'यह घट नष्ट हुआ' यह प्रतीति होती है। इसलिये इस प्रध्वंसाभाव का अधिकरण भी घट का उपादान कारण मृत्तिका ही है। 'घटो ध्वस्तः' ही प्रध्वंसाभाव की प्रतीति होती है। 'सादिरनन्तःप्रध्वंसः'—सादि (उत्पत्तिमान्) होता हुआ जो अनन्त (नाशरहित) अभाव—वह प्रध्वंसाभाव, ऐसा नैयायिकों का मत है अर्थात् वे कहते हैं कि प्रध्वंसाभाव का कभी नाश नहीं होता। इसका निरसन 'ध्वंसस्यापि०' ग्रन्थ से किया जा रहा है। प्रध्वंसाभाव को विनाशरहित नहीं मान सकते। क्योंकि यह मानने पर प्रध्वंसाभाव एवं ब्रह्म ऐसे दो पदार्थ अविनाशी सिद्ध होंगे उससे द्वैतापत्ति होगी। इसलिये प्रध्वंसाभाव का जिस—मृत्तिकादि अधिकरण में ध्वस्तः' इत्याकारक प्रत्यय (वोध) होता है, उस मृत्तिकादि उपादान कारण का नाश होने पर उसमें स्थित घटध्वंस का भी ध्वंस (नाश) मानना होगा। क्योंकि ध्वंस के अधिकरण (आधार का ही नाश होने पर निराधार ध्वंस की स्थिति संभव नहीं। एवं कपालों के भी नाश होने पर वहाँ 'घटो ध्वस्तः' की प्रतीति भी नहीं होती। इस कारण ध्वंस के आधारभूत कपालों के नाश होने पर उस पर स्थित प्रध्वंस का भी ध्वंस मानना युक्त है।

शंका—ध्वंस का भी ध्वंस मानने पर पुनः घटोत्पत्ति का प्रसंग आवेगा। क्योंकि घटनाश (घटाभाव) का ध्वंस (अभाव) अर्थात् घटाभाव का अभाव घटस्वरूप ही होगा। जैसे—तेज के अभाव (तम) का अभाव अर्थात् तेज ही है, इसी तरह घटध्वंस था तब तक घट का अभाव था, परन्तु वह ध्वंस, का कारण के नाश से नष्ट होता है, ऐसा कहने पर वही घट पुनः उत्पन्न होता है; यही कहना होगा।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि घटध्वंस का जो ध्वंस होता है उसका प्रतियोगी घटध्वंस नहीं होता, किन्तु घट ही होता है। अर्थात् घटाभावरूप ध्वंस का जैसे घट प्रतियोगी होता है वैसे ही घटध्वंस के (अभाव) का भी वह प्रतियोगी होता है। इस कारण दूसरा अभाव, प्रथम अभाव के प्रतियोगी स्वरूप होता है—इस नियम के होने पर भी प्रकृत में अनुभवानुसार घटध्वंस के ध्वंस का प्रतियोगी घट को ही मानने

पर यह आपत्ति नहीं आती क्योंकि हम आप से यह पूछते हैं कि कार्य तो प्रागभाव-ध्वंसरूप होता है। अर्थात् घटप्रागभाव-ध्वंस ही घट है, यह आप मानते ही हैं। तब घट प्रागभावध्वंसरूप घट पदार्थ का ध्वंस होने पर पुनः घट का प्रागभाव उत्पन्न होता है—ऐसा क्यों नहीं मानते ? और ऐसा मानने पर घट के नष्ट होने पर इन कपोलों का घट होगा' ऐसी प्रागभाव की प्रतीति होनी चाहिये, परन्तु अनुभव तो ऐसा होता नहीं। इसलिये मूलध्वंस का जो प्रतियोगी होता है वही ध्वंस के ध्वंस का भी प्रतियोगी होता है—यह अनुभवानुसार मानना ही चाहिये। अर्थात् घट का मुद्गरपात के अनन्तर कपाल रूप ध्वंस होता है और उसका भी कपालनाश के अनन्तर जो ध्वंस होता है, वह घट का ही चूर्णरूप से ध्वंस है, इसी प्रकार घटध्वंस-ध्वंसस्थल में भी 'घटो विनष्टः' घट नष्ट हुआ—यही प्रतीति होती है। इसी प्रकार प्रागभाव के ध्वंस रूप घट का जो नाश होता है, उसका भी प्रतियोगी प्रागभाव ही समझना चाहिये। इस कारण प्रागभाव की उत्पत्ति का प्रसंग भी नहीं आता। ध्वंस का ध्वंस मानने पर भी एक दूसरी आपत्ति आती है—इस प्रकार वादी की शंका और उसका समाधान अग्रिम ग्रंथ से कहते हैं—

न[1] चैवमपि यत्र ध्वंसाधिकरणं नित्यं तत्र कथं ध्वंसनाश इति वाच्यम्। तादृशाधिकरणं[2] यदि चैतन्यव्यतिरिक्तं, तदा तस्य नित्यत्वमसिद्धम्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य ब्रह्मज्ञान-निवर्त्यताया वक्ष्यमाणत्वात्। यदि च ध्वंसाधिकरणं चैतन्यं, तदाऽसिद्धिः, आरोपित-प्रतियोगिक-ध्वंसस्याधिष्ठाने प्रतीयमानस्याधिष्ठानमात्रत्वात्। तदुक्तम्[3] —

---

१. ननु सर्वस्यापि ध्वंसस्य अनित्यत्वमुत यस्य कस्यचित् ? नाद्यः नित्यस्य अधिकरणस्य नाशाऽसिद्धया तद्वृत्तिध्वंसस्य अनित्यत्वाऽसिद्धेः। यतः इदानीं घटो नष्टः, अन्तरिक्षे घटो नष्टः इत्यादौ कालाकाशादीनां ध्वंसाधिकरणत्वं विज्ञायते, तयोश्च नित्यत्वमिष्यते नैयायिकादिभिः। नाऽपि द्वितीयः, नित्याधिकरणकध्वंससामान्यात्सर्वस्यापि नित्यत्वाश्रयणौचित्यात् इति शंकाकर्तुराशयः।

२. आरोपितप्रतियोगिकध्वंसस्य अधिष्ठानमात्रत्वे सुरेश्वराचार्यवचनं प्रमाणत्वेनोपन्यस्यते। ननु अधिकरणपदेन आधारस्वरूपं विवक्षितम् उत स्वजनकाज्ञान विषयत्वरूपाधिष्ठानत्वम्। आद्ये तादृशनित्यपदार्थाऽप्रसिद्धिः, द्वितीये आधारनाशस्यैव ध्वंसनाशसामग्रीत्वान्न कोऽपि दोषः इति 'तादृशाधिकरणमि'त्यादिग्रन्थेनोच्यते।

३. यथा व्यावहारिकस्य नाशः अधिष्ठानरूपः तथैवेत्यर्थः।

'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः,। इति। [1]एवं शुक्तिरूप्य-विनाशोऽपीदमवच्छिन्नं [2]चैतन्यमेव।

अर्थ—ऐसा मानने पर भी जहाँ ध्वंस का अधिकरण नित्य होता है वहाँ उस ध्वंस का नाश कैसे होता है? परन्तु यह शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि वैसा अधिकरण चैतन्य के अतिरिक्त (भिन्न) यदि हो तो उसमें नित्यत्व असिद्ध हैं। क्योंकि ब्रह्म से भिन्न समस्त जगत् में ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्व (ब्रह्मज्ञान से निवृत्त होने की योग्यता) है, ऐसा आगे बतावेंगे। और वह ध्वंसाधिकरण यदि चैतन्य ही हो तो (उस ध्वंस में नित्यत्व की असिद्धि है। क्योंकि जिसका (ध्वंस का) प्रतियोगी आरोपित (मिथ्या) होता है, ऐसे अधिष्ठान में प्रतीयमान ध्वंस, अधिष्ठानस्वरूप रहता है। इसलिए अभियुक्तों का वचन है कि 'कल्पित वस्तु का नाश, अधिष्ठानावशेष (जिसमें केवल अधिष्ठान अवशिष्ट रहता है) रहता है'। इस प्रकार शुक्तिरूप्य का विनाश भी 'इदम्वृत्ति' से अवच्छिन्न चैतन्य ही है।

विवरण—ध्वंस का (प्रध्वंसाभाव का) जो अधिकरण कपाल के समान अनित्य होता है, उस अधिकरण का (कपाल का) ध्वंस होने पर तन्निष्ठ घटध्वंस का भी ध्वंस होता है। इस कारण घटादि पदार्थों का ध्वंस नित्य न होकर विनाशी होता है। इसलिये उस ध्वंस के नित्यत्व के प्राप्त न होने पर भी जिस ध्वंस का अधिकरण नित्य रहता है उसका ध्वंस = नाश नहीं होता। क्योंकि नित्य-अधिकरणस्थित ध्वंस का नाश कैसे हो सकेगा?

उदाहरण—आकाश नित्य है, उस आकाश में होने वाला जो-आकाशकार्यभूत शब्द का ध्वंस, उसका नाश कैसे संभव होगा? क्योंकि उसके अधिकरणभूत आकाश का कभी नाश ही नहीं होता। और प्रतियोगी के उपादानकारण का नाश होने पर उस ध्वंस का भी नाश आप बताते हैं। तो जब कि आकाश का नाश ही नहीं होता तो उस ध्वंस का भी नाश कैसे होगा? इसलिये ऐसे शब्दादिकों के ध्वंस में अविनाशित्व ही आपको मानना चाहिए। तब ध्वंस और ब्रह्म दोनों नित्य पदार्थ सिद्ध होने से द्वैतापत्ति होती है। एवं ब्रह्म में समस्त जगत् का लय (नाश) भी आप मानते हैं, तब अधिष्ठानभूत ब्रह्मनित्य होने से तन्निष्ठ जगत् का ध्वंस भी नित्य ही होगा, जिससे प्रलयावस्था में ब्रह्म और जगत् का ध्वंस दो पदार्थ मानने होंगे। उस कारण 'एकमेवाद्वितीय; ब्रह्म के अद्वैत का बाध होता है इस आशय से वादी ने 'यत्र०' इत्यादि वाक्य से शंका कर कोटि की है। इस पर धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं—'जिस ध्वंस का अधिकरण नित्य होता है, तन्निष्ठ ध्वंस का नाश कैसे होगा' यह आप जिस अधिकरण को उद्देश्य कर कहते हैं वह ध्वंस का नित्य

---

१. 'शमधिः'–इति पाठान्तरम्।

२. 'न्नचैः'–इति पाठान्तरम्।

अधिष्ठान, चैतन्य से भिन्न विवक्षित है या चैतन्य रूप ब्रह्म ही जगत् के ध्वंस का आधार होने से 'जगत् के ध्वंस में नित्यत्व प्राप्त होगा' यह विवक्षित है। इसमें प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता। क्योंकि एक चैतन्यस्वरूप ब्रह्म को छोड़ संसार के किसी भी पदार्थ में अविनाशित्व नहीं है। क्योंकि ब्रह्म में कल्पित जगत् की, ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति (बाध, नाश) होती है—यह हम विषय परिच्छेद में बतावेंगे। इस कारण आकाशनिष्ठ शब्द-ध्वंस में या 'अन्तरिक्ष में घट का ध्वंस हुआ' इस रीति से आकाश में प्रतीयमान घटध्वंस में नित्यत्व प्राप्त होने की आपत्ति हमारे पक्ष में नहीं हो पाती।

अब द्वितीय पक्ष (चैतन्य ही ध्वंस का अधिकरण है) का स्वीकार करें तो 'जगत् के ध्वंस में नित्यत्वापत्ति होगी' यह कथन नहीं बन सकेगा। क्योंकि जिस ध्वंस का प्रतियोगी आरोपित (मिथ्या) होता है, ऐसा ध्वंस, जो कि अधिष्ठानरूप से भासित होता है, वह अधिष्ठानरूप ही होता है। उदाहरणार्थ—शुक्ति में 'यह रजत है' यह मिथ्या रजत का ज्ञान होता है। परन्तु वह ज्ञान, उस पदार्थ को भलीभाँति देखने पर बाधित हो जाता है और 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार उसके विपरीत ज्ञान होता है, अर्थात् इस ज्ञान में पूर्वभासित रजत नष्ट हुआ—यह अनुभव होता है। यहाँ रजतध्वंस का प्रतियोगी जो रजत, वह मिथ्या होने से उसका नाश, अर्थात् उस रजत का अधि-ष्ठान 'इदम्' इस आकार से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही है। इसी प्रकार जगत् मिथ्या है और ब्रह्म उस जगदाकार भ्रम का अधिष्ठान है। उस ब्रह्म में जगत् का जो ध्वंस होता है, वह अधिष्ठानरूप (ब्रह्मरूप) होता है, पृथक् नहीं। क्योंकि चैतन्यात्मक ब्रह्म में चैतन्यात्मकता का अभाव भासित होना ही प्रपञ्चभान है। प्रपञ्चध्वंस के समय उस चैतन्यात्मकता के अभाव का अभाव होता है, इसी कारण चैतन्यात्मकता भासती है। अत एव सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि 'कल्पितवस्तु का नाश अधिष्ठानरूप होता है'। इस कारण चैतन्य में होनेवाले ध्वंस में भी नित्यत्व प्राप्त नहीं होता। इसी तरह रज्जु पर भासमान सर्प के ध्वंस को भी रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य ही समझना चाहिये। तस्मात् हमारे पक्ष में द्वैतापत्ति या उक्त दोष नहीं हो पाता।

अब क्रमशः प्राप्त अत्यन्ताभाव का निरूपण करते हैं—

यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः, सोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः। [1]सोऽपि [2]घटादिवद् ध्वंसप्रतियोग्येव।

---

१. नैयायिकसम्मतमत्यन्ताभावस्य नित्यत्वं खण्डयति 'सोऽपी'त्यादिग्रन्थेन। अत्यन्ता-भावस्य नश्वरत्वेऽपि तस्य नित्यत्वप्रसिद्धिः वियदादिवत् बहुकालस्थायित्वेनोपपद्यते। यथा वियदादिकं प्रलयकालध्वंसप्रतियोगी, तथा अत्यन्ताभावोऽपि प्रलयकालध्वंसप्रतियोगी। एवं च आकाशाधिकरणस्य नाशात् यथा आकाशस्य नाशः तथा अत्यन्ताभावाधिकरणस्य नाशात् अत्यन्ताभावस्यापि नाशः। २. 'वियदादिवत्'—इति पाठान्तरम्।

अर्थ—जिस अधिकरण में जिसका कालत्रय में भी (तीनों काल में) अभाव रहता है, उसे (अभाव को) अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे—वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है, वह भी घटादि के समान ध्वंस का प्रतियोगी ही होता है।

विवरण—जहाँ पर जिस वस्तु की तीनों काल में प्रतीति न होती हो, वहाँ उस वस्तु का अत्यन्ताभाव समझना चाहिये। यहाँ के 'सोऽत्यन्ताभावः' से पूर्व 'तत्र' पद का अध्याहार करना चाहिये और 'सः' पद का 'तदीय' = उसका—अर्थ समझना चाहिये। तीनों काल में वर्तमान जो अभाव, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं।

नैयायिक अत्यन्ताभाव के उदाहरण में 'इह भूतले घटो नास्ति' = इस भूतल पर घट नहीं है; देते हैं, पर वह सर्वसम्मत न होने से निर्विवाद उदाहरण ग्रंथकार ने बताया है। वायु में रूप किसी काल में भी नहीं होता, इसलिये वायु में जो रूप का अभाव, वह अत्यन्ताभाव है। 'यहाँ अमुक नहीं' इस आकार में ही अत्यन्ताभाव की प्रतीति होती है। तार्किक अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं, उसका निरसन करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं—घटादि पदार्थ जैसे ध्वंस के प्रतियोगी होते हैं (उनका ध्वंस होता है), वैसे ही अत्यन्ताभाव भी ध्वंसप्रतियोगी ही है। उसका भी प्रलयकाल में ध्वंस (नाश) होता ही है। इस कारण ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व अत्यन्ताभाव में नहीं होता। कुछ पुस्तकों में 'घटादिवत्' के स्थान में 'वियदादिवत्' पाठ है, वह उचित है। क्योंकि जिस प्रकार 'वियदादिक' (आकाशादिक) पदार्थ यावत् प्रपंचभावी हैं, किन्तु प्रलयकाल में नष्ट होते हैं, उसी प्रकार यह अत्यन्ताभाव भी जब तक जगत् है तब तक ही रहता है, और प्रलयावस्था में समस्त पदार्थों का ध्वंस होने पर उन पर अवलंम्बित होकर रहनेवाले अत्यन्ताभाव का नाश होता ही है। प्रलयकाल में ब्रह्मातिरिक्त सत्ता ही नहीं होती।

अन्योऽन्याभाव का स्वरूप बताते हैं—

इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योऽन्याभावः। अयमेव विभागो भेदः पृथक्त्वं चेति [1]व्यवह्रियते। भेदातिरिक्तविभागादौ प्रमाणाभावात्। अयं चान्योऽन्याभावोऽधिकरणस्य सादित्वे सादिः, यथा घटे पटभेदः। अधिकरणस्यानादित्वेऽनादिरेव[2], यथा जीवे ब्रह्मभेदः,

---

१. 'व्यपदिश्यते'—इति पाठान्तरम्।

२. अन्योन्याभावाधिकरणस्य अन्योन्याभावप्रतियोगिनश्च सादित्वे अन्योन्याभावस्य सादित्वम्। यथा—'घटे पटभेदः'। अत्र भेदाधिकरणस्य घटस्य उत्पत्तिमत्त्वात् पटप्रतियोगिकभेदस्योत्पत्तिमत्त्वम्। जीवब्रह्मणोश्चानादित्वात् तत्प्रतियोगिकतदधिकरणकभेदस्य अनादित्वम्। एवं जीवेशादिभेदोऽपि अनादिरेव। सादिरनादिर्द्विविधोऽपि भेदः विनाशी वर्तते यतः अविद्याकल्पितानामविद्यानिवृत्तौ निवृत्तिः।

ब्रह्मणि[1] वा जीवभेदः। द्विविधोऽपि भेदो[2] ध्वंसप्रतियोग्येव, अविद्याया[3] निवृत्तौ तत्परतन्त्राणां निवृत्त्यवश्यम्भावात्।

अर्थ—'यह, यह नहीं' ऐसी प्रतीति का विषय जो अभाव, वह अन्योन्याभाव है। विभाग, भेद, पृथक्त्व शब्दों से इसी का व्यवहार होता है। क्योंकि विभागादिकों को भेद से (अन्योन्याभाव से) पृथक् मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस अन्योन्याभाव का अधिकरण यदि सादि (उत्पत्तिमत्) हो तो वह सादि (उत्पत्तिमान्) होता है। जैसे—घट में पट का भेद। परन्तु अधिकरण यदि अनादि हो तो वह भी अनादि ही होता है। जैसे—जीव में ब्रह्म का भेद या ब्रह्म में जीव का भेद। यह दोनों प्रकार का भेद ध्वंस का प्रतियोगी (विनाशी) होता है। क्योंकि मूल अविद्या की निवृत्ति होने पर उसके अधीन रहनेवाले भेदों की निवृत्ति होना अवश्यम्भावी है।

विवरण—'यह घट पट नहीं है' इस रीति से घट में वर्तमान जो पटरूपता का अभाव वह अन्योन्याभाव है। यह ध्यान में रखकर ही 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक' जो अभाव, उसे अन्योन्याभाव, कहते हैं, यह अन्योन्याभाव का लक्षण किया गया है। अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता, घटादि अनेक प्रतियोगियों के संयोग, समवाय आदि अनेक सम्बन्धों से अवच्छिन्न होती है। किन्तु अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता केवल तादात्म्य-सम्बन्ध से ही अवच्छिन्न रहती है। क्योंकि 'यह घट, पट नहीं है' इस स्थल में यह घट स्वरूपतः पट नहीं है, अर्थात् पट-भेद का प्रतियोगी जो पट, उसका स्वयं से (पट से) जैसा तादात्म्य (तद्रूपत्व) है, वैसा घट से नहीं—यही ज्ञान होता है। इस कारण तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगितावाला अन्योन्याभाव माना गया है।

अन्योन्याभाव, भेद, विभाग, पृथक्त्व—ये सब पर्याय शब्द हैं। नैयायिकों का कहना है कि विभाग और पृथक्त्व गुण हैं, और वे अन्योन्याभाव से भिन्न हैं। परन्तु यह उचित नहीं है। क्योंकि वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ ग्रन्थकार का आशय यह है कि—'घट, पट से विभक्त है' और 'घट, पट से पृथक् है, ये दोनों प्रतीतियाँ क्रमशः विभाग और पृथक्त्व की हैं—ऐसा तार्किक कहते हैं। किन्तु वास्तव में इन दोनों ज्ञानों में कोई वैलक्षण्य नहीं है। अतः वे दोनों वाक्य एक ही प्रतीति की बोधक हैं। जैसे—हस्त और कर—एक ही प्रतीति के पैदा करने वाले शब्दों में भेद होने पर भी उनका अर्थ एक ही रहता है वैसे ही विभाग और पृथक्त्व शब्दों के अर्थ में भी एकता समझनी चाहिये। इसलिये विभाग और पृथक्त्व को परस्पर भिन्न एवं गुण नहीं कह सकते।

---

१. 'णिजीव'—इति पाठान्तरम्।
२. भेदोऽपि नश्वर एवेत्यभिप्रायः।
३. 'द्यानिवृ०'—इति पाठान्तरम्।

इसी प्रकार पृथक्त्व को भेद से (अन्योन्याभाव से) भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है। 'घट, पट से पृथक् है' यह पृथक्त्व की प्रतीति और 'यह घट, पट नहीं है' यह अन्योन्याभाव की प्रतीति—इन दोनों में केवल शब्दों की ही विलक्षणता है, उनके अर्थों में कुछ भी भेद नहीं है।

शंका—ऐसा मानने पर 'इदमस्मात् पृथक्' प्रयोग के समान 'इदंमिदं न' प्रतीति के स्थान में 'इदमस्मात् न' प्रयोग भी होने लगेगा।

उत्तर—यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि 'अन्यारादितरर्ते०' (पाणि० सू० २।३। २९) सूत्र के द्वारा 'अन्य' पद से अन्यार्थक 'पृथक्' इत्यादि पदों का भी ग्रहण किया होने से 'पृथक्' शब्द के योग में जैसे पंचमी का विधान किया गया है वैसे 'न' अव्यय के योग में पंचमी का विधान नहीं किया गया। इस कारण 'न' निपात के योग में 'अस्मात् न' ऐसा पञ्चमी का प्रसङ्ग नहीं आता। अन्य, पृथक् , विभक्त, भिन्न आदि शब्दों में ही भेद है। वस्तुतः ये शब्द अन्योन्याभाव के ही बोधक हैं।

कुछ अन्योन्याभाव सादि (उत्पत्तिमान्) होते हैं और कुछ अनादि (उत्पत्ति-रहित) होते हैं। जिस अन्योन्याभाव का अधिकरण उत्पत्तिशील होता है, वह अन्यो-न्याभाव उस अधिकरण की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न होता है। उदाहरण—पट भेद का (पटान्योन्याभाव का) अधिकरण घट, सादि (उत्पत्तिशील है, इसलिये 'घट' उत्पन्न होते ही 'पटभेद' भी उत्पन्न होता है। इस कारण यह भेद सादि है।

इसके विपरीत जिस अन्योन्याभाव का अधिकरण अनादि होता है वह अन्योन्याभाव भी अनादि (उत्पत्तिरहित) होता है। जैसे—जीव, ब्रह्म इत्यादि पदार्थ अनादि होते हैं। क्योंकि—

'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥'

(जीव, ईश्वर, शुद्धचैतन्य, जीवेश्वर-भेद, अविद्या = माया और उसका—चैतन्य के साथ सम्बन्ध—ये छः पदार्थ वेदान्त मत में अनादि माने गये हैं) यह वेदान्त सिद्धान्त है।

इस कारण जीव में 'जीव, ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार से प्रतीयमान ब्रह्म भेद या ब्रह्म में भासमान 'ब्रह्म , जीवो न'—ब्रह्म, जीव नहीं है—यह जीवभेद, ये अनादि अन्योन्या-भाव हैं। तथापि सादि और अनादि दोनों प्रकार के अन्योन्याभाव नित्य नहीं हैं, अपितु आकाशादि के समान विनाशी (ध्वंस के प्रतियोगी ही) हैं। क्योंकि समस्त जगत् की मूलकारण अविद्या की विद्या से निवृत्ति होने पर उसके कार्यभूत (उसके अधीन रहने वाले) समस्त भेदों की निवृत्ति होनी ही चाहिये। इस कारण 'नेह नानास्ति किंचन' और 'अहं ब्रह्मास्मि' जानने वाले विद्वान् की दृष्टि से—घट-पट-भेद या 'जीवेश्वर भेद' यह द्विविध भेद भी नहीं है। तस्मात् जीवेश्वर भेद के अनादि होने पर भी—

आविद्यक होने से उसका नाश हो ही जाता है। इसलिये पहले जो जीवेश्वर भेद बताया था वह संसारदशा में ही समझना चाहिये।

अन्योन्याभाव के और भेदों को भी बताते हैं।

पुनरपि भेदो द्विविधः—सोपाधिको निरुपाधिकश्चेति। [1]तत्रोपाधिसत्ता-व्याप्य-सत्ताकत्वं सोपधिकत्वं, तच्छून्यत्वं निरुपाधिकत्वम्। तत्राद्यो यथा—एक[2]स्यैवाकाशस्य घटाद्युपाधिभेदेन भेदः। यदा वा[3] एकस्यैव सूर्यस्य जलभाजनभेदेन भेदः। [4]तथा च एकस्यैव ब्रह्मणोऽन्तःकरणभेदाद्भेदः। निरुपाधिकभेदो यथा घटे पटभेदः।

अर्थ—फिर भी भेद (अन्योन्याभाव) दो प्रकार का है। सोपाधिक और निरुपाधिक (उसके भेद हैं)। उन दोनों में से जिसकी सत्ता, उपाधि की सत्ता से व्याप्य होती है वह सोपाधिक भेद है। और वैसी सत्ता से रहित जो भेद वह निरुपाधिक भेद है। उनमें से प्रथम भेद का उदाहरण इस प्रकार है—एक ही आकाश का घटादि उपाधियों के भेद से जो (घटाकाश, मठाकाश नहीं है) भेद होता है वह, या एक ही सूर्य का पात्रों (कलशों) के भेद से जो भेद होता है वह सोपाधिक भेद है। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म का अन्तःकरणभेद से जो भेद होता है वह भी सोपाधिक भेद ही होता है। निरुपाधिक भेद का उदाहरण इस प्रकार है—घट में पट का भेद निरुपाधिक होता है।

विवरण—अन्योन्याभाव के सादि एवं अनादि जैसे भेद होते हैं वैसे ही सोपाधिक एवं निरुपाधिक दो प्रकार और भी हैं, जिसकी सत्ता उपाधिकी सत्ता से व्याप्य हो वह सोपाधिक भेद है अर्थात् जब तक उपाधि रहे तब तक जिसकी सत्ता हो—ऐसे अन्योन्याभाव को सोपाधिक कहते हैं। जैसे—आकाश एक ही है, उसमें वस्तुतः भेद नहीं है। तथापि उस 'आकाश का घटादि उपादि के कारण भेद हो जाता है। जब तक घट

---

१. सोपाधिक भेदो नाम—उपाधिसत्ताव्याप्या सत्ता यस्य भेदस्य स भेदः उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकः तत्त्वम् = सोपाधिकत्वम्। तच्छून्यत्वं नाम—उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वात्यन्ताभाववत्त्वम्। ब्रह्मणः एकत्वेऽपि तदुपाधेरन्तःकरणस्य भेदात् ब्रह्मणो भेदः। यावदन्तःकरणं तावदेव अस्य भेदस्य स्थितिः। निवृत्ते तु अन्तःकरणे तस्यापि निवृत्तिः।

२. 'स्याकाश'—इति पाठान्तरम्।

३. 'चैकस्य सू'—इति पाठान्तरम्।

४. 'यथा'—इति पाठान्तरम्।

मठादि उपाधियाँ हैं तब तक 'जो घटाकाश हैं वह मठाकाश नहीं, जो मठाकाश है वह करकाकाश (कमण्डलु से अवच्छिन्न आकाश) नहीं। इस रीति से आकाश के भेद की प्रतीति होती है। परन्तु वास्तव में उपाधियों का विवेक कर यदि विचार किया जाय तो आकाश सर्वत्र एक ही है। घटाकाशादि व्यवहार केवल घटादि उपाधियों के भेद से होते हैं और घटादि उपाधियों के अधीन रहते हैं। अथवा सूर्य एक रहते हुए भी भिन्न-भिन्न जल-भाजनों में (जल के पात्रों में या वापी, तडागादि में) उसका प्रतिबिम्ब गिरने पर आकाशस्थ सूर्य, तडागस्थ सूर्य, आदि भेद होते हैं। वे भी सब सोपाधिक ही हैं। ये भेद उपाधिभेद के कारण ही होते हैं। जब तक उपाधि की सत्ता होगी तभी तक इनकी सत्ता रहेगी। किन्तु वास्तव में एक आकाशस्थ सूर्य ही सत्य है। इस रीति से जहाँ पर आकाशादिकों के भेद की सत्ता है वहाँ घटादि उपाधियों की सत्ता है। घटादि उपाधियों के न रहने पर आकाश सूर्य आदि का भेदेन व्यवहार नहीं होता। इस कारण भेद और उपाधियों की सत्ता में व्याप्य-व्यापक-भाव रहता है। अर्थात् भेद-सत्ता व्याप्य और उपाधि-सत्ता उसकी व्यापक होती है। सोपाधिक भेद का वेदान्तोपयोगी उदाहरण इस प्रकार है—वास्तव में ब्रह्म, अखण्डैकरस एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न अन्तःकरणरूप उपाधियों के कारण ब्रह्म में नाना जीव रूपसे भेद व्यवहार होता है। घटाकाश के समान अन्तःकरण से अवच्छिन्न हुए अथवा पात्रस्थ सूर्य के समान भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य को ही देवदत्त, यज्ञदत्त आदि संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं। किन्तु ये प्रयोग उपाधिसत्ता के अधीन होते हैं। ज्ञान के द्वारा इस अविद्या के निवृत्ति होते ही (उपाधि का त्याग करते ही) शुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म एकमेवाद्वितीय ही शेष रहता है।

जिस भेद में उपाधिसत्ता की अपेक्षा नहीं होती उसे निरुपाधिक भेद कहते हैं। जैसे घट, पट से स्वाभाविक ही भिन्न है। उनका भेद, उपाधि के अधीन नहीं है। इस कारण घट में विद्यमान पटभेद या पट में विद्यमान घट-मठादिकों का भेद, निरुपाधिक (उपाधिरहित) भेद है। इनका 'घटः पटो न' इस रीति से अनुभव होता है।

इस पर वादी की शंका और उसका समाधान—

न च ब्रह्मण्यपि प्रपञ्चभेदाभ्युपगमेऽद्वैतविरोधः। तात्त्विकभेदा[1]देरनभ्युपगमेन वियदादिवदद्वैताव्याघात[2]कत्वात्। प्रपञ्चस्याद्वैते ब्रह्मणि कल्पितत्वाङ्गीकारात्। [3]तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

---

१. 'दानभ्यु'–इति पाठान्तरम्।

२. 'तात्'–इति पाठान्तरम्।

३. प्रपञ्चस्य अज्ञानकल्पितत्वे वार्तिकम्प्रमाणयति—तदुक्तमिति।

अक्षमा भवतः केयं साधकत्व-प्रकल्पने ।
किन्न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञान-कल्पितम् ॥

अर्थ—ब्रह्म में प्रपञ्च भेद का (संसारभेद का) यदि स्वीकार करें तो अद्वैत के साथ विरोध होगा। यह शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि—हमने तात्त्विक (पारमार्थिक) भेदादि पदार्थों का स्वीकार नहीं किया होने से आकाशादिकों के समान (वह भेद) अद्वैत का व्याघातक (विनाशक) नहीं होता। क्योंकि अद्वैत ब्रह्म में प्रपञ्च कल्पित है, यह हमारा सिद्धान्त है। इसीलिये सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि (ब्रह्म के) साधकत्व की कल्पना के विषय में (जगदुत्पादकत्व की कल्पना करने में) तुम्हारी यह अक्षमा (असहिष्णुता) क्यों ? क्या तुम उस ब्रह्म में ही अज्ञानकल्पित संसार को नहीं देखते हो ?

विवरण—उक्त प्रकार से चैतन्यरूप जीव और ब्रह्म का जो भेद है, वह अन्तःकरण और माया की उपाधि के कारण होते रहने से सोपाधिक है, और उस उपाधि की ब्रह्मज्ञान के द्वारा निवृत्ति होते ही उस भेद की भी निवृत्ति होगी। किन्तु जड़ प्रपञ्च और चेतन ब्रह्म का जो भेद है उसमें किसी प्रकार की कोई उपाधि नहीं है। इस कारण वह जड़-चेतन भेद निरुपाधिक है, यही कहना चाहिये। और इस भेद के मानने पर प्रपञ्चभेद और ब्रह्म दो वस्तुओं की सिद्धि होने से द्वैतापत्ति हो जाती है अर्थात् तुम्हारे अद्वैत सिद्धान्त से विरोध होता है।

समाधान—ब्रह्म में प्रपञ्च का (संसाररूप समस्त जगत् का) भेद मानने पर भी हमारे मत में द्वैतापत्ति नहीं होती है। क्योंकि ब्रह्म में समस्त जगत् जैसे कल्पित है, वैसे ही उस प्रपञ्च का भेद भी तात्त्विक न होकर कल्पित (आरोपित) ही है। इस कारण आकाशादिकों के तुल्य ही यह भेद भी प्रलय तक ही रहनेवाला है। प्रलय की अवस्था में या ज्ञान से संसारमिथ्यात्व का अनुभव होने पर ब्रह्म, एकमेवाद्वितीय ही रहता है। वैसे ही इस प्रपंच के कल्पित होने के कारण ही रज्जु या शुक्ति के समान अधिष्ठानभूत ब्रह्म के अद्वैत में कोई बाध नहीं हो पाता। क्योंकि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार रूप तीनों अवस्थाओं में अधिष्ठान ब्रह्म, रज्जु आदि के समान निर्विकार ही रहता है। इस कारण ऐसे हजारों कल्पित पदार्थों के अंगीकार से ब्रह्म के अद्वैत में कोई व्याघात (बाधा) नहीं होता, क्योंकि कल्पित प्रपञ्च का भेद कभी तात्त्विक हो ही नहीं सकता।

साधकत्वप्रकल्पने = ब्रह्मणो जगद्धेतुत्वकल्पने भवतः इयमक्षमा = असहिष्णुता का ? अर्थात् इयमक्षमा न उचिता। कुतो नोचिता ? इत्यत्राह— किं नेति। तत्रैव ब्रह्मण्येव अज्ञानकल्पितम् अज्ञानेन अविद्यया कल्पितं संसारं प्रपञ्चं किं न पश्यसि ? भावरूपत्वादज्ञानस्य आवरण-विक्षेपशक्तिद्वयस्य स्वीकारात् तस्य कल्पकत्वमित्यभिप्रायः।

अद्वैत ब्रह्म में प्रपञ्च के कल्पित होने में वार्तिककार सुरेश्वराचार्य की सम्मति बताते हैं—'ब्रह्म, जगत् का साधक (उत्पादक) है' ऐसी कल्पना करने में ही तुम्हें इतनी असूया क्यों होती है ? यह तुम्हारी असहिष्णुता उचित नहीं है। क्योंकि ब्रह्म में ही यह प्रपञ्च, अज्ञान से कल्पित है, क्या यह तुम्हें प्रत्यक्ष दीखता नहीं है ? और तुम्हें 'मिथ्या-ज्ञान से ही प्रपञ्च कल्पित है' यह समझता है तो उस भ्रम के अधिष्ठानभूत ब्रह्म को कारण मानने में ही तुम्हें क्यों बुरा लग रहा है ? अर्थात् 'अज्ञानकल्पित संसार का अधिष्ठानभूत ब्रह्म कारण है' यह अवश्य स्वीकार करना ही होगा। सारांश यह है कि सुरेश्वराचार्य के इस वचन से भी संसार का अज्ञानकल्पितत्व सिद्ध होता है। अतः आकाश आदि अनेक पदार्थों के मानने पर भी इन व्यावहारिक पदार्थों से पारमार्थिक ब्रह्म के अद्वैत में कोई बाधा नहीं होती।

शंका—मीमांसक तो अभाव पदार्थ को ही नहीं मानते तो आप अभाव का वर्णन कैसे कर रहे हैं ? भाट्ट चार ही पदार्थ 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य' मानते हैं। और प्राभाकर द्रव्यादि छह, सादृश्य और शक्ति—ऐसे आठ पदार्थ मानते हैं। घटादिकों का अभाव तो भूतलादि अधिकरणों का एक विशेष परिणाम है। कदाचित् अभाव को मान भी लें तो उसे चतुर्विध मानना वेदान्त सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि नृसिंहाश्रम मुनि ने अद्वैतदीपिका नामक ग्रन्थ में प्रागभाव का खण्डन किया है। ऐसी स्थिति में आप अभाव को चतुर्विध कैसे बता रहे हैं ? यह शंका यदि कोई करे तो ग्रन्थकार पूर्वाचार्यों की सम्मति बताते हैं।

अत एव[1] विवरणेऽविद्यानुमाने प्रागभाव-व्यतिरिक्तत्व[2]विशेषणम्, तत्त्वप्रदीपिकाया[3]मविद्यालक्षणे भावत्वविशेषणं[4] च सङ्गच्छते। एवं[5] चतुर्विधा[6]भावानां योग्यानुपलब्ध्या प्रतीतिः। तत्रानुपलब्धि-र्मानान्तरम्।

अर्थ—इसीलिये (अभाव के चार प्रकार स्वीकार करने के कारण ही) विवरण में

१. विवरणकारस्य अविद्यानुमानम्—'प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषया-वरणस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्।' तथा च यदि वेदान्तिनां मते अभावो नाम कश्चित् पदार्थो न स्यात् तर्हि प्रागभावव्यावृत्त्यर्थमिदं विशेषणदानं व्यर्थं स्यात्। अतः अभावो नाम भावातिरिक्तः कश्चित् पदार्थः अस्त्येव। चित्सुखाचार्यैरपि तत्त्व-प्रदीपिकायामभावपदार्थः स्वीकृतोऽस्ति। तथा च—'अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञान-निरस्यमज्ञानम्' इति अज्ञानलक्षणे ज्ञानप्रागभावव्यावृत्त्यर्थं भावरूपं विशेषणं प्रदत्तमस्ति।

२. 'क्तत्व'—इति पाठान्तरम्।
३. 'यां चावि'—इति पाठान्तरम्।
४. 'णं संग'—इति पाठान्तरम्।
५. 'वमुक्तानां'—इति पाठान्तरम्।
६. 'धानामभा'—इति पाठान्तरम्।

अविद्या के अनुमान में दिये हुए 'प्रागभावव्यतिरिक्त' विशेषण की और तत्त्वदीपिका के अविद्यालक्षण में निविष्ट किये हुए 'भावत्व' विशेषण की संगति लग जाती है। इस प्रकार इन चतुर्विध अभावों की योग्यानुपलब्धि के द्वारा प्रतीति होती है। (और इन अभावों की) प्रतीति में अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण है।

विवरण—श्रीमच्छङ्कराचार्य के शारीरक भाष्य के प्रथम चतुःसूत्री पर पद्मपादाचार्य की 'पञ्चपादिका' नाम की टीका है। उस पर प्रकाशात्म मुनि ने 'विवरण' नाम की टीका की है इसी को 'अहङ्कारटीका' के नाम से पीछे ग्रन्थकार ने संबोधित किया है। उसमें अविद्या का (अज्ञान का) सद्भाव सिद्ध करने के लिए अनुमान बताया है। यथा—(१) 'विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भवितुमर्हति'—(२) अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात् (३) अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्' इस अनुमान की साध्य कोटि में 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्त' यह विशेषण 'वस्त्वन्तर' में दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि विवरणाचार्य को 'प्रागभाव' मान्य था। क्योंकि उन्हें यदि प्रागभाव मान्य न होता तो उस पर होनेवाली अतिप्रसक्ति (व्यभिचार) का वारण करने के लिये उन्हें 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्त' विशेषण देने की आवश्यकता न पड़ती। अतः अभाव की चतुर्विधता पूर्वाचार्य को भी सम्मत थी यह सिद्ध होता है। अभाव के चार प्रकार मानने पर ही उसका विशेषण सफल होता है। अतः अभाव चतुर्विध है।

इसी प्रकार 'अभाव' पदार्थ ही यदि वेदान्तियों को सम्मत न होता तो श्री चित्सुखाचार्य ने अपनी तत्त्वदीपिका में (चित्सुखी में) 'अनादिभाव-रूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वमविद्यात्वम्'—अनादि भावरूप होकर जो ज्ञान से निवृत्त होने योग्य हो वह अविद्या है इस अविद्या के लक्षण में दिया हुआ 'भावत्व' विशेषण व्यर्थ हुआ होता। क्योंकि 'अभाव' नामक पदार्थ ही यदि न हो तो उस पर अतिव्याप्ति कैसी होती और उसके निरसनार्थ 'भावरूपत्व' विशेषण की भी गरज नहीं पड़ती। तस्मात् 'भविष्यति', 'ध्वस्तः', 'नास्ति' और 'न' इन प्रतीतियों की उपपत्ति लगाने के लिये 'अभाव' पृथक् पदार्थ है और वह प्रागभावादि भेद से चतुर्विध है। इन चारों अभावों की प्रतीति इन्द्रियादि (प्रत्यक्षादि) किसी भी प्रमाण से नहीं होती। इसलिये योग्यानुपलब्धि ही अभावग्राहक प्रमाण है। तस्मात् 'अनुपलब्धि' यह छठा पृथक् प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

इति षट् प्रमाणनिरूपणं समाप्तम्।

—०—

स्वतःप्रामाण्यवादः

इस रीति से छह प्रमाणों का निरूपण कर अब नैयायिकों के परतःप्रामाण्य का निरास करने के लिये उक्त छह प्रमाणों से होनेवाले ज्ञान का प्रामाण्य (यथार्थता) स्वतोग्राह्य है, यह बताने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं—

एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं [1]स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। तथा हि स्मृत्यनुभव-साधारणं संवादि-प्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारक-ज्ञानत्वं प्रामाण्यम्। तच्च ज्ञानसामान्य-सामग्री-प्रयोज्यं, न त्वधिकं गुणमपेक्षते, प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावात्। नापि प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षः। रूपादिप्रत्यक्षे[2] आत्मप्रत्यक्षे च तदभावात्, सत्यपि तस्मिन् पीतः शङ्ख इति [3]प्रत्ययस्य भ्रमत्वाच्च[4]।

अत एव न सल्लिङ्ग-परामर्शादिकमप्यनुमित्यादि-प्रमायां गुणः, असल्लिङ्ग-परामर्शादि-स्थलेऽपि विषयाबाधेन अनुमित्यादेः प्रमात्वात्।

---

१. स्वतः प्रामाण्यविचारो हि संशयातिरिक्तं ज्ञानसामान्यमुद्दीश्यैव, न तु प्रमाणानि अधिकृत्य।

तथा च न्यायरत्नमालायाम्–'यदि प्रमाणान्येव विषयीकृत्य चिन्त्येत, ततो यानि उभयोः प्रमाणतया प्रसिद्धानि तेषामेव प्रामाण्यं स्वतः इत्येतावत् सिद्धान्त्येत। ततश्च वेदस्य उभयवादिसिद्धप्रामाण्याभावेन विचाराविषयत्वात् नास्य स्वतः प्रामाण्यं साधितं स्यात्। तत्र वेदप्रामाण्यानुपयोगिनी चिन्ता काकदन्तपरीक्षावदकर्तव्या स्यात्। ज्ञानमात्रं त्वधिकृत्य स्वतः प्रामाण्ये परतश्च अप्रामाण्ये साध्यमाने वेदस्यापि स्वतस्तावद् विषय-तथात्वरूपं प्रामाण्यमवगतं सत् कारणदोषज्ञानादेः अभावात् निरपवादं स्थितं भवतीति प्रयोजनवती चिन्ता' इति।

तथा च संवादिप्रवृत्तिप्रयोजकत्वरूपं प्रामाण्यं कस्य ज्ञानस्य? कस्य च ज्ञानस्य विसं-वादि प्रवृत्तिजनकत्वरूपमप्रामाण्यम्? तच्च कथमुत्पद्यते? कथं च ज्ञायते? इत्येवात्र विचारणीयम्। अत्र प्रमाणशब्दः भावव्युत्पत्त्या प्रमार्थकः अतः प्रमाणानां प्रमाणाम्, प्रामाण्यं प्रमात्वमित्यर्थः। तत्र केचित् प्रमात्वाऽप्रमात्वयोः स्वतस्त्वमिच्छन्ति, केचिन्ने-च्छन्ति। तथा च तार्किकरक्षायाम्—"प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिता। नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः। प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं, वेदवादिनः। प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।" इति।

स्वत एव उत्पद्यते ज्ञायते च। स्वस्य स्वहेतुकत्वानुपपत्तेः आत्मीयात् इति 'स्वतः' शब्दस्यार्थः। आत्मीयश्च दोषाभावसहकृतज्ञानसामान्यसामग्री, दोषाभावसहकृतज्ज्ञान-ग्राहकसामग्री च ज्ञातव्या। जनकज्ञापकयोः आत्मीयत्व प्रसिद्धिः। उत्पत्तौ जनकत्वेन आत्मीयत्वम्। ज्ञप्तौ ज्ञापकत्वेन आत्मीयत्वम्।

२. 'क्षे चात्म०'–इति पाठान्तरम्। ३. 'प्रत्यक्षस्य'–इति पाठान्तरम्।
४. 'त्वात्'–इति पाठान्तरम्।

अर्थ—इस प्रकार प्रतिपादित प्रमाओं का (यथार्थ ज्ञान का) प्रामाण्य (प्रमात्व सत्यता) स्वतः एव = उस ज्ञान से ही उत्पन्न होता है और जाना जाता है। जो इस प्रकार है—स्मृति एवं अनुभव के लिए साधारण और संवादिप्रवृत्ति के लिये अनुकूल प्रमात्व, अर्थात् तद्वान् पदार्थ में तत्प्रकारक ज्ञान होना है और वह ज्ञानसामान्य की सामग्री का ही कार्य है, उसके लिये उसे अधिक गुण की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि समस्त प्रमाओं में अनुगत रहनेवाला कोई गुण नहीं है। यदि कहें कि 'प्रत्यक्ष प्रमा में भूयोवयवेन्द्रिय-सन्निकर्ष गुण है' तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि रूप के प्रत्यक्ष में तथा आत्मा के प्रत्यक्ष में उसका (उस गुण का) अभाव रहता है और उस गुण के रहते हुए भी 'शंखः पीतः' शंख पीला है—ज्ञान भ्रमरूप ही होता है। इसीलिये सल्लिंग-परामर्शादिक भी अनुमित्यादि प्रमाओं में गुण नहीं कहे जा सकते, क्योंकि सल्लिंगपरा-मर्श जहाँ नहीं रहता वहाँ भी अनुमेय विषय का बाध न होने से अनुमित्यादि ज्ञानों में प्रमात्व ही रहता है।

विवरण—वेदान्त में प्रत्यक्षादि छह प्रमाण हैं। उन छह प्रमाणों से छह प्रकार की प्रमाएँ (ज्ञान) होती हैं। ये प्रमाएँ यथार्थ (वास्तविक = सत्य) हैं या अयथार्थ (अवास्तविक = असत्य) अर्थात् भ्रमरूप हैं? इसे जानने का जो साधन है, उसके विषय में शास्त्रकारों का मतभेद है। नैयायिकों का कहना है कि—'प्रमात्वं न स्वतो-ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः'—प्रमात्व (प्रमा का यथार्थत्व = सत्यत्व) स्वतोग्राह्य नहीं है अर्थात् उस ज्ञान की साधन सामग्री से ही उसका ग्रहण नहीं होता। क्योंकि ज्ञान की सत्यता या असत्यता चक्षुरादि से ही ज्ञात होती है कहा जाय तो मन्द प्रकाश में दीखने-वाले स्तम्भ आदि के विषय में 'यह स्तम्भ है या पुरुष है' इत्याकारक संशय तो अनुभव-सिद्ध है। इसलिये ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः (ज्ञानग्राहक सामग्री से) ही ज्ञात नहीं होता। किन्तु उसका ग्राहक प्रमाण अनुमान है। अतः ज्ञानप्रामाण्य, अनुमानरूप 'पर-प्रमाण' से ग्राह्य होने के कारण 'परतोग्राह्य' है। प्रामाण्यग्राहक अनुमान इस प्रकार है—दूर स्थित पदार्थ का 'यह जल है' इत्याकारक जो ज्ञान मुझे हुआ, वह प्रमा (यथार्थ = सत्य ज्ञान) है, क्योंकि वह संवादि का (सफल प्रवृत्ति का) जनक है, अर्थात् उस जल की ओर देखकर उसे पीने के लिये जो मेरी प्रवृत्ति हुई वह सफल हुई) (वहाँ मुझे पीने के लिये पानी मिलने से पूर्व हुआ ज्ञान, सफल प्रवृत्ति का जनक हुआ) व्यतिरेक से भ्रमज्ञान के समान। अर्थात् इसके पूर्व मुझे शुक्ति की जगह 'यह रजत है' यह ज्ञान हुआ था, वह ऐसा सफल प्रवृत्तिजनक नहीं हुआ था, क्योंकि समीप जाकर देखते ही हाथ में सीप आई, इसलिये वह विफल प्रवृत्ति का (विसंवादि प्रवृत्ति का) जनक हुआ तथा अप्रमारूप हुआ। परन्तु यह जल ज्ञान वैसा विफल प्रवृत्तिजनक नहीं हुआ इस कारण यह प्रमारूप होना चाहिये, इस अनुमान प्रमाण से ही ज्ञान प्रामाण्य का निश्चय होता है।

इसी प्रकार प्रामाण्य की उत्पति के विषय में भी मतभेद है। नैयायिक कहते हैं कि प्रामाओं, का प्रमाण्य परतः (गुण के कारण) उत्पन्न होता है, 'क्योंकि जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री' से उसका प्रमात्व (सत्यता) उत्पन्न होता है यह मानने पर भ्रमज्ञान को भी प्रमारूप मानना पड़ेगा।

प्रामाण्य के विषय में ऐसा विवाद होने से उसकी उत्पत्ति एवं ज्ञान के विषय में वेदान्ताभिमत सिद्धान्त 'एव मुक्तानां', इत्यादि प्रकरण से बताया गया है। 'प्रमाण' शब्द 'प्रमीयते तत् प्रमाणम्' ऐसी भावव्युत्पत्ति के द्वारा 'प्रमा' अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिये। धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि छहों प्रमाणों का प्रामाण्य स्वत एव (स्वयमेव) अर्थात् ज्ञान की सामग्री से ही उत्पन्न होता है और स्वतः एव ज्ञात होता है।

यदि कोई पूछे कि नैयायिक के जागरित रहते प्रामाण्य के स्वतस्त्व का सिद्धान्त आप कैसे कर रहे हैं ?

अतः उक्त प्रश्न का समाधान करने के लिये प्रथम 'प्रामाण्य स्वतः एव कैसे उत्पन्न होता है ?' बताते हैं। स्मृति एवं अनुभव दोनों के लिये साधारण अर्थात् स्मृति एवं अनुभव दोनों में व्याप्त रहनेवाले प्रामाण्य का लक्षण 'तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्व' है। लक्षण के 'तत्' पद से ज्ञान में विशेषणभूत धर्म का ग्रहण करना चाहिये। जैसे—'अयं घटः'–यह घट–इत्याकारक ज्ञान हमें हुआ। ज्ञान में 'घट विशेष्य है, और उसका (घट का) ज्ञान 'घटत्व' धर्म से हो रहा है। इसलिये 'घटत्व' उस ज्ञान में विशेषण या प्रकार कहलाता है। अतः लक्षण के 'तत्' पद से 'घटत्व' धर्म का ग्रहण करना चाहिये। तब लक्षण का अर्थ यह हुआ कि 'घटत्ववान्' पदार्थ में 'यह घट' इत्याकारक घटत्वप्रकारक ज्ञान होना ही घटप्रमा का प्रामाण्य है। 'यह घट मुझे चाहिये' यह इच्छा भी घटत्ववान् घट में घटत्वप्रकारक ही है। उसमें रहनेवाले प्रामाण्य में ज्ञान प्रामाण्य की—अतिव्याप्ति न हो जाय इसलिये लक्षण में 'ज्ञानत्व' पद दिया है। इच्छा में इच्छात्व रहता है, ज्ञानत्व नहीं। इस कारण अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। 'तत्प्रकारकज्ञानत्व' इतना ही लक्षण यदि करें तो भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि शुक्तिका में होनेवाला 'यह रजत' इत्याकारक रजतज्ञान भी रजतत्वप्रकारक ही होता है। उसकी निवृत्ति के लिये 'तद्वति' पद का निवेश किया है। भ्रमज्ञान—रजतत्ववान् पदार्थ में नहीं होता, इसलिये दोष का निवारण हो जाता है। ज्ञान में इस प्रकार का प्रामाण्य होने पर ही उसकी इच्छा से प्रवृत्त हुए पुरुष की प्रवृत्ति (वहाँ जाना) संवादि (सफल) होती है। तस्मात् यह प्रामाण्य संवादि प्रवृत्ति के लिये अनुकूल है। यह प्रामाण्य स्वयं ही उत्पन्न होता है।

शंका—उस प्रामाण्य को अपना ही उत्पादक मानने पर अर्थात् स्वयं को ही स्वयं

का जनक कहने से 'आत्माश्रय' दोष होता है। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य 'स्वयं ही उत्पन्न होता है', कैसे कह रहे हैं ?

समाधान—यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि 'स्वतः प्रामाण्य' में स्वतः का अर्थ 'स्वयं से' न होकर जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री से' है। इस कारण आत्माश्रय दोष नहीं आता। नैयायिक प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणतः (ज्ञानजनक सामग्री से, प्रामाण्यजनक सामग्री भिन्न है) मानते हैं। किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त ज्ञान में अनुगत रहनेवाला एक भी गुण नहीं है। इस पर नैयायिक कदाचित् कहे कि छहों प्रमाओं के प्रामाण्य का जनक किसी एक गुण के न रहने पर भी विशेष प्रमा का जनक विशेष गुण है ही।

उदाहरणार्थ—प्रत्यक्ष में 'भूयोऽवयवेन्द्रिय संनिकर्ष' रूप गुण (उपकारक) है अर्थात् जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है उसके बहुत से ज्ञापक कतिपय अवयवों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का संनिकर्ष होने पर उस प्रत्यक्ष में प्रमात्व (प्रामाण्य = सच्चाई) उत्पन्न होता है। वैसे ही अनुमिति में 'सल्लिग परामर्श' (यथार्थ = सत्य लिङ्ग का परामर्श = ज्ञान) गुण है। हेतु यदि सत्य (वास्तविक) हो, और उसका पक्ष पर ज्ञान हो जाय तो अनुमिति में प्रामाण्य होता है। उपमिति के प्रामाण्य के लिये—'सादृश्यज्ञान' गुण की अपेक्षा होती है। शब्द प्रमा का प्रमाण्य, यथार्थ योग्यताज्ञान या यथार्थ तात्पर्य ज्ञान रूप गुण से सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य के लिए ज्ञानसामान्य सामग्री के व्यतिरिक्त गुण की आवश्यकता नहीं होती कैसे कह रहे हैं ?

'नापि॰' इत्यादि ग्रन्थ से इस शंका का समाधान कर नैयायिकों के स्वीकृत (माने हुए) गुणों में से किसी भी गुण का यहाँ संभव नहीं है, यह सिद्ध किया है। 'भूयोऽवयवेन्द्रिय संनिकर्ष' रूप गुण प्रत्यक्ष प्रमा का जनक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह व्यभिचारी है। 'रूप में अवयव नहीं होते' यह तो आप भी मानते हैं। इस कारण निरवयव रूप आदि के पुष्कल (बहुत) अवयवों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का संनिकर्ष हो, नहीं कहा ज़ा सकता। तथापि रूप आदि का प्रत्यक्ष तो होता है और वह सत्य भी है। इस प्रकार प्रामाण्य ज्ञान भी होता है। उसी प्रकार निरवयव आत्मा में भी 'भूयोऽवयवेन्द्रियसंनिकर्ष' रूप गुण का होना संभव नहीं। तथापि आत्मा का मानस प्रत्यक्ष आप मानते हैं। यहाँ पर गुण के न होने पर भी प्रामाण्य रहता है इस कारण गुण का व्यतिरेक व्यभिचार होता है। क्योंकि जहाँ गुण नहीं वहाँ प्रामाण्य का भी न होना नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार जिस व्यक्ति को पीलिया हो जाता है उसे सब पदार्थ पीले दीखते हैं। शंख सफेद होता हुआ भी यह पीला है ऐसा उसे ज्ञान होता है यहाँ पर शंख के पुष्कल (अधिक)—अवयवों के साथ उस पुरुष के इन्द्रियों का सन्निकर्ष रूप गुण रहता है, किन्तु उस ज्ञान में प्रामाण्य पैदा नहीं होता। इस कारण 'जहाँ गुण हो वहाँ प्रामाण्य

होता है' इस अन्वय व्याप्ति का भी व्याभिचार होता है। तस्मात् अन्वय व्यतिरेक व्यभिचार के कारण गुण को प्रामाण्य का जनक (कारण) नहीं मान सकते। इसीलिये प्रत्यक्ष प्रमा में 'भूयोऽवयवेन्द्रियसंनिकर्ष' रूप गुण संभव नहीं है।

इसी रीति से अनुमित्यादि प्रमाओं में तुम्हारे माने हुए सल्लिग परामर्शादि गुण भी उपपन्न नहीं हो पाते। क्योंकि कहीं-कहीं धूलि में ही 'यह धूम है' इत्याकारक ज्ञान होता है। वहाँ पर दैवगत्या यदि अग्नि हुआ तो असल्लिग परामर्श के होते हुए भी अनु मिति प्रमात्मक होती है। ऐसे व्यतिरेक व्यभिचार से अनुमिति के प्रामाण्य में सल्लिग परामर्श को गुण (उपकारक) नहीं माना जा सकता। 'आदि' पद से सादृष्य ज्ञान और योग्यता ज्ञान रूप गुण को भी उपमिति एवं शाब्द प्रमाओं के प्रामाण्य में व्यभि-चारी समझना चाहिये। क्योंकि कभी-कभी सादृश्य भ्रम से भी यथार्थ उपमिति होती है, और विष्णु के अर्थ में हरि शब्द का उच्चारण होने पर भी भ्रम से उस शब्द का सिंह अर्थ है, ऐसा तात्पर्य भ्रम हो जाता है। इसलिये चारों प्रमाओं में अनुगत रहने वाले किसी एक गुण का तो सम्भव है ही नहीं, और न विशेष प्रमा के विशेष गुण का ही संभव है। तस्मात् प्रामाण्योत्पादन में, गुणादि सामग्री न होकर, ज्ञानजनक सामग्री ही उसकी जनक माननी चाहिये। इसलिये प्रामाण्य स्वत एव उत्पन्न होता है।

इस पर 'भ्रमज्ञान में भी आपके मत से प्रामाण्य प्राप्त होगा' इस आशय से नैया-यिकों की शंका और उसका समाधान—

न चैवमप्रमापि प्रमा स्यात्, ज्ञानसामान्य-सामग्र्या अवि-शेषादिति वाच्यम्। दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात्। न चैवं परतस्त्व[1]मिति वाच्यम्। आगन्तुक-भावकारणापेक्षायामेव परत-स्त्वात्।

अर्थ—ऐसा (ज्ञानजनक सामग्री को ही प्रामाण्योत्पादक सामग्री) मान लें तो अप्रमा (भ्रमज्ञान) भी प्रमा (यथार्थ) ज्ञान कहलायेगा। क्योंकि (वहाँ भी) ज्ञान सामान्य की सामग्री में विशेष नहीं होता।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि (हमने) दोषाभाव का भी हेतुत्वेन (हेतु-रूप से) अंगीकार किया है। 'यह कहने से परतस्त्व प्राप्त होता है' ऐसी शंका यदि कोई करे तो ठीक नहीं है। क्योंकि आगन्तुक भाव कारण की अपेक्षा रहने पर ही पर-तस्त्व प्राप्त होता है।

विवरण—शंका—रजत का रजतरूप से ज्ञान होते समय इन्द्रियादि जो सामग्री ज्ञान की होती है, वही शुक्तिका में (सीप में) रजतभ्रम (चाँदी का भ्रम) होते समय

१. 'स्त्वम्'—इति पाठान्तरम्।

भी होती है। इस कारण 'जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रामाण्य होता है' यदि मानें तो भ्रम को भी प्रमा कहना होगा। रज्जु में हुआ सर्प-ज्ञान भी सत्य मानना होगा। इसलिये उसके प्रामाण्य का कारण ज्ञानजनक सामग्री से भिन्न ही मानना चाहिये।

समाधान—हमारे मत में अप्रमा में प्रमात्व नहीं आ पाता, क्योंकि प्रमा में जैसे अन्य साधन सामग्री की आवश्यकता होती है वैसे ही दोषाभावरूप सहकारिकारण की भी आवश्यकता होती है। क्योंकि दोष तो सभी कार्यों में प्रतिबन्धक होता है। और उस प्रतिबन्धक का अभाव, सभी कार्यों में सहकारिकारण रहता है। उदाहरण—अग्नि कितना भी प्रज्वलित क्यों न हो, दाह्य वस्तु के साथ चन्द्रकान्त मणि का संयोग यदि हो तो वह जला नहीं पाता। क्योंकि वहाँ मणि प्रतिबन्धक रहता है, इसे आप भी स्वीकार करते ही हैं। इसलिये दोषाभावरूप कारण से युक्त जो ज्ञान की सामग्री, उसके ही कारण प्रमात्मक ज्ञान होता है। सीप में जब रजत ज्ञान होता है, तब चक्षु में तिमिरादि कोई दोष पैदा हो जाने से समस्त कारणों में से दोषाभावरूप एक कारण अप्रमा में न होने से प्रमारूप ज्ञान नहीं हो पाता। अतएव अप्रमा, प्रमारूप कभी भी नहीं हो सकती।

शंका—ऐसा मानने पर आपके लिये अप-सिद्धान्त होगा। क्योंकि ज्ञानजनक सामग्री के अतिरिक्त दोषाभावरूप पर (दूसरे) कारण का स्वीकार करने से आपने हमारा परतस्त्व पक्ष ही स्वीकृत किया-सा होगा।

समाधान—यह आक्षेप ठीक नहीं। क्योंकि आगन्तुक भावरूपकारण की, प्रमा में अपेक्षा करने पर ही परतस्त्व की प्राप्ति होगी। आप भी (नैयायिक भी) 'प्रमाया गुणजन्यत्वं उत्पत्तौ परतस्त्वम्' परतस्त्व का लक्षण यही करते हैं (गुण रूप आगन्तुक भाव कारण की अपेक्षा होने से ही परतः प्रमात्व उत्पन्न होता है) अतः दोषाभावरूप (अभावरूप) कारण की आवश्यकता मानने पर भी, प्रामाण्य में परतस्त्व, उसके कारण नहीं हो सकेगा। इस प्रकार आगन्तुक भावरूप कारण की अपेक्षा न करते हुए ज्ञानसामान्यग्राहक सामग्री से ही उत्पन्न होना ही प्रामाण्य के स्वतस्त्व का निष्कृष्ट स्वरूप है। इसमें अदृष्ट आदि की व्यावृत्ति के लिये 'आगन्तुक' पद है। और दोषाभाव-रूप कारण से परतस्त्व की प्राप्ति न हो इसलिये 'भाव' पद दिया गया है। तस्मात् अभावरूप अन्य कारणों का स्वीकार करनें पर भी परतस्त्व नहीं प्राप्त होता। अतः प्रामाण्य स्वतः एव उत्पन्न होता है।

इस प्रकार 'प्रामाण्य स्वत एव उत्पन्न होता है' इस प्रतिज्ञा की सिद्धि की। अब वह प्रामाण्य स्वतोग्राह्य कैसे है? यह सिद्ध कर नैयायिक के परतोग्राह्यत्व पक्ष का निरास करते हैं।

ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः। [1]स्वतोग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति

---

१. 'स्वतोग्राह्यत्वं च' आगन्तुकदोषाभावे यावती स्वाश्रयस्य प्रमात्वाश्रयस्य ग्राहक-सामग्री भासकसामग्री तया ग्राह्यत्वम्। ग्राह्यत्वं नाम भास्यत्वम्, न तु तज्जन्यग्रहविषय-त्वम्। यतः साक्षिण एव स्वाश्रयग्राहकत्वं तज्जन्यग्रहाभावात्। मुरारिमिश्राणां मते ज्ञानग्राहकः अनुव्यवसायः, तेन यथा ज्ञानं गृह्यते, तथा तद्गतं प्रामाण्यमपि गृह्यते। तथा च—तन्मते प्रमात्वस्य ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं सिद्धमेवेति तत्साधने सिद्धसाधनं स्यात्, तद्वारणाय 'यावत्' पदनिवेशः। तथा च तेन साक्षिज्ञानादेरपि संग्रहात् तद्ग्राह्य-त्वसाधने न सिद्धसाधनम्, तन्मते तस्य असिद्धत्वात्।

इदं बोद्धव्यम्—भाट्टमते मिश्रमते च गुरुमत इव ज्ञानसामान्यस्य 'घटमहं जानामि' इत्यादिरूपेण मिति-मातृ-मेयरूपत्रिपुटीविषयकत्वं न स्वीक्रियते। 'अयं घटः' इति प्रथमं ज्ञानम्, अनन्तरं 'घटमहं जानामि' इति द्वितीयं ज्ञानं ज्ञानविषयकम्, तेनैव च प्रामाण्य-ग्रहणमिति तत्सिद्धान्तः। यद्यपि मतत्रयेऽपि ज्ञानविषयकज्ञानेनैव प्रामाण्यग्रहः समानः, तथापि त्रिपुटीभाननियमो गुरुमते, इतरयोस्तु प्रथमज्ञाने विषयमात्रभानम् न तु ज्ञाना-त्मनोरपि, इति विशेषो न अपह्नवमर्हति। तथा च भाट्टमिश्रमतयोः ज्ञानजन्यज्ञानस्यैव प्रामाण्यग्राहकत्वं, न तु प्रथमज्ञानस्येति ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। गुरुमते तु ज्ञान-जनक सामग्र्या एव ज्ञानतत्प्रामाण्यग्राहकत्वम्। तत्र मिश्रमते ज्ञानग्राहकसामग्री प्रथम-व्यवसायः, भाट्टमते च ज्ञाततालिङ्गकानुमानमिति। तत्र प्रथममते 'घटमहं जानामि' इति लौकिकमानससाक्षात्कारः, द्वितीयमते तु अनुमितिरिति साक्षात्कारत्वेन, अनुमितित्वेन च विशेषेऽपि ज्ञानाकारे न विशेषलेशोऽपि। एवं च मतत्रयसाधारणः 'स्व' पदार्थो न आत्मा, किन्तु 'स्वीय' इत्येव स्वीकर्तव्यम्। तत्र गुरुमते ज्ञानसामग्र्या एव ज्ञानग्राहक-सामग्रीत्वम्। भट्टमिश्रमतयोः स्वीयपदेन ज्ञाततालिङ्गकानुमानस्य अनुव्यवसायसामग्र्या-श्चेति भेदस्तु अकिंचित्करः।

अत्र परिभाषाकारा किं मतमभिप्रयन्तीति जिज्ञासायां, नहि गुरुमतमेतेषामभिमतम्। व्यवहारे भाट्टनयस्यैव स्वीकारात्। नापि भाट्टमतम्, भाट्टमत इव ज्ञानानुमेयत्वस्य अस्वीकारात्। अन्यथा ज्ञानप्रत्यक्षत्वादिनिर्वचनस्यानुपपत्तेः। नापि मिश्रमतम्, स्वरूपे-तर प्रत्यक्षस्थले वृत्त्यवच्छिन्नविषयावच्छिन्नान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यानामभेदस्वीकारेण त्रिपुटीभाननियमस्वीकारात्। न चैवं सति प्रकृते विषये गुरुमतमेव वेदान्तिनामपि मतमिति वाच्यम्। वेदान्तिमते प्रमात्वाऽप्रमात्वादिविभागस्य वृत्तिज्ञानमादायैव प्रवृत्त-त्वेन वृत्तिज्ञानस्य च जडस्य स्वप्रकाशत्वाऽयोगेन साक्ष्यधीनभानस्यैव स्वीकारेण च गुरुमतसाधारण्याऽसंभवः। यत्तु वृत्तेः स्वप्रकाशत्वं परिभाषायां प्रत्यक्षपरिच्छेदे वर्णितम्, तदिदं स्वविषयत्वरूपमेव, न तु साक्ष्यनपेक्षत्वरूपमिति न कोऽपि दोषः।

यावत्स्वाश्रयग्राहक-सामग्रीग्राह्यत्वम्। स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं[1] प्रामाण्यं[2] गृह्यते।

अर्थ—और प्रामाण्य स्वतः एव जाना जाता है। स्वतोग्राह्यत्व का अर्थ है 'दोष का अभाव रहते हुए यावत् (समस्त) स्वाश्रय का (प्रमा का) ग्रहण करनेवाली सामग्री के द्वारा ग्रहण किया जाना (जानना)।' स्वाश्रय का अर्थ है—वृत्तिज्ञान, उसका ग्राहक साक्षिज्ञान होता है। उसके द्वारा वृत्तिज्ञान के ग्रहण करते समय, वृत्तिज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य भी जाना जाता है।

विवरण—जिस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः (ज्ञानग्राहक सामग्री से ही) होती है, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी स्वतः एव होता है और यही स्वतोगाह्यत्व है। हमें विवक्षित स्वतोग्राह्यत्व की व्याख्या इस प्रकार है—यावत् स्वाश्रयग्राहक सामग्री के द्वारा जानना। इसका आशय यह है—प्रामाण्य या प्रमात्व प्रमा का धर्म है। जैसे पुस्तक का पुस्तकत्व धर्म पुस्तक में ही रहता है, वैसे ही प्रमात्व (प्रामाण्य) भी प्रमा-निष्ठ (ज्ञाननिष्ठ) होता है। यह ज्ञान ब्रह्मज्ञान है, किन्तु वृत्तिज्ञान है। इस कारण स्व = प्रामाण्य, उसका आश्रय = आधार वृत्तिज्ञान ही होता है। इसलिए स्वाश्रय शब्द से प्रामाण्य का आश्रय जो घटादि आकार से परिणत हुई वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यरूप वृत्तिज्ञान, उसका ग्रहण करना चाहिये। उन समस्त वृत्तिज्ञानों का ग्राहक (ज्ञापक) साक्षिज्ञान ही है। इस कारण साक्षिज्ञान ही स्वाश्रयग्राहक = वृत्तिज्ञानज्ञापक सामग्री है। इसी साक्षिज्ञान को नैयायिक अनुव्यवसाय कहते हैं, और यही प्रमातृचैतन्य है। इस प्रमातृचैतन्य के द्वारा वृत्तिज्ञानरूप प्रमा का जब ज्ञान होता है तभी तन्निष्ठ प्रमात्व का भी ज्ञान होता है। क्योंकि धर्मज्ञानपूर्वक ही धर्मी का (पदार्थ का) ज्ञान होता है। इसलिए प्रमाण्य का स्वाश्रयवाहक सामग्री से ही (स्वत एव) ज्ञान होता है, यह मानना चाहिये, और यही स्वतोग्राह्यत्व है।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षपरिच्छेद में प्रतिपादित वेदान्ताभिमत ज्ञान प्रत्यक्ष प्रक्रिया के अनुसार देखने से भी यही सिद्ध होता है। तथाहि—ज्ञानस्थल में वृत्त्युपहितचैतन्य और प्रमातृचैतन्य की एकता आवश्यक है। इस कारण प्रमातृचैतन्य में वृत्त्युपहितचैतन्य का

यत्तु न्यायरत्नमालायाम्—"आत्मवाची स्वशब्दोऽयं स्वतो भाति प्रमाणता" इति 'स्व' शब्दस्य आत्मपरत्वं वर्णितम्, तदिदं भाट्टमते त्रिपुटीभानाभावात् ज्ञाततालिङ्ग-कानुमित्यैव प्रामाण्यग्रहणाच्च न भाट्टनिरूपणपरम्, किन्तु पूर्वपक्ष्याशयसंकलनपरम् इति मन्तव्यम्। एवं च—अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वमबाधितार्थविषयकज्ञानत्वं वा प्रामाण्यम्। इदं च प्रमात्वं धारावाहिकद्वितीयज्ञानादिषु सर्वत्राविशिष्टम्। तादृशप्रमा-जनकं प्रत्यक्षादि प्रमाणम्।

१. 'तप्रा०'—इति पाठान्तरम्।   २. 'ण्यमपि'—इति पाठान्तरम्।

भी एकीभाव हो ही जाता है। तब प्रमातृचैतन्य के द्वारा वृत्त्युपहितचैतन्य का ज्ञान यदि हो जाता है तो उस वृत्तिज्ञान में विद्यमान 'तद्वतितत्प्रकारकत्व' रूप प्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता, कैसे कहा जा सकेगा ? इसलिए वृत्त्युपहितचैतन्य का प्रमातृचैतन्य के साथ ऐक्य होने पर तन्निष्ठ प्रामाण्य का भी उसके साथ ऐक्य होना मानना ही होगा। तस्मात् प्रामाण्य स्वतोग्राह्य ही है। इसलिये प्रामाण्य का ज्ञान परतः (अनुमान से) होता है, यह नैयायिकों का कहना योग्य नहीं है।

परतःप्रामाण्यवादी नैयायिक अनुमान आदि को ज्ञानग्राहक सामग्री मानते हैं। उन अनुमान आदि की व्यावृत्ति करने के लिए लक्षण में 'यावत्' यह विशेषण स्वाश्रय में दिया है। अनुमान समस्त ज्ञानों का ग्राहक न होने से 'यावत्स्वाश्रय' पद से उसकी निवृत्ति हो जाती है।

अब स्वतोग्राह्यत्व की व्याख्या में दिये गये 'दोषाभाव' का पदकृत्य बताते हैं।

न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः, तत्र संशयानुरोधेन दोषस्यापि सत्वेन दोषभाव-घटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रामाण्यस्यैवाग्रहात्।

[1]यद्वा—यावत्स्वाश्रय[2]ग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम्। संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्तयोग्यतासत्त्वेऽपि दोषवशेनाग्रहात् न संशयानुपपत्तिः।

अर्थ—इस रीति से प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने पर प्रामाण्य विषयक संशय की अनुपपत्ति होगी' यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ पर (संशय-स्थल में) संशय के अनुरोध से दोष के होने से प्रामाण्य का ही ग्रहण नहीं होता।

अथवा यावत् जो स्वाश्रय, उसका ग्राहक जो साक्षिज्ञान, उससे ग्राह्य (ज्ञात होने योग्य) होना ही स्वतोग्राह्य का लक्षण किया जाय। संशय-स्थल के प्रामाण्य में उक्त योग्यता के होने पर भी दोष के कारण उसका ज्ञान नहीं होता। इस कारण संशय की अनुपपत्ति नहीं होती।

विवरण—नैयायिकों का पूर्वपक्ष—भ्रम और प्रमा दोनों स्थलों में वृत्तिज्ञान रहता है और उसका ग्राहक साक्षिचैतन्य सर्वत्र समान ही है। इस कारण कोई भी ज्ञान, साक्षिज्ञान के द्वारा प्रकाशित होते ही उसके प्रमाण्य का निश्चय होना चाहिए। तब 'यह ज्ञान सत्य है या असत्य' इत्याकारक संशय, ज्ञान प्रामाण्य के विषय में हो ही नहीं सकता। किन्तु संशय तो होता है, वह अनुभवसिद्ध है। ऐसी स्थिति में स्वतःप्रामाण्य-वादी वेदान्तियों का पक्ष अनुपपन्न है।

---

१. 'यद्वा'—एकस्यैव ज्ञानग्राहकत्वं प्रमात्वग्राहकत्वमित्युभयं कल्प्यते। तेन च ज्ञाने गृहीते तत्प्रमात्वमपि गृहीतमेवेति कुतस्तत्संशयः इत्यस्वरसादाह—'यद्वे'ति'।

२. 'यग्राहकग्राह्यत्व'—इति पाठान्तरम्।

समाधान—हमने स्वाश्रयग्राहक (वृत्तिज्ञानग्राहक) साक्षिचैतन्य को दोषाभाव में विशेषण किया है। जहाँ पर हमें संशय होता है, वहाँ अनभ्यास, अपाटव आदि दोष हुआ करते हैं। इस कारण दोषाभावरूप विशेषण से घटित स्वतोग्राह्यत्व का लक्षण उस स्थल में नहीं लागू हो सकता। अतः 'दोषाभाव से युक्त स्वाश्रयग्राहक सामग्री के द्वारा ग्राह्य होना'—यह स्वतोग्राह्यत्व का निष्कृष्ट लक्षण है।

अथवा 'दोषाभाव' विशेषण का भी लक्षण में समावेश करने की आवश्यकता नहीं है। 'स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वयोग्यत्व' ऐसा योग्यत्व घटित लक्षण करने पर संशय उत्पन्न हो सकेगा। तथाहि—ज्ञानग्राहकसामग्री के द्वारा (साक्षिज्ञान से) प्रामाण्य का ज्ञान हो या न हो किन्तु तादृश प्रामाण्य के बोध होने की योग्यता यदि हो तो वहाँ हम—स्वतोग्राह्यत्व मानते हैं। संशयस्थल में भी ऐसी स्वतोग्राह्यता रहती है। किन्तु अनभ्यासादि दोषों के कारण प्रामाण्य का निश्चय न होने से ज्ञान के विषय में (ज्ञान में) हमें संशय होता है।

उदाहरणार्थ—बीज में अंकुरोत्पत्ति की योग्यता रहती है, किन्तु पर्जन्य आदि के अभाव में अंकुर उत्पन्न नहीं होता। वैसे ही संशयस्थल में प्रामाण्यग्रह होने की योग्यता तो रहती है किन्तु दोष उसमें प्रतिबन्धक होने से प्रामाण्य का निश्चय न होकर संशय उत्पन्न होता है। अतः 'दोषाभाव' विशेषण न देने पर भी योग्यत्व घटित स्वतोग्राह्यत्व का लक्षण युक्त है। और प्रामाण्य स्वतोग्राह्य ही है—यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध कर अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञान परतः होते हैं—इसे बताते हैं।

[1]अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्य-सामग्रीप्रयोज्यम्, प्रमायामप्य-प्रामाण्यापत्तेः। किन्तु दोष-प्रयोज्यम्। नाप्यप्रामाण्यं यावत्स्वाश्रय-ग्राहक-ग्राह्यम्। अप्रामाण्य-घटक-तदभाववत्त्वादेर्वृत्तिज्ञानाऽनुपनीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यत्वात्। किन्तु विसंवादिप्रवृत्त्यादिलिङ्गकानु-मित्यादि-विषय इति परत एवाप्रामाण्यमुत्पद्यते ज्ञायते चेति।

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र-विरचितायां वेदान्तपरिभाषायामनुपलब्धि-परिच्छेदः समाप्तः ॥ ६ ॥

---

१. 'अप्रामाण्यं तु' इत्यादीनां सत्कार्यवादिनां सांख्यानां सिद्धान्तं निराकुर्वन् अप्रामाण्यस्य परतस्त्वं ब्रवीति। यदि प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं स्यात्, तर्हि तयोः स्वतस्तं वक्तुं शक्येत, यतः एकज्ञानजात्यनुबन्धिनी प्रामाण्याप्रमाण्ये (प्रामात्वाऽप्रमात्वे) भविष्यतः। किन्तु विरोधात् तदसम्भवम्। यतो भेदनिबन्धनो हि विरुद्धधर्मसमावेशः। यथा एकस्याग्नेः शीतत्वमुष्णत्वञ्च नैवसम्भवति, तथैव एकस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वमप्रमाणत्वञ्च न सम्भवति। अतः अप्रमाण्यस्य ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यत्वं नैव कल्पनीयम्। एवं च ज्ञानसामान्यसामग्रीभिन्नजन्यत्वेन तस्य परतस्त्वमेव विभावनीयम्।

अर्थ–अप्रामाण्य, ज्ञानसामान्यसामग्री का कार्य नहीं है (स्वयं उत्पन्न नहीं होता)। क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमा में भी अप्रामाण्य प्राप्त होगा। अतः वह दोष-प्रयोज्य है (दोष का कार्य है)। वैसे ही अप्रामाण्य, यावत्स्वाश्रय-ग्राहक-साक्षिज्ञान से भी ग्राह्य (स्वतोग्राह्य) नहीं है। क्योंकि अप्रामाण्यालक्षण के (तदभाववत्त्वादि) घटकों की (अवयवों की) वृत्तिज्ञान से उपस्थिति नहीं होती। इस कारण साक्षिज्ञान के द्वारा उसका ग्रहण होना संभव नहीं। अप्रामाण्य तो विसंवादि (विफल प्रवृत्ति) आदि हेतुओं से होने वाली अनुमिति आदि ज्ञानों का विषय है। तस्मात् अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है और परतः ही ज्ञात होता है।

विवरण––ज्ञान प्रामाण्य के समान उसका अप्रामाण्य (अयथार्थत्व) स्वतः उत्पन्न नहीं होता। ज्ञान सामान्य सामग्री से ही उस ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है—कहने पर प्रमा में भी अप्रमात्व प्राप्त होगा। क्योंकि ज्ञानसामान्य की इन्द्रियादि सामग्री, भ्रम और प्रमा दोनों में समान है। साधन में यदि भेद न हो तो साध्य में भी भेद उत्पन्न नहीं होगा।

प्रश्न––तो अप्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर—ज्ञानसामान्यसामग्री–व्यतिरिक्त दोष ही अप्रामाण्य में जनक होते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों में मन्द प्रकाश आदि दोष हों तो ज्ञान के अप्रामाण्य उत्पन्न होता है—यह अनुभव है। एतावता अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य भी नहीं है। 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानत्वम्–वस्तुतः रजतत्वाभाववान् पदार्थ में रजतत्व-प्रकारक-ज्ञान होना ही अप्रामाण्य का लक्षण है। ऐसे अप्रामाण्य का ज्ञान, यावत् स्वाश्रयग्राहक सामग्री से साक्षिज्ञान से नहीं होता। क्योंकि अप्रामाण्य लक्षण के 'तदभाववत्व' रूप अवयव का वृत्ति के द्वारा ज्ञान न होने से उसे साक्षिभास्यत्व नहीं है। भ्रम स्थल में शुक्तिका आदि में रजताकार वृत्ति होती है। रजतत्वाभावाकार वृत्ति नहीं होती। और जिसकी उपस्थिति वृत्ति से नहीं होती उसका साक्षी से ज्ञान होना संभव नहीं। 'तदभावत्वादि' के 'आदि' पद से 'बाधितार्थ-विषयज्ञानत्व' रूप अप्रामाण्य लक्षण के बाधितत्व का ग्रहण करना चाहिये। अतः अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः नहीं होता।

प्रश्न—तब अप्रामाण्य का ज्ञान किस कारण से होता है?

उत्तर—'विसंवादि०' इत्यादि वाक्य से दिया गया है। विसंवादि (विफल प्रवृत्ति) आदि से होनेवाली अनुमिति आदि में पूर्व ज्ञान का अप्रामाण्य विषय रहता है। इस कारण अप्रामाण्य, अनुमानादि ग्राह्य है। वह [1]अनुमान इस प्रकार है—'मुझे प्रथमतः

---

१. 'मम प्राथमिकं रजतज्ञानम्, अप्रमा, विसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्, रज्जुसर्प-ज्ञानवत्।'

हुआ रजत ज्ञान, अप्रमारूप होना चाहिये, क्योंकि वह विसंवादि प्रवृत्ति का जनक हुआ है, रज्जु में हुए पहले सर्प-ज्ञान के समान।' इस विषय में वेदान्ती और नैयायिकों का ऐकमत्य है।

"प्रवृत्यादि" यहाँ 'आदि' पद से स्वप्न में भासित हुए गजादिज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध करनेवाले 'निद्रादिदोष' आदि हेतुओं का ग्रहण करना चाहिये। 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार आप्त के कहे जाने पर भी रजतादि ज्ञान में मिथ्यात्व ज्ञात हो जाता है, इसलिए 'अनुमित्यादि' यहाँ आदि–शब्द से ऐसे शाब्द ज्ञान का स्वीकार करना चाहिये। इस कारण अप्रामाण्य, अनुमानादि परकारणजन्य होने से परतोग्राह्य ही है। स्वतोग्राह्य नहीं है। वह परतः ही उत्पन्न होता है और परतः ही ज्ञात होता है।

श्रीगजाननशास्त्रि-मुसलगांवकर-विरचिते सविवरणप्रकाशे
अनुपलब्धि-परिच्छेदः समाप्तः।

—: ० :—

अथ विषयपरिच्छेदः ७

'ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते' ऐसी प्रतिज्ञा कर उनमें से प्रमाण का निरूपण यहाँ तक किया गया। अब ब्रह्मरूप प्रमेय (विषय) का निरूपण करने के लिये प्रारम्भ करते हैं—

[1]एवं निरूपितानां प्रमाणानां प्रामाण्यं द्विविधम्—व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वं पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वं चेति। तत्र ब्रह्मस्वरूपावगाहिप्रमाणव्यतिरिक्तानां सर्वप्रमाणानामाद्यं प्रामाण्यम्, तद्विषयाणां व्यवहारदशायां बाधाभावात् द्वितीयं तु जीवब्रह्मैक्य-पराणां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) इत्यादीनां 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-१) इत्यन्तानाम्। तद्विषयस्य जीवपरैक्यस्य कालत्रयाबाध्यत्वात्।

अर्थ—इस प्रकार निरूपित किये गये प्रमाणों का प्रामाण्य दो प्रकार का है १—व्यावहारिक तत्त्व का आवेदक (निवेदन करनेवाला) और २—परमार्थिक वस्तु का आवेदन (ज्ञान) करानेवाला। उनमें से ब्रह्मस्वरूप के बोधक प्रमाण के अतिरिक्त (अन्य) प्रमाणों में प्रथम व्यावहारिक प्रामाण्य होता है। क्योंकि उनके विषय व्यवहारकाल में बाधित नहीं होते। परन्तु 'हे प्रियदर्शन श्वेतकेतो पहले यह सत् ही था।' इत्यादि 'वह ब्रह्म तू ही है' एतदन्त वाक्यों में द्वितीय (पारमार्थिक) प्रामाण्य होता है। क्योंकि जीवब्रह्मैक्य रूप विषय तीनों काल में अबाध्य रहता है।

विवरण—'अबाधित-विषयत्व'—विषय का बाधित न होना, यह प्रामाण्य का लक्षण है। ब्रह्मबोधक प्रमाण से भिन्न प्रमाणों के विषय व्यवहारदशा में ही अबाधित होते हैं। ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होने पर जगन्मिथ्यात्वज्ञान होने से उनका बाध होता है। इसलिए उनका प्रामाण्य (व्यवहार में जिनका बाध नहीं होता ऐसी वस्तुओं का

---

१. 'ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च निरूप्यते' इति पूर्वं प्रतिज्ञातमासीत्। तत्र त्रिषु विषयेषु प्रमाणविभागो निरूपितः। अत्र प्रमेयं निरूपयितुमुपक्रमते।

अबाधितार्थविषयकज्ञानत्वं प्रमात्वम्, इत्यत्र 'अबाधितपदेन' व्यवहारकालाबाधितस्यैव ग्रहणात् सर्वेषामपि प्रमाणानां प्रामाण्यं समानम्। व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वम्-व्यवहारकालाबाध्यसत्त्वावगाहिज्ञानजनकत्वम्। परमार्थिकतत्त्वावेदकत्वम्—कालत्रयाबाध्यसत्त्वावगाहिज्ञानजनकत्वम्।

बोधन करना--इस स्वरूप का) व्यवहारिक ही रहता है। किन्तु इसके विपरीत 'सदेव सोम्य' इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादन किया हुआ जीवब्रह्मैक्य कभी भी बाधित नहीं होता। इस कारण ब्रह्मबोधक प्रमाणों में (पारमार्थिक अबाध्य वस्तु का बोधकत्वरूप) प्रामाण्य होने से ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादक वाक्य ही तत्वतः प्रमाण होते हैं।

अतः क्रम-प्राप्त प्रमेय का निरूपण कर्तव्य होने पर व्यावहारिक विषयों का निरूपण वेदान्तोपयोगी न होने से जीवब्रह्माभेद का ही निरूपण करना चाहिए और वह 'तत्' और 'त्वम्' पदों के ज्ञानाधीन है। इसलिये प्रथम 'तत्' पदार्थ निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं।

तच्चैक्यं तत्त्वं-पदार्थ-ज्ञानाधीनज्ञानमिति प्रथमं तत्पदार्थो लक्षण प्रमाणाभ्यां निरूप्यते। [1]तत्र लक्षणं द्विविधम्—स्वरूपलक्षणं तटस्थ-लक्षणं चेति। तत्र स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणम्, यथा सत्यादिकं ब्रह्मस्वरूपलक्षणम्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३—६) इति श्रुतेः।

अर्थ—और वह ऐक्य ज्ञान 'तत्' और 'त्वम्' पदों के ज्ञानाधीन होने से प्रथम 'तत्' पद के अर्थ का लक्षण एवं प्रमाणों से निरूपण किया जाता है। उनमें लक्षण, स्वरूप लक्षण और तटस्थ-लक्षण भेद से दो प्रकार का होता है। उन दोनों में से स्वरूपभूत लक्षण कहते हैं। जैसे—'सत्यादि' ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है' 'आनन्द ही ब्रह्म है, ऐसा उसने जाना' ये श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं।

विवरण—'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों के ज्ञान के बिना उनका अभेद भी ज्ञात नहीं होता। इन दो पदों में से 'तत्' प्रथम होने से उसका (तत् पद का) लक्षण प्रमाणादि प्रथम बताया है। ब्रह्म का लक्षण और प्रमाण भिन्न न होकर एक वाक्य ही है। इसलिये 'लक्षणप्रमाणाभ्यां' यहाँ द्विवचन से स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण बोधक दो वाक्यों का ग्रहण करना चाहिये। द्विविध लक्षणों में से स्वरूपभूत लक्षण और तटस्थ लक्षण बोधक दो वाक्यों का ग्रहण करना चाहिये। द्विविध लक्षणों में स्वरूपभूत लक्षण को स्वरूप लक्षण कहते हैं; जैसे—लौहित्य, उष्णता और प्रकाश दीपक का

---

१. 'तत्र' इत्यत्र त्रल्प्रत्ययः अभेदार्थः। तद्रूपं लक्षणं द्विविधमित्यर्थः। यद्यपि तटस्थलक्षणं सामान्यलक्षणं, स्वरूपलक्षणं च विशेषलक्षणम् अतः पूर्वं तटस्थलक्षणं वक्तव्यम् अनन्तरं स्वरूपलक्षणं वक्तव्यम्, तथापि सामान्यस्य प्रथमतः, विशेषस्य च अनन्तरं निर्देशः इति सामान्यस्वरूपस्य विशेषस्वरूपस्य च अनुमानिकत्वे एव प्रवर्तते, न तु श्रौतत्वे। श्रौतत्वे तु सामान्य-विशेषयोः श्रुतिक्रमानुसारेणैव लक्षणनिर्देशोऽपि युक्त इति श्रुतौ सत्यादिवाक्यस्य प्राथम्यात् जन्मादिवाक्यस्य च उत्तरत्वात् सामान्यलक्षणस्य प्रथममत्र निर्देशः इति बोध्यम्।

स्वरूप है। वैसे ही श्रुतिप्रतिपादित सत्, चित् और आनन्द, ब्रह्म का स्वरूप है और वही लक्षण होने से वह स्वरूप-लक्षण कहलाता है।

शंका—'असाधारणधर्मो लक्षणम्'—लक्ष्य पदार्थ में विद्यमान असाधारण-धर्म को ही लक्षण कहते हैं। सत्यादि धर्म वैसा न होने से उसे लक्षण कैसे कहा जाय? इस आशय से वादी की शंका और उसका समाधान—

ननु [1]स्वस्य स्ववृत्तित्वाभावे कथं लक्षणत्वमिति चेत्। न। स्वस्यैव स्वापेक्षया धर्मिधर्मभाव-कल्पनया लक्ष्य-लक्षणत्व-सम्भवात्। तदुक्तम्—'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः, अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते' इति।

अर्थ—स्वयं में स्ववृत्तित्व का अभाव होने से स्वयं का ही वह लक्षण कैसे हो सकेगा? (उसमें लक्षणत्व कैसे सम्भव है) यह शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि स्वयं में ही स्व की अपेक्षा से की हुई धर्म-धर्मिभाव की कल्पना से लक्ष्यत्व और लक्षणत्व बन सकता है। इस विषय में (पद्मपादाचार्य की सम्मति दिखलाते हैं) इसीलिए कहा है कि आनन्द, विषयानुभव और नित्यत्व—ये धर्म हैं, क्योंकि वे चैतन्य से पृथक् न होने पर भी पृथक् से भासित होते हैं।

विवरण—शंका—स्वरूप को ही लक्षण मानने से लक्ष्य में ही लक्षणत्व प्राप्त होगा (लक्ष्य ही लक्षण हो जायगा)। लक्षणभूत धर्म लक्ष्य में रहना चाहिये। सत्यादि धर्म तो स्वरूप ही हैं। इसलिये उस स्वरूप में स्ववृत्तित्व का होना सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में सत्यादि, ब्रह्म के लक्षण कैसे हो सकेंगे?

समाधान—यह कोई नियम नहीं है कि लक्षणभूत धर्म लक्ष्य से पृथक् हो, स्वयं में भी विशिष्ट अपेक्षा से धर्मत्व एवं धर्मित्व की कल्पना कर लक्षणत्व एवं लक्ष्यत्व का होना सम्भव हो सकता है। अर्थात् एक ही ब्रह्म, सत्यत्व रूप काल्पनिक धर्म से लक्षण होता है और वही ब्रह्मत्वरूप धर्म से लक्ष्य होता है। इसीलिये तो पंचपादिका में आनन्द, ज्ञान और सत्यत्व—ये चैतन्य से भिन्न नहीं हैं तथापि भिन्न से प्रतीत होते हैं, इस कारण उन्हें ब्रह्म के धर्म कहा गया है।

अब तटस्थ-लक्षण का स्वरूप बताकर ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण करते हैं—

तटस्थलक्षणं [2]तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति यद्व्यावर्तकं तदेव यथा गन्धवत्त्वं पृथ्वीलक्षणम्। महाप्रलये परमाणुषु उत्पत्तिकाले घटादिषु[3] गन्धाभावात्। प्रकृते [4]ब्रह्मणि च जगज्जन्मादिकारणत्वम्।

१. 'स्वरूपस्य'—इति पाठान्तरम्। २. 'नाम'—इति पाठान्तरम्।
३. 'च' पाठान्तरम्। ४. 'ते च ज' इति पाठान्तरम्।

अत्र जगत्पदेन कार्यजातं विवक्षितम्, कारणत्वं च कर्तृत्व¹मतोऽविद्यादौ नातिव्याप्तिः ।

अर्थ—जो लक्षण लक्ष्य के यावत् काल पर्यन्त (जब तक लक्ष्य रहे तब तक) स्थिर न रहकर लक्ष्य का व्यावर्तक (अन्य पदार्थ से भेदक) हो उसे तटस्थ-लक्षण कहते हैं। जैसे—गन्धवत्त्व पृथ्वी का तटस्थ-लक्षण है। क्योंकि महाप्रलय के समय परमाणुओं में और उत्पत्तिकाल के घटादिकों में गन्ध नहीं होता। प्रकृत प्रसंग में जगज्जन्मादि-कारणत्व, ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। यहाँ 'जगत्' शब्द से यावत् कार्य विवक्षित हैं और 'कारणत्व' पद से कर्तृत्व अभिप्रेत है। इस कारण इस लक्षण की अविद्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—जबतक लक्ष्य स्थिर रहे तब तक उसमें न रहकर (कुछ समय तक ही लक्ष्य में रहकर) अन्य पदार्थों से लक्ष्य को भिन्न करनेवाले लक्षण को तटस्थ लक्षण कहते हैं। उदाहरण—पृथ्वी का तटस्थ-लक्षण 'गन्ध' है, क्योंकि वह महाप्रलय के समय पृथ्वीपरमाणुओं में नहीं रहता और न प्रथम (उत्पत्तिक्षण में घटादिकार्यरूप) पृथ्वी में ही—ऐसा नैयायिक मानते हैं। 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' उत्पन्न हुआ द्रव्य क्षण-भर निर्गुण रहता है, यह उनका सिद्धान्त है। तथापि गन्धगुण के कारण पृथ्वी, जलादि अन्य द्रव्यों से भिन्न है—ऐसा ज्ञान होता है। इसलिये गन्ध में तटस्थ लक्षण का समन्वय हो जाता है। ऐसे ही प्रकृत ब्रह्म में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय-हेतुत्व भी सृष्टयुत्पत्त्यादि काल में ही रहता है। प्रलय के पश्चात् जगत् के ही न होने से उसका कारणत्व भी उसमें नहीं रहता। तथापि जगत् का कारणत्व, ब्रह्मव्यतिरिक्त अन्य पदार्थों में सम्भव न होने से, वह ब्रह्म को अन्यों से व्यावृत्त (भिन्न) करता है। इसलिए 'जगज्जन्मादिकारणत्व' ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण है।

शंका—जगत् के जन्मादिकों की कारणता, माया में भी होने से यह लक्षण वहाँ भी अतिव्याप्त है। इस शंका को दूर करने के लिये 'कारणत्व' शब्द से कर्तृत्वरूप निमित्त कारण, हमें विवक्षित है। जड-अविद्या (माया) में जगत् की उपादान-कारणता ही है कर्तृत्व नहीं है। इस कारण उसमें इस ब्रह्म-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। 'आदि' शब्द से अदृष्टादि का स्वीकार करना चाहिए।

प्रश्न—कर्तृत्व से क्या तात्पर्य है? और ब्रह्म में कर्तृत्व मानने पर उक्त अति-का निरास कैसे होता है? ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—

कर्तृत्वं च तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षा-कृतिमत्त्वम्। ईश्वरस्य तावदुपादानगोचरापरोक्षज्ञान-सद्भावे च 'यः सर्वज्ञः सर्व-

१. 'त्वं तेना'—इति पाठान्तरम्।

विद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते (मु० १–१–९) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशचिकीर्षा-सद्भावे[1] 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २–६) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशकृतौ च तन्मनोऽकुरुत' इत्यादि[2]वाक्यम्।

अर्थ—उन-उन उपादान कारणों का अपरोक्षज्ञान, चिकीर्षा (करने की इच्छा) और कृति (प्रयत्न) का होना ही कर्तृत्व है। ईश्वर में उपादान-विषयक अपरोक्षज्ञान के होने में 'जो अक्षरसंज्ञक ईश्वर सामान्यतः और विशेषतः भी सर्वज्ञ है और जिसका तप ज्ञानमय ही है, उससे यह हिरण्यगर्भाख्य ब्रह्म, नाम, रूप और व्रीहियवादिरूप अन्न उत्पन्न होता है' (मुं० १–१–९) श्रुति ही प्रमाण है। उसे वैसी (जगद्विषयक) चिकीर्षा के होने में 'मैं बहुत होऊँ एवं प्रजा उत्पन्न करूँ ऐसी इच्छा उसने (आत्मा ने) की' (तै० २–६) इत्यादि श्रुतिप्रमाण हैं। और उसकी कृति के विषय में 'उस ब्रह्म ने मन को उत्पन्न किया' इत्यादि श्रुतिवाक्य (बृ० १–२–१) आधार हैं।

विवरण—जिसे कार्य के उपादान कारण का अपरोक्ष (प्रत्यक्षात्मक) ज्ञान हो और उस कार्य के करने की इच्छा तदनुकूल प्रयत्न भी जिसका हो उसे उस कार्य का कर्ता कहते हैं। जैसे—कुम्हार में घट की मृत्तिकारूप उपादान कारण का प्रत्यक्षज्ञान, घट उत्पन्न करने की इच्छा और दो कपालों का संयोग कराने वाला प्रयत्न भी रहता है, इसलिये वह घट का कर्ता है। उसी प्रकार प्रकृत ईश्वर में भी जगत् के उपादान कारण (माया) का ज्ञान आदि होने से वह जगत् का कर्ता है। माया जड होने से उसमें ज्ञान आदि का सम्भव नहीं। इस कारण माया जगत् की कर्त्री नहीं है। अतः ब्रह्म के जगत्कर्तृत्वरूप तटस्थलक्षण की उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती।

शंका—ब्रह्म में इस प्रकार के कर्तृत्व के होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—इसीलिये तो ग्रन्थकार ने क्रमशः उपादानविषयक ज्ञान, चिकीर्षा और कृति को बताया है। इस विषय में तीन श्रुतिवाक्यों को भी उद्धृत किया है। 'आदि' शब्द से 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६–४) आदि श्रुतियों को भी समझ लेना चाहिये। ज्ञान, इच्छा और कृति ये तीनों मिलकर ब्रह्म का एक लक्षण नहीं हैं, अपितु वे तीन लक्षण हैं, ऐसा ग्रन्थकार कहते हैं।

[3]ज्ञानेच्छाकृतीनां मध्येऽन्यतमगर्भलक्षणत्रितय[4]मिदं विवक्षितम्,

---

१. 'वे च–इति पाठान्तरम्।

२. 'दिश्रुतिवा'–इति पाठान्तरम्।

३. ज्ञानेच्छाद्यन्यतमगर्भ०'–इति पाठान्तरम्।

४. 'यं विव०'–इति पाठान्तरम्।

अन्यथा व्यर्थ-विशेषण[1]त्वापत्तेः। अत एव जन्म-स्थिति-ध्वंसाना-मन्यतमस्यैव लक्षणे प्रवेशः। एवं च[2] प्रकृते लक्षणानि नव सम्पद्यन्ते। ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वे च—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३—१) इत्यादिश्रुतिर्मानम्।

अर्थ—ज्ञान, इच्छा और कृति—इनमें से कोई एक भी जिसके गर्भ में (भीतर) घटक हो, ऐसे तीन लक्षण (यहाँ) विवक्षित हैं। नहीं तो उन्हें व्यर्थ विशेषणत्व प्राप्त होगा (उनका विशेषण रूप से रहना व्यर्थ होगा)। इसीलिये 'जन्म स्थिति और भङ्ग (नाश)—इनमें से भी एक-एक का ही लक्षण में प्रवेश समझना चाहिये। इस प्रकार प्रकृत में (ब्रह्म के) नौ लक्षण होते हैं। ब्रह्म में जगत् के जन्मादिकों की कारणता के विषय में 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए भूत जिसके कारण जीवित रहते हैं, और लय के समय जिसमें प्रवेश करते हैं (वह ब्रह्म है)' इत्यादि श्रुतिप्रमाण है (तै० ३–१)।

विवरण—ऊपर बताये हुए ज्ञान, इच्छा, कृति में से प्रत्येक को लक्षण में निविष्ट कर 'जगदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानत्व' 'जगच्चिकीर्षावत्व' और 'जगदुत्पादनानुकूलकृतिमत्व' इस प्रकार के तीन स्वतन्त्र लक्षण ही यहाँ विवक्षित हैं। अन्यथा (समस्त विशेषण मिलकर ब्रह्म का यह एक ही लक्षण है—ऐसा मानने पर) लक्षणगत दो विशेषण व्यर्थ होंगे। क्योंकि उनसे किसी की भी व्यावृत्ति नहीं होती। एक विशेषण से ही ब्रह्मेतर पदार्थों का निषेध सिद्ध हो जाने से उतना ही निर्दुष्ट लक्षण हो जाता है। इस प्रकार आरम्भ में बताये हुए जन्मादिकारणत्व रूप लक्षण में भी जन्म, स्थिति और नाश में से एकैक का समावेश कर तीन लक्षण समझ लेने चाहिये। इस रीति से १—जगज्जन्मोपादानगोचरापरोक्षज्ञान, २—तज्जन्मगोचरचिकीर्षा, ३—जगज्जन्मानुकूलकृति, ४—स्थित्युपादानविषयकज्ञान, ५—स्थितीच्छा, ६—स्थितिप्रयत्न, ७—प्रलयोपादान, ८—प्रलयेच्छा, और ९—प्रलयप्रयत्न ये ब्रह्म के नौ लक्षण सिद्ध होते हैं। ब्रह्म में जगत् के जन्मादि की कारणता के विषय में 'यतो वा' इत्यादि श्रुति-प्रमाण हैं। 'आदि' पद से 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति का ग्रहण करना चाहिये।

'जन्म, स्थिति और नाश इन तीनों से उपादानकारणत्व की ही सिद्धि होती है। इस कारण उसमें निमित्तत्व तो नहीं बन पाता' इस अरुचि से लघुलक्षण बताते हैं।

१. 'णताप०'—इति पाठान्तरम्।
२. 'च लक्ष०'—इति पाठान्तरम्।

यद्वा—निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम् । उपादानत्वं च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम् जगदाकारेण[1] विपरिणममान-मायाऽधिष्ठानत्वं वा । एतादृशमेवोपादानत्वमभिप्रेत्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सच्च त्यच्चाभवत्' (तै० २-६) 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादि-श्रुतिषु ब्रह्मप्रपञ्चयोस्तादात्म्य-व्यपदेशः । घटः सन् घटो भाति, घट इष्ट इत्यादि-लौकिकव्यपदेशोऽपि सच्चिदानन्दरूप-ब्रह्मैक्याध्यासात् ।

अर्थ—अथवा 'समस्त जगत् का उपादानत्व' ही ब्रह्म का लक्षण है उपादानत्व का अर्थ है कि अध्यास (भ्रम) का अधिष्ठानत्व, अथवा जगत् के आकार में (जगदाकारेण) परिणत हुई माया का अधिष्ठानत्व। ब्रह्म में रहनेवाली इसी उपादानकारणता के अभिप्राय से 'जो यह सब है वह आत्मा ही है' (नृसिंहोत्तरतापनीय), 'वही मूर्त और अमूर्त हुआ' (तै० २-६) 'मैं बहुत होऊँ' (तै० २-६) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म और प्रपञ्च के तादात्म्य का (ऐक्य का) उपदेश किया गया है । 'घट-भासित होता है' और 'घट इष्ट है' इत्यादि लौकिक व्यवहार भी सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म के ऐक्याध्यास से ही होता है ।

विवरण—समस्त जगत् का उपादानकारणत्व (उपादान कारण होना) ही ब्रह्म का लक्षण है, समझ लीजिये । किन्तु चेतन ब्रह्म में जडप्रपञ्च का उपादानकारणत्व कैसे सम्भव हो सकता है ? और यह उपादानकारणत्व माया में भी होने से उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । ऐसी शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि उपादान शब्द से हमें जगद्रूप अध्यास (भ्रम) का अधिष्ठान (आधार) ही विवक्षित है । मिथ्या रजत के भ्रम का अधिष्ठान जैसे शुक्ति होती है वैसे ही ब्रह्म में भासमान मायाकल्पित प्रपञ्च का अधिष्ठान (विवर्तोपादान) ब्रह्म ही है, माया नहीं । इस कारण उक्त दोष नहीं है ।

इस पर भी 'जिसका परिणाम होता है वही उपादान होता है' ऐसा यदि आपका आग्रह ही हो तो दूसरा कल्प (पक्ष) बताते हैं—जगदाकारेण (जगद्रूप से) परिणाम को प्राप्त होनेवाली (परिणत होनेवाली) माया का अधिष्ठानत्व ब्रह्म में होना—यही उसका उपादानत्व है । माया में परिणामि-उपादानत्व होने पर भी स्वाधिष्ठान-ब्रह्म के बिना वह कुछ नहीं कर सकती । इस कारण ब्रह्म में ही ऐसा उपादानत्व सम्भव हो सकता है । अतः यह ब्रह्मलक्षण निर्दुष्ट है ।

माया के जगदाकारपरिणामित्व के होने में 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादि श्रुति प्रमाण है । वैसे ही ब्रह्म और प्रपञ्च का ऐक्य प्रतिपादन करनेवाली उपर्युक्त

१. 'ण परिण०'—इति पाठान्तरम् ।

श्रुतियाँ भी ब्रह्म के इस उपादानकारणत्व को मानकर ही प्रवृत्त हुई हैं। अन्यथा चेतनब्रह्म और जडजगत् दोनों में ऐक्य का संभव नहीं। किन्तु भ्रमाधिष्ठानत्व मानने से जिस प्रकार सर्प तो केवल भासित होता है, वस्तुतः रज्जु ही है। उसी प्रकार भासमान जगत्, परमार्थतः ब्रह्म ही है—यह उनमें अभेद उपपन्न हो जाता है। 'आदि' शब्द से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वचन विवक्षित हैं। इस प्रकार 'घट सत् है' इत्यादि लौकिक व्यवहार भी (लोगों का अभेद व्यवहार भी) सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म में जगत् का अध्यास मानकर ही होता है। क्योंकि यहाँ पर भासमान घटसत्ता, वास्तव में ब्रह्मसत्ता ही है। इसी प्रकार 'घट भासित होता है' यहाँ जो भास होता है, वह चैतन्य का ही होता है, और 'घट इष्ट है' वाक्य से जो इष्टत्व प्रतीत होता है वह भी ब्रह्म के आनन्दरूप में अध्यास मानकर ही होता है।

इस पर शंका और उसका समाधान—

नन्वानन्दात्मक-चिदध्यासाद् घटादेरिष्टत्व-व्यवहारे दुःखस्यापि तत्राध्यासात्त[1]त्रापि इष्टत्वव्यवहारापत्तिरिति चेत्। न। आरोपे सति निमित्तानुसरणं, न तु निमित्तमस्तीत्यारोप इत्यभ्युपगमेन दुःखादौ सच्चिदंशाध्यासेऽप्यानन्दांशाध्यासाभावात्। जगति नामरूपांश-द्वय-व्यवहारस्तु अविद्यापरिणामात्मक-नामरूप-सम्बन्धात्।

तदुक्तम्—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रू[2]पं ततो द्वयम्॥ इति।

अर्थ—शंका—आनन्दात्मक चैतन्य में अध्यास के कारण घटादिकों का—'घट इष्ट है' ऐसा इष्टत्व-व्यवहार होता है। ऐसा कहने से दुःख का भी उस आनन्दात्मक ब्रह्म में ही अध्यास होने के कारण उस विषय में भी (दुःख इष्ट है) इत्याकारक इष्टत्व व्यवहार होने लगेगा।' ऐसी शंका करें—तो वह ठीक नहीं। क्योंकि 'आरोप हो तो उसके निमित्त की (कारण की) कल्पना करनी चाहिये। निमित्त है इसलिये आरोप की कल्पना नहीं करनी चाहिये' यह अभ्युपगम (नियम) होने से, दुःख में सत् और चित् दो अंशों का अध्यास होने पर भी आनन्दांश का अध्यास नहीं होता, संसार में 'नाम' और 'रूप' इन दो अंशों का जो व्यवहार होता है, वह अविद्या-परिणामात्मक

---

१. 'तस्यापि'—इति पाठान्तरम्।
२. 'पमतो' इति पाठान्तरम्।

नाम, रूप के सम्बन्ध से होता है। इसीलिए कहा है कि, 'है—सत्ता, भासता है—ज्ञान, प्रिय—आनन्द, तथा रूप और नाम—ये पाँच अंश, प्रत्येक पदार्थ में प्रतीत होते हैं। उनमें से प्रथम तीन—सत्, चित्, आनन्द ये 'ब्रह्मरूप' हैं, और शेष दो अंश—नाम, रूप, 'जगद्रूप' हैं।

विवरण—वादी कहता है कि आनन्दात्मक ब्रह्म में घटादि पदार्थों के अध्यस्त होने से उनकी 'घट मुझे इष्ट है' इत्याकारक इष्टत्वेन प्रतीति होना आप बताते हैं। तो इसी के अनुसार ब्रह्म में दुःख पदार्थ के भी अध्यस्त होने से वह भी 'दुःख मुझे इष्ट है' इस रूप से प्रतीत होना चाहिए। परन्तु ऐसा अनुभव तो किसी को नहीं है। इस कारण क्या ब्रह्म में दुःख का अध्यास न माना जाय ?

सिद्धान्ती उत्तर देता है—'यदि आरोप प्रत्यक्ष सिद्ध हो तो उसके निमित्त की चिकित्सा करनी चाहिये। आरोप का निमित्त होने मात्र से ही आरोप की कल्पना नहीं की जाती' यह नियम है। अतः हम यह कल्पना करते हैं कि यस्मात् 'दुःख इष्ट है' ऐसी दुःख में इष्टत्व की प्रतीति नहीं होती, तस्मात् दुःख में केवल 'सत्' और चित्' इन दो अंशों का अध्यास होता है, आनन्दांश का नहीं। इस कारण उक्त दोष नहीं है। 'अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम्' यह विद्यारण्य ने भी कहा है।

शंका—ब्रह्म तो नाम रूप से रहित होने के कारण उस पर आरोपित घटादिकों के विषय में 'अयं घटः शुक्लः' ऐसा नाम-रूपात्मक व्यवहार कैसे होता है ? ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि जगत् में नाम-रूपात्मक व्यवहार अविद्या (माया) के परिणामात्मक नाम-रूप के सम्बन्ध से होता है। इसी कारण प्रत्येक पदार्थ में 'अस्ति, भाति' इत्यादि रूप से प्रतीयमान पाँच अंशों में से पहिले तीन अंश ब्रह्मरूप हैं और शेष दो जगद्रूप (माया परिणामरूप) हैं—यह अभियुक्तों का कथन है।

इस रीति से तत् पदार्थ के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षणों का निरूपण करने से अब उससे जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसे प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

अथ जगतो जन्मक्रमो निरूप्यते—तत्र सर्गाद्यकाले परमेश्वरः सृज्यमान-प्रपञ्च-वैचित्र्य-हेतु-प्राणिकर्म-सहकृतोऽपरिमितानिरूपित-शक्ति-विशेषविशिष्ट-मायासहितः सन्नामरूपात्मक-निखिल-प्रपञ्चं प्रथमं बुद्धावाकलय्येदं करिष्यामिति सङ्कल्पयति, 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६-२-३) इति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादिश्रुतेः। तत आकाशादीनि पञ्चभूतानि अपञ्चीकृतानि तन्मात्रपद[१]प्रतिपाद्यानि उत्पद्यन्ते। तत्राकाशस्य शब्दो गुणः।

१. 'द वाच्यान्युत्प'—इति पाठान्तरम्।

वायोस्तु शब्दस्पर्शौ। तेजस्तु शब्द-स्पर्श-रूपाणि। अपां तु शब्द-स्पर्श-रूप-रसाः। पृथिव्यास्तु शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः।

अर्थ--अब जगत् की उत्पत्ति का क्रम निरूपण किया जाता है। घटादिप्रपञ्च की उत्पत्ति के समय परमेश्वर उत्पाद्य प्रपञ्च की विचित्रता में कारण बनानेवाले प्राणि-कर्मों की सहायता से एवं अपरिमित, अनिर्वाच्य विशेषशक्तिरूप माया से युक्त होकर प्रथमतः नाम-रूपात्मक समस्त प्रपञ्च का बुद्धि से आकलन करता है और यह उत्पन्न करूँगा' ऐसा संकल्प करता है। वह (ब्रह्म) मैं बहुत होऊँ इस प्रकार ईक्षण करता हुआ' (छां० ६-२) 'मैं वहुत होऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ-ऐसी कामना उसने की' (तै० २-६) इत्यादि श्रुति इस विषय में प्रमाण है। तदनन्तर आकाशादि अपञ्चीकृत पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को (पञ्च) तन्मात्राएँ भी कहते हैं। उन भूतों में से आकाश का गुण शब्द है। किन्तु वायु के शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। तेज के शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण हैं। जल के शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण हैं। पृथ्वी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच गुण हैं।

विवरण---सृष्टि करते समय प्रथमतः परमेश्वर समस्तप्रपञ्च के स्वरूप का 'यह ऐसा है' इस प्रकार से आकलन कर लेता है, उसके अनन्तर 'मैं यह उत्पन्न करूँगा' ऐसा संकल्प करता है। वह सत्यसंकल्प होने से उसके संकल्प के अनुसार क्रमशः आकाशादि पाँच सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं और वे क्रम से शब्दादि एक-एक गुणों से अधिक रहते हैं। इन अपञ्चीकृत आकाशादिभूतों को ही 'शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र' ऐसी पौराणिक संज्ञाएँ हैं। ईश्वर के संकल्पपूर्वक सृष्टि उत्पन्न करने के विषय में दो श्रुतियों का ऊपर उल्लेख कर ही चुके हैं। 'आदि' शब्द से 'आत्मा वा···स ऐक्षत' आदि श्रुतियों का ग्रहण करना चाहिये। वैसे ही सृष्टि के आकाशादि क्रम से उत्पन्न होने के विषय में 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी' (तै० ३-१) इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति प्रसिद्ध ही है।

शंका---ईश्वर ही ब्रह्मादि स्थावरान्त जगत् का निर्माण करता है---यह माननेसे इस विषम उत्पत्ति के कारण ईश्वर का विषमता, निर्दयता आदि दोष प्राप्त होंगे-इस शंका का निरसन करने के लिये ईश्वर में, 'सृज्यमान०' विशेषण जोड़ा गया है। ईश्वर पर्जन्य के समान सर्वसाधारणतया ही उत्पादक है। उन-उन प्राणियों के विशेषगुण उनके पूर्व कर्मानुसार ही उत्पन्न होते हैं। अतः विषमता में कारण कर्म होते हैं। ईश्वर तो उनकी सहायता से उनके अनुसार केवल विभाग कर देता है, इस कारण उसमें उक्त दोष नहीं आ पाते।

यदि कोई कहे कि तुम्हारे मत में परमेश्वर कूटस्थ-निर्विकार है तब उसमें संक-ल्पादि कैसे हो सकेंगे ?

'अपरिमित' इत्यादि विशेषण से उक्त शंका का निरसन किया है। निरुपाधिक ब्रह्म में जगत् का स्रष्टृत्व (उत्पादकत्व) यद्यपि संभव नहीं हो सकता, तथापि अनादि, अनिर्वचनीय, अपरिमित शक्तिरूप अपनी माया की उपाधि से जब ब्रह्म, युक्त हो जाता है तब उस सोपाधिक ब्रह्म (ईश्वर) में जगत्कर्तृत्व उत्पन्न होता है। अतः उक्त शंका युक्त नहीं है।

अब नैयायिकों के 'शब्द आकाश का ही गुण है' मत का निरसन करते हैं।

न[1] च [2]शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम्, वाय्वादावपि तदुपलम्भात्। न चासौ भ्रमः, बाधकाभावात्।

अर्थ—शब्द को केवल आकाश का ही गुण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वायु आदि में भी उसकी प्रतीति होती है। इसे भ्रम भी नहीं कह सकते क्योंकि उस प्रतीति में कोई बाधक नहीं है।

विवरण—शब्द केवल आकाश का ही गुण है वायु आदि भूतों में 'शब्द' गुण नहीं होता—यह नैयायिक मानते हैं। परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उचित नहीं है। क्योंकि आकाश में प्रतिध्वनिरूप शब्द की जैसी प्रतीति होती है, वैसी वायु, तेज, जल और पृथिवी में भी क्रम से 'बिस्स्' 'भुग् भुग्' 'बुल बुल' और 'कड कड' आदि शब्द सुनाई पड़ते हैं। अतः इस प्रतीति के अनुसार पाँचों भूतों में शब्द को मानना चाहिये।

इस पर नैयायिक कहता है कि वायु आदि द्रव्यों में शब्द की प्रतीति भ्रम से होती है। जैसे—अग्नि की उष्णता जल में भासित होने से 'उष्णं जलम्' व्यवहार होता है,

---

१. 'न तु श०'—इति पाठान्तरम्।

२. न च शब्दस्येति। शब्दः आकाशमात्रस्य गुणः इति नैयायिकाः कथयन्ति। किन्तु वाय्वादीनामपि शब्दो गुण इति वेदान्तिनः। नैयायिका हि न हि आकाशाद् वायोरुत्पत्ति मन्यन्ते, इति न आकाशगुणस्य शब्दस्य वाय्वादिक्रमेण तेज आदिषु तेषामंगीकारो युक्तः। वेदान्तिनां तु आकाशाद् वायुरिति श्रुतिप्रमाणपरतन्त्राणां न नैयायिकानां मतादरणमुचितम्। तदुक्तं पञ्चदश्याम्—

"शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो भूतगुणा इमे।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणा व्योमादिषु क्रमात्॥
प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दः वायौ बीसीति शब्दनम्।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वह्नौ भुगु भुगु ध्वनिः॥
उष्णस्पर्शः प्रभारूपं जले बुलुबुलुध्वनिः।
शीतस्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधर्यमीरितम्॥
भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः॥"

उसी तरह आकाशनिष्ठ शब्द ही वायु आदि में भासित होता है, और उसी की 'यह वायु का शब्द है' ऐसी भ्रान्ति होती है।

सिद्धान्ती कहता है कि यह ठीक नहीं, क्योंकि बाधज्ञान होने पर ही पूर्वज्ञान भ्रम रूप सिद्ध होता है। परन्तु स्थूल वायु में प्रतीयमान शब्द-प्रतीति का कभी बाध नहीं होता। इस कारण उसे भ्रम मानना उचित नहीं। किन्तु पृथ्वी का एकमात्र गन्ध ही गुण मानना चाहिये, क्योंकि जल आदि में जो गन्ध की प्रतीति होती है, वह अन्वय-व्यतिरेक से पृथ्वी के सम्बन्ध से ही होती है—यह अनुभवसिद्ध है।

अब उपक्रमपूर्वक इन्द्रियादि-सृष्टि को बताते हैं—

इमानि भूतानि त्रिगुणमाया-कार्याणि त्रिगुणानि। गुणास्सत्त्व-रजस्तमांसि। एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः[1] पृथक् पृथक् क्रमेण श्रोत्र-त्वक्चक्षू-रसन-घ्राणाख्यानि पञ्च[2]ज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते। [3]एतेभ्यः पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यो मनोबुद्ध्यहङ्कार-चित्तानि जायन्ते। श्रोत्रादीनां पञ्चानां क्रमेण दिग्वातार्कवरुणाश्विनोऽ-धिष्ठातृदेवताः। मन आदीनां[4] चतुर्णां क्रमेण चन्द्रचतुर्मुखशङ्करा-च्युता अधिष्ठातृ-देवताः।

अर्थ—ये (अपञ्चीकृत) भूत, त्रिगुणात्मक माया के कार्य होने से त्रिगुणात्मक रहते हैं। उनमें सत्त्वगुण से युक्त हुए पाँच भूतों से व्यक्तिशः यथाक्रम श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका—ये पाँच इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु आकाशादिकों के एकत्र हुए सात्त्विक अंश से मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त उत्पन्न होते हैं। श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों की क्रमशः दिशा, वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमार—ये अधिष्ठातृ-देवता हैं। मन आदि चारों के क्रम से चन्द्र, ब्रह्मदेव, शंकर और विष्णु—ये अधिष्ठातृ-देवता हैं।

विवरण—ये भूत, सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका माया से उत्पन्न होने के कारण त्रिगुणात्मक ही होते हैं। उनमें से प्रत्येक के सत्त्वांश से क्रमशः श्रोत्रादि पाँच ज्ञाने-न्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न होता है इत्यादि। वैसे ही इन पाँच भूतों के एकत्रित हुए सात्त्विकांश से मन इत्यादि अन्तःकरण-चतुष्टय उत्पन्न होता है। उनकी अधिष्ठातृदेवता अर्थात् श्रवणादि इन्द्रियों में श्रवण

---

१. 'स्तैर्यथाक्रमं श्रो०'—इति पाठान्तरम्।
२. 'पञ्चेन्द्रियाणि'—इति पाठान्तरम्।
३. 'एतैरेव च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्मिलितैर्मनो०'—इति पाठान्तरम्।
४. 'नां क्र०'—इति पाठान्तरम्।

आदि की शक्ति देकर उन पर अनुग्रह करने वाली दिशादि और चन्द्रादि देवताओं का मूल में ही निर्देश किया है ।

पंच कर्मेन्द्रियाँ और प्राणों की उत्पत्ति बताते हैं—

एतैरेव रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैर्यथाक्रमं[1] वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि जायन्ते। तेषां च क्रमेण वह्नीन्द्रोपेन्द्र-मृत्यु-प्रजापतयोऽधिष्ठातृ-देवताः। रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैरेव[2] मिलितैः पञ्च वायवः प्राणापान-व्यानोदान-समानाख्या जायन्ते। तत्र प्राग्गमनवान् वायुः प्राणो नासादिस्थानवर्ती। अर्वाग्गमनवानपानः पाय्वादिस्थानवर्ती। विष्वग्गतिमान् व्यानः अखिलशरीरवर्ती। ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुरुदानः कण्ठस्थानवर्ती। अशितपीतान्नादिसमीकरणकरः समानः नाभिस्थानवर्ती।

अर्थ—रजोगुण से युक्त हुए उन्हीं पाँच भूतों से व्यक्तिशः यथाक्रम वाणी, हस्त, पाद, गुदद्वार और मूत्रेन्द्रिय—ये कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, और उनकी क्रमशः अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, विष्णु, मृत्यु और प्रजापति—ये अधिष्ठातृदेवताएँ हैं। रजोगुण से युक्त हुए इन पाँच भूतों से ही मिलकर प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान–संज्ञक पाँच वायु उत्पन्न होते हैं। उनमें सर्वदा ऊर्ध्वगतिमान् वायु को 'प्राण' कहते हैं। और वह नासिकादिस्थान में रहता है। वैसे ही अधस्ताद् गमन करने वाले वायु को 'अपान' कहते हैं, और वह गुदादिस्थान में रहता है। शरीर में सर्वतः गमन करने वाले वायु को 'व्यान' कहते हैं और वह समस्त शरीर में वास करता है। जो वायु ऊर्ध्वगामी होकर उत्क्रमण में (खाये हुए अन्न को उलट कर गिराने में और परलोक गमन में) कारण होता है, उसे उदान कहते हैं। वह कण्ठ में रहता है। खाये हुए अन्न का या पीये हुए रस का समीकरण (समविभाग पाचन करने वाला) करने वाले को 'समान' कहते हैं, वह (मुख्यतः) नाभिस्थानवृत्ति होता है।

विवरण—आकाश के रजोगुणात्मक अंश से वागिन्द्रिय उत्पन्न होती है। इसी क्रम से वायु आदि चार भूतों के प्रत्येक के पृथक्-पृथक् रजोंश से हस्तादि चार कर्मेन्द्रियाँ होती हैं और उनकी अग्न्यादि, अधिष्ठातृ (अनुग्राहक) देवता होती हैं। इसी प्रकार पाँच भूतों के एकत्रित रजोंश से प्राणादिसंज्ञक पाँच वायु होते हैं। उनके लक्षण ऊपर बता चुके हैं। इस विषय में—

---

१. 'तैर्यथा'—इति पाठान्तरम्।

२. 'भूतैर्मि०'—इति पाठान्तरम्।

'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥' यह श्लोक प्रसिद्ध है। प्राण का स्थान बताते समय 'नासादि' यहाँ 'आदि' शब्द का प्रयोग इसीलिये किया है। तथापि प्राणादिकों के नासिकादिस्थान 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐत०) श्रुति से व्यक्त होते हैं।

अब स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति और पञ्चीकरण प्रकार दिखलाते हैं।

[1]तैरेव तमोगुणोपेतैरपञ्चीकृतभूतैः पञ्चीकृतानि[2] जायन्ते। 'तासां[3] त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६–३–३) इति श्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणार्थत्वात्।

पञ्चीकरणप्रकारश्चेत्थम्–आकाशमादौ द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनश्चतुर्द्धा विभज्य तेषां[4] चतुर्णामंशानां वाय्वाविषु चतुर्षु भूतेषु[5] संयोजनम्। एवं वायुं द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनः चतुर्द्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानामाकाशादिषु[6] संयोजनम्। एवं तेज आदीनामपि। तदेवमेकैकभूतस्यार्द्धं स्वांशात्मकमर्द्धान्तरं चतु[7]र्विधभूतमयमिति पृथिव्यादिषु स्वांशाधिक्यात्पृथिव्यादिव्यवहारः। तदुक्तम्–

'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (ब्र० सू० २–४–२३) इति।

अर्थ—तमोगुण से युक्त हुए उन्हीं अपञ्चीकृतभूतों से पञ्चीकृत भूत होते हैं। क्योंकि 'उन तीन देवताओं में से एक-एक देवता को मैं त्रिवृत् त्रिवृत् करती हूँ' (छां० ६–३–३) इत्यादि त्रिवृत्करण श्रुति ही पञ्चीकरण का उपलक्षण है पञ्चीकरण का यह प्रकार है—प्रथमतः आकाश के दो भाग करें, उनमें से एक भाग के पुनः चार भाग करें। तब इन चार अंशों को (भागों को) क्रम से वायु आदि चार भूतों में मिला दें। इसी प्रकार वायु के प्रथमतः दो भाग कर उनमें से एक भाग के पुनः चार भाग करें, और उन्हें आकाशादि चार भूतों में मिला दें। इसी प्रकार तेज आदि भूतों का पञ्चीकरण समझ लेना चाहिये। इस रीति से एक-एक भूत का अर्ध भाग स्वांशात्मक

---

१. 'तैश्च तमो०'–इति पाठान्तरम्। २. 'तानि भूतानि'—इति पाठान्तरम्।
३. 'सां च त्रि'–इति पाठान्तरम्। ४. 'षां तु'–इति पाठान्तरम्।
५. 'षु योज०'–इति पाठान्तरम्। ६. 'षु योज०–इति पाठान्तरम्।
७. 'तुर्भुत'–इति पाठान्तरम्।

(उस भूत का अंशरूप) होता है, और दूसरा अर्ध भाग चार भूतों का अष्टमांश रूप होता है। तथापि पृथिव्यादि चार भूतों में स्वयं के अंश का ही आधिक्य होने से उनमें 'यह पृथिवी' इत्यादि व्यवहार (शब्द प्रयोग) होता है। इसी कारण कहा गया है कि 'पृथिवी आदियों में उन्हीं के अंश का वैशेष्य (आधिक्य) होने से 'पृथिवी' आदि व्यवहार होता है।

विवरण–अपञ्चीकृत भूतों के तमोगुणात्मक अंशों से पञ्चीकृत भूत (स्थूलभूत) होते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में यद्यपि त्रिवृत्करण ही बताया है तथापि वह पञ्चीकरण का भी उपलक्षक (संग्राहक) है। वहाँ तेज, आप् और अन्न (पृथ्वी) इन तीन भूतों की ही उत्पत्ति कही गई है। इस कारण त्रिवृत्करण (तीनों का ही मेलन) बताया है। उस पर से पाँच भूतों का ज्ञान होने के कारण उनके पञ्चीकरण करने में कोई विरोध नहीं है। मूल के उद्धृत ब्रह्मसूत्र में 'तद्वादः' पद की द्विरुक्ति अध्याय की समाप्ति दिखलाने के लिए है।

लिंग-शरीर की उत्पत्ति दिखाते हैं—

[1]पूर्वोक्तै[2]रपञ्चीकृतैर्लिङ्गशरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायि मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक-कर्मेन्द्रियपञ्चक-प्राणादि-पञ्चक-संयुक्तं जायते।

तदुक्तम्—

पञ्च-प्राण-मनोबुद्धि-दशेन्द्रिय-समन्वितम्।
अपञ्चीकृत-भूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं [3]भोगसाधनम् ॥१॥ इति।

तच्च द्विविधं—परमपरं च[4]। तत्र परं हिरण्यगर्भ-लिङ्गशरीरम्,

---

१. अवयवातिरिक्तोऽपि अवयवी न अवयवारब्धः, किन्तु अवयवसामग्रयैवारभ्यः। नहि नैयायिकसम्मतमुपादानकारणत्वं समवायित्वनिबन्धनं वेदान्तिनां सम्मतम्। वेदान्तिनो हि अवयविनि अवयवा विद्यन्ते तादात्म्येन, न अवयवेषु अवयवी, वृक्षे शाखा इत्येव अनुभवस्य विद्यमानत्वात् इति मन्यन्ते। तथा च–अपञ्चीकृतभूतकार्यारब्धत्वमेव सूक्ष्मशरीरस्येति वादो न युक्तः।

२. तैश्चापञ्चीकृतैर्भूतैर्लिङ्ग०–इति पाठान्तरम्।

३. भोगसाधनम् स्थूलशरीरं भोगावच्छेदकम्, सूक्ष्मशरीरं तु अनुभवविशेषात्मकभोगसाधनम् इति वैषम्यम्। नहि स्थूलशरीरं विना सूक्ष्मशरीरमात्रेण भोगः संभवति ! तदुक्तं चित्रदीपे—"स्थूलदेहं विना लिङ्गदेहो न क्वापि दृश्यते।"

४. 'चेति'–इति पाठान्तरम्।

अपरमस्मदादिलिङ्गशरीरम् । तत्र हिरण्यगर्भलिङ्ग शरीरं महत्तत्त्वम्, अस्मदादि-लिङ्गशरीरमहङ्कार[1] इत्याख्यायते ।

अर्थ—पूर्वोक्त अपञ्चीकृत (सूक्ष्म) भूतों के योग से ही परलोकगमनादि समस्त कार्यों का निर्वाहक (कर्तृ), मोक्ष तक स्थायी, लिंगशरीर उत्पन्न होता है। वह, (लिंगशरीर) मन, बुद्धि, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चप्राणों से युक्त रहता है। (उक्तार्थ में मैत्रेयोपनिषद् का प्रमाण देते हैं) इसी कारण यह वचन है—पांच-प्राण, मन, बुद्धि और दस इन्द्रियों से युक्त एवं अपञ्चीकृत भूतों से बना हुआ सूक्ष्म-शरीर, भोग का साधन है। वह लिंगशरीर पर-अपर भेद से द्विविध है। उनमें हिरण्य-गर्भ का लिंगशरीर 'पर' (व्यापक) होता है और हम लोगों का लिंगशरीर 'अपर' (अव्यापक) होता है। हिरण्यगर्भ के लिंग-शरीर की 'महत्तत्त्व' संज्ञा है और हमारे लिंग-शरीर को 'अहंकार' कहा जाता है।

विवरण—शुद्ध आत्मा व्यापक एवं निष्क्रिय होने से उसका परलोक में गमन और वहाँ से पुनः आगमन होना सम्भव नहीं और स्थूल देह तो यहीं भस्म हो जाता है। इस कारण परलोकगमन आदि की उपपत्ति लगाने के लिए मोक्ष तक स्थिर रहने वाले सप्तदश-अवयवात्मक लिंग-शरीर का अवश्य स्वीकार करना चाहिए। यहाँ जो पर एवं अपर संज्ञाएँ बताई गई हैं उन्हें समष्टि एवं व्यष्टि भी कहते हैं।

एवं तमोगुणयुक्तेभ्यः पञ्चीकृतभूतेभ्यो भूम्यन्तरिक्ष-स्वर्मह-र्जनस्तपः-सत्या[2]त्मकस्योर्ध्वलोकसप्तकस्य [3]अतलवितलसुतलतलातल-रसातलमहातलपातालाख्याधोलोकसप्तकस्य ब्रह्माण्डस्य जरायुजाण्डज-स्वेदजोद्भिज्जाख्य[4]चतुर्विध-स्थूलशरीराणा[5]मुत्पत्तिः । तत्र जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्य-पश्वादिशरीराणि । अण्डजानि अण्डेभ्यो जातानि पक्षि-पन्नगादिशरीराणि । स्वेदजानि[6] स्वेदाज्जातानि यूका[7] मशकादीनि । उद्भिज्जानि [8]भूमिमुद्भिद्य जातानि वृक्षादीनि । वृक्षा-दीनामपि पापफल-भोगायतनत्वेन शरीरत्वम् ।

---

१. 'तत्त्वमित्या०'—इति पाठान्तरम् । २. 'त्याख्यस्या०'—इति पाठान्तरम् ।

३. 'अतल-पाताल-वितल-सुतल-तलातल-रसातल-महातलाख्यस्याधो'—इति पाठा-न्तरम् ।

४. 'ख्यानां'—इति पाठान्तरम् ।

५. 'णां चोत्प०'—इति पाठान्तरम् । ६. 'नि तु'—इति पाठान्तरम् ।

७. 'क-मश'—इति पाठान्तरम् । ८. 'तु'—इति पाठान्तरम् ।

अर्थ—इस प्रकार तमोगुणयुक्त पञ्चीकृत भूतों से भूमि, आकाश, स्वर्ग, महर्, जन, तपस् और सत्य—इन सात ऊर्ध्व लोकों की और अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल—इन सात अधोलोकों की (ब्रह्माण्ड की) एवं जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज्ज—इन चतुर्विध स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है। उनमें जरायु से उत्पन्न हुए मनुष्य एवं पशु आदि के शरीर 'जरायुज' कहलाते हैं। अण्ड से उत्पन्न होनेवाले पक्षी-सर्प आदि के शरीर 'अण्डज' कहलाते हैं। घर्म (पसीना) से उत्पन्न होनेवाले जू, मक्खी आदि कीटकों के शरीर 'स्वेदज' कहलाते हैं। भूमि को भेदकर ऊपर आनेवाले वृक्षादि के शरीर को 'उद्भिज्ज' कहते हैं। वृक्षादि भी पापफल के भोग के स्थान होने से उन्हें भी शरीरत्व है।

विवरण—पञ्चीकृत भूतों से चतुर्दश भुवन (ब्रह्माण्ड), एवं चतुर्विध प्राणिशरीरों की उत्पत्ति होती है। वृक्षादिकों के भी शरीर होते हैं—यह कैसे ज्ञात हुआ ? क्योंकि अन्य प्राणियों की तरह उनकी प्रवृत्ति या कहीं आना-जाना भी नहीं दीखता। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि वृक्ष आदिकों के भी शरीर होते हैं। क्योंकि 'आत्मनो भोगायतनं शरीरम्'—आत्मा के भोग के स्थान को 'शरीर' कहते हैं—यह शरीर का लक्षण है। वृक्षादिक भी पूर्वकृत पापकर्म के उपभोग लेने के स्थान हैं। 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः'—मनुष्य, शरीरजन्य कर्मदोषों से स्थावरयोनि को पाते हैं—इत्यादि स्मृति इस विषय में प्रमाण हैं। वैसे ही उनमें किये घाव भी भर जाते हैं। इत्यादि अनुभव से उनकी विशिष्ट योनि होना सिद्ध होता है।

आधुनिक प्राणिशरीर एवं घट-पटादि कार्य मनुष्यजन्य होते दीखते हैं। तब 'ईश्वर, समस्त जगत् का कर्ता है' यह कथन कैसे सम्भव हो सकता है ?

उत्तर देते हैं—

[1]तत्र परमेश्वरस्य पञ्चतन्मात्राद्युत्पत्तौ समदशावयवोपेतलिङ्ग-शरीरोत्पत्तौ हिरण्यगर्भ-स्थूलशरीरोत्पत्तौ च साक्षात्कर्तृत्वम्। इतर निखिलप्रपञ्चोत्पत्तौ हिरण्यगर्भादि द्वारा,—'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इति श्रुतेः। हिरण्यगर्भो नाम मूर्तित्रयादन्यः प्रथमो जीवः।

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥ १ ॥

१. 'अत्र'—इति पाठान्तरम्।

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य' (यजु० १३-४, ऋ० सं० १०-१२०-१) इत्यादिश्रुतेः । एवं [1]भूत-भौतिकसृष्टिर्निरूपिता ।

अर्थ--इन समस्त कार्यों में से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति में एवं अवयवात्मक लिंग शरीर की उत्पत्ति में परमेश्वर को साक्षात् कर्तृत्व है इससे भिन्न समस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति हिरण्यगर्भ के द्वारा होती है। '(वह सदाख्य देवता) अब मैं इन तीन देवताओं में इस जीव से (आत्मरूप से) अनुप्रवेश कर नाम और रूप को व्यक्त करता हूँ--इस प्रकार ईक्षण करती हुई' यह श्रुति इस विषय में प्रमाण है (छां० ६-३-२)। ब्रह्मा, विष्णु, महेश--इन तीन मूर्तियों से भिन्न हिरण्यगर्भसंज्ञक प्रथम जीव है। इस विषय में 'वही पहला शरीरी और वही पुरुष कहा जाता है। वह प्राणिमात्र का आदिकर्ता ब्रह्मा प्रथम उत्पन्न हुआ' हिरण्यगर्भ भूतों से पूर्व उत्पन्न हुआ' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। इस रीति से भूत-भौतिक सृष्टि का निरूपण किया गया।

विवरण--पांच सूक्ष्म भूत, लिंग शरीर और हिरण्यगर्भाख्य आदिजीव की उत्पत्ति का परमेश्वर साक्षात् कर्ता है। उसके पश्चात् होनेवाली समस्त सृष्टि को हिरण्यगर्भ के द्वारा वह उत्पन्न करता है। यह उक्त श्रुति से ज्ञात होने के कारण उक्त दोष नहीं हो पाता। क्योंकि आधुनिक कर्म भी ईश्वरानुग्रह के बिना नहीं होते, यह वेदान्त सिद्धान्त है। समस्त लिंग (सूक्ष्म) शरीरों के अभिमानी प्रथम जीव को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। इस विषय में श्रुतियों के अनेक आधार दिये गये हैं। आदि शब्द से 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (श्वे० ६-१८) इत्यादि श्रुतियों को समझना चाहिए।

इस प्रकार भूत एवं भूतकार्यों की उत्पत्ति बताकर ग्रन्थकार कहते हैं--

इदानीं प्रलयो निरूप्यते। प्रलयो नाम त्रैलोक्य-नाशः, स च [2]चतुर्विधः--नित्यः प्राकृतो नैमित्तिक आत्यन्तिकश्चेति। तत्र नित्यः प्रलयः--सुषुप्तिः, तस्याः सकलकार्य-प्रलयरूपत्वात्। धर्माधर्मपूर्वसंस्काराणां च तदा कारणात्मनाऽवस्थानम्। तेन [3]सुषुप्तोत्थितस्य न सुखदुःखाद्य[4]नुभवानुपपत्तिः। न वा स्मरणानुपपत्तिः। न च

१. एतावता प्रपञ्चेन "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति श्रुतिर्व्याख्याता। इतः परं 'यत्प्रयत्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतिर्व्याख्यास्यते।

२. नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विजाः।
नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः॥"

३. 'सुप्तोत्थि'--इति पाठान्तरम्।

४. 'द्यनुप'--इति पाठान्तरम्।

सुषुप्तावन्तःकरणस्य विनाशे[1] तदधीनप्राणादिक्रियाऽनुपपत्तिः। वस्तुतः श्वासाद्यभावेऽपि तदुपलब्धेः पुरुषान्तरविभ्रममात्रत्वात् [2]सुप्तशरीरोपलम्भवत्।

अर्थ—अब प्रलय का निरूपण किया जाता है। प्रलय का अर्थ है—त्रैलोक्य का नाश। वह नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक और आत्यन्तिक भेद से चतुर्विध है। उनमें सुषुप्ति (निद्रा) नित्य प्रलय है क्योंकि वह समस्तकार्यप्रलयरूप होती है। और उस समय धर्म, अधर्म एवं पूर्वसंस्कार कारण रूप से रहते हैं। इस कारण निद्रा से उठे व्यक्ति के सुख-दुःखादिकों के अनुभव की अनुपपत्ति या स्मरण का असंभव नहीं हो पाता।

शंका—'निद्रा में अन्तःकरण का नाश होता है' यह माना जाय तो उसके (अन्तःकरण के) अधीन रहनेवाले प्राणादिकों के क्रिया की अनुपपत्ति होगी—ऐसी शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि निद्रावस्था में वस्तुतः प्राण नहीं होते। किन्तु अन्य पुरुषों को जो उसकी प्रतीति होती है, वह निद्रित पुरुष के शरीर-प्रतीति के समान ही भ्रमरूप है।

विवरण—जगदुत्पत्ति का निरूपण करने के अनन्तर क्रमानुरूप जगत् की स्थिति का निरूपण करना था, परन्तु 'स्थिति' सर्वलोक प्रसिद्ध होने से ग्रन्थकार प्रलय का ही प्रारम्भ करते हैं। स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—इन तीनों लोकों के लय को ही 'प्रलय' कहते हैं। प्राकृत और आत्यन्तिक प्रलय में सभी का नाश होता है, केवल त्रैलोक्य का ही नहीं होता। तथापि उसमें त्रैलोक्य का भी नाश हो ही जाने से प्राकृत-प्रलय के लक्षण पर अव्याप्ति दोष नहीं हो पाता। कूर्मपुराण में प्रलय के नित्यादि चार भेद कहे गये हैं। उनमें नित्यप्रलय का अर्थ है—निद्रा। क्योंकि निद्रा में समस्त कार्यों का लय होता है, यह अनुभवसिद्ध है। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' इत्यादि श्रुति भी यही बता रही है।

शंका—'निद्रावस्था में सबके साथ धर्म-अधर्म आदि का भी लय होता है' तब जागृत हुए पुरुष को सुख-दुःखों का अनुभव कैसे हो सकेगा ?' इस शंका का 'धर्माधर्म०' आदि हेतु से समाधान किया गया है। निद्रा में धर्म, अधर्म और पूर्वानुभवों के संस्कार का आत्यन्तिक लय नहीं होता, किन्तु जैसे वृक्ष बीज में रहता है वैसे ही वे स्वकारण में (अविद्या में) स्थित रहते हैं, इसी से निद्रित पुरुष जगता है। धर्माधर्मानुरूप क्रमशः सुख-दुःख को भोगता है, और पूर्वसंस्कारों के जागृत होने पर उसे पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण भी होता है।

शंका—'निद्रा में समस्त कार्यों के साथ अन्तःकरण का भी लय होता है' यह मानने पर सुप्त पुरुष के श्वासोच्छ्वासादि क्रियाएँ नहीं हो सकेंगी, क्योंकि समस्त व्यापार मन के अधीन होते हैं।

---

१. 'शेन'–इति पाठान्तरम्।
२. 'सुषुप्तश'–इति पाठान्तरम्।

समाधान—वस्तुतः सुप्त पुरुष के श्वासोच्छ्वास आदि का भी लय ही होता है। क्योंकि सुप्त पुरुष को किसी प्रकार की कोई प्रतीति नहीं हुआ करती। किन्तु अन्य जागृत पुरुषों को उसके प्राणादि क्रिया की जो प्रतीति होती है, वह उस पुरुष के शरीर प्रतीति के तुल्य ही भ्रमरूप है, अर्थात् जैसे निद्रा में पुरुष को 'यह मेरा शरीर' इत्याकारक शरीर का ज्ञान न होने से उसकी दृष्टि में शरीरादिकों का भी अभाव होने के कारण ही अन्य लोगों को उसका शरीर दिखलाई पड़ने पर भी वह भ्रम ही है। इसी प्रकार उसमें रहनेवाले श्वासोच्छ्वासादि का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही है। निद्रा भी एक व्यक्ति का प्रलय होने से, एक पुरुष का प्रलय होने पर भी वह दूसरे को ज्ञात नहीं हो पाता। यह उत्तर ग्रन्थकार ने दृष्टिसृष्टिवाद को मानकर (दृष्टि = वस्तु का ज्ञान ही सृष्टि = उत्पत्ति) दिया है। इस कारण प्रत्यक्षादिविरोध नहीं होता।

इस पर वादी की शंका और उसका समाधान—

न चैवं [1]सुप्तस्य परेतादविशेषः। [2]सुप्तस्य हि लिङ्गशरीरं संस्कारात्मनाऽत्रैव वर्तते, परेतस्य तु लोकान्तरे इति वैलक्षण्यात्। यद्वा, अन्तःकरणस्य द्वे शक्ती—ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति। तत्र ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तःकरणस्य सुषुप्तौ विनाशः, न क्रियाशक्ति-विशिष्टस्येति प्राणाद्यवस्थानमविरुद्धम्। 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन् प्राण[3] एवैकधा भवति, अथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, (कौ० ३-२) 'सता [4]सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छां ६-८-१) इत्यादिश्रुतिरुक्तसुषुप्तौ मानम्।

अर्थ—यह मानने पर 'निद्रित मनुष्य में और मृत मनुष्य में कोई अन्तर नहीं रहता।' यह शंका नहीं की जा सकती क्योंकि सुप्त मनुष्य का लिंग-शरीर संस्काररूप से यहीं रहता है। परन्तु मृत मनुष्य का लिङ्ग शरीर अन्य लोक (लोकान्तर) में रहता है। यह दोनों में अन्तर है। अथवा क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति के भेद से अन्तःकरण की दो शक्तियाँ होती हैं। उनमें से ज्ञानशक्ति विशिष्ट अन्तःकरण का ही निद्रावस्था में नाश होता है। क्रियाशक्तिविशिष्ट का नहीं। इस कारण निद्रा में प्राणादिकों का रहना विरुद्ध नहीं है। 'जिस अवस्था में पुरुष समस्त विशेष-ज्ञानरहित होकर निद्रित रहता है तब किसी भी जाग्रद्वासनारूप पदार्थ को नहीं देखता, उस समय इस प्राण में ही (क्रियाशक्ति में ही) एकत्व को पाता है, तब इस प्राणोपाधिक आत्मा में वाणी

---

१. 'सुषुप्तस्य'—इति पाठान्तरम्।
२. 'सुषुप्तस्य'—इति पाठान्तरम्।
३. 'प्राण एकधा'—इति पाठान्तरम्।
४. 'सौम्य'—इति पाठान्तरम्।

समस्त नाम के साथ लय को प्राप्त होती है। (कौ० ३-३] 'हे सोम्य, वह उस समय 'सत्' से सम्पन्न होता है। स्वयं को (आत्मा को) प्राप्त होता है।' (छां० ६-८-१) इत्यादि श्रुतियाँ उक्त सुषुप्ति में प्रमाण हैं।

विवरण—शंका—'निद्रा में प्राण का भी अभाव रहता है।' यह कहने पर निद्रा और प्राणवियोगरूप मृत्यु, ये दोनों समान ही कहे जायेंगे।

समाधान—नहीं, क्योंकि सुप्त पुरुष का लिंगशरीर संस्काररूप से यहीं (इस लोक में ही) रहता है, परन्तु मृत मनुष्य का लिंगशरीर स्वर्ग-नरकादि परलोक में रहता है—इस कारण उन दोनों में भेद है। तथापि व्यवहार में अबाधितरूप से होने वाली श्वासोच्छ्वासादिप्रतीति को 'भ्रम' कैसे कहा जा सकेगा? और उसे भ्रमरूप कहा जाय तो प्रत्यक्षादिप्रमाण पर किसी का विश्वास ही नहीं होगा। इस प्रकार पूर्व-समाधान पर अरुचि होने से दूसरा समाधान 'यद्वा' इत्यादि ग्रन्थ से कहा गया है।

अन्तःकरण की 'ज्ञान' और 'क्रिया' नाम की दो शक्तियाँ होती हैं। उनमें से 'ज्ञानशक्ति' का निद्रावस्था में लय हो जाता है। क्रियाशक्ति का लय नहीं होता। इस कारण क्रियाशक्तिमत् अन्तःकरण उस समय रहता ही है और प्राणादिक्रिया भी स्व-रूपतः रहती है। अतः उसकी प्रतीति होती है। परन्तु यह मानने में आधार क्या है? इसके उत्तर में श्रुतियों को आधार (प्रमाण) के रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'प्राज्ञे-नात्मना संपरिष्वक्तो न किञ्चन वेद'—'प्राज्ञ' आत्मा के साथ तादात्म्य को पाया हुआ यह जीव कुछ भी नहीं जानता। तस्मात् 'निद्रा' नित्य (दैनन्दिन) प्रलय है। अब क्रमप्राप्त प्राकृत प्रलय को बताते हैं—

प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्म-विनाश-निमित्तकः सकल-कार्यनाशः। यदा तु प्रागेवोत्पन्न-ब्रह्मसाक्षात्कारस्य कार्यब्रह्मणो ब्रह्माण्डाधिकार-लक्षणप्रारब्धकर्मसमाप्तौ विदेहकैवल्यात्मिका [1]परा मुक्तिः, तदा तल्लोकवासिनामप्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह विदेह-कैवल्यम्।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति श्रुतेः।

अर्थ—प्राकृत प्रलय का अर्थ है कि कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ) के विनाश से होने-वाला समस्त कार्यों का नाश। जब जिसे पहले ही ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ हो ऐसे हिरण्य-गर्भ को ब्रह्माण्ड पर अधिकार-सम्पादनरूप फलवाले प्रारब्ध कर्म की समाप्ति होकर

१. 'परम'—इति पाठान्तरम्।

विदेहकैवल्य के साथ परम मोक्ष प्राप्त होता है, तब उस ब्रह्मलोक में रहनेवाले उपासकों को भी ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होकर उस हिरण्यगर्भ के साथ ही विदेहमुक्ति मिलती है। क्योंकि 'महाप्रलय के प्राप्त होने पर हिरण्यगर्भ के अन्तसमय (उसके अधिकार की परिसमाप्ति होने पर) शुद्ध चित्त हुये ब्रह्मलोकनिवासी जिन्हें सम्यग्ज्ञान हुआ है, वे सब मुक्त होनेवाले हिरण्यगर्भ के साथ परमपद में प्रवेश करते हैं' यह श्रुति है।

विवरण—हिरण्यगर्भाख्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अधिकारी प्रथम जीव अर्थात् ईश्वर, ब्रह्मापरोक्षज्ञानवान् होने से जीवन्मुक्त ही है। परन्तु सकलब्रह्माण्डात्मक जगत् पर सत्ता चलाने का (उसका नियमन करने का) प्रारब्ध कर्म उसका अवशिष्ट होने से उसे तत्काल विदेहमुक्ति नहीं मिलती। अपितु उपासना के उत्कर्ष से उसे हिरण्यगर्भ का अधिकार मिल जाता है। अधिकारफलक उस प्रारब्ध कर्म का भोग से क्षय होने पर वह विदेहमुक्ति को पाता है अर्थात् ब्रह्मरूप होता है। उस समय जो समस्त कार्य का नाश होता है, वही प्राकृतप्रलय है। प्राकृतप्रलय के समय उपासना के बल से अर्चिरादि उत्तर मार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त हुए ब्रह्मलोक-निवासियों को भी वह हिरण्यगर्भ ज्ञानोपदेश करता है और इस रीति से उन्हें भी ब्रह्मसाक्षात्कार के होने पर उसके साथ वे भी परम मुक्ति पाते हैं।

एवं [1]स्वलोकवासिभिः सह कार्ये ब्रह्मणि मुच्यमाने तदधिष्ठित-ब्रह्माण्ड[2]तदन्तर्वर्ति-निखिललोक-तदन्तर्वर्ति-स्थावरादीनां भौतिकानां भूतानां च प्रकृतौ मायायां[3] च लयः, न तु ब्रह्मणि, बाधरूप-विनाशस्यैव ब्रह्मनिष्ठत्वात्। अतः प्राकृत[4] इत्युच्यते।

अर्थ—इस रीति से स्वलोकनिवासी लोगों के साथ हिरण्यगर्भ के मुक्त होते समय स्व-अधिष्ठित ब्रह्माण्ड, तदन्तर्गत भूरादि समस्त लोक और वहाँ के स्थावरादि (चतुर्विध प्राणिजात) भूत कार्यों का एवं आकाशादि पञ्चभूतों का प्रकृति में (मूलकारणभूत माया में ही) लय होता है, ब्रह्म में नहीं। क्योंकि बाधरूप विनाश ही ब्रह्मनिष्ठ होता है (निवृत्तिरूप नहीं होता) इसी कारण (प्रकृति में लय होने के कारण ही) इस प्रलय को प्राकृत कहते हैं।

विवरण—ब्रह्माण्डादि समस्त कार्य का प्रकृति में (माया में ही) लय होने से उसे प्राकृतलय कहते हैं। ब्रह्मज्ञान से अविद्यानिवृत्ति होने पर समस्त जगत् का जो बाधरूप नाश होता है वही ब्रह्मनिष्ठ होता है। इससे भिन्न, निवृत्तिरूप विनाश तन्निष्ठ

---

१. 'तल्लोकवा'—इति पाठान्तरम्।　२. 'ण्डान्तर्व'—इति पाठान्तरम्।
३. 'यां लयः'—इति पाठान्तरम्।
४. 'प्राकृतप्रलय'—इति पाठान्तरम्।

नहीं होता। इस कारण प्राकृतप्रलय में लीन होनेवाले अन्य जीवों की मुक्ति का प्रश्न नहीं उठता।

अब तीसरे नैमित्तिक प्रलय को बताते हैं—

कार्य-ब्रह्मणो दिवसावसान-निमित्तकस्त्रैलोक्यमात्र-प्रलयः नैमित्तिकप्रलयः। ब्रह्मणो[1] दिवसश्चतुर्युग-सहस्र-परिमित-कालः, 'चतुर्युग-सहस्राणि[2] ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इति वचनात्। प्रलय-कालो दिवस-काल-परिमितः, रात्रिकालस्य दिवस[3]काल-तुल्यत्वात्।

अर्थ—हिरण्यगर्भ का दिन (दिवस) समाप्त होने से होनेवाले केवल त्रैलोक्य के लय को नैमित्तिकप्रलय कहते हैं। 'चतुर्युग सहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते'—ब्रह्मा का दिन एक हजार चतुर्युग (चौकड़ी) का कहा जाता है—इस पुराणवचन के अनुसार एक हजार चतुर्युगात्मक काल के पूर्ण होने पर ब्रह्म का दिन पूर्ण होता है। प्रलय-काल भी दिन के परिमाण के तुल्य ही होता है, क्योंकि रात्रिकाल भी दिनकाल के बराबर ही होता है।

विवरण—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चार युगों को चतुर्युग कहते हैं। ऐसे हजार चतुर्युगों के बीतने में जितना काल लगता है, उतने समय में ब्रह्मदेव (हिरण्यगर्भ) का एक दिन होता है और उतने ही समय की रात्रि प्रारम्भ हो जाती है। उस समय वह सोता है, इस कारण केवल भू, भुवर् और स्वर् (स्वर्ग) इन तीन लोकों का नाश होता है। निद्रा निमित्त से होनेवाला यही नैमित्तिक प्रलय है।

प्राकृत प्रलय और नैमित्तिक प्रलय में प्रमाण बताते हैं—

प्राकृतप्रलये नैमित्तिक-प्रलये च पुराणवचनानि[4]।

द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्प्यन्ते प्रलयाय हि॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।

इति वचनं प्राकृत प्रलये मानम्।

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्॥

इति वचनं नैमित्तिकप्रलये मानम्।

---

१. 'ब्रह्मदिव'—इति पाठान्तरम्। २. 'सहस्रन्तु'—इति पाठान्तरम्।
३. 'सतुल्य'—इति पाठान्तरम्। ४. 'नि प्रमाणानि'—इति पाठान्तरम्।

अर्थ--प्राकृतप्रलय और नैमित्तिकप्रलय के विषय में पुराणवचन इस प्रकार हैं—'ब्रह्मा के शतवर्षात्मक आयुष्य के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध एवं परार्धों के अतिक्रान्त होने पर परमपद पर रहनेवाले ब्रह्मा का प्रलय होता है, उस समय महदादि सात प्रकृतियों का प्रलय होता है। हे राजन्! जिसमें समस्त कार्य लीन होते हैं वह, यह वचन प्राकृत-प्रलय में प्रमाण है। 'जिसमें विश्वस्रष्टा शेषरूप आसन पर सबको आत्मसात् (स्वयं में लीन) कर सोता है वह नैमित्तिक प्रलय है। यह वचन नैमित्तिक-प्रलय के सद्भाव में प्रमाण है।

अब आत्यन्तिक प्रलय बताते हैं—

तुरीय-प्रलयस्तु ब्रह्मसाक्षात्कार-निमित्तकः सर्वमोक्षः। [1]स चैकजीववादे युगपदेव, नानाजीव-वादे तु क्रमेण। 'सर्वं एकीभवन्ति' इत्यादिश्रुतेः तत्राद्यास्त्रयोऽपि प्रलयाः कर्मोपरति[2]निमित्ताः, तुरीयस्तु ज्ञानोदय-निमित्तो लयोऽज्ञानेन सहैवेति विशेषः। एवं चतुर्विधप्रलयो निरूपितः।

अर्थ—परब्रह्म के साक्षात्कार से होनेवाला सर्वमोक्ष, चतुर्थ (आत्यन्तिक) प्रलय है। 'एकजीववाद' पक्ष में वह एकदम ही (युगपदेव) होता है, किन्तु 'नानाजीववाद' पक्ष में क्रम से होता है। क्योंकि 'सब एक होते हैं' यह श्रुति है। (अब तक बताये गये चार प्रलयों में से) पहले तीनों प्रलय कर्म के उपरम से होते हैं। किन्तु यह चौथा प्रलय, ज्ञानोत्पत्ति से होता है, इसमें अज्ञानसहित कर्मों का उपरम होता है, यह इसमें विशेष है। इस रीति से चार प्रकार के प्रलयों का निरूपण हुआ।

विवरण—तत्त्वज्ञान होने पर अविद्या और उसके समस्त कार्यों का प्रलय होता है। यह चौथा प्रलय है, इसी को 'सर्वमोक्ष' भी कहते हैं। समस्त जीवों को एक मानने पर एक जीव के मुक्त होते ही समस्त जीवों को एकदम मुक्त होना चाहिये। क्योंकि एकजीववादियों के मत में 'अविद्योपाधिक चैतन्य' ही 'जीव' होने से और उस अविद्या के एक होने से 'जीव' एक है। ऐसी स्थिति में एक जीव को तत्त्वज्ञान होते ही समस्त जीवों को एकदम तत्त्वज्ञान हो ही जाना चाहिये। और समस्त जीवों का एकदम प्रलय हो जाना चाहिये। परन्तु इस मत के अनुयायी बहुत न होने से और शुकनारदादिकों के मुक्त हो जाने पर भी अन्य लोगों को मुक्ति नहीं मिली—यह दिखलाई देने से ग्रन्थकार ने अनेकवादिसम्मत 'नानाजीव' वाद का उल्लेख किया है। इस मत में

---

१. स चैकजीववादे समष्टिजीवातिरिक्तव्यष्टिजीवाः परमार्थतो न सन्ति, तत्कल्पिता एवेमे नानाजीवा इति मते ताकशकल्पितजीवेन वस्तुसदात्मनो ज्ञानादिना मोक्षे सर्वमुक्तिरेव।

२. 'रमनि'—इति पाठान्तरम्।

'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही जीव' है, और अन्तःकरण अनेक हैं। अतः चैतन्य के एक होने पर भी चैतन्योपाधि के अनेक होने से जीव भिन्न हैं। इस कारण चैत्र-व्यक्ति को तत्त्वज्ञान होने के कारण उसके मुक्त होने पर भी मैत्रव्यक्ति का मुक्त होना सम्भव नहीं। एक की मुक्ति से सब मुक्त नहीं होंगे। प्रथम कहे हुये तीन प्रकारों में किसी विशेष कारण से हुई कर्म की उपरति से प्रलय होता है। किन्तु इस ज्ञाननिमित्तक प्रलय में समस्त कर्म और उनके मूलकारण अविद्या का प्रलय होता है। इस रीति से तत्त्व-ज्ञान के कारण अविद्या का उच्छेद होने से बीजनिवृत्ति हो जाने से पुनरावृत्ति, न होना ही इस प्रलय में विशेष है।

अब प्रलय के क्रम को बताते हैं—

तस्येदानीं क्रमो निरूप्यते—

भूतानां भौतिकानां च न कारणलयक्रमेण लयः। कारणलयसमये कार्याणामाश्रया[1]न्तराभावेनावस्थानानुपपत्तेः। किन्तु सृष्टिक्रमविपरीत क्रमेण तत्तत्कार्यनाशे तत्तज्जनकादृष्ट-नाशस्यैव प्रयोजकतया उपादान नाशस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा न्यायमतेऽपि। महाप्रलये पृथिवी-परमाणु-गतरूप-गन्धरसादेरविनाशापत्तेः।

अर्थ—अब उस प्रलय के क्रम का निरूपण करते हैं। भूत और उनसे उत्पन्न पदार्थों के लय का क्रम, कारण से कार्य की ओर नहीं होता। क्योंकि कारणलय के समय कार्य का अन्य आश्रय न रहने से उसकी स्थिति नहीं बन सकती। अतः जिस क्रम से सृष्टि उत्पन्न होती है उसके विपरीत क्रम से लय होता है। किसी भी कार्य के नाश में उसके जनकभूत अदृष्ट का नाश ही प्रयोजक होता है। उस कार्य के उपादान कारण का नाश प्रयोजक नहीं होता। अन्यथा न्यायमत के तुल्य महाप्रलय के होने पर भी पृथ्वीपरमाणुओं में विद्यमान रूपरसादि गुणों के नाश न होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

विवरण—भूतों की उत्पत्ति का क्रम जैसा श्रुति में बताया है 'तस्माद्वा एतस्मा-दात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः'—ऐसे ही लय का भी क्रम होना चाहिये। किन्तु वह क्रम, उत्पत्तिक्रम से विपरीत होता है। कार्य, कारण में लीन होता है। और वह कारण, जिस कारण का कार्य होगा उस कारण में लीन होता है। जैसे पृथ्वी, जल में लीन होती है, जल अग्नि में लीन होता है इत्यादि। परन्तु नैयायिकों का मत, इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि प्रथम कारण का लय (नाश) होता है पश्चात् कार्य का। उस पर वेदान्ती का उत्तर है कि प्रथम कारण का लय होने पर कार्य निराधार रहेगा। मृत्तिका का लय यदि प्रथम हो जाय, तो मृत्तिकाविकाररूपघट, किसके आश्रय

१. 'यमन्तरेणावस्था०'—इति पाठान्तरम्।

से रहेगा ? इसलिये कार्य का लय कारण में होता है, यही क्रम मानना चाहिए। ब्रह्म-सूत्र के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में 'विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' ऐसा सिद्धान्त सूत्र है। जिस क्रम से सीढ़ी पर चढ़ते हैं उसके ठीक विपरीत क्रम से उतरते हैं। घट, शराव आदि पदार्थ लय होते समय मृत्तिका के स्वरूप को पाते हैं और हिम इत्यादि जल की स्थिति में हो जाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी, जल से उत्पन्न हुई है अतः उसका लय जल में होता है यह प्रलयक्रम जानना चाहिये।

वेदान्तियों के मत में कार्य के नाश में उसके (कार्य के) उपादान-कारण का नाश प्रयोजक (कारण) न होकर उस कार्य के उत्पन्न होने में जो अदृष्ट (अपूर्व) कारणी-भूत हुआ है उसका नाश ही उसमें प्रयोजक (कारण, हेतु) है।

नैयायिकों के मत के अनुसार उपादान-कारण का नाश, कार्य के नाश में कारण मानें तो महाप्रलय के समय पृथ्वी के परमाणुओं में विद्यमान रूप, रस, गन्ध आदि गुणों का नाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि नैयायिकों के मत में परमाणु नित्य होते हैं, उनका नाश न होने से तद्गत गुणों का भी नाश नहीं, और उनका नाश नहीं हुआ तो महाप्रलय कैसा ? इसलिए रूपादिकों के जनक अदृष्ट विशेष का नाश होने पर सम-वायिकारण के रहते भी रूपादिकों का नाश होता है—यही मानना चाहिये। अर्थात् कारणलय-क्रम से प्रलय को न मानकर कार्यलयक्रम से ही मानना चाहिये।

तथा च पृथिव्या अप्सु, अपां तेजसि, तेजसो वायौ, वायोराकेश, आकाशस्य जीवाहङ्कारे, तस्य हिरण्यगर्भाहङ्कारे, तस्य चाविद्याया-मित्येवंरूपाः[1] प्रलयाः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे! पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते॥ १॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्! निष्कले [2]संप्रलीयते॥ २॥ इति।

एवंविध-प्रलय-कारणत्वं तत्पदार्थस्य ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणम्।

अर्थ—इस रीति से पृथ्वी का लय जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का जीवाहंकार में, जीवाहंकार का हिरण्यगर्भाहङ्कार में और उसका अविद्या में प्रलयक्रम समझना चाहिये। विष्णुपुराण में ऐसा कहा है कि 'हे देवर्षे! जगत् की आधारभूत पृथ्वी, जल में लीन होती है, जल तेज में, तेज वायु में

---

१. 'प एव प्रलय०'—इति पाठान्तरम्।
२. 'च प्र०'—इति पाठान्तरम्।

वायु आकाश में और आकाश अव्यक्त में और अव्यक्त निष्कल पुरुष में लीन होता है।" 'तत्त्वमसि'—महावाक्य के 'तत्' पद का अर्थ जो ब्रह्म, उसका 'ऐसे प्रलय का कारण होना' यही तटस्थलक्षण है।

विवरण—स्थूल भूतों की उत्पत्ति, जीवाहंकार से तो कहीं बताई नहीं गई। अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकरण होने पर स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति बताई गई है। ऐसी स्थिति में उनका जीवाहङ्कार में लय होना कैसे बताया जा रहा है।

समाधान—अपञ्चीकृत भूतों के कतिपय अंशों से लिंग शरीर के अवयव उत्पन्न कर अवशिष्ट अंशों का पञ्चीकरण कर स्थूलभूतों को उत्पन्न किया गया है। इस कारण स्थूल भूतों के लय के समय लिंगशरीरावयवान्तर्गत अपञ्चीकृत भूतों के अतिरिक्त अन्य अपञ्चीकृत भूतों का अस्तित्व न रहने से महाभूतों का जीवलिंग शरीर में (जीवाहंकार में) विलय बताया गया है (मूल में जीवाहंकार शब्द जीवलिंग शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है)।

जीवलिंगशरीर, हिरण्यगर्भलिंगशरीर से उत्पन्न होने के कारण उसका लय, हिरण्य गर्भाहंकार में बताया गया है और उसका अविद्या में लय बताया है। क्योंकि अविद्या, मूलोपादान है अतः उपलक्षण से अविद्या का परमात्मा में शक्तिरूप से लय होना चाहिये।

यहाँ तक सविस्तार निरूपण किये गये प्रलयपदार्थ से घटित ब्रह्मशब्द के तटस्थ-लक्षण को बताया गया।

अब ब्रह्म के 'जगत्कारण' रूप लक्षण पर होने वाले एक दोष का निरसन करते हैं।

ननु वेदान्तैर्ब्रह्मणि जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्यमाने सति सप्रपञ्चं। ब्रह्म स्यादन्यथा [1]सृष्टिवाक्यानामप्रामाण्यापत्तेरिति चेत्। न। न हि सृष्टिवाक्यानां सृष्टौ तात्पर्यं किन्तु अद्वितीये ब्रह्मण्येव।

---

१. सृष्टिवाक्यानि अपि वेदान्तवाक्यानि, अद्वितीयवाक्यमपि वेदान्तवाक्यम् इति तुल्यबलत्वात् सृष्टिवाक्यप्रसक्तस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि निषेधो नोपपन्नः। किन्तु वेदान्त-वाक्यत्वेन साम्येऽपि निषेधवाक्यानाम् अपच्छेदन्यायेन प्राबल्यमिति तत्र तन्निषेधः उपपद्यते।

ननु अपच्छेदन्यायो न प्रमामाण्याऽप्रामाण्यविषयः, किन्तु अनुष्ठानाऽननुष्ठानविषय एव। एवं च "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इति वाक्ययो-रुभयोरपि बोधकत्वेन अबाधितार्थविषयत्वलक्षणप्रामाण्यस्य स्वीकारेण उपपत्तिर्भवति। तेन न्यायेन ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वं न बाधितम्, श्रुतिबोधितत्वात्। इति स्वीकर्तव्यमिति चेत् सृष्टिवाक्यानां पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्यानङ्गीकारात् निष्प्रपञ्चब्रह्मबोधन-मद्वितीयवाक्येन सम्भवत्येव। अतिरात्रविधिनिषेधवाक्ययोरुभयोरपि व्यावहारिकतत्त्वा-वेदकत्वलक्षणं प्रामाण्यमेवस्वीक्रियते इति वैषम्यम्।

अर्थ—वेदान्तवाक्यों के द्वारा ब्रह्म को 'जगत्कारण' बताये जाने पर ब्रह्म को प्रपञ्चयुक्त मानना पड़ेगा। यदि ऐसा न मानें तो वेदान्त में पढ़े गये सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों को अप्रमाण कहना होगा। उत्तर में कहते हैं—नहीं, वेदान्त के सृष्टिप्रतिपादक वाक्यों का सृष्टि के कथन में तात्पर्य न होकर ब्रह्म के अद्वय प्रतिपादन में तात्पर्य है।

विवरण—'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले च प्रलीयते'—अव्यक्त, निष्कल पुरुष में विलीन होता है—इससे जगत् साक्षात् या परम्परा से परमात्मा में विलीन होता है। इस स्मृति से ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहना होगा। तब मृत्तिका के जैसे घट-शरावादि प्रपञ्च, वैसे ही जगत् को ब्रह्म का प्रपञ्च कहना होगा। क्योंकि ब्रह्म 'प्रपञ्चसहवर्तमान' होने से प्रपञ्च, ब्रह्मपदवाच्य होगा। और ऐसा न मानने पर वेदान्त में (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः) बताये गये सृष्टिवाक्यों की क्या गति होगी? अर्थात् वे अप्रमाण होंगे। इस पर ग्रंथकार उत्तर देते हैं कि वेदान्त के सृष्टि-वाक्यों का उद्देश्य सृष्टिप्रतिपादन में नहीं है, अपितु 'ब्रह्म, अद्वितीय है'—यह बताने में है। इसी बात को अग्रिम ग्रंथ से कहते हैं—

तत्प्रतिपत्तौ कथं सृष्टेरुपयोगः[1]। इत्थम्—यदि सृष्टिमनुपन्यस्य निषेधो ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य प्रतिपाद्येत, तदा ब्रह्मणि [2]निषिद्धस्य प्रपञ्चस्य वायौ प्रतिषिद्धस्य रूपस्येव ब्रह्मणोऽन्यत्रावस्थानशङ्कायां न निर्विचिकित्समद्वितीयत्वं प्रतिपादितं स्यात्। ततः सृष्टिवाक्याद् ब्रह्मणोपादेयत्व-ज्ञाने सत्युपादानं विना कार्यस्यान्यत्र सद्भावशङ्कायां निरस्तायां नेति नेतीत्या[3]दीनां ब्रह्मण्यपि तस्यासत्त्वोपपादने[4]प्रपञ्चस्य तुच्छत्वावगमे निरस्ताखिलद्वैतविभ्रममखण्डं सच्चिदानन्दैकरसं ब्रह्म सिद्ध्यतीति परम्परया सृष्टिवाक्यानाम[5]प्यद्वितीये ब्रह्मण्येव तात्पर्यम्।[6]

अर्थ—सृष्टि का (सृष्टिप्रतिपादक वाक्यों का) ब्रह्मज्ञान करा देने में उपयोग कैसे होता है? (उत्तर)—इस रीति से उपयोग होता है—सृष्टि का उपन्यास न कर प्रपञ्च का ब्रह्म में यदि निषेध कहें तो उस निषिद्ध प्रपञ्च की ब्रह्म से अन्यत्र स्थिति की

---

१. 'णिप्रतिपा'—इति पाठान्तरम्।　२. 'प्रतिषि'—इति पाठान्तरम्।
३. 'त्यादिना'—इति पाठान्तरम्।　४. 'नेन'—इति पाठान्तरम्।
५. 'मद्वितीये'—इति पाठान्तरम्।

६. आनन्दस्वरूपस्यैव प्रमाणान्तराऽगृहीतत्वादप्राप्ते शास्त्रमर्थवत् इति न्यायेन तत्रैव तात्पर्यमिति। अर्थात् सर्वाणि कारणतापरवाक्यानि सृष्टिवाक्यानि अद्वितीयब्रह्मस्वरूप-प्रतिपादनार्थानीति भावः।

आशंका हो सकती है, जैसे—वायु में रूप का निषेध करने पर, उससे अन्यत्र रूप की स्थिति की आशंका होती है। तब असन्दिग्ध अद्वैत नहीं बता पाये—कहा जायगा। अतः सृष्टिवाक्यों से 'जगत्, ब्रह्मोपादानक है' यह ज्ञान होने पर 'उपादान के बिना कार्य का अन्यत्र रहना असंभव है'—इस प्रकार आशंका का निरास हो जाता है। 'नेति–नेति' वाक्य से ब्रह्म में ही प्रपञ्च का असत्व बताये जाने पर प्रपञ्च की तुच्छता का ज्ञान होता है। और समस्तद्वैत, विभ्रमरहित, अखण्ड, सच्चिदानन्दघन एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है। इस रीति से सृष्टिवाक्यों का पर्याय से अद्वितीय ब्रह्म में ही पर्यवसान होता है।

विवरण—सृष्टि का प्रस्ताव न कर ब्रह्म में प्रपञ्च का अभाव यदि कहा होता तो प्रपञ्च का कारण अन्य कोई होना चाहिये—यह आशंका होना स्वाभाविक है। उससे ब्रह्म के अद्वितीयत्व में बाध होता है। इसलिये सृष्टिवाक्यों से प्रपञ्च की उत्पत्ति, ब्रह्म से बताकर उसका निराकरण किया है। और इस रीति से एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्म की सिद्धि की गई है। इस कारण सृष्टिवाक्यों का वाच्यार्थ ग्रहण न कर 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—जिसमें शब्द का तात्पर्य हो वही उस शब्द का अर्थ है—इस उक्ति के अनुसार सृष्टिवाक्यों कायथाश्रुत अर्थ ग्रहण न कर तात्पर्यार्थ का ग्रहण करना चाहिये। जैसे 'विषं भुंक्ष्व' वाक्य का वाच्यार्थ 'विष भक्षण कर' है। परन्तु वह उद्दिष्ट न होकर 'शत्रुगृह में भोजन करने की अपेक्षा विष खाना अच्छा' इस न्याय से इस वाक्य का तात्पर्यार्थ 'शत्रुगृह में भोजन मत करो' यही लेना पड़ता है। अतः सृष्टिवाक्यों का वाच्यार्थ ग्रहण न कर ब्रह्माद्वितीयत्वप्रतिपादक तात्पर्यार्थ ग्रहण करने पर सृष्टिवाक्य अप्रमाण नहीं होते।

शंका—सृष्टिवाक्यों से अद्वितीय ब्रह्म का बोध होने पर भी असन्दिग्ध अद्वितीय ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि वेदान्त के "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः (छा० ६–७–८) आदि वाक्यों में सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। यह आशंका कर ग्रन्थकार कहते हैं—

[1]उपासनाप्रकरणपठितसगुणब्रह्मवाक्यानां[2] चोपासनाविध्यपेक्षितगुणारोपमात्रपरत्वं, न गुणपरत्वम्। निर्गुणप्रकरणपठितानां सगुणवाक्यानां तु निषेधवाक्यापेक्षितनिषेध्य[3]सम्पादकत्वेन विनियोग इति न किञ्चिदपि वाक्यमद्वितीयब्रह्मप्रतिपादने विरुध्यते।

---

१. ननु भवतु सृष्टिवाक्यानां कथमपि निषेधशेषत्वेन अद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वम्। किन्तु हिरण्मयः, सत्यकामः, सत्यसंकल्पः इत्यादिवाक्यानां स्वत एव सफलोपासनावाक्यगम्यानां न निषेधशेषत्वं संभवति। यथा च तैः सद्वितीयत्वं ब्रह्मणः सिद्धम् इत्याशंकायामाह उपासनेति।

२. 'नामुपास'–इति पाठान्तरम्। ३. 'समर्पकत्वेन'–इति पाठान्तरम्।

अर्थ—उपासना के प्रकरण में आये हुए सगुणब्रह्मप्रतिपादक वाक्यों का तात्पर्य, उपासनाविधि में अपेक्षित गुणों का केवल आरोप करने के लिये होता है। ब्रह्म में उन गुणों का आस्तित्व प्रतिपादन में नहीं। निर्गुण ब्रह्म प्रकरण में आये हुए सगुणब्रह्म-प्रतिपादकवाक्यों का उपयोग, निषेधवाक्यों में निषेध के उपयोगी (निषेध के लिये इष्ट) गुणों की केवल उपस्थिति करा देना मात्र है। इस रीति से कोई भी वाक्य अद्वितीय-ब्रह्मप्रतिपादन के विरुद्ध नहीं है।

विवरण—सृष्टिप्रतिपादक वाक्यों के होने पर भी ब्रह्म के अद्वैत होने में किस प्रकार बाध नहीं है—यह बता चुके। अब सगुणब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादक वाक्यों के होने पर भी ब्रह्म के निःशङ्क अद्वितीयत्व होने में किस प्रकार बाध नहीं होता, सो बताते हैं।

ब्रह्मोपासना के प्रकरण में उपासना के दो प्रकार बताये गये हैं। एक सगुणब्रह्मो-पासना और दूसरी निर्गुणब्रह्मोपासना। उनमें से प्रथम उपासना में अपेक्षित गुणों का आरोप करनेभर के लिये सगुणब्रह्मवाक्यों का उपयोग है, और दूसरी उपासना में सगुणब्रह्मप्रतिपादक वाक्यों का उपयोग केवल 'नेति-नेति' (यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं) निषेध के लिये अपेक्षित पदार्थों का संग्रह करना मात्र है। इस रीति से सगुण-वाक्यों की गति लगाने पर ब्रह्म का निःसन्दिग्ध अद्वितीयत्व सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार द्विविध लक्षणों से (स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण) जो लक्ष्य बताया जाता है, उसे बताते हैं—

'तदेवं[1] स्वरूपतटस्थलक्षणलक्षितं तत्पदवाच्यमीश्वरचैतन्यं मायाप्रतिबिम्बितमिति केचित्। तेषामयमाशयः-जीवपरमेश्वरसाधारणं[2] चैतन्यमात्रं बिम्बम्, तस्यैव बिम्बस्याविद्यात्मिकायां मायायां प्रति-बिम्बमीश्वरचैतन्यमन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीवचैतन्यम्। 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति श्रुतेः। एतन्मते[3] जलाशयगतशराव-गतसूर्यप्रतिबिम्बयोरिव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः। अविद्यात्मकोपाधेर्व्या-पकतया तदुपाधिकेश्वरस्यापि व्यापकत्वम्। अन्तःकरणस्य परिच्छिन्न-तया तदुपाधिकजीवस्यापि परिच्छिन्नत्वम्।

अर्थ—इस रीति से-स्वरूपलक्षण एवं तटस्थलक्षण—इन दो लक्षणों से लक्षित और

---

१. लक्षणद्वयलक्षितस्य ईश्वरस्य स्वरूपे मतभेदात् आह-तदेवमिति। केचिदिति संक्षेपशारीरककाराः।

२. 'णचै'—इति पाठान्तरम्।

३. एतन्मते—संक्षेपशारीरकक्रन्मते।

'तत्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद से वाच्य जो ईश्वर-चैतन्य, वही माया में प्रतिबिम्बित हुआ 'चैतन्य' है— यह मत, कतिपय वेदान्तियों का है। इनका आशय यह है—जीव एवं परमेश्वर दोनों के लिये जो साधारण (उभय साधारण) 'चैतन्य', वह तो बिम्ब है, और इस बिम्ब का अविद्यात्मक माया में जो प्रतिबिम्ब गिरता है, वह 'ईश्वर-चैतन्य' (ईश्वर) है। एवं अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य 'जीवचैतन्य' (जीव) है। इस विषय में 'जीव' कार्योपाधि है, और 'ईश्वर' कारणोपाधि है' इसमें श्रुति प्रमाण है। ('अन्तःकरण', माया का कार्य है और वही जीव की उपाधि होने से उसे (जीव को) 'कार्योपाधि' कहा गया है, एवं 'माया', जगत्कारण है, और वही 'ईश्वर' की उपाधि होने से 'ईश्वर' को 'कारणोपाधि' कहा है।) इस मत के अनुसार एक ही सूर्य के भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्बों के समान 'जीव' और 'ईश्वर' में भेद है। 'अविद्यात्मक उपाधि' के व्यापक होने से 'तदुपाधिक-ईश्वर' भी व्यापक और अन्तः-करण के परिच्छिन्न (अव्यापक = व्याप्य) होने से 'तदुपाधिक जीव' भी परिच्छिन्न कहा जाता है।

विवरण—इस परिच्छेद के आरम्भ में जीवब्रह्मैक्यरूप पारमार्थिक तत्व का ज्ञान, 'तत्त्वं' पदार्थ के ज्ञानाधीन होने से 'तत् पदार्थ' के निरूपण का आरम्भ किया प्रसंगवश लक्षण और उसके प्रकार (भेद) का भी विवेचन हुआ। अब ग्रन्थकार द्विविध-लक्षणों से लक्षित और 'तत्' पद के वाच्य ईश्वर-चैतन्य को बता रहे हैं। इस ईश्वरस्वरूप-विषयकवाद को वेदान्त में 'प्रतिबिम्बवाद' कहते हैं, जिसे कि पञ्चदशी में अच्छा सम-झाया गया है। इस मत के अनुसार माया में प्रतिबिम्बित शुद्ध-चैतन्य ही 'ईश्वर' है। ईश्वरस्वरूपगतचैतन्य' और 'जीवस्वरूपगतचैतन्य' दोनों एक ही हैं। किन्तु माया में उसका (चैतन्य का) गिरा हुआ प्रतिबिम्ब 'ईश्वर', और अन्तःकरण में गिरा हुआ प्रतिबिम्ब 'जीव', कहलाता है। एक ही सूर्य के भिन्न-भिन्न स्थलों में गिरे 'प्रतिबिम्ब' जैसे अनेक होते हैं वैसे ही 'ईश्वर' और 'जीव' परस्पर भिन्न होते हैं। इतना ही नहीं, अपितु जीव भी परस्पर भिन्न हैं। ईश्वर की उपाधि माया के व्यापक होने से ईश्वर-स्वरूप अर्थात् व्यापक होता है और जीव की उपाधि परिच्छिन्न होने से जीवस्वरूप परिच्छिन्न होता है। इस मत के अनुसार जीव की अनेकता सिद्ध होती है। इस मत में दोष दिखलाकर ग्रन्थकार दूसरा मत बताते हैं।

एतन्मतेऽविद्याकृत दोषा जीव इव परमेश्वरेऽपि स्युरुपाधेः प्रति-बिम्बपक्षपातित्वादित्यस्वरसाद् बिम्बात्मकमीश्वरचैतन्यमित्यपरे[1]। तेषामयमाशयः—एकमेव चैतन्यं बिम्बत्वाक्रान्तमीश्वरचैतन्यं प्रति-बिम्बत्वाक्रान्तं जीवचैतन्यम्। बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनोपाधिश्चैकजीव-

१. अपरे—विवरणकाराः। तेषाम्—विवरणकाराणाम्।

वादे अविद्या, अनेकजीववादे तु अन्तःकरणान्येव। 'अविद्यान्तःकरण[2]-रूपोपाधिप्रयुक्तो जीवपरभेदः। उपाधिकृतदोषाश्च प्रतिबिम्बे जीव एव वर्तन्ते, न तु बिम्बे परमेश्वरे। उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। एतन्मते च गगनसूर्यस्य जलादौ भासमानप्रतिबिम्बसूर्यस्येव जीवपरयोर्भेदः।

अर्थ—इस मत में (ईश्वर, मायाप्रतिबिम्बित चैतन्य है) जीव के तुल्य ईश्वर में भी अविद्या के कारण दोष हो सकते हैं। क्योंकि उपाधिरूप अविद्या भी प्रतिबिम्ब की कोटि में ही है। इस अरुचि से कुछ वेदान्ती (मायाप्रतिबिम्बितचैतन्य को ईश्वर-स्वरूप न मानकर) बिम्बरूप चैतन्य को ही ईश्वर मानते हैं। इनका आशय यह है—एक ही चैतन्य बिम्बरूप से ईश्वर, और प्रतिबिम्बरूप से जीव कहा जाता है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब की कल्पना होने में 'एकजीववाद' पक्ष में 'अविद्या' रूप उपाधि और 'अनेकजीववाद' पक्ष में 'अन्तःकरण' उपाधि है।

जीव और ईश्वर में भेद, अविद्या (एकजीववाद पक्ष में) और अन्तःकरण (अनेकजीववाद पक्ष में) रूप उपाधि से होता है। उपाधि से उत्पन्न होने वाले दोष प्रतिबिम्बभूत जीव में ही रहते हैं। बिम्बभूत परमेश्वर में नहीं हो पाते। क्योंकि उपाधि प्रतिबिम्बपक्ष में अन्तर्भूत होती है। इस मत के अनुसार आकाश के सूर्य और जल में भासमान प्रतिबिम्बभूत सूर्य के भेद के समान जीव और ईश्वर में भेद है।

विवरण—पूर्व मत में मायाप्रतिबिम्ब चैतन्य को ईश्वरस्वरूप मानने से माया के दोष (·अविद्यादोष) ईश्वर में होना सम्भव हैं, उन्हें दूर करने के लिये बिम्बभूतचैतन्य को ही ईश्वरस्वरूप मानना चाहिये। प्रतिबिम्ब में उपाधि का अन्तर्भाव होने से उसके दोष बिम्बवादी के मत में ईश्वर में सम्भव नहीं हो सकते। किन्तु जीव, उपाधि में प्रति-बिम्बित होता है। इसमें पुनः दो पक्ष हैं। 'समस्तजीव एक ही है'—ऐसा मानने वाले

---

१. जीवेश्वरयोरभेदेऽपि भेदव्यवहारमाह अविद्येति। एकजीववादे अविद्योपाधिको जीवेशभेदः, प्रतिबिम्बस्य जीवत्वात्, बिम्बस्य ईशत्वात्। नाना जीववादे तु अन्तःकरण-तत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानोपाधिकः, अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य जीवत्वात् बिम्बस्य च ईशत्वात् इति। एतन्मते—विवरणकारमते।

एवं च विवरणकारमते जीवेशयोर्भेदस्तथैव, यथा गगनसूर्य-प्रतिबिम्बसूर्ययोः पार-मार्थिकभेदाऽभावेऽपि औपाधिकः कल्पितो भेदः।

अत्र विवरणाभिमतबिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैव अनुसन्धानेन हि परिभाषाकाराः भामत्य-भिमते अवच्छेदवादे स्वस्य असम्मतिं सूचयति। तत्र निमित्तं तु अवच्छेदपक्षे ईश्वरस्य सर्वान्तर्यामित्वानुपपत्तिः। न हि जीवे मायावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रवेशः संभवति।

२. 'णोपाधि०'—इति पाठान्तरम्।

एकजीववादी और जीव परस्पर भिन्न हैं—ऐसा मानने वाले अनेकजीववादी हैं। 'जीव एक है' यह मानने पर एक उपाधि माननी होती है और वह है अविद्या। 'जीव अनेक हैं'—यह मानने पर उपाधियाँ अनेक माननी होती हैं, और वे भिन्न-भिन्न अन्तःकरण हैं। इस मत में दोषाश्रय केवल जीव ही हो सकता है क्योंकि वह प्रतिबिम्बभूत है और उपाधि, प्रतिबिम्बपक्षान्तर्भूत है। आकाशस्थ सूर्य और जलाशयगत सूर्य में जैसे भेद है वैसे ही जीव और परमेश्वर में भेद होता है।

इस दूसरे मत में पूर्वोक्त दोष न होने पर भी अन्य दोष की आशङ्का कर उसका निराकरण करते हैं।

ननु ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणप्रदेश इव बिम्बचैतन्यस्य परमेश्वरस्य जीवप्रदेशेऽभावात्तस्य सर्वान्तर्यामित्वं न स्यादिति चेत्। न। साभ्रनक्षत्रस्य आकाशस्य जलादौ प्रतिबिम्बितत्वेऽपि। बिम्बभूतमहाकाशस्यापि जलादिप्रदेशसम्बन्धदर्शनेन परिच्छिन्नबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशासम्बन्धि[1]त्वेऽप्यपरिच्छिन्नब्रह्मबिम्बस्य प्रतिबिम्ब[2]देशसम्बन्धाविरोधात्।

अर्थ—शंका—ग्रीवा पर (कण्ठ पर) स्थित मुख का दर्पण में जैसे अभाव रहता है (दर्पण में केवल उसका प्रतिबिम्बमात्र रहता है) वैसे ही (ईश्वर को यदि बिम्बरूप मानें) बिम्बभूतचैतन्यस्वरूपपरमेश्वर का जीव-प्रदेश में अभाव होने से ईश्वर का सर्वान्तर्यामित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा।

समाधान—ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है। अभ्र (मेघ) नक्षत्र सहित आकाश का जल में प्रतिबिम्ब पड़ने पर बिम्बभूतमहाकाश का भी जल प्रदेश के साथ सम्बन्ध जैसे दीखता है वैसे ही परिच्छिन्नबिम्ब का प्रतिबिम्ब-प्रदेश के साथ सम्बन्ध न होने पर भी अपरिच्छिन्न ब्रह्मबिम्ब का प्रतिबिम्ब-देश के साथ सम्बन्ध हो सकने में कोई विरोध नहीं है।

विवरण—पूर्वपक्षी के कहने का आशय यह है—बिम्बचैतन्य को 'परमेश्वर' एवं प्रतिबिम्बचैतन्य को 'जीव' कहने पर बिम्ब का प्रतिबिम्ब के साथ जैसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं वैसे ही ईश्वर का जीव के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। तब ईश्वर का 'सर्वनियन्तृत्व' सिद्ध न होगा।

इस पर सिद्धान्ती का उत्तर यह है—हम अभ्रनक्षत्रों के सहित आकाश के उदाहरण से देखें। ऐसे आकाश का, जल में गिरे प्रतिबिम्ब के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी

१. 'न्धेऽप्य'—इति पाठान्तरम्। २. 'म्बप्रदेश'—इति पाठान्तरम्।

बिम्बभूतमहाकाश के एक होने से, जिस जलादि-प्रदेश में उसका प्रतिबिम्ब गिरा है तदवच्छिन्न प्रदेश के साथ भी उसका सम्बन्ध रहता है। वैसे ही परिच्छिन्न-बिम्ब-स्वरूप परमेश्वर का, प्रतिबिम्बस्वरूप जीव के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी अपरिच्छिन्न ब्रह्मबिम्ब का सबके साथ अर्थात् प्रतिबिम्ब जीव के साथ भी सम्बन्ध है ही। इस कारण ईश्वर के सर्वान्तर्यामित्व में कोई हानि नहीं हो पाती।

अब सिद्धान्ती उदाहरण में दिये दृष्टान्त पर दोष की आशंका कर उसका परिहार करते हैं—

[1]न च [2]रूपहीनस्य ब्रह्मणो न प्रतिबिम्बसम्भवः, रूपवत एव तथात्वदर्शनादिति वाच्यम्। नीरूपस्यापि रूपस्य प्रतिबिम्ब दर्शनात्। न च नीरूपस्य द्रव्यस्य प्रतिबिम्बभावनियमः, आत्मने द्रव्यत्वाभावस्योक्तत्वात्।

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूतेव्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥' (ब्र० बिं० उ० १२)
'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥

इत्यादिवाक्येन ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावानुमानस्य[3] बाधितत्वाच्च। तदेवं [4]तत्पदार्थो निरूपितः।

अर्थ—ब्रह्म, रूपरहित है। और रूपहीन का प्रतिबिम्ब गिरना सम्भव नहीं, क्योंकि रूपवान् पदार्थ का प्रतिबिम्ब गिरता देखा जाता है—ऐसी शंका नहीं की जा सकती। क्योंकि रूप में अपना स्वयं का पृथक् रूप न रहने पर भी उसका प्रतिबिम्ब गिरता देखा जाता है। इसके अतिरिक्त 'रूपरहित' द्रव्य के प्रतिबिम्ब का अभाव रहता है' (प्रतिबिम्ब नहीं गिरता)—यह नियम भी नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि आत्मा में द्रव्यत्व का अभाव (आत्मा द्रव्य नहीं है) हम पहले ही बता चुके हैं। इसके

---

१. रूपवतः एवं प्रतिबिम्बः इति न नियमः, किन्तु रूपवद्द्रव्यस्यैव प्रतिबिम्बः इति नियमो वर्तते। ब्रह्म द्रव्यं सदपि न रूपवत्, तस्मात् तस्य प्रतिबिम्बो न युक्तः इति-शंकाकृदाशयः।

२. 'नीरूपस्य'—इति पाठान्तरम्।

३. 'ब्रह्म न प्रतिबिम्बते अचाक्षुषत्वात् गन्धवत्' इति ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावानुमान-स्येत्यर्थः।

४. तत्त्वमसीतिवाक्यावयवस्य 'तत्' पदस्य शक्यार्थो लक्ष्यार्थश्चेत्यर्थः।

अतिरिक्त "(निरुपाधिक) एकरूप आत्मा (अन्तःकरणोपाधियों से) जलस्थचन्द्र के समान अनेक प्रकार से दीखता है" "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा"—जिस प्रकार ज्योतिःस्वरूप सूर्य भिन्न विभिन्न जलों में अनेक प्रकार से दीखता है, यह अज आत्मदेव भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में (अन्तःकरणों में) उपाधियों से भिन्न होता है—इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावसाधक अनुमान, बाधित हो जाते हैं। इस प्रकार 'तत्' पदार्थ का निरूपण हुआ।

विवरण—'जीव' को चित्प्रतिबिम्ब मानने पर यह दोष आता है कि 'चित्' (ब्रह्म) यदि रूपरहित है तो उसका प्रतिबिम्ब कैसे ? क्योंकि रूपवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब देखने में आता है। इस पर सिद्धान्ती का यह उत्तर है कि 'रूप' गुण स्वयं रूपरहित है। क्योंकि 'रूप' पर 'रूप' नहीं रहता 'गुणे गुणानङ्गीकारात्।' तथापि रूप का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। तब नीरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब में कोई बाधा नहीं हो सकती। अथवा यदि पूर्वपक्षी यह व्याप्ति माने कि 'जो द्रव्य रूपवान् हो उसी का प्रतिबिम्ब होता है, तथापि हमें कोई हानि नहीं है। क्योंकि हम (वेदान्ती) 'आत्मा' को द्रव्य नहीं मानते। 'रूपरहित आकाश-द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता'—यह मानने पर भी 'रूपरहित और अद्रव्य-ब्रह्म का रूपवत् प्रतिबिम्ब मानने में कोई आपत्ति नहीं हैं। ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का अभाव सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किये सभी अनुमानों का श्रुतियों से बाध हो जाता है। इस रीति से 'तत्वमसि' महावाक्यस्थ 'तत्' पदार्थ का विवेचन किया गया है।

अब 'त्वम्' पदार्थ के विवेचनार्थ ग्रन्थकार जीवसम्बन्धी भिन्न-भिन्न वादों को बता रहे हैं।

इदानीं त्वं पदार्थो निरूप्यते।

[1]एकजीववादेऽविद्याप्रतिबिम्बो जीवः, अनेकजीववादे अन्तःकरणप्रतिबिम्बः।

अब 'त्वम्' पदार्थ का निरूपण किया जाता है ('त्वम्' पदार्थ ही जीव है) 'एकजीववादपक्ष' में अविद्या में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव है।

अनेकजीववादपक्ष में अन्तःकरण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव है।

स च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपावस्थात्रयवान्। तत्र जाग्रद्दशा

---

१. एकजीववादे जीवस्य स्वरूपम्—अविद्यायां चित्प्रतिबिम्बः, उपाधिभूताया अविद्याया एकत्वात् जीवस्य एकत्वम्। अनेकजीववादे तत्स्वरूपम्—अन्तःकरणे चित्प्रतिबिम्बः। जीवोपाधेः अन्तःकरणस्य नानात्वात् जीवस्यापि नानात्वम्।

नामेन्द्रियजन्यज्ञानावस्था। अवस्थान्तरे इन्द्रियाभावान्नातिव्याप्तिः। इन्द्रियजन्यज्ञानं चान्तःकरणवृत्तिः। स्वरूपज्ञानस्यानादित्वात्।

अर्थ—उस जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ होती हैं। (जाग्रदवस्था की व्याख्या) जाग्रत् दशा का अर्थ है कि जिसमें इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है—वह अवस्था। अन्य अवस्थाओं में इन्द्रियों के न होने से (इन्द्रियव्यापार न होने से) उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। इन्द्रियजन्य ज्ञान का अर्थ है अन्तःकरणवृत्ति। स्वरूपज्ञान अनादि होने से (अन्तःकरणवृत्ति को ही ज्ञान कहना पड़ता) है।

विवरण—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के भेद से जीव की तीन अवस्थाएँ होतीं हैं। उनमें से पहली अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा बाह्यवस्तु का ज्ञान होता है। अन्य दो अवस्थाओं में इन्द्रियव्यापार न हो सकने से जाग्रदवस्था का यह लक्षण दो अवस्थाओं अतिव्याप्त नहीं होता। इन्द्रियजन्य ज्ञान का स्वरूप यह है—अन्तःकरणवृत्ति (अन्तःकरण की तत्तत्पदार्थ के आकार के तुल्य होनेवाली स्थिति) यहाँ पर अन्तःकरणवृत्त में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग गौणतया किया है। अब यह यहाँ शंका हो सकती है कि जीव के ज्ञानस्वरूप में ही 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? उसके उत्तर में यह कहा जाता है कि चैतन्यरूप अनादि होने से अजन्य है, और इन्द्रियजन्यज्ञान तो उत्पत्तिविनाशशालि होता है। यदि स्वरूपज्ञान को ही इन्द्रियजन्यज्ञान कहा जाय तो वह अनादि अनन्त होने से जाग्रदवस्था में खण्ड ही न पड़ा होता। अतः यह सब अनुभवविरुद्ध होने से अन्तःकरणवृत्ति को ही इन्द्रियजन्यज्ञान कहा गया है।

अब अन्तःकरणवृत्ति को क्यों माना गया है यह बताने के लिये तद्विषयक मतमतान्तरों का प्रस्ताव करते हैं—

[1]सा चान्तःकरणवृत्तिरावरणाभिभवार्थेत्येकं मतम्। तथा हि—

---

१. अन्तःकरणवृत्तिः किमर्थं स्वीक्रियते ? यतः सर्वेषां पदार्थानां साक्षिप्रकाशादेव प्रकाशः संभवति इति चेत्, भवतु कथमपि वृत्त्यङ्गीकारः, तस्या बहिर्निर्गमवादः असंगत एव। परोक्षस्थल इव विनावृत्तिनिर्गमं प्रकाशसंभवात्। यथा हि शाब्दपरोक्षस्य आनुमानिकपरोक्षस्य च भेदःकरणभेदनिबन्धनः, एवं प्रत्यक्ष-परोक्षभेदोऽपि तन्निबन्धनः सेत्स्यत्येवेत्याशंकायामाह 'सा चेति'। शब्दानुमानावगतेभ्यः प्रत्यक्षावगते स्पष्टता अनुभूयते। सा च प्रत्यक्षग्राह्ये अभिव्यक्तचैतन्यावगुण्ठनम्, अन्यत्र परोक्षग्राह्ये न तत् इत्यत एव निर्वहणीया। चैतन्याभिव्यक्तिश्च चैतन्यावरणाभिभवमन्तरा न संभवति। स च आवरणाभिभवः ज्ञानाज्ञानयोरुभयोरपि समानाश्रयत्वमन्तरा न संभवतीति तत्सम्पादनार्थं वृत्तिनिर्गमः अपेक्ष्यते। सति हि तस्मिन् विषयान्तःकरणवृत्तीनामेकचैतन्यावच्छेदकत्वेन विषयचैतन्यं, प्रमातृचैतन्यं चैकं भवति, इति विषयाश्रितं ज्ञानं प्रमात्राश्रितमज्ञानं च

[१]अविद्योपहितचैतन्यस्य जीवत्वपक्षे घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य जीवरूपतया जीवस्य सर्वदा घटादिभानप्रसक्तौ [२]घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यावरकमज्ञानं मूलाविद्यापरतन्त्रमवस्थापदवाच्यमभ्युपगन्तव्यम्। एवं सति घटादेर्न सर्वदा भानप्रसङ्गः, अनावृतचैतन्य[३]सम्बन्धस्यैव भानप्रयोजकत्वात्। तस्य चावरणस्य सदातनत्वे कदाचिदपि घटभानं न स्यादिति तद्भङ्गे वक्तव्ये, तद्भङ्गजनकं न चैतन्यमात्रम्। तद्भासकस्य तदनिवर्तकत्वात् नापि वृत्त्युपहितं चैतन्यम्, परोक्षस्थलेऽपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति परोक्षवृत्तिव्यावृत्तवृत्तिविशेषस्य, तदुपहित-चैतन्यस्य वाऽऽवरण-भङ्गजनकत्वमित्यावरणाभिभवार्था वृत्तिरित्युच्यते।

समानाश्रयं भवति। अन्यथा भिन्नाश्रयत्वात् समानाश्रयत्वं कदापि प्रयोजकं न स्यात्। तथा च सति देवदत्तीयघटज्ञानात् यज्ञदत्तीयघटाज्ञानस्यापि निवृत्त्यापत्तिः। तथा च विना चैतन्याभिव्यञ्जनं स्पष्टतानिर्वाहो न भवतीति तदुपपत्त्यर्थं वृत्तिनिर्गमः अपेक्ष्यते एव। यत्तु सिद्धान्तलेशसंग्रहे अभेदाभिव्यञ्जनार्थी वृत्तिः, चिदुपरागार्था वृत्तिः आवरणाभिभवार्था वृत्तिः इति त्रीणि मतानि वर्णितानि। तत्र चिदुपरागार्थत्वपक्षः मूले एव स्पष्टीभविष्यति। अभेदाभिव्यक्त्यर्थावृत्तिः इति न मतान्तरम्। यतः चिदुपरागार्थत्वपक्षस्यैव जीवपरिच्छिन्नत्वपक्षे अभेदाभिव्यक्त्यर्था वृत्तिः इति नामान्तरेण व्यपदेशः इति जीवस्य सर्वगतत्वे प्रथमः, तत्परिच्छिन्नत्वे सति द्वितीयः इति।

१. ननु घटादिस्पष्टताप्रतीतिनिर्वाहार्थमावरणाभिभवार्था वृत्तिः इति न युक्तम्। तथाहि—आवरणाभिभवो नाम अज्ञाननिवृत्तिः। सा च घटे, घटावच्छिन्नचैतन्ये वा अज्ञानस्य सत्त्वे एव संभवति, नान्यथा। तत्र घटस्य जडस्य अज्ञानाश्रयत्वं न संभवति। तदवच्छिन्नचैतन्यमपि न अज्ञानाश्रयः, "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला" इति निर्विशेषचैतन्यस्यैव तदाश्रयत्वात्। यदि तु अज्ञानस्य ब्रह्म विषयः, जीवस्तु आश्रयः, अहमज्ञः इत्याद्यनुभवात्। एवं च अविद्योपहितचैतन्यस्यैव जीवत्वमितिपक्षे जीवस्यैव घटादिविवर्तकारणत्वेन घटावच्छिन्नचैतन्यस्यैव जीवरूपतया जीवस्येव घटादीनामपि अज्ञानाश्रयत्वं संभवति इत्युच्यते, तर्हि साधु समर्थितं वृत्तिनिर्गमनस्य प्रयोजनम्। यतो हि उक्तपक्षे विनापि वृत्तिनिर्गमं घटं जानामि इति प्रत्ययो भवतीति सर्वदा घटादिभानप्रसंगः इति शंकाकर्तुराशयः—अविद्योपहितेत्यादिना—प्रसक्तावित्यन्तेन ग्रन्थेन प्रकटितः।

२. जीवकारणतापक्षे अभेदस्य स्वतः सिद्धत्वात् चिदुपरागो नापेक्षितः इति तस्मिन्नेव पक्षे केवलावरणाभिभवार्थावृत्तिरिति फलितम्।

३. 'न्यस्यैवभान'–इति पाठान्तरम्।

अर्थ—यह अन्तःकरणवृत्ति (विषयगत) आवरण दूर करने के लिये है—ऐसा एक मत है। इस मत में घटादि-अधिष्ठान में विद्यमान चैतन्य भी जीवगतचैतन्य होने से जीव को सदैव घटादिज्ञान होने का प्रसंग आवेगा। अतः घटादिकों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य को आवृत करनेवाला एक अज्ञान, जो मूलाविद्यापर अवलम्बित रहता है जो अवस्था शब्द से कहा जाता है, मानना पड़ता है। जिससे घटादिकों की सदैव उपलब्धि होने का प्रसंग नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि अनावृत-चैतन्य का सम्बन्ध ही ज्ञान के होने में प्रयोजक हेतु होगा। अब इस आवरण को नित्य माने तो घटादिकों की उपलब्धि कभी नहीं होगी। एतदर्थ उसका भंग कहना होगा। किन्तु केवल चैतन्य को उसका भञ्जक नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि जो चैतन्य उस आवरण का भासक है उसी से उसकी निवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि परोक्षस्थल में भी (उस आवरण की) निवृत्ति होने लगेगी। इसलिये परोक्षवृति से पृथक् जो विशेषवृत्ति, या तदुपहित चैतन्य ही आवरणभंग करनेवाला है। अतः वृत्ति को आवरण-नाशक कहा गया है।

विवरण—आत्मा का स्वरूपभूतज्ञान नित्य सिद्ध है और उसी से यदि समस्त विषयों का ज्ञान (प्रकाशित होना) सम्भव है तो अन्तःकरण की वृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका के निवारणार्थ सिद्धान्ती उसका प्रयोजन बताता है। इस प्रयोजन के विषय में दो मत हैं। उनमें प्रथम मत 'सा चान्तःकरणवृत्तिः' इत्यादि वाक्यों से बताया गया है। उसका आशय यह है—किसी वस्तु का आवरण, अविद्या-शक्तिविशेषकृत होता है, जैसे घटज्ञान होने से पूर्व वह घट अज्ञात-अज्ञानावृत रहता है। इस आवरण के कारण घट भासमान नहीं होता। इस आवरण का भंग (नाश) करना ही अन्तःकरणवृत्ति का प्रयोजन है। सिद्धान्ती इसी को अधिक स्पष्ट करता है—अविद्योपहितचैतन्य को जीव मानने के पक्ष में—घटादिकों में विद्यमान चैतन्य और जीवगत चैतन्य दोनों के एक ही होने से जीव को घट का भान (ज्ञान) सदैव होता रहेगा, परन्तु वह न तो इष्ट है और न अनुभवसिद्ध ही है। इसलिये घट और जीवगत-चैतन्य दोनों के बीच में अपवारक पदार्थ मानना होगा, वही आवरक अज्ञान है, अर्थात् इस अज्ञान का मूलाविद्या पर अवलम्बित होना भी मानना होगा जिससे घटादिकों की सदैव उपलब्धि नहीं हो सकेगी। यह आवरक अज्ञान यदि सदैव बना रहा तो घटादिकों की कभी उपलब्धि ही न होगी। एतदर्थ उसके भंग करनेवाले (विनाशक) पदार्थ की आवश्यकता होती है। उससे जिन घटादिकों के आवरक अज्ञान का भंग हुआ होगा उन घटादिकों की ही उपलब्धि होगी, अन्य की नहीं। वह पदार्थ केवल चैतन्य तो हो नहीं सकता। क्योंकि वह चैतन्य यदि अज्ञान का भासक हो तो उसी से उसकी निवृत्ति न हो सकेगी। वैसे ही केवल (अविशेषित) वृत्त्युपहित चैतन्य से भी उसका नाश न हो सकेगा। क्योंकि परोक्षस्थल में भी (घटादिकों के स्मरण अथवा अनुमिति के समय) वृत्त्युपहित चैतन्य से आवरक अज्ञान की निवृत्ति होने लगेगी। इसलिये परोक्षव्यावृत्त

(स्मरण आदि से भिन्न) वृत्तिविशेष अथवा उस उपाधि से युक्त चैतन्य ही आवरण का भङ्ग करता है—यह मानना पड़ता है। यह मानने पर अन्तःकरणवृत्ति का प्रयोजन अज्ञानावरणभङ्ग है, यह सिद्ध होता है।

अब वृत्ति के प्रयोजन के विषय में दूसरा मत बताते हैं—

[1]सम्बन्धार्था वृत्तिरित्यपरं मतम्। तत्राप्यविद्योपाधिकोऽपरिच्छिन्नो जीवः। [2]स च घटादिप्रदेशे विद्यमानोऽपि घटाद्याकारापरोक्षवृत्तिविरहदशायां न घटादिकमवभासयति, घटादिना[3] तस्य सम्बन्धाभावात्। तत्तदाकावृतिदशायां तु भासयति, तदा सम्बन्धसत्त्वात्।

अर्थ—(चैतन्य) सम्बन्ध के लिये वृत्ति होती है—ऐसा दूसरा मत है। इस मत में अविद्यारूप उपाधि से युक्त जीव अपरिच्छन्न होता है। वह (अपरिच्छिन्नस्वरूप होने से) घटादिप्रदेश में विद्यमान रहने पर भी जिस समय घटादिकों के आकार के अनुसार अपरोक्ष वृत्तिका अभाव रहता है (जिस समय घट का प्रत्यक्षात्मकज्ञान नहीं हो रहा है) उस समय घटादिकों का भासन (ज्ञान) नहीं करता है। क्योंकि घटादिकों का और उसका सम्बन्ध नहीं है। जिस समय वृत्ति तदाकार होती है, उस समय घटादिकों का भासन करता है। क्योंकि उस समय (वृत्ति का चैतन्य के साथ) सम्बन्ध रहता है।

विवरण—जीव-चैतन्य के अपरिच्छिन्न होने से उसका और विषय का सम्बन्ध तो नित्य ही रहता है, तब समस्त विषयों की उपस्थिति (ज्ञान) जीव को सदैव होती रहेगी। परन्तु ऐसा किसी को अनुभव तो है नहीं। अतः जीवगत चैतन्य और विषय दोनों के सम्बन्ध को अपने द्वारा संपादन कराने के लिये अन्तःकरण वृत्ति की आवश्यकता है। यदि घटाकार अपरोक्षवृत्ति न हो तो घट ज्ञान नहीं होगा और घटाकार वृत्ति के होने पर (वृत्ति का) चैतन्य के साथ सम्बन्ध हो जाने से घटज्ञान होने लगता है।

---

१. सम्बन्धार्था चिदुपरागार्था इति मतान्तरम्। सम्बन्धः विषयेण सह चैतन्यस्य संसर्गः अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा इति। अर्थात् जीवस्य विषयोपरागजनिका। एवं च न केवलमन्तःकरणप्रतिबिम्बितस्य जीवस्य विषयोपरागार्था वृत्तिः किन्तु अविद्याप्रतिबिम्बितस्य जीवस्यापीति।

२. स च अविद्योपाधिकः अपरिच्छिन्नो जीवश्च।

एवं च सर्वगतत्वनिबन्धनो योऽयं जीवस्य घटादिविषयेण सम्बन्धः, स न घटादिविषयभानप्रयोजकः अपितु तद्विलक्षणः। स च वृत्त्यधीनः, इति वृत्तिविरहदशायां तत्सम्बन्धाभावात् न जीवस्य घटादिभानम्।

३. 'नासम्बन्धा'—इति पाठान्तरम्।

इस मत पर शंका और उसका निरसन—

नन्वविद्योपाधिकस्यापरिच्छिन्नस्य जीवस्य स्वत एव समस्तवस्तुसम्बद्धस्य वृत्तिविरहदशायां सम्बन्धाभावाभिधानमसङ्गतम्। असङ्गत्वदृष्ट्या च सम्बन्धाभावाभिधाने वृत्त्यनन्तरमपि सम्बन्धो न स्यादिति चेत्। उच्यते। न हि वृत्तिविरहदशायां जीवस्य घटादिना सह सम्बन्धसामान्यं निषेधामः, किं तर्हि, घटादिभानप्रयोजकं [1]सम्बन्धविशेषम्। स च सम्बन्धविशेषो विषयस्य जीवचैतन्यस्य च व्यङ्ग्यव्यञ्जक[2]तालक्षणः कादाचित्कः[3] तत्तदाकारवृत्तिनिबन्धनः।

अर्थ—शंका—अविद्योपाधिक अपरिच्छिन्नचैतन्यस्वरूपजीव का समस्त-वस्तुओं के साथ तम्बन्ध स्वतःसिद्ध ही है तब वृत्ति के अभाव में उसके साथ सम्बन्ध के न होने का कथन उचित नहीं है। (आत्मा असंग है) इस श्रुति के आधार पर सम्बन्ध का अभाव कहें तो वृत्ति के होने पर भी (विषयों से) सम्बन्ध न होगा, क्योंकि आत्मा का असङ्गत्व तो सदैव है।

समाधान—वृत्ति के अभाव में जीव का घटादि विषयों के साथ साधारण सम्बन्ध का हम निषेध नहीं कर रहे हैं, किन्तु घटादिकों के ज्ञान होने में तत्प्रयोजक विशेष सम्बन्ध का हम निषेध कर रहे हैं। यह सम्बन्धविशेष व्यङ्ग्य (अभिव्यक्त होनेवाला) जीवचैतन्य और व्यञ्जक (अभिव्यक्त करनेवाला) विषय, दोनों का है, और वह तावत्कालिक एवं तत्तदाकारघटादिवृत्ति पर निर्भर होता है।

विवरण—जीव को घटज्ञान होने के लिये घट और जीवचैतन्य का सम्बन्ध अपेक्षित है, तदर्थ वृत्ति की आवश्यकता होती है। यह एक मत है। इस पर पूर्वपक्षी पूछता है कि जीवचैतन्य यदि सर्वगत (परिच्छेद रहित) है तो सम्बन्धाभाव कैसे होगा ? इस पर कदाचित् आप (असङ्गो नहि सज्जते) श्रुति को देखकर उसका किसी से भी सम्बन्ध नहीं होता, तब तो घटाकार-वृत्ति के उत्पन्न होने पर भी जीवचैतन्य का और घट का सम्बन्ध न होगा, क्योंकि चैतन्य सदैव असङ्ग ही रहता है।

इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है कि जीवचैतन्य और घट के सामान्य सम्बन्ध को हम मना नहीं कर रहे हैं, किन्तु घटज्ञान के लिये अपेक्षित व्यङ्ग्यव्यञ्जकताभावलक्षण

---

१. सम्बन्धविशेषम् प्रकाशकविषयचैतन्याभिन्नप्रमातृचैतन्यवत्त्वम्। अविद्यावच्छिन्नचैतन्यं यथा व्यापकं, न तथा प्रमातृचैतन्यमिति न दोषः।

२. 'कभावलक्षणः'—इति पाठान्तरम्।

३. 'कस्तदाकार'—इति पाठान्तरम्।

तावत्कालिक सम्बन्ध सदैव नहीं होता। वह तो घटाकार वृत्ति उत्पन्न होते ही अस्तित्व में आता है और जीव को घट का ज्ञान होता है। (घटाकारवृत्ति के समय तदुपहित-जीवचैतन्य व्यङ्ग्य, और तद्विषय घटादि, व्यञ्जक होता है।)

ग्रन्थकार इसी मत को और अधिक स्पष्ट कर दिखाते हैं।

तथा हि तैजसमन्तःकरणं स्वच्छद्रव्यत्वात् स्वत एव जीवचैतन्याभिव्यञ्जनसमर्थम्, घटादिकं तु न तथा, अस्वच्छद्रव्यत्वात्। स्वाकारवृत्तिसंयोगदशायां तु वृत्त्यभिभूत-जाड्यधर्मकतया च वृत्त्युत्पादित-चैतन्याभिव्यञ्जनयोग्यताश्रयतया च वृत्त्यु[1]त्थानानन्तरं चैतन्यमभिव्यनक्ति।

अर्थ—तैजस अन्तःकरण, एक निर्मल द्रव्य होने से, वह स्वयं ही जीवचैतन्य को प्रकाशित करने में समर्थ रहता है, किन्तु घटादिक (जड़ होने से) वैसे (समर्थ) नहीं होते, क्योंकि वे अस्वच्छ द्रव्य हैं, तथापि घटाद्याकारवृत्ति का संयोग जब घटादिकों से होता है उस समय तद्गत जड़त्व का वृत्ति से निरास होता है और वृत्ति से उत्पन्न होने वाली चैतन्याभिव्यञ्जन की योग्यता, घटादिकों में रहती है। अतः वृत्ति का उदय होने पर घटादि विषय चैतन्य को अभिव्यक्त करते हैं।

विवरण—अन्तःकरण के स्वच्छ द्रव्य होने से वह, जीव-चैतन्य को अनायास ही प्रकाशित करता है, किन्तु घटादिक जड़ हैं, इस कारण वे वैसा नहीं कर सकते। घटाकारवृत्ति का घट के साथ संयोग होने पर वृत्ति के द्वारा पहले तो घटादि में विद्यमान जाड्य का अभिभव (नाश) होता है, और घट में 'चैतन्य' प्रकाशित करने की योग्यता आती है। इस रीति से योग्यता के आने पर घटादिक, जीव-चैतन्य को प्रकाशित करते हैं और जीव को घटज्ञान होता है।

इस मत में अभियुक्तों की सम्मति बनाते हैं—

तदुक्तं विवरणे—[2]अन्तःकरणं हि स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिण्यपि घटादौ चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयतीति। दृष्टं चास्वच्छद्रव्य-

---

१. 'त्त्युदयानन्तरं–इति पाठान्तरम्।

२. ननु चैतन्यं केवलघटाद्युपहितं न भासते, वृत्त्युपहितघटाद्युपहितं तु भासते, इत्यत्र किं विनिगमकमिति चेत् तत्रोच्यते—अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं हि, विनापि वृत्तिं सर्वदा भासते अतएव अन्तःकरणं प्रतिभासिकमिति सिद्धान्तः। तथा च जल इव जलोपहितघटादावपि रवेः प्रतिफलनमिव अन्तःकरणे तदुपहितघटादौ च चैतन्यप्रतिफलनमुचितमेवेत्याशयः।

स्यापि स्वच्छद्रव्य-सम्बन्धदशायां प्रतिबिम्बग्राहित्वम्। यथा कुड्यादेर्जलादिसंयोगदशायां मुखादिप्रतिबिम्बग्राहिता। घटादेरभिव्यञ्जकत्वं च तत्प्रतिबिम्बग्राहित्वम्। चैतन्याभिव्यक्तत्वं च तत्र प्रतिबिम्बतत्वम्।

अर्थ—'विवरण' नामक ग्रन्थ में ऐसा बताया है—'जिस प्रकार अन्तःकरण स्वयं में चैतन्य की अभिव्यक्ति की योग्यता को पैदा करता है, वैसे ही स्वयं से सम्बद्ध होनेवाले घटादिकों में भी वैसी ही योग्यता को उत्पन्न करता है।' और अस्वच्छ द्रव्य, स्वच्छ द्रव्यों के साथ संयोग को प्राप्त होने पर उनका प्रतिबिम्बग्राहक होना सर्वानुभवसिद्ध है। जैसे—भीत आदि का जल आदि से संयोग होने पर उनमें मुख आदि के प्रतिबिम्बग्रहण करने की योग्यता आती है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना ही घटादिकों का अभिव्यञ्जकत्व है। और घट में प्रतिबिम्बित होना ही चैतन्य का अभिव्यक्तत्व है।

विवरण—इस मत की पुष्टि में ग्रंथकार ने 'विवरण' कर्ता के वाक्य को उद्धृत किया है। जिस प्रकार अन्तःकरण में चैतन्याभिव्यंजकत्व होता है वैसे ही वह घटादिकों में भी होता है।' लौकिक अनुभव भी इसी प्रकार है—भीत साक्षात् प्रतिबिम्बग्राहिणी नहीं होती, किन्तु उस पर जल के पड़ने पर प्रतिबिम्बग्राहिणी बन जाती है।

घटादिकों की चैतन्याभिव्यञ्जक बताया है, इसका अर्थ यह है कि वे चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं।

एवंविधाभिव्यञ्जकत्व-सिद्धयर्थमेव वृत्तेरपरोक्षस्थले बहिर्निर्गमनाङ्गीकारः। [1]परोक्षस्थले तु वह्न्यादेर्वृत्ति[2]संसर्गाभावेन चैतन्यानभिव्यञ्जकतया न[3] वह्न्यादेरपरोक्षत्वम्। एतन्मते[4] च विषयाणामपरोक्षत्वं चैतन्याभिव्यञ्जकत्वमिति द्रष्टव्यम्। एवं जीवस्याऽपरिच्छिन्नत्वेऽपि वृत्तेः सम्बन्धार्थत्वं निरूपितम्।

अर्थ—ऐसे अभिव्यंजक की सिद्धि के लिए ही अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) स्थल में वृत्ति का बाहर जाना (इस मत में) माना गया है। परोक्ष स्थल में (अप्रत्यक्ष स्थल में) वृत्ति के सम्बन्ध का अभाव होने से वहाँ चैतन्याभिव्यक्ति नहीं होती, और उसके न होने

---

१. एतन्मते—अविद्योपहितचैतन्यस्य जीवत्वं वृत्तेश्चिदुपरार्थत्वं चेतिपक्षे। यत्तु प्रमातृचैतन्याभिन्नत्वं विषयप्रत्यक्षत्वप्रयोजकमिति प्रागुक्तं, तत् घटावच्छिन्नादिचैतन्याभिप्रायमिति न विरोधः।

२. 'त्तिसंयोगाभावेन'—इति पाठान्तरम्।

३. 'नापरोक्षत्वम्'—इति पाठान्तरम्।

४. 'ते विष'—इति पाठान्तरम्।

से वह्नि आदि का अपरोक्षत्व (प्रत्यक्ष) नहीं होता। इस मत में चैतन्याभिव्यञ्जकत्व ही विषय का प्रत्यक्ष है। इस प्रकार जीव को अपरिच्छिन्न मानने पर भी वृत्ति का सम्बन्धार्थ होना बताया गया।

विवरण—प्रत्यक्षज्ञान के समय घटादिकों से सम्बद्ध होने के लिये वृत्ति, बाहर जाती है और तत्स्थ (विषयगत) जाड्य का नाश कर घटादिकों में चैतन्याभिव्यक्ति करने का सामर्थ्य पैदा कर देती है। इस रीति से घटादिक जब चैतन्य-प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं तब प्रमाता को घटादिकों का प्रत्यक्ष होता है। इस मत के अनुसार यह प्रत्यक्ष की प्रक्रिया है। अन्यत्र वृत्ति का बाहर निकलना यदि नहीं होता तो अर्थात् ही उसका किसी विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तस्मात् उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। पीछे अपरोक्षत्व की (प्रत्यक्ष की) व्याख्या—"विषयस्य प्रमातृ-चैतन्याऽभिन्नत्वम्" की थी। वह इस मत में ठीक नहीं बैठती। अतः इस मत के अनुसार घटादिकों में चैतन्य-प्रतिबिम्बित-ग्राहित्व होना ही विषयों का प्रत्यक्ष है,—यह बताया गया है।

इस प्रकार अपरिच्छिन्न-जीव पक्ष में वृत्ति, सम्बन्धार्थ कैसे होती है, बताया गया। अब वही परिच्छिन्न-जीव-पक्ष में कैसी होती है, बताते हैं।

[1]इदानीं परिच्छिन्नत्वपक्षे सम्बन्धार्थ[2]कत्वं निरूप्यते।

तथा हि—अन्तःकरणोपाधिको जीवः। तस्य न[3] घटाद्युपादानता, घटादिदेशासम्बन्धात्। किन्तु ब्रह्मैव घटाद्युपादानम्। तस्य मायोपहितस्य चैतन्यस्य सकलघटाद्यन्वयित्वात्। अत एव ब्रह्मणः सर्वज्ञता। तथा च जीवस्य घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदमन्तरेण घटाद्यवभासासम्भवे प्राप्ते, तदवभासाय घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदसिद्ध्यर्थं घटाद्याकारा वृत्तिरिष्यते।

अर्थ—अब परिच्छिन्न जीवपक्ष में (वृत्ति के) सम्बन्ध की अपेक्षा को बताते हैं। वह इस प्रकार है—(इस मत में) जीव, अन्तःकरणोपाधिक है। (अन्तःकरण के परिच्छिन्न—होने से जीव-चैतन्य भी परिच्छिन्न है) वह घटादिकों का उपादान नहीं है, क्योंकि उसका घटादिकों के प्रदेश के साथ सम्बन्ध नहीं है अतः ब्रह्म ही घटादिकों का उपादान है। वह मायोपाधिक होकर समस्त घटादिकों के साथ अन्वित होता है (उनमें

---

१. यदा अपरिच्छिन्नत्वपक्षेऽपि जीवस्य चिदुपरागार्थमस्ति वृत्तेरपेक्षा, तदा किमु वक्तव्यं जीवपरिच्छेदपक्षे इत्याभिप्रायः।

२. 'र्थत्वं नि०'—इति पाठान्तरम्।

३. 'स्य च घटाद्यनुपादानता'—इति पाठान्तरम्।

अनुगत है)—इसी कारण ब्रह्म सर्वज्ञ कहा जाता है इस रीति से घटादिकों के अधिष्ठानभूत ब्रह्मचैतन्य का और जीव का अभेद हुए बिना घटादिकों के अवभास का असम्भव प्राप्त होने पर उस अवभास के लिए घटादिकों के अधिष्ठानभूत ब्रह्मचैतन्य के अभेद सिद्धयर्थं घटाकर वृत्ति को मानना पड़ता है।

विवरण—जीव की अन्तःकरण रूप उपाधि के परिच्छिन्न होने से जीव-चैतन्य भी परिच्छिन्न ही है। इस कारण बाह्य विषयों के अधिष्ठानभूत चैतन्य का और उसका अभेद होना सम्भव नहीं और अभेद हुए विना बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होगा। तस्मात् जीवचैतन्य और विषयाधिष्ठानचैतन्य का अभेद सिद्ध होने के लिए घटाद्याकारवृत्ति माननी चाहिये। यह इस मत का आशय है।

इस पर एक शंका और उसका निरसन—

ननु वृत्त्यापि कथं प्रमातृ[1]चैतन्यविषयचैतन्ययोरभेदः सम्पाद्यते, घटान्तःकरणरूपोपाधिभेदेन तदवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदासम्भवादिति चेत्। न। वृत्तेर्बहिर्देश-निर्गमनांगीकारेण वृत्त्यन्तःकरणविषयाणामेकदेशस्थत्वेन[2] तदुपधेयभेदाभावस्योक्तत्वात्। एवमपरोक्षस्थले[3]वृत्तेर्मतभेदेन विनियोग उपपादितः।

अर्थ—वृत्ति के द्वारा भी प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य दोनों में अभेद कैसे सम्भव होता है? घट और अन्तःकरण इन दोनों उपाधियों के भिन्न होने से तदवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होना असम्भव है—परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि 'वृत्ति बाहर जाती है' इस पक्ष का स्वीकार करने के कारण वृत्ति, अतःकरण और विषय—ये सब एक देशस्थ होते हैं—और (उपाधियों के एक देशस्थ होने पर) उनके उपधेयों (तदवच्छिन्न चैतन्य) का अभेद होता है—यह पहले ही बता चुके हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के समय भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार वृत्ति का क्या उपयोग है—यह बताया।

विवरण—ऊपर कहे हुए के अनुसार घट के अवभास के लिए घटाकर वृत्ति के मानने पर भी जीवचैतन्य और घटावच्छिन्न चैतन्य दोनों में अभेद कैसे होगा—यह पूर्वपक्षी पूछ रहा है। परन्तु पहले बताई हुई प्रत्यक्ष प्रक्रिया को पूर्वपक्षी भूल गया है, अतः उसी की स्मृति पुनः सिद्धान्ती करा रहा है। इस रीति से प्रत्यक्ष ज्ञान के समय

१. 'तृविषयचैत'—इति पाठान्तरम्।
२. 'नोपधेय'—इति पाठान्तरम्।
३. ले मतभेदेन वृत्तेर्वि०'—इति पाठान्तरम्।

वृत्ति का उपयोग; परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न जीव पक्षों में स्पष्ट किया गया और यहीं पर जाग्रद् दशा का भी विवेचन समाप्त हुआ।

अब स्वप्नावस्था का प्रारम्भ करते हैं—

[1]इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्त्यवस्था स्वप्नावस्था। जाग्रदवस्थाव्यावृत्त्यर्थम् इन्द्रियाजन्येति। अविद्यावृत्तिमत्यां सुषुप्तौ अतिव्याप्तिवारणायान्तःकरणेति।

अर्थ—इन्द्रियों से अजन्य एवं विषयगोचर, अपरोक्ष अन्तःकरण-वृत्ति को स्वप्नावस्था कहते हैं। लक्षण में 'इन्द्रियाजन्य' पद जाग्रदवस्था की व्यावृत्ति करने के लिए है। अविद्यावृत्तिवाली सुषुप्ति अवस्था में अतिव्याप्ति न हो, इसलिये 'अन्तःकरण' पद दिया है।

विवरण—जिस अवस्था में इन्द्रियों के व्यापार उपरत होते हैं—ऐसा जो प्रातिभासिक विषयगोचर (कल्पित-गजाद्यधिष्ठानाकार) अपरोक्ष अन्तःकरणावस्था विशेष—यही स्वप्नावस्था है। जाग्रदवस्था में अन्तःकरणवृत्ति इन्द्रियों के व्यापार पर निर्भर रहती है। अतः 'इन्द्रियाजन्य' पद से जाग्रदवस्था की व्यावृत्ति होती है। 'सुषुप्ति' यह केवल अविद्यावृत्ति होने से और इसमें अन्तःकरण का व्यापार न होने से अन्तःकरण-वृत्ति' पद से सुषुप्ति की व्यावृत्ति हो जाती है।

अब सुषुप्ति का लक्षण बताते हैं—

[2]सुषुप्तिर्नामाविद्यागोचराऽविद्यावृत्त्यवस्था। जाग्रत्स्वप्नयोरविद्याकारवृत्तेरन्तःकरण-वृत्तित्वान्न तत्रातिव्याप्तिः।

अर्थ—अविद्याविषयक अविद्या की वृत्ति की सुषुप्ति-अवस्था कहते हैं। जाग्रदवस्था और स्वप्नावस्था में जो अविद्याकारवृत्ति होती है, वह अन्तःकरण की वृत्ति है (अविद्या की नहीं) अतः इस लक्षण की उन दो अवस्थाओं में अतिव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—सुषुप्ति अवस्था में अविद्यावृत्ति का अविद्या (अज्ञान) ही विषय है; स्वप्न में और जाग्रदवस्था में 'मुझे घट ज्ञान नहीं हो रहा है' यह वृत्ति, अविद्याविषयक होने पर भी वह अन्तःकरणवृत्ति है, अविद्या की नहीं है। इस कारण सुषुप्ति का लक्षण, इन दो अवस्थाओं में अतिव्याप्त नहीं होता।

---

१. इन्द्रियाऽजन्या इन्द्रियव्यापारोपरमकालीना, विषयगोचरा अधिष्ठानाकारा, अपरोक्षान्तःकरणवृत्तिः। नित्याऽपरोक्षान्तःकरणावस्थाविशेषः स्वप्नावस्थेत्यर्थः।

२. अविद्याविषयिणी अविद्यावृत्तिः आविद्यकवृत्तिःसुषुप्तिरित्यर्थः। एवं च जाग्रदाद्यवस्थात्रयान्यतमवत्त्वं जीवस्य तटस्थलक्षणम्।

मरण और मूर्च्छा अवस्थाओं का विवेचन—

अत्र[1] केचिन्मरणमूर्च्छयोरवस्थान्तरत्वमाहुः। अपरे[2] तु सुषुप्तावेव तयोरन्तर्भावमाहुः।

तत्र तयोरवस्थात्रयान्तर्भाव-बहिर्भावयोस्तत्त्वं पदार्थनिरूपणे उपयोगाभावान्न तत्र प्रयत्यते।

अर्थ—इस सम्बन्ध में कुछ लोग—मरण और मूर्च्छा, इन दो अवस्थाओं को पृथक् ही मानते हैं। और कुछ लोग इन दोनों का सुषुप्ति में अन्तर्भाव मानते हैं। (हमारे मत से) हम विषय में इन दो अवस्थाओं का तीनों में अन्तर्भाव करना अथवा बहिर्भाव करना आदि के विचार का 'त्वं' पदार्थ निरूपण में उपयोग न होने से उस विषय में हम प्रयत्न नहीं करते।

अब जीव के सम्बन्ध में प्रारम्भ किया हुआ विवेचन आगे चलाते हैं।

[3]तस्य च मायोपाध्यपेक्षयैकत्वम्, अन्तःकरणोपाध्यपेक्षया च नानात्वं व्यवह्रियते। एतेन जीवस्याणुत्वं प्रत्युक्तम्। 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्टः (श्वे० ५–८) इत्यादौ जीवस्य बुद्धिशब्दवाच्यान्तःकरणपरिमाणोपाधिकस्यपरमाणुत्वश्रवणात्।

---

१. जीवावस्थासु मध्ये केचित् शंकरानुयायिनः प्रयोजनभेदात् निमित्तभेदात लक्षणभेदाच्च मरण-मूर्छयोः अवस्थात्रयानन्तर्भावात् अवस्थान्तरत्वमित्याहुः।

२. स्वाभिमतमत्र निरूपयति अपरेत्विति। 'रे सुषुप्तावेव'—इति पाठान्तरम्।

३. जीवो हि ब्रह्माभिन्नः स्वतः एको व्यापकश्चेति वदतामद्वैतिनामपि जाग्रदाद्यवस्थाविशिष्टो न विभुरिति सम्मतम्। तस्य ब्रह्माभेदाद्यभावात्, परिच्छिन्नत्वाच्च कथं जीवस्य न अणुत्वम्? किन्तु तत्र विचारणीयं यत् परिच्छिन्नत्वांगीकारमात्रेण अणुत्वं जीवस्य कथं सम्भवति। न हि परिच्छिन्नं सर्वमणुपरिमाणं दृष्टम्, शतशो व्यभिचारात्। अतो मध्यमपरिमाणत्वं वा उत अणुपरिमाणत्वं वेति संशये स्वतो व्यापकस्य जीवस्य औपाधिकमेव परिमाणं यतोऽङ्गीकर्तव्यं ततो ज्ञायते मध्यमपरिमाणान्तःकरणोपाधिकत्वाद् देव जीवो मध्यमपरिमाण एव, न स्वतः, न वाणुपरिमाण इति। तेन 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' इति श्रुतिरुपपद्यते। आराग्रमात्र इति पदमपि 'बुद्धेर्गुणेने'ति समभिव्याहारानुपपत्त्या अन्तःकरणपरिमाणबोधकमेव, सर्वथा परमाणुपरिमाणत्वरूपमणुत्वं जीवस्य न सम्भवतीतिसिद्धम्। तेन 'एषोऽणुरात्माचेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेशे'ति श्रुतिरपि व्याख्याता, तस्या अपि चेतसा अन्तःकरणेन अणुरिति योजनया उपाधिपरिमाणसमपरिमाणत्वबोधने एवं तात्पर्यम्।

अर्थ—उस जीव को मायोपाधिक मानने पर एक और अन्तःकरणोपाधिक मानने पर (अन्तःकरण के नाना होने से) अनेक—ऐसा व्यवहार होता है। (इसी की अनुक्रम से एक जीववाद और अनेक जीववाद—संज्ञायें हैं) इस प्रकार (जीव को विभु बताने से) जीव के अणुत्व का खण्डन हुआ। 'स्वयं के गुण से (अपरिच्छिन्नत्व धर्म से) अवर (जिससे वर = महान् कोई नहीं) आत्मा, बुद्धि के गुणों से (अन्तःकरण के सूक्ष्मत्व धर्म से) आरे (नेमि) के अग्र के समान दीखता है' इत्यादि श्रुति में जीव, बुद्धिशब्दवाच्य अन्तःकरणपरिमाणोपाधि के कारण परमाणु बताया गया है।

विवरण—जीव परिणाम के सम्बन्ध में तीन वाद हो सकते हैं, एक—अणुपरिमाणवाद, दूसरा—मध्यम परिमाणवाद, और तीसरा—विभुपरिमाणवाद। सिद्धान्ती के मत में जीव, विभुपरिमाण है। अन्यत्र श्रुति में कहीं-कहीं जीव को अणुपरिमाण भी बताया है। जैसे—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥' इस श्रुति में जीव को अतीव सूक्ष्म प्रमाण बताया है किन्तु सिद्धान्ती के मत से यह परिमाण जीव की उपाधिरूप बुद्धि के परिमाण की दृष्टि से बताया गया है।

स च जीवः स्वयंप्रकाशः। स्वप्नावस्थामधिकृत्य 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' (बृ० ४-३-८) इति श्रुतेः। अनुभवरूपश्च 'प्रज्ञानघनः' (मा० ५) इत्यादिश्रुतेः। अनुभवामीति व्यवहारस्तु वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यमादायोपपद्यते।

[1]एवं त्वंपदार्थो निरूपितः।

अर्थ—और वह जीव स्वयं प्रकाश है। स्वप्नावस्था को उद्देश्य कर 'इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं प्रकाश होता है।' ऐसी बृहदारण्यक श्रुति है। (इसी तरह) वह अनुभव रूप है। क्योंकि 'वह प्रज्ञानघन–विज्ञानमूर्ति है'। ऐसी माण्डूक्य श्रुति है। 'मैं अनुभव करता हूँ' यह व्यवहार वृत्ति में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य को स्वीकार करके ही उपपन्न होता है।

इस प्रकार से 'त्वम्' पदार्थ का निरूपण हुआ।

विवरण—आत्मा को स्वप्रकाश, और ज्ञानस्वरूप यहाँ बताया है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप (अनुभवस्वरूप) है तो 'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा अनुभवाश्रय रूप व्यवहार कैसे होता है? इसका उत्तर सिद्धान्ती यह देता है कि अन्तःकरण में चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने पर 'मैं अनुभव करता हूँ' यह औपचारिक व्यवहार होता है। (वृत्ति में ज्ञान का उपचार किया जाता है।)

[2]अधुना तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं महावाक्यप्रतिपाद्यमभिधीयते।

---

१. विज्ञानमेव जीवस्य स्वरूपलक्षणम्।

२. महावाक्यार्थस्य 'तत्—त्वम्' पदार्थयोरैक्यस्य ज्ञानं तत्त्वंपदार्थज्ञानाधीनमिति

अर्थ—अब महावाक्य के प्रतिपाद्यभूत 'तत् और त्वम्' दोनों का ऐक्य बताया जाता है।

इस सम्बन्ध में एक शंका और उसका निरसन—

ननु नाहमीश्वर इत्यादिप्रत्यक्षेण, किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्व[1]विरुद्ध-धर्माश्रयत्वादिलिङ्गेन, द्वासुपर्णेत्यादिश्रुत्या,

द्वाविमौ पुरुषौ लोकेक्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ (भ०गी० १५-१६)

इत्यादिस्मृत्या च जीवपरभेदस्यावगतत्वेन तत्वमस्यादिवाक्य-मादित्यो यूपो, यजमानः प्रस्तर इत्यादिवाक्यवद् उपचरितार्थमेवेति चेत्। न। भेदप्रत्यक्षस्य सम्भावितकरणदोपस्यासम्भावितदोषवेद-जन्यज्ञानेन बाध्यमानत्वात्। अन्यथा चन्द्रगताधिकपरिमाणग्राहि-ज्योतिःशास्त्रस्य चन्द्रप्रादेशग्राहिप्रत्यक्षेण बाधापत्तेः। पाकरक्ते घटे रक्तोऽयं न श्याम इति वत् सविशेषणे हीति न्यायेन जीवपरभेदग्राहि-प्रत्यक्षस्य विशेषणीभूतधर्मभेदविषयत्वाच्च।

अर्थ—१-'मैं ईश्वर नहीं'—इस (जीव) प्रत्यक्ष से, तथा २-किञ्चिज्ज्ञत्व और सर्वज्ञत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्म के (जीव और परमेश्वर) आश्रय होने से, इसी प्रकार ३-'दो पक्षी' इत्यादि श्रुति से तथा ४-'इस लोक में दो पुरुष हैं। एक क्षर और दूसरा अक्षर, उनमें से समस्तभूत क्षर पुरुष हैं, और कूटस्थ, अक्षर पुरुष हैं' इत्यादि भगवद्गीता—जैसी स्मृति से जीवात्मा और परमात्मा में भेद का ज्ञान होने से तत्त्वम-स्यादि वाक्य का अभेदज्ञापक अर्थ, 'यूप, आदित्य हैं' 'प्रस्तर, यजमान है' आदि वाक्यों के अर्थ के समान औपचारिक है—यह शंका करना ठीक नहीं होगा।

जीवात्मा और परमात्मा के भेद प्रत्यक्ष में, इन्द्रियजन्य ज्ञान का वेदजन्य ज्ञान से बाध हो जाता है। इन्द्रियों में दोषों की संभावना होने से और वेदों में दोष की संभावना भी न होने से तदुत्पन्न ज्ञान से इन्द्रियजन्य ज्ञान का बाध होता है। अन्यथा (प्रत्यक्ष

तत्त्वं पदार्थौ निरूपितौ। तज्ज्ञानाधीनं तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं प्रतिपादयतीति भावः। महा-वाक्यं नाम षड्विध—तात्पर्यग्राहकलिङ्गोपेत—वाक्यम्। तच्चतुर्विधम्-(१) तत्त्वमसि, (२) प्रज्ञानं ब्रह्म, (३) अयमात्मा ब्रह्म, (४) अहं ब्रह्म। चतुर्विधमहावाक्यस्य प्रतिपाद्यं जीव-ब्रह्मणोरैक्यमेव।

१. 'स्वरूप'—इति पाठान्तरम्।

से वेदजन्य ज्ञान का बाध मानें तो) जो ज्योतिःशास्त्र चन्द्रमा का प्रमाण बहुत अधिक बताता है, उसका 'चन्द्रमा प्रादेशमात्र है' बताने वाले प्रत्यक्ष से बाध होने लगेगा। इसके अतिरिक्त जीवात्मा परमात्मा के भेददर्शक प्रत्यक्ष का विषय, विशेषणस्वरूप धर्म का भेद होता है। और वह पाक से रक्त के घट होने पर 'यह रक्त है श्याम नहीं है', इस वाक्य के अन्तर्गत 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्ये बाधे' इस न्याय से होता है। (न्याय का यह अर्थ यह है कि विशेषण सहित विशेष्य के विषय में विधिनिषेध यदि कहे हों एवं विशेष्य में यदि उस विशेषण का बाध हुआ हो तो वे विधिनिषेध विशेषण के लिये समझे जाते हैं। उदाहरणार्थ—रक्तघट है, श्यामघट नहीं, ऐसा निषेध करने पर, श्यामघट अस्तित्व में न होने से इस निषेध का विषय श्यामगुण तक ही है। इसी तरह जीवात्मा और परमात्मा—ये भिन्न हैं—यह जो प्रत्यक्ष होता है उनका विषय, जिस धर्म के कारण ये परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं उन विशेषणीभूत धर्मों का भेद है। जीवात्मा परमात्मा का भेद, उस प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।)

विवरण—यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि जीव और परमात्मा का ऐक्य होना असम्भव है, इसमें अनेक प्रमाण उसने दिखाये हैं, उनमें सबसे प्रबल प्रमाण प्रत्यक्ष है। उस प्रत्यक्ष के अनुसार 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' 'मैं दुखी हूँ' 'मैं संसारी हूँ' ऐसी हमें साक्षात् प्रतीति होती रहती है। इसके अतिरिक्त यदि जीव अज्ञानी है तो ईश्वर सर्वज्ञ है—जीव और परमेश्वर इन विरुद्ध धर्मों के आश्रय होने से उनकी एकता होना संभव नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु वेदान्तियों को अत्यन्त अभीप्सित श्रुति प्रमाण भी जीव परमात्मा के भेद को ही बताता है। जैसे—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (मुं० ३।१) इत्यादि इस श्रुति में जीव के संसारफलानुभव को तथा ईश्वर के असंसारित्व को स्पष्ट बताया है। आदि पद से 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इत्यादि काठकोपनिषद् श्रुति का भी ग्रहण करना चाहिये। उसी तरह भगवद्गीता के उपर्युक्त श्लोक के आगे ही 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' कहा है। तस्मात् प्रत्यक्ष, अनुमान, श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणों से ज्ञायमान जीवात्मा और परमात्मा के भेद को केवल 'तत्त्वमसि' वाक्य से असत्य सिद्ध करना सम्भव नहीं। अतः इस वाक्य का अर्थ गौण (औपचारिक) ही समझना चाहिये। जैसे वेद में यूप के आदित्य न होने पर भी 'यूप आदित्य है' ऐसा बताने पर उसे हम, जैसे गौण (औपचारिक केवल स्तुति के लिये) कहा हुआ समझते हैं, वैसे ही जीव और परमात्मा की एकता (ऐक्य) 'तत्त्वमसि' वाक्य में औपचारिक बताई गई हैं समझना चाहिये।

इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है—वेद के 'तत्त्वमसि' महावाक्य से ज्ञात होनेवाले जीवात्मपरमात्मैक्य का भेद प्रत्यक्ष से बाध होना संभव नहीं। जिन इन्द्रियों की या अन्तःकरण की सहायता से प्रत्यक्ष होता है, उनमें अपाटवादिदोषों का होना असंभव नहीं और वेदजन्य ज्ञान में वैसे दोषों का होना संभव नहीं। शास्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष के

बाध को न माना जाय तो "सार्धानि षट् सहस्राणि योजनानि विवस्वतः। विष्कम्भो मण्डलस्येन्दोः सहाशीत्या चतुःशतम् ॥' (सूर्य. सि.) ज्योतिःशास्त्र में बताये गये इस चन्द्र परिमाण का, चन्द्र को प्रादेश मात्र दिखानेवाले प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होने का प्रसंग प्राप्त होगा। तस्मात् प्रत्यक्ष से, शास्त्र से होनेवाले ज्ञान का बाध मानना उचित नहीं है। तब 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' इस भेद प्रत्यक्ष की गति कैसे लगेगी ? इस पर उत्तर देते हैं कि उस ज्ञान का (प्रत्यक्ष का) विषय तो जीवात्मा परमात्मा के विशेषणीभूत सोपाधिकत्व और निरुपाधिकत्व धर्मों के भेद को दिखाना मात्र है। ग्रन्थकार ने यहाँ पर सविशेषणन्याय, दृष्टान्त के लिये दिखाया है। उसका अर्थ यह है कि विशेषणयुक्त विशेष्य के विषय में किये जानेवाले विधिनिषेधों का विशेष्य में बाध होने पर वे विशेष्य में लागू न होकर विशेषण में लगते हैं। जैसे—पकाने से पहले श्याम घट, पकाने पर रक्तवर्ण हुआ देख 'अयं 'घट' श्यामः' प्रतीति होती है। इस वाक्य में 'अयम्' पदार्थ जो 'घट' उसमें, श्याम पदार्थ—श्याम गुण विशिष्ट घट का भेद बताया है। परन्तु वह भेद—'यह पहला ही घट है' इस प्रत्यभिज्ञा से बाधित होता है। तस्मात् इस वाक्य का विषय श्यामगुणेतरत्व रक्तत्व है। वैसे ही 'नाहमीश्वरः' इस वाक्य में अहम् पदार्थ–अन्तःकरणोपहित चैतन्य और ईश्वर पदार्थ—निरुपाधिक चैतन्य भेद के विषय का 'तत्त्वमसि' महावाक्य से बाध होने पर 'सविशेषण' न्याय से निरुपाधिकधर्मेतरत्व अर्थात् सोपाधिकत्व का दिखाना ही है। इस रीति से प्रत्यक्ष अनुभव की संगति लगाई जा सकती है।

अब पूर्वपक्षी के बताये हुए अनुमान की व्यवस्था लगाते हैं।

अत एव नानुमानमपि प्रमाणम्, आगम[1]बाधात्, मेरुपाषाणमयत्वानुमानवत्।

अर्थ—इसीलिये अनुमान को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि आगम के साथ उसका विरोध होता है। जैसे—'मेरुपर्वत पाषाणमय है' इस अनुमान के समान।

विवरण—प्रत्यक्ष के समान ही अनुमान से भी जीवात्म-परमात्म भेद का साधन नहीं किया जा सकता। क्योंकि उसका वेद से (तत्त्वमस्यादि-वाक्य से) विरोध होता है। जैसे—'मेरुपर्वत पाषाणमय है, विन्ध्यपर्वत के समान' यह अनुमान 'सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुः'—पर्वतराज मेरु सर्वतः सुवर्णमय है—इस आगम के साथ विरोध होने से त्याज्य है, उसी तरह उपर्युक्त अनुमान (किंचिज्ज्ञत्व, सर्वज्ञत्वादि हेतुओं से बताया हुआ) त्याज्य है।

अब पूर्वपक्षी के बताये गये आगम प्रमाण की व्यवस्था लगाते हैं।

---

१. 'विरोधात्'–इति पाठान्तरम्।

नाप्यागमान्तरविरोधः । तत्परातत्परवाक्ययोः तत्परवाक्यस्य बलवत्वेन लोकसिद्धभेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाक्यापेक्षया उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात् ।

अर्थ—और न अन्य आगमों के साथ ही जीवात्म-परमात्मैक्य का विरोध होता है। क्योंकि तत्परवाक्य और अतत्परवाक्यों में से तत्पर वाक्य हमेशा प्रबल होता है। इस कारण लोकप्रसिद्ध जीवात्म-परमात्म-भेद का अनुवाद करने वाले 'द्वासुपर्णा' आदि वाक्यों की अपेक्षा उपक्रमोपसंहार आदि से ज्ञात होनेवाले अद्वैत तात्पर्य से युक्त जो तत्त्वमस्यादि वाक्य, वह अधिक प्रबल है।

विवरण—पूर्वपक्षी का कथन था कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का 'द्वासुपर्णा' आदि मुण्डक श्रुति से विरोध होता है। उस पर सिद्धान्ती का कहना है कि वेद में कतिपय वाक्य, तत्पर (वाच्यार्थ प्रधान) होते हैं तो कतिपय वाक्य, अतत्पर (वाच्यार्थ गौण, अन्य प्रयोजनार्थप्रधान) भी होते हैं। उनमें तत्पर वाक्य बलवान् होते हैं। और अतत्पर वाक्यों का अर्थ उनसे मिलता-जुलता करना होता है। वही न्याय 'द्वासुपर्णा' श्रुतिवाक्य में लगाना होता है। प्रस्तुत वाक्य लोकप्रसिद्ध भेद का अनुवादक है। 'तत्त्वमसि' वाक्य जिस प्रकरण में आया है उसका आरम्भ (उपक्रम) और समाप्ति (उपसंहार) तथा अन्य गमक लिंगों को देखने पर उनका तात्पर्य अद्वैत प्रतिपादन करने में ही स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिये वह वाक्य 'द्वासुपर्णा' आदि वाक्यों से अधिक प्रबल है। इस प्रकार भेदवादी आगम, अभेदवादी आगम की अपेक्षा दुर्बल ही मानना चाहिये।

अब जीव और परमात्मा विरुद्ध धर्माश्रय है—यह पूर्वपक्षी का कहना था, वह कैसे उपपन्न होता है, सो बताते हैं—

न च जीवपरैक्ये विरुद्धधर्माश्रयत्वानुपपत्तिः । शीतस्यैव जलस्यौपाधिकौष्ण्याश्रयत्ववत् स्वभावतो निर्गुणस्यैव [1]जीवस्यान्तःकरणाद्यौपाधिककर्तृत्वाद्याश्रयत्वप्रतिभासोपपत्तेः । यदि च जलादौ औष्ण्यमारोपितं तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम् ।

अर्थ—जीव और परमात्मा का ऐक्य मानने पर विरुद्धधर्म के आश्रय की उपपत्ति नहीं लगती, सो बात नहीं। जैसे शीतल जल, उपाधि के योग से उष्णता का आश्रय होता है, वैसे ही स्वभावतः निर्गुण जीव अन्तःकरणादिक उपाधि के द्वारा कर्तृत्वादिकों का आश्रय होता है—यह अनुभव सभी को है। अब जल आदि में अग्नि-धर्म उष्णता

१. 'तस्यान्तः'—इति पाठान्तरम्।

का आरोप हुआ है कहें तो प्रकृत में भी (जीव में भी) वह तुल्य है। अर्थात् कर्तृत्वादि जीव पर आरोपित ही हैं।

विवरण—पूर्वपक्षी ने—किञ्चिज्ज्ञत्व; सर्वज्ञत्व आदि धर्म परस्पर विरुद्ध हैं, तब जीवात्मा और परमात्मा में अद्वैत मानने पर उनके आश्रयत्व को किस तरह लगाओगे? —यह पूछा था। उसके उत्तर में सिद्धान्ती कहता है कि जीव में किञ्चिज्ज्ञत्व, कर्तृत्व आदि धर्म, जीव की उपाधिभूत अन्तःकरण के कारण प्रतीत होते हैं। अग्नि की उष्णता जैसे जल में प्रतीत होती है।

अब इस कर्तृत्व के आरोप के विषय में एक शंका और उसका निरसन—

न च सिद्धान्ते कर्तृत्वस्य क्वचिदप्यभावादारोप्यप्रमाहितसंस्काराभावे कथमारोप इति वाच्यम्। लाघवेनारोप्यविषयसंस्कारत्वेनैव तस्य हेतुत्वात्।

अर्थ—सिद्धान्ती के मत से आत्मा में किसी भी अवस्था में कर्तृत्व के होने से आरोप्य (कर्तृत्व) के प्रमात्मक ज्ञानजन्य संस्कार के अभाव में आरोप होना कैसे सम्भव है? परन्तु यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि हम आरोप्य के प्रमात्मक ज्ञान से उत्पन्न होने वाले संस्कार को आरोप में कारण नहीं मानते, अपितु लाघवात् आरोप्य-विषयक संस्कार को ही उस आरोप में कारण मानते हैं।

विवरण—जीव पर कर्तृत्व के आरोप के विषय में शंका उठाने वाले का आशय यह है कि आरोप का ज्ञान आरोप्यविषयक प्रमात्मक ज्ञानजन्य संस्कार से होता है। अर्थात् आरोप करने के लिए प्रथमतः उस आरोप के विषय (कर्तृत्वादि) का वास्तविक ज्ञान होना चाहिये, तब उस ज्ञान का संस्कार बुद्धि पर होगा, तदनन्तर उस संस्कार के अनुसार आरोप किया जाता है।

किन्तु वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म-भिन्न यावत् पदार्थों के अवास्तविक होने से आत्मा में या अन्तःकरण में उभयत्र कर्तृत्व तो अवास्तविक ही है। ऐसी स्थिति में कर्तृत्व का प्रमात्मक ज्ञान होना कैसे सम्भव है? और जब प्रमात्मक ज्ञान होना ही असम्भव है, तब तत्संस्कारजन्य कर्तृत्व का आत्मा पर आरोप कैसे हो सकेगा? आरोप्य जो अन्तःकरण कर्तृत्व, उसके मिथ्या होने से उसका अनुभव अप्रमात्मक ही होगा। अतः ऐसे अप्रमात्मक ज्ञान के संस्कार से आरोपसिद्धि नहीं हो सकती।

समाधान—सिद्धान्ती उत्तर देता है—हम आरोप्य विषयक प्रमात्मकज्ञानजन्य संस्कार को आरोप के प्रति कारण न मानकर, आरोप्यविषयक संस्कार को ही कारण मानते हैं, क्योंकि ऐसा मानने में लाघव है। तात्पर्य यह है—कर्तृत्व का प्रमात्मक ज्ञान होने पर तज्जन्य संस्कार को कर्तृत्वारोप में कारण मानने की अपेक्षा साक्षात्

कर्तृत्वविषयक संस्कार को ही हम कर्तृत्वाध्यास में कारण मानते हैं। अर्थात् इस समय के कर्तृत्वारोप में पूर्वप्रतीत कर्तृत्वादिसंस्कार कारण होते हैं, और पूर्व प्रतीत कर्तृत्वादिसंस्कार में तत्पूर्वप्रतीत कर्तृत्वादिसंस्कार कारण होते हैं।

इस पर पूर्वपक्षी फिर पूछता है—

न च प्राथमिकारोपे का गतिः, कर्तृत्वाद्यध्यासप्रवाहस्यानादित्वात् ।

अर्थ—अध्यास में पूर्व-पूर्व संस्कार को कारण मानने पर प्रथम (पहला) अध्यास (आरोप) कैसे सिद्ध होगा ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि कर्तृत्वादिकों के अध्यास का प्रवाह अनादि है।

विवरण—इस समय के आरोप्यविषयक संस्कार के प्रति पूर्व आरोप्यविषयक संस्कार कारण हैं, और उनके प्रति तत्पूर्व कारण होते हैं, ऐसी परम्परा मानने पर भी सर्वप्रथम आरोप कैसे हुआ यह समझ में नहीं आता। इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है कि जीव के सम्बन्ध में कर्तृत्वादिकों के अध्यास की परम्परा बीजाङ्कुर न्याय से अनादि है।

अस्तु। किन्तु विरुद्ध धर्मवाले जीव और ईश्वर की एकता कैसे उत्पन्न होती है ? ऐसी शंका उठाकर कहते हैं।

तत्र तत्त्वंपदवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्या[1]योगेऽपिलक्ष्यस्वरूपयोरैक्यमुपपादितमेव । अत एव तत्प्रतिपादकतत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वम्, सोऽयमित्यादिवाक्यवत् । न च कार्यपराणामेव प्रामाण्यम्, चैत्र पुत्रस्ते जात इत्यादौ सिद्धेऽपि सङ्गतिग्रहात् ।

अर्थ—वहाँ पर (तत्त्वमसि महावाक्य में) तत् और त्वम् इन दो पदों के जो वाच्यार्थ हैं (जीव और परमात्मा) वे तत्तद्गुण विशिष्ट होने से उनमें एकता (ऐक्य) होना उचित न होने पर भी उनके जो लक्ष्यार्थ (जीवचैतन्य और परमात्मचैतन्य) हैं उनकी एकता तो हम बता ही चुके हैं। इस कारण अभेद प्रतिपादक तत्त्वमस्यादि वाक्य अखण्डार्थ हैं। वही यह (देवदत्त) इस वाक्यार्थ के तुल्य (मीमांसकों के मतानुसार केवल) कार्य परक (कर्म पर) वाक्यों में ही प्रामाण्य न होकर 'चैत्र ! तुम्हें पुत्र हुआ' आदि वाक्यों के समान सिद्ध वस्तु का अनुवाद करने वाले वाक्य भी सङ्गत होते हैं अर्थात् उनके सुनने पर उनके परिणाम से उनका प्रामाण्य व्यक्त होता है।

---

१. 'योग्यत्वेपि'—इति पाठान्तरम् ।

विवरण—शंका—तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का अभेदात्मक तात्पर्य सिद्ध होने पर भी वस्तु को अन्यथा करने की शक्ति वाक्यों में नहीं होती, तब अन्तःकरणोपहित चैतन्य और निरुपाधिक चैतन्य में अभेद कैसे हो सकेगा ? 'यह घट, पट है' ऐसा सौ बार श्रुति के कहने पर भी घटपटैक्य करने का सामर्थ्य 'यह घट, पट है' इस वाक्य में नहीं है। अतः तत्त्वमस्यादि वाक्यों को औपचारिक अर्थ से लगाकर भेदग्राही प्रमाणों का ही प्राबल्य मानकर तत् और त्वम् में भेद मानना ही उचित होगा। तस्मात् आप तत् त्वम् पदार्थों की एकता को महावाक्य का प्रतिपाद्य कैसे बता रहे हैं ?

समाधान—हम तत् और त्वम् पदों के वाच्यार्थ जो ईश्वर और जीव हैं उनकी एकता नहीं बता रहे हैं किन्तु दोनों का जो विशेषणानवच्छिन्न लक्ष्यस्वरूप चैतन्य, वह एक स्वरूप (अखण्ड) है, बता रहे हैं। जब कि तत् और त्वम् पदों के विशेषणानवच्छिन्न अर्थों में ऐक्य है, तब तो तत्प्रतिपादक वाक्यों में भी अखण्डार्थत्व (संसर्गानवगाहि यथार्थज्ञानजनकत्व) सिद्ध है—यह बता चुके हैं। 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्यों में जिस प्रकार तत्कालावच्छिन्न और एतत्कालावच्छिन्न विशेषणों का त्याग कर देवदत्त मात्र का ऐक्य बताया जाता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य का ऐक्यावगाही अर्थ समझना चाहिये।

इस पर मीमांसकों की एक शंका—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्' वेद कर्मप्रधान होने से अकर्मपरक वाक्य अनर्थक हैं—यह पूर्वपक्षकर 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्युत्यर्थेन विधीनां स्युः' विधायक वाक्यों के साथ पढ़े गये ऐसे वाक्य विधेय की स्तुति के लिये होते हैं। इस वचन से ये वेद भाग कर्मपरक-विधि के उपकारक होते हैं अर्थात् परम्परया प्रमाण होते हैं—ऐसा मीमांसकों ने सिद्धान्त किया है। 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य, किसी प्रकार की विधि को नहीं बता रहा है, अतः उसमें प्रामाण्य कैसे होगा ?

समाधान—सिद्ध अर्थ का अनुवाद करनेवाले वाक्यों का भी संगतिग्रह (अन्वयबोध) होता है। जैसे—'चैत्र पुत्रस्तेजातः' इस वाक्य के सुनने पर श्रोता के (चैत्र के) मुख की प्रसन्नता को देखकर हर्ष का अनुमान किया जाता है। वह हर्ष, पुत्रोत्पत्ति ज्ञानजन्य है—यह ज्ञान बाधित विषय न होने से (प्रमारूप होने से) मैत्रोच्चारित वाक्यान्वयबोधमूलक है, अतः उस वाक्य में प्रमाजनकत्व होने के कारण प्रामाण्य मानना ही होगा। वही स्थिति तत्त्वमसि महावाक्य की है। इस महावाक्य के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से दुःखनिवृत्ति (मोक्षप्राप्ति) होने के कारण इस महावाक्य का प्रामाण्य अकुतोबाध है। मीमांसकों का सिद्धान्त कर्मकाण्ड तक के लिये ही है, ज्ञानकाण्ड के लिये नहीं।

अब विषयपरिच्छेद का उपसंहार करते हैं—

[1]एवं सर्वप्रमाणाविरुद्धं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रतिपाद्यं जीवपरैक्यं वेदान्तशास्त्रस्य विषय इति सिद्धम् ।

श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरचितायां वेदान्तपरिभाषां विषय-परिच्छेदः समाप्तः ।

—:०:—

अर्थ—इस रीति से समस्त प्रमाणों के अविरुद्ध, श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों के द्वारा प्रतिपादित जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य, वेदान्तशास्त्र का विषय है—यह सिद्ध हुआ ।

विवरण—उपर्युक्त रीति से प्रत्यक्षादिप्रमाणों के अविरुद्ध एवं 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' (ईश. उ. ७) इत्यादि श्रुतियों से, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (भ. गी. १३-२) इत्यादि स्मृतियों से, 'सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यशुद्ध-चिदात्मने । प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥' इत्यादि इतिहास ग्रन्थों से, और —'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥' इत्यादि पुराणवचनों से प्रतिपादित जीवब्रह्मैक्य ही वेदान्तशास्त्र का विषय सिद्ध होता है ।

श्रीगजाननशास्त्रि-मुसलगांवकर-विरचिते सविवरणप्रकाशे विषय-परिच्छेदः समाप्तः ॥

—:०:—

---

१. विषयपरिच्छेदोनाम—वेदान्तशास्त्रतात्पर्यगम्यतत्त्वपरिच्छेदः । यद्यपि ब्रह्म न विषयः, किन्तु विषयी एव, तथापि—

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशार्थं वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥'

इति वचनानुसारेण फलव्याप्यत्वाभावेऽपि वृत्तिविषयत्वं वर्तते ।

अथ प्रयोजन-परिच्छेदः ८

अब वेदान्तशास्त्र के प्रयोजन निरूपण की प्रतिज्ञा कर प्रयोजन का निरूपण करते हैं।

[1]इदानीं प्रयोजनं निरूप्यते। [2]यदवगतं सत्स्ववृत्तितयेष्यते, तत्प्रयोजनम्। तच्चद्विविधम्—[3]मुख्यं गौणं चेति। तत्र सुखदुःखाभावौ मुख्ये प्रयोजने। तदन्यतर-साधनं गौणं प्रयोजनम्। सुखं च द्विविधम्—सातिशयं निरतिशयं चेति। तत्र सातिशयं सुखं विषयानुषङ्ग-जनितान्तःकरण-वृत्तितारतम्य-कृतानन्दलेशाविर्भाव-विशेषः।

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४—३—२) इत्यादिश्रुतेः। निरतियं सुखं च ब्रह्मैव। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३—६) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३—१८) इति श्रुतेः।

---

१. 'ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते' इति प्रतिज्ञातेषु ब्रह्म तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूपितम्। इतः परमवशिष्यते एकमेव निरूपणीयम्—यत् ब्रह्मज्ञानं नाम। धर्मजिज्ञासायां हि धर्मज्ञानमनुष्ठानापेक्षमेव फलजनकमिति न स्वत एव पुरुषार्थत्वं ब्रह्मज्ञानस्य इव तस्यास्ति, इति धर्मजिज्ञासास्थले न धर्मज्ञानस्य पृथक् प्रतिज्ञा। ब्रह्मज्ञाने तु उत्पत्तिमात्रेण निःश्रेयससाधनत्वात् सप्रपञ्चतद्विचारप्रतिज्ञा हि सुतरामुपपद्यते। धर्मज्ञानं हि कुतः अनुष्ठानापेक्षमेव फलजनकम्? कुतश्च ब्रह्मज्ञानं तदनपेक्षं सदेव फलमिति केचन प्रत्यवतिष्ठन्ते। तत्रेदमुत्तरम्—यत् धर्मः स्वयं न फलम्, ब्रह्म तु स्वयं फलमिति। विषयपरिच्छेदे ब्रह्मस्वरूपं व्यवस्थापितं चेदपि प्रमाणप्रवृत्तिदशायां विषयतादशायां वा न तस्य फलत्वं, किन्तु वृत्तेरपि विनश्यदवस्थाया विनाशानन्तरमेव। तथा च ब्रह्मसाक्षात्कारः सप्रपञ्चं यावन्न निरूप्यते, तावन्न शास्त्रार्थसमाप्तिर्भवति इति तं निरूपयिष्यन् धर्मज्ञानात् ब्रह्मज्ञानस्य विशेषं निरूपयितुं प्रयोजन-लक्षणं ब्रवीति।

२. ज्ञानविषयभूतः सन् स्वसम्बन्धितया इच्छाविषयः पदार्थः प्रयोजनम्। सुखं मे भूयात्, दुःखं मे माभूत् इति सुखत्वादिना अवगते स्वसम्बन्धितया इष्यमाणे च सुखादौ प्रयोजनलक्षणसमन्वयः। ज्ञानविषयत्वं च प्रयोजनतावच्छेदकसुखत्वाद्यवच्छिन्नत्वमेव विवक्ष्यते इति विषभक्षणादौ नातिव्याप्तिः।

३. मुख्यम्—अन्येच्छानधीनेच्छाविषयः। गौणम्—अन्येच्छाविषयः।

अर्थ—अब (हम) प्रयोजन का निरूपण करते हैं। जिसके जान लेने पर स्ववृत्ति होने की (अपने से उसका सम्बन्ध हो) इच्छा होती है, उसे प्रयोजन कहते हैं। वह दो प्रकार का है–मुख्य और गौण। उनमें मुख्य प्रयोजन सुख और दुःखाभाव है। इनमें से किसी एक की प्राप्ति होना गौण प्रयोजन है। सुख भी दो प्रकार का है—एक सातिशय सुख, दूसरा निरतिशय सुख। उनमें से सातिशय सुख का अर्थ है कि विषय के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाली अन्तःकरणवृत्ति में न्यूनाधिक आनन्दांश का प्रकट होना। 'इसी आनन्दांश पर अन्य प्राणी जीवित रहते हैं।' (बृ० आ०)। ब्रह्म ही निरतिशय सुख हैं। 'आनन्द ही ब्रह्म है ऐसा उसने जाना' 'यह ब्रह्म, विज्ञान और आनन्द है' ये श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं।

विवरण–जीव-ब्रह्मैक्य, वेदान्तशास्त्र का विषय है–यह पीछे बता चुके हैं। उसके प्रयोजन की आकांक्षा होनेपर ग्रन्थकार प्रयोजन की व्याख्या कर उसका निरूपण करते हैं। जिसके ज्ञात होनेपर उसकी प्राप्ति की इच्छा हो वह प्रयोजन होता है। मुख्य और गौण भेद से वह दो प्रकार का है। मुख्य प्रयोजन ऊपर बता चुके हैं। सुख के साधन (यागादि) अथवा दुःखपरिहारसाधन (प्रायश्चित्तादि) गौण प्रयोजन हैं। मुख्यप्रयोजनरूप सुख के भी दो प्रकार हैं। एक सातिशय और दूसरा निरतिशय। व्यावहारिक वस्तुओं से होनेवाला सुख सातिशय कहा जाता है। विषयों के स्पर्श से पैदा हुई अन्तःकरणवृत्ति में आत्मानन्द का अंश आविर्भूत होता है, उसी को सातिशय सुख कहते हैं। क्योंकि विषयजन्य सुख में न्यूनाधिक्य रहता है। किन्तु निरतिशय सुख में (ब्रह्मप्राप्ति से होनेवाले सुख में) तरतम भाव नहीं होता। इसीलिये उसे निरतिशय कहते हैं।

अब मोक्षस्वरूप बताते हैं—

आनन्दात्मक-ब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च। 'ब्रह्म वेद-ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९) 'तरति शोकमात्मवित्' (छां० १-१-३) इत्यादिश्रुतेः। न तु लोकान्तरावाप्तिः, तज्जन्य-वैषयिकानन्दो वा मोक्षः। तस्य कृतकत्वेनानित्यत्वे मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तेः।

अर्थ–आनन्दात्मक ब्रह्मप्राप्ति और (समस्त) शोकनिवृत्ति ही मोक्ष है। 'ब्रह्म को जान लेने पर ब्रह्म ही होता है' 'आत्मवेत्ता शोक (सागर) को पार करता है' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। लोकान्तर प्राप्ति का नाम मोक्ष नहीं है। या उनमें प्राप्त

१. ब्रह्मरूपोऽपि जीवः स्वीयाऽविद्यया आवृतः स्वीयं ब्रह्मात्मकं रूपं न जानाति किन्तु यदा अस्य जीवस्य तत्त्वज्ञानोदयः भवति, तदा अज्ञाननिवृत्त्या स्वरूपस्य ब्रह्मात्मैक्यस्य प्रकाशो भवति। स एव प्रकाशः ब्रह्मप्राप्तिरिति उच्यते। ब्रह्मरूपत्वात् स एव मोक्षः।

होनेवाले वैषयिक आनन्द को भी मोक्ष नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह कृत्रिम होने से अनित्य है। इस कारण मुक्त जीव को भी पुनः संसारावृत्ति प्राप्त होगी।

विवरण—मोक्ष का स्वरूप निरतिशय सुखात्मक ब्रह्मप्राप्ति कहा गया है। परन्तु ब्रह्मज्ञान के होने पर भी एवं कर्म के क्षीण होने पर भी प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं हो पाता, वह ज्ञानी को सतत भोग देता ही रहता है। एवं च ब्रह्मज्ञान होते ही विदेह-मुक्ति नहीं मिलती। देह-सम्बन्ध रहता ही है, और देह-सम्बन्ध के होने पर (देह-बद्धता के कारण) दुःखप्राप्ति का होना भी अनिवार्य है। ऐसी दुःखसंभिन्नता के रहते रहने पर ब्रह्मप्राप्ति के आनन्द में निरतिशयत्व का होना कैसे सम्भव हो सकता है? देहपात होनेपर ही निरतिशय आनन्द की प्राप्ति होती है यह कहना उचित होगा। इसी भाव को मन में रख मोक्ष के स्वरूप वर्णन में 'शोक निवृत्ति' पद दिया गया है। क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कार होने पर अविद्या की निवृत्ति होती है और अविद्या से शुक्ति में भास-मान रजतत्व की 'यह शुक्तिका है' इत्याकारक ज्ञान से जैसे निवृत्ति होती है, वैसे ही दुःखित्व की निवृत्ति होती है, अर्थात् दुःखितत्व, शरीर का धर्म है—ऐसा निश्चय हो जाता है।

लोकान्तर गमन अथवा वहाँ के विषयानुभव से मिलनेवाला आनन्द, 'मोक्ष' नहीं है। ये दोनों कृतक होने से अनित्य हैं और 'मोक्ष' नित्य होने से भी उन्हें 'मोक्ष' नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त मोक्षस्वरूप पर एक शंका और उसका निरसन—

ननु त्वन्मतेऽप्यानन्दावाप्तेरनर्थनिवृत्तेश्च सादित्वे तुल्यो दोषः, अनादित्वे मोक्षमुद्दिश्य श्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति चेत्। न। सिद्धस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्य मोक्षस्यासिद्धत्वभ्रमेण तत्साधने प्रवृत्त्युप-पत्तेः। अनर्थनिवृत्तिरप्यधिष्ठानभूतब्रह्मस्वरूपतया सिद्धैव। लोकेऽपि प्राप्तप्राप्तिपरिहृत-परिहारयोः प्रयोजनत्वं दृष्टमेव। यथा हस्तगत-विस्मृतसुवर्णादौ 'तव हस्ते सुवर्णम्' इत्याप्तोपदेशादप्राप्तमिव प्राप्नोति। यथा वा वलयितचरणायां रज्जौ सर्पत्वभ्रमवतो 'नायं सर्प' इत्याप्त-वाक्यात् परिहृतस्यैव सर्पस्य परिहारः। एवं प्राप्तस्याप्यानन्दस्य प्राप्तिः, परिहृतस्याप्यनर्थस्य निवृत्तिः मोक्षः प्रयोजनम्।

अर्थ—आपके मत में भी आनन्दप्राप्ति और अनर्थनिवृत्ति का आरम्भ होने से (आरम्भवान् पदार्थ अन्तवान् होता है, इस न्याय से) दोष तो समान है। (आपका मोक्ष भी अनित्य है)। इस पर यदि आप मोक्ष को अनादि (मोक्ष तो सिद्ध ही है) मानें तो, उसके उद्देश्य से श्रवण-मननादि में लोगों की प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी। (मोक्ष

यदि सिद्ध है तो श्रवण-मनन का उपयोग क्या ?) परन्तु यह शंका योग्य नहीं है। क्योंकि सिद्ध ब्रह्मस्वरूप जो मोक्ष है, वह असिद्ध (अप्राप्त) है—इस भ्रम से उसे साध्य करने के लिये की गई प्रवृत्ति उचित है। अनर्थनिवृत्ति भी अधिष्ठानभूत ब्रह्म-स्वरूप होने से सिद्ध है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—लौकिक व्यवहार में भी प्राप्त वस्तु की प्राप्ति अथवा निषिद्ध वस्तु का ही निवारण, प्रयोजन समझा जाता है। जैसे हाथ में रहने पर भी विस्मृत हुआ सुवर्ण कङ्कण, 'तुम्हारे हाथ में ही सुवर्ण है' इस आप्तोप-देश से, अपने पास होते हुए भी सुवर्ण को अभी उपलब्ध हुआ मानते हैं। अथवा पैर में वेष्टित डोरी को ही भ्रम से सर्प समझते हुए व्यक्ति से 'यह सर्प नहीं है' इस प्रकार किसी आप्त के द्वारा कहे जाने पर न होते हुए सर्प का ही परिहार होता है—ऐसा माना जाता है। इसी प्रकार प्राप्त आनन्द की ही प्राप्ति और परिहृत अनर्थ की ही निवृत्तिरूप मोक्ष ही, इस वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है।

विवरण—यहाँ पर पूर्वपक्षी ने वेदान्तियों से पूछा है कि आपके मत में मोक्ष, सादि है या अनादि ? यदि सादि हो तो 'जो आदिमान् हो वह अन्तवान् अवश्य होता है' इस न्याय से मोक्ष अनित्य सिद्ध होगा। और यदि उसे अनादि बताओ तो श्रवणादि में इतना प्रयत्न क्यों ? इस पर वेदान्ती ने उत्तर दिया है कि हमारे मत से मोक्ष, अनादि है। किन्तु हमें उसकी विस्मृति हो जाने से श्रवणादि साधनों के द्वारा उसकी स्मृति करवानी है, इसलिये श्रवणादि साधन व्यर्थ नहीं हैं।

अब ग्रन्थकार मोक्ष का साधन बताते हैं—

स च ज्ञानैक-साध्यः 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३-८) इति श्रुतेः, अज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानैक-साध्यत्वनियमाच्च।

अर्थ—वह मोक्ष, ज्ञान से ही साध्य है। क्योंकि 'उसी को जानकर (मनुष्य) मृत्यु से पार हो जाता है। उसके पार जाने का दूसरा मार्ग नहीं है' यह श्रुति है, और 'ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है' यह नियम है।

विवरण—मोक्ष का साधन केवल ज्ञान ही है। कर्म, उपासना आदि नहीं। इस विषय में ग्रन्थकार ने श्रुतियों एवं युक्तियों को बताया है।

अब उस ज्ञान के विषय को बताते हैं।

तच्च ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम्। 'अभयं वै जनकप्राप्तोऽसि' (बृ० ४-२-४) तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०) इति श्रुतेः। 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थंज्ञानं मोक्षस्य साधनम्' इति नारदीयवचनाच्च।

अर्थ—उस ज्ञान का विषय—ब्रह्म और आत्मा दोनों का ऐक्य है। 'हे जनक! अभय (ब्रह्म) को प्राप्त हो गया है' 'वह (ब्रह्म) स्वयं को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझने लगा।' आदि श्रुतियाँ इस विषय में हैं। और 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से होने वाला ज्ञान 'मोक्ष' का साधन है' यह नारदीय स्मृति भी इस विषय में प्रमाण है।

तच्च ज्ञानमपरोक्षरूपम् । परोक्षत्वेऽपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वानुपपत्तेः ।

अर्थ—और वह ज्ञान अपरोक्ष है। क्योंकि वह यदि 'परोक्ष' होता तो उससे 'अपरोक्षभ्रम' की निवृत्ति नहीं होती।

विवरण—जीवात्मा की व्यावहारिक दशा अपरोक्ष होने से उस (भ्रम) की निवृत्ति, अपरोक्ष ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हुए बिना नहीं होगी। इसलिए इस ज्ञान को वेदान्ती अपरोक्ष मानते हैं।

अब इस ज्ञान की उत्पत्ति किससे होती है?

तच्चापरोक्षज्ञानं तत्त्वमस्यादि-वाक्यादिति केचित् । मनन-निदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणादेवेत्यपरे ।

अर्थ—यह (ब्रह्मात्मैक्यगोचर) अपरोक्ष ज्ञान वाक्य से उत्पन्न होता है—ऐसा कुछ वेदान्ती (पद्मपादादि) मानते हैं। और कुछ (वाचस्पतिमिश्रादि) मनन एवं निदिध्यासन से सुसंस्कृत हुए अन्तःकरण से ही उत्पन्न होता है—मानते हैं।

उपर्युक्त दो मतों में से प्रथम मत का प्रस्ताव करते हैं।

तत्र [1]पूर्वाचार्याणामयमाशयः—संविदापरोक्ष्यं न करणविशेषो[2]त्पत्तिनिबन्धनम्, किन्तु प्रमेयविशेष-निबन्धनमित्युपपादितम् । तथा च ब्रह्मणः प्रमातृ-जीवाभिन्नतया तद्गोचरं शब्दजन्य[3]ज्ञानमप्यपरोक्षम् । अत एव प्रतर्दनाधिकरणे प्रतर्दनं प्रति 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व' (कौ० ३–२) इतीन्द्रप्रोक्त-वाक्ये प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते सति मामुपास्वेत्यस्मच्छब्दानुपपत्तिमाशङ्क्य तदुत्तरत्वेन प्रवृत्ते 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० सू० १–१–३१)

---

१. पूर्वाचार्याणाम्—विवरणानुयायिनामित्यर्थः। एषां मते ज्ञानगतप्रत्यक्षं विषयविशेषनिबन्धनम्।

२. 'षनिबन्धनत्वम्'—इति पाठान्तरम्।

३. 'न्यं ज्ञान'—इति पाठान्तरम्।

इत्यत्र सूत्रे शास्त्रीया दृष्टिः शास्त्रदृष्टिरिति तत्त्वमस्यादि-वाक्यजन्यमहं ब्रह्मेति[1] ज्ञानं दृष्टिशब्देनोक्तमिति।

अर्थ—इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों के कहने का आशय यह है कि ज्ञान की अपरोक्षता करणविशेष से (इन्द्रिय से) होनेवाली उत्पत्ति पर निर्भर नहीं रहती, (ज्ञान का प्रत्यक्षत्व केवल वह इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण नहीं है) किन्तु प्रमेयगत-विशेष पर निर्भर रहता है यह बता चुके हैं। तदनुसार ब्रह्म, प्रमाता (जीव) से भिन्न न होने के कारण तद्गोचर शब्दजन्यज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है। इसीलिये प्रतर्दनाधिकरण में (ब्र० सू० १-१-२८-३१) "मैं प्राण एवं प्रज्ञात्मा हूँ, मेरी उपासना आयुः-अमृत-भावना से करो"—प्रतर्दन से कहे गये इस इन्द्रवाक्य में प्राणशब्द ब्रह्म परक होने का निश्चय होने पर 'मामुपास्व'–मेरी उपासना कर–यहाँ 'मैं' शब्द की उपपत्ति ठीक न लग सकने की आशंका कर उसके समाधानार्थ प्रवृत्त हुए 'शास्त्र-दृष्टया तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० सू० १-१-३१) किन्तु शास्त्रदृष्टि से वामदेव के समान यह उपदेश है—इस सूत्र में जो शास्त्रीय (शास्त्रोत्पन्न) दृष्टि—वह शास्त्र-दृष्टि, इस वाक्य में 'तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न होनेवाला 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान, दृष्टि-शब्द से कहा गया है।

विवरण—वाक्य से सदैव परोक्षज्ञान होता है। अतः उससे अपरोक्षज्ञान होना कैसे सम्भव है ? इस बात को पूर्वाचार्यों (पद्मपादादि) के मतानुसार ग्रन्थकार बता रहे हैं। ज्ञान के परोक्षत्व या अपरोक्षत्व का होना केवल अन्तःकरण और इन्द्रिय पर ही निर्भर नहीं है। किन्तु ज्ञेय विषय के संनिहित होने पर ही ज्ञानगत-प्रत्यक्षत्व निर्भर है। ज्ञेय विषय के समीप होने पर बाहर निकली हुई अन्तःकरणवृत्ति के द्वारा उससे सम्बन्ध होने पर वृत्ति और विषयचैतन्य दोनों में ऐक्य होकर उस विषय का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। 'तत्त्वमसि' वाक्य से होनेवाले शब्दज्ञान का विषय जो ब्रह्म, वह प्रमातृ-चैतन्य से अभिन्न होने के कारण सदैव सन्निहित ही है। इस कारण शब्द से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) मानने में कोई भी हानि नहीं है। ग्रन्थकार ने इस मत में प्रमाणरूप से ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथमपाद के प्रतर्दनाधिकरण को उपस्थित किया है। वह प्रतर्दनाख्यायिका इस प्रकार है—दैवोदासि प्रतर्दन इन्द्रलोक में गया। वहाँ इन्द्र ने उसे एक वर दिया। किन्तु प्रतर्दन ने कहा कि तुम ही मनुष्य के लिये जो अत्यन्त हितकर समझो उस वर को मुझे दो। तब वहाँ पर इन्द्र ने उसे ब्रह्मज्ञान बताया। उसमें इन्द्र कहता है—'मैं प्रज्ञात्मा (प्राण) हूँ, मेरी उपासना करो' (यहाँ 'प्राण' शब्द के अर्थ में पूर्वपक्षी ने शंका की है कि प्राण शब्द का अर्थ प्राणवायु इत्यादि ग्रहण करना चाहिये। उस पर सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के मत का खण्डन कर प्राण शब्द का अर्थ 'परब्रह्म' ही समझना चाहिये, यह सिद्ध किया है।) इस प्रकार बताने वाले मुझ इन्द्र

१. 'ब्रह्मास्मीति'–इति पाठान्तरम्।

की उपासना करो अर्थात् ब्रह्म की उपासना करो, इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य समझकर कह रहा है। जैसे गर्भ में रहते हुए ही वामदेव को मैं ही मनु था, सूर्य था, इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान हुआ, वैसे ही इन्द्र, शास्त्रीय दृष्टि से (शास्त्र से उपलब्ध हुई दृष्टि से) अपनी और ब्रह्म की साक्षात् अभेदता प्रदर्शित कर रहा है। इस कारण 'तत्त्वमसि' महावाक्य से होनेवाला 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान अपरोक्ष ही है, उसका निर्देश प्रत्यक्षवाची दृष्टि शब्द से ब्रह्मसूत्र के 'शास्त्रदृष्ट्या' आदि सूत्र में किया है।

अब वाचस्पति मिश्र का आशय व्यक्त करते हैं—

[1]अन्येषां [2]त्वयमाशयः—करणविशेष-निबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वम्, न विषयविशेष-निबन्धनम्। एकस्मिन्नेव सूक्ष्मवस्तुनि पटुकरणापटुकरणयोः प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्व-व्यवहार-दर्शनात्। तथा च संवित्साक्षात्त्वे इन्द्रियजन्यत्वस्यैव प्रयोजकतया न शब्दजन्य-ज्ञानस्यापरोक्षत्वम्।

अर्थ—दूसरे वेदान्तियों का आशय यह है–ज्ञान का प्रत्यक्षत्व 'इन्द्रिय-गत-विशेष' पर ही अवलम्बित होता है। 'विषयविशेष' पर नहीं। एक ही सूक्ष्म वस्तु का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षज्ञान क्रमशः इन्द्रिय के सामर्थ्य तथा असामर्थ्यपर अवलम्बित रहता है। इस रीति से ज्ञान के अपरोक्षत्व में 'इन्द्रियजन्यत्व' ही प्रयोजक हेतु होने से वाक्य से होनेवाला ज्ञान अपरोक्ष नहीं है।

विवरण—इस मत में तत्त्वमस्यादि वाक्य से होनेवाले ज्ञान को परोक्ष माना है। प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय पर ही निर्भर रहता है। क्योंकि एक ही सूक्ष्म वस्तु का ज्ञान, इन्द्रिय के सूक्ष्मग्राही न होने पर नहीं होता किन्तु इन्द्रिय के सूक्ष्मग्राही होने पर उसी सूक्ष्म वस्तु का 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' होता है। इसलिये प्रत्यक्ष को इन्द्रियजन्य ही मानना चाहिये अतः शब्द से होनेवाला ज्ञान, परोक्ष ही होता है।

तब ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन क्या है? क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों से तो वह अगम्य है।

ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि मनन-निदिध्यासन-संस्कृतं मन एव करणम्

---

१. अन्येषाम्—भामत्यनुयायिनामित्यर्थः। एषां मते इन्द्रियजन्यत्वस्यैव ज्ञानगत-प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वम्।

२. 'त्वेवमा०'—इति पाठान्तरम्।

'मनसैवानुद्रष्टव्यः'[1] इत्यादिश्रुतेः । मनोऽगम्यत्वश्रुतिश्चासंस्कृतमनोविषया ।

अर्थ–ब्रह्मसाक्षात्कार में भी मननिदिध्यासनादि से सुसंस्कृत हुआ मन ही साधन है । क्योंकि 'मन से ही इसका दर्शन करना चाहिये' आदि श्रुति इसमें प्रमाण हैं । यह ब्रह्म, मन के लिये अगोचर है–यह श्रुति, असंस्कृत मन के सम्बन्ध में समझनी चाहिये ।

विवरण–यदि इन्द्रियों से ब्रह्मज्ञान नहीं होता, तो वह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि मनन और निदिध्यासन से सुसंस्कृत हुए मन की सहायता से ब्रह्मज्ञान होता है । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' जहाँ से मनसहित वाणी निवृत्त होती है—(तै० उ० २–४–१) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को मन से अगम्य बताती हैं, किन्तु उसका अर्थ 'ब्रह्म, असंस्कृत मन से अगम्य है' समझना चाहिये ।

'ब्रह्म' उपनिषन्मात्रगम्य है' इस श्रुति से इस मत का विरोध होगा—ऐसी शंका कर कहते हैं—

न चैवं ब्रह्मण औपनिषदत्वानुपपत्तिः, अस्मदुक्तमनसो वेदजन्यज्ञानान्तरमेव प्रवृत्ततया वेदोपजीवित्वात् । वेदानुपजीविमानान्तरगम्यत्वस्यैव वेदगम्यत्वविरोधि[2]त्वात् ।

अर्थ—किन्तु इस रीति से 'ब्रह्म औपनिषद (उपनिषन्मात्रगम्य) है' इसकी संगति नहीं लग सकेगी—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि वेद से उत्पन्न हुए ज्ञान के अनन्तर ही हमारा मन (ब्रह्मज्ञान के लिए) प्रवृत्त होने से वह वेदोपजीवि (वेद पर अवलम्बित है । यदि कोई पदार्थ, वेद पर अवलम्बित न रहनेवाले अन्य प्रमाणों से गम्य हो तभी उसका वेदगम्यत्व से विरोध होगा, अन्यथा नहीं ।

विवरण—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' उस उपनिषद्गम्य पुरुष के सम्बन्ध में मैं तुम्हें पूछता हूँ' (बृ. ३–९–१६) इस श्रुति से पुरुष (ब्रह्म) उपनिषन्मात्रगम्य प्रतीत होता है, किन्तु ऊपर तो ब्रह्म को संस्कृत मनोगम्य बताया गया है, अतः उसका इस श्रुति से विरोध है—यह आशंका होती है । परन्तु हमारा मन भी प्रथमतः वेद से ब्रह्म के अस्तित्व का ज्ञान होने पर ही, ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये प्रवृत्त होता है । अतः पर्याय से ब्रह्म, उपनिषन्मात्रगम्य ही हुआ । उपनिषन्मात्रगम्यत्व (वेद-मात्र-ज्ञेयत्व) के साथ विरोध तब होगा जबकि ब्रह्म, अनुमानादि अन्य प्रमाणों से ज्ञात होकर पश्चात् मन की तदर्थ प्रवृत्ति हो । हम तो परोक्ष ब्रह्मज्ञान केवल वेदवाक्य से ही मानते हैं अतः विरोध नहीं है ।

१. 'व्यमि'–इति पाठान्तरम् ।
२. 'धात्'–इति पाठान्तरम् ।

तथापि 'शास्त्रदृष्टि'सूत्र में श्रुतिवाक्य से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष बताया गया है, अतः विरोध है ही—ऐसी शंका करके कहते हैं।

[1]शास्त्रदृष्टिसूत्रमपि ब्रह्मविषय[2]मानसप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोज्यत्वादुपपद्यते। तदुक्तम्—

[3]अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थ-ध्यानजा प्रमा।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः पर[4]म्॥ इति॥

अर्थ—'शास्त्रदृष्टि'सूत्र भी उपपन्न हो जाता है। क्योंकि ब्रह्मविषयक मानसिक प्रत्यक्ष (सुसंस्कृत मन के द्वारा ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान) शास्त्रप्रयुक्त (शास्त्रमूलक) ही है। इस विषय में सर्वश्रेष्ठ वाचस्पतिमिश्र की सम्मति इस प्रकार है—'शास्त्र के अर्थ का ध्यान करने से होने वाली प्रमा (ज्ञान) को "अपि संराधने" सूत्र से शास्त्रदृष्टि समझना चाहिये।

विवरण—दूसरे मत के अनुसार 'शास्त्रदृष्टि' सूत्र की उपपत्ति कैसे लगानी चाहिये, सो बताते हैं। 'शास्त्रदृष्टि' शब्द से मानसिक (मन से होने वाले) ज्ञान को ब्रह्म का प्रत्यक्ष ही समझें। क्योंकि वह प्रत्यक्ष शास्त्रप्रयोज्य है। इस विषय में कल्पतरुकार अमलानन्द सरस्वती का श्लोक ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है। उनके कहने का आशय यह है कि शास्त्रार्थ के ध्यान करने से उत्पन्न हुए ज्ञान को ही 'शास्त्रदृष्टि' कहते हैं। 'अपि संराधने' सूत्र में श्रुति की 'प्रत्यक्ष' संज्ञा है और स्मृति की 'अनुमान' संज्ञा है। अतः श्रुतिस्मृति से होने वाले ज्ञान को ही 'शास्त्रदृष्टि' (शास्त्र से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान) कहते हैं—यह वाचस्पतिमिश्र का मत है।

---

१. आनन्दरूपब्रह्मावाप्तिरेव मोक्षः, स च ज्ञानमात्रसाध्यः। ज्ञानं च जीव-ब्रह्मैक्यगोचरापरोक्षसाक्षात्काररूपमेव, तच्च तत्त्वमसीतिमहावाक्याधीनम् अथवा श्रवणादिसंस्कृत मनोनिबन्धनम्। सर्वथा च न उपासनात्मकक्रियासाध्यो मोक्षः, न वा कर्मसाध्यः इति।

२. 'यक'–इति पाठान्तरम्।

३. 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इति सूत्रे शास्त्रदृष्टिः न शास्त्रजन्याऽपरोक्षप्रमा मता अभिमता, किन्तु वेदान्त–शास्त्रार्थध्यानजा प्रमैव शास्त्रदृष्टिर्मता, तां शास्त्रदृष्टिपदवाच्यां शास्त्रार्थध्यानजां प्रमां वाचस्पतिरेव परं केवलं जानाति। अर्थात् शास्त्रार्थध्यानजा प्रमैव शास्त्रदृष्टिः नान्या। तत्र हेतुः—'अपिसंराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्या'मिति तृतीयाध्याये द्वितीयपादस्य सूत्रम्।

४. 'रः'–इति पाठान्तरम्।

ऐसे ज्ञान का साधन बताते हैं—

[1]तच्च ज्ञानं पापक्षयात्[2]। स च कर्मानुष्ठानादिति परम्परया कर्मणां[3] विनियोगः। अत एव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४-४-२२) इत्यादि-श्रुतिः, 'कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्यादि-स्मृतिश्च सङ्गच्छते।

अर्थ—वह ज्ञान पापक्षय से होता है। और वह पापक्षय कर्मानुष्ठान से होता है। इस रीति से परम्परया कर्मों का (ज्ञानप्राप्ति की ओर) विनियोग होता है। इसीलिये 'उस प्रकार के इस (आत्मा) को वेद का अनुवचन (वेदाध्ययन), यज्ञ, दान, तप, उचित-आहार कर ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति एवं 'कर्मों से कषाय (रागद्वेषादि) का पाचन होने पर ज्ञान की प्रवृत्ति होती है' इत्यादि स्मृति की भी संगति लग जाती है।

विवरण—कर्म से पापक्षय होता है और पापक्षय होने पर ज्ञान होता है—इस प्रकार से कर्मों का ज्ञानप्राप्ति में उपयोग है।

जिस प्रकार कर्म का तत्त्वज्ञान में उपयोग होता है उसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन का भी उपयोग बताते हैं—

---

१. 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्धयते॥'
'प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति सार्ष्टिताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥'

इति कर्मणामपि मोक्षे विनियोगः क्रियमाणः कथमुपपद्यते ? इत्याशंकायामयं ग्रन्थः। तस्य परिहारस्तु—

'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।'
'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्' इति सूत्रमपि अमुमर्थं प्रतिपादयति।

विनियोगः—उपकारकत्वम्। न तु अङ्गत्वम्। अतएव 'अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' इति कर्मणां मोक्षानुपयोगः साक्षात् प्रतिपादितः संगच्छते। तथा च श्रुतिः—'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इति।

२. 'द् भवति'—इति पाठान्तरम्

३. 'णामुपयोगः'—इति पाठान्तरम्।

[1]एवं श्रवण-मनन-निदिध्यासनान्यपि ज्ञान-साधनानि। मैत्रेयी-ब्राह्मणे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २-४-४) इति दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २-४-४) इति श्रवण-मनन-निदिध्यासनानां विधानात्।

अर्थ—इसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन भी ज्ञान में साधन हैं। मैत्रेयी ब्राह्मण में (बृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य और उनकी ब्रह्मवादिनी दूसरी पत्नी मैत्रेयी के संवाद प्रकरण में) इस आत्मा का दर्शन करना चाहिये'—इस प्रकार आत्म-दर्शन को उद्देश्य कर 'इसका श्रवण करे, निदिध्यासन करे' इस वाक्य में श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विधान किया है।

श्रवणादिकों की व्याख्या करते हैं—

तत्र श्रवणं नाम वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया। मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तरविरोध-शङ्कायां तन्निराकरणानुकूल-तर्कात्म-[2]ज्ञानजनको मानसो व्यापारः। निदिध्यासनं नाम अनादि-दुर्वासनया विषयेष्वाकृष्यमाण[3]चित्तस्य विषयेभ्योऽपकृष्यात्मविषयक-स्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः।

अर्थ—उनमें से श्रवण का अर्थ है—अद्वितीय ब्रह्म में विद्यमान वेदान्ततात्पर्य के निश्चयार्थ मानसिक क्रिया। मनन का अर्थ है—शब्द (श्रुति) से अर्थनिश्चय होने पर अन्य प्रमाणों से उसके विरोध की शंका होने पर उसके निराकरण के उपयोग में आने-वाले तर्कात्मक ज्ञान को पैदा करने वाला मानसिक व्यापार। निदिध्यासन का अर्थ है—अनादि दुर्वासनाओं से विषयों की ओर आकर्षित होनेवाले चित्त को विषयों से खींचकर (निवृत्त कर) आत्मा में स्थिर करने के अनुकूल मानसिक व्यापार।

विवरण—वेदान्त का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में है—ऐसा निश्चय करनेवाली मन की प्रवृत्ति को ही श्रवण कहते हैं। किन्तु इस अद्वैत का व्यावहारिक अनुभव के साथ विरोध होने पर 'द्वैत आविद्यक' है और परमार्थतः अद्वैत ही है, तुरीयावस्था में त्रिपुटी का लय

---

१. विविदिषाद्वारा ज्ञानसाधनं कर्म बहिरङ्गं साधनं विवेचितम्। इदानीमन्तरङ्ग-साधनानि उच्यन्ते।

एवम्—कर्मवदित्यर्थः। अत्र सादृश्यं ज्ञानसाधनत्वमात्रेण, न तु परम्परया साधन-त्वेनेति बोध्यम्।

२. 'त्मक'—इति पाठान्तरम्।

३. 'णस्य'—इति पाठान्तरम्।

हो जाता है—इत्यादि तर्क करके विरोध को दूर करना ही मनन का प्रयोजन है। विषयों में इधर-उधर भटकने वाले चित्त को अपने वश कर आत्मा में स्थिर करना, निदिध्यासन का कार्य है। निरन्तर दर्शन की इच्छा को निदिध्यासन कहते हैं। यहाँ पर निदिध्यासन शब्द से निध्यानेच्छा का कार्य बताया गया है। वह कार्य यही है कि ध्यान में स्थिरता सम्पादन करने के लिये पुनः-पुनः चिन्तन।

अब इन साधनों में से साक्षात्कार का प्रधान साधन एक ही है, या तीनों समान साधन हैं—इसका विचार करते हैं—

तत्र निदिध्यासनं ब्रह्मसाक्षात्कारे साक्षात्कारणम्। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १–३) इत्यादिश्रुतेः। निदिध्यासने च मननं हेतुः, अकृतमननस्यार्थदार्ढ्याभावेन तद्विषये[1] निदिध्यासनायोगात्। मनने च श्रवणं हेतुः, श्रवणाभावे तात्पर्यानिश्चयेन शाब्दज्ञानाभावेन श्रुतार्थविषयक-युक्तत्वायुक्तत्व-निश्चयानुकूल-मननायोगात्। एतानि त्रीण्यपि ज्ञानोत्पत्तौ कारणानीति [2]केचिदाचार्या ऊचिरे।

अर्थ—तीनों में से निदिध्यासन, ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात कारण होता है। 'उन ऋषियों ने ध्यान योग की सहायता से देवता की अपने गुणों से गूढ हुई शक्ति को देखा' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। निदिध्यासन में मनन हेतु है। जिसने मनन न किया हो ऐसे मनुष्य को वस्तु की दृढ़ता नहीं हो पाती। इस कारण उस विषय में निदिध्यासन की अयोग्यता रहती है। और मनन में श्रवण हेतु होता है। श्रवण के अभाव में शब्दज्ञान का अभाव होने से तात्पर्य निश्चय नहीं हो पाता। इस कारण श्रुति विषय की योग्यता या अयोग्यता के निश्चयार्थ ऐसे मनन की अयोग्यता रहती है। अतः ज्ञानोत्पत्ति में तीनों समानरूपसे कारण नहीं हैं—यह भी कुछ आचार्यों (भामतीकार) का मत है।

विवरण—श्रवण, मनन, निदिध्यासन क्रमशः ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण होते हैं। उनमें निदिध्यासन साक्षात् (अनन्तर) कारण होता है। ये सब एक-एक पर अवलम्बित होने से तीनों ज्ञानोत्पत्ति में साधन होते हैं अर्थात् श्रवणमननोभयविशिष्ट निदिध्यासन

१. 'यक'—इति पाठान्तरम्।

२. इदं श्रीवाचस्पतिमिश्राणां मतम्—अस्मिन् मते अभिक्रमणाद्यङ्गकप्रयाजानां दर्शपूर्णमासयोरिव एकफलसाधनत्वेन त्रीणि न साक्षात्कारसाधनानि, किन्तु सांगं प्रधानमिति द्वितयमेवेति एकस्मिन् वाक्ये निर्देशान्यथानुपपत्त्या श्रवण-मननोभयविशिष्टध्यानस्यैव फलसाधनत्वं युक्तिमिति श्रवण-मननयोरङ्गत्वम्, निदिध्यासनस्यैव प्रधानत्वमिति मिश्रमतम्।

में ही फलसाधनता है। श्रवण और मनन तो निदिध्यासन के अंग हैं और निदिध्यासन ही प्रधान है—ऐसा आचार्य वाचस्पति मिश्र का मत है। यह बात ग्रन्थकार ने 'केचित्' पद से सूचित की है।

इस सम्बन्ध में अन्य आचार्योंका मत बताते हैं—

"[1]अपरे तु—श्रवणं प्रधानम्, मनन-निदिध्यासनयोस्तु श्रवणात्पराचीनयोरपि श्रवणफल-ब्रह्मदर्शन-निर्वर्तकतया आरादुपकारका[2]ङ्गत्वमित्याहुः। [3]तदप्यङ्गत्वं न तार्तीयशेषत्वरूपम्। यस्य श्रुत्याद्यन्यतम-प्रमाणगम्यस्य प्रकृते श्रुत्या[4]द्यन्यतमाभावेऽसम्भवात्।

अर्थ—किन्तु अन्य वेदान्ती (विवरणकार) श्रवण को ही प्रधान मानते हैं। और मनन एवं निदिध्यासन, 'श्रवण' के उत्तराङ्ग होते हैं, तथापि श्रवण के फलस्वरूप ब्रह्मदर्शन के निष्पादक होने से उन्हें आरादुपकारक अङ्ग (संनिहित उपकारक अंग) माना जाता है। तथापि यह अंगत्व (मीमांसादर्शन के) तृतीयाध्याय में बताया हुआ शेषत्व रूप नहीं है। क्योंकि वह अंगत्व श्रुत्यादि (श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या)

---

१. श्रवणं प्रधानं, मनननिदिध्यासने तदुत्तरांगे इति विवरणाचार्यमतम्। प्रधानं साक्षात् कारणम्। मनन-निदिध्यासनयोस्तु अङ्गत्वम्। उत्तरकालीनयोरपि तयोः मनन-निदिध्यासनयोः पूर्वकालीनश्रवणांगत्वमेव। उत्तरकालीनानामपि इडाभक्षणादीनामङ्गत्वदर्शनात्। विवरणमतेन सन्निपत्योपकारकतया श्रवणमङ्गि, आरादुपकारकतया मनन-निदिध्यासने अङ्गे। तथा च सर्वेषां सन्निपत्योपकारकाणामुत्पत्त्यपूर्वजननानुकूलयोग्यतासम्पादकत्वात् परमापूर्वजननानुकूलयोग्यताविशिष्टयागोद्देशेन विधीयमानप्रयाजादीनां विशिष्टयागप्रविष्टतया अवघाताङ्गमपि यत् स्वीक्रियते, तेन न्यायेन अवधृततात्पर्यकशब्दाङ्गत्वेन विधीयमान-मननादेरपि तात्पर्यावधारणरूपश्रवणाङ्गत्वमर्थसिद्धमेव। तथा च प्रयाजादीनामिव मननादेरपि आरादुपकारकत्वमेव। सन्निपत्योपकारकारादुपकारकयोरयमेव विशेषः—यत् करणगतातिशयहेतुः सन्निपत्योपकारकम्। आत्मगतातिशयहेतुरारादुपकारकमिति आरादुपकारकाणां करणोत्पत्त्यपूर्वार्थत्वात् सन्निपत्योपकारकाणां करणार्थत्वाच्च सन्निपत्योपकारकमिव करणविशेषणतया आरादुपकारकं नोद्देश्यतामर्हतीति न आरादुपकारकं कदापि अङ्गितामर्हतीति श्रवणमेवाङ्गि, न निदिध्यासनम्।

२. 'कतया'—इति पाठान्तरम्।

३. 'तदप्यङ्गत्वम्' इत्यत्र अङ्गपदमप्रधानपरम्। न शेषपरम्, शेषताग्राहकश्रुतिलिङ्गादीनामत्र अभावात्। न तार्तीयशेषत्वरूपम्—न श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याप्रमाणसिद्धकारकविशेषत्वम्। तदुक्तम्—"श्रुतिर्द्वितीया क्षमता च लिङ्गं वाक्यं पदान्येव तु संहतानि। सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा स्थानं क्रमो योगबलं समाख्या।"

४. 'द्यभावे'—इति पाठान्तरम्।

किसी प्रमाण से गम्य रहता है, किन्तु प्रकृत में श्रुति आदि किसी प्रमाण के न होने से वैसे शेषत्व का यहाँ सम्भव नहीं है ।

विवरण—यहाँ पर 'अपरे' शब्द से विवरणाचार्य के मत का प्रस्ताव किया है । विवरणाचार्य श्रवण को ब्रह्म-दर्शन में प्रधान कारण मानते हैं और मनन एवं निदिध्यासन को उसका अगभूत साधन मानते हैं । इस अंगभूतत्व को ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है । अंगत्व (शेषत्व) शब्द मीमांसकों का पारिभाषिक है । मीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय में शेषत्व का लक्षण बताया है । उससे प्राधान्य या अङ्गत्व का निर्णय किया जाता है । शेषत्व की व्याख्या 'शेषः परार्थत्वात्' (मी० सू० ३-१-२) सूत्र से की गई है—दूसरे के उपयोग में आना ही शेषत्व है । क्या इस रीति से मनन और निदिध्यासन, श्रवण के शेष हैं ? इस प्रश्न पर वेदान्तियों का उत्तर इस प्रकार है—मनन और निदिध्यासन समीप रहकर श्रवण फल की प्राप्ति में यद्यपि उपकारक होते हैं, तथापि मीमांसकों का बताया हुआ तृतीयाध्यायगत शेषलक्षण यहाँ घटित नहीं होता, क्योंकि मीमांसकों के यहाँ शेषत्व का निश्चय श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या से होता है । इनमें से कोई प्रमाण यहाँ नहीं है । अतः मीमांसक-सम्मत शेषत्व को मनन, निदिध्यासन में नहीं लगाया जा सकता । श्रीवाचस्पतिमिश्र के मत में मन से ही साक्षात्कार होता है । शब्द से नहीं, इसलिये मन के द्वारा फल की उत्पत्ति में उपकारक निदिध्यासन ही है और उसके अङ्गभूत श्रवण तथा मनन होते हैं । किन्तु शब्द से साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) माननेवाले वेदान्ती (विवरणकार) उपर्युक्तकथन का स्वीकार नहीं करते । क्योंकि वे 'श्रवण' को प्रधान मानते हैं ।

अब अङ्गबोधक षट् प्रमाणों में से यहाँ एक भी ज्ञात नहीं होता—इस बात को क्रम से दिखाते हैं—

तथा हि, 'व्रीहिभिर्यजेत' 'दध्ना जुहोति' इत्यादाविव मनन-निदिध्यासनयोरङ्गत्वे न काचित्तृतीया श्रुतिरस्ति । नापि 'बर्हिर्देव-सदनं दामि' इत्यादि-मन्त्राणां बर्हिःखण्डन-प्रकाशनसामर्थ्यवत् किञ्चि ल्लिङ्गमस्ति । नापि प्रदेशान्तर-पठितप्रवर्ग्यस्याग्निष्टोमे प्रवृणक्तीति वाक्यवच्छ्रवणानुवादेन मनननिदिध्यासनयोर्विनियोजकं किञ्चिद्वाक्य-मस्ति । नापि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्यावगत-फलसाधनताकदर्शपूर्णमासप्रकरणे प्रयाजादीनामिव फलसाधनत्वेनाव-गतस्य श्रवणस्य प्रकरणे मनन-निदिध्यासनयोराम्नानम् ।

अर्थ—वह इस प्रकार है—'व्रीहि से याग करे' 'दही से हवन करे' इत्यादि श्रुतियों के समान मनन और निदिध्यासन में अङ्गत्व-बोधन करानेवाली तृतीया श्रुति नहीं है । उसी

तरह 'देवता के आसन के लिये, 'हे दर्भ ! तेरा छेदन करता हूँ' इत्यादि मन्त्रों में जैसे दर्भच्छेदन का बोधन कराने का सामर्थ्य है वैसा अर्थप्रकाशनसामर्थ्य (लिंग) मनन, निदिध्यासन के बारे में नहीं दिखाई पड़ता। उसी तरह अन्यत्र बताये प्रवर्ग्य का 'प्रवृणक्ति' वाक्य अग्निष्टोम में है। इसलिये 'अग्निष्टोम' प्रवर्ग्य का अङ्ग है—इस प्रकार जैसे उसका विनियोग किया जा सकता है, वैसे श्रवण का अनुवाद कर मनन, निदिध्यासन का विनियोग बताने वाला एक भी वाक्य नहीं है। वैसे ही 'स्वर्गेच्छु पुरुष दर्शपूर्णमास याग करे' इस वाक्य से ज्ञात होनेवाले फल का साधनभूत दर्शपूर्णमास-प्रकरणगत प्रयाजों की श्रुति के समान फलसाधक (साक्षात्कारसाधन) श्रवण के प्रकरण में मनन, निदिध्यासन का श्रवण नहीं है।

विवरण—'श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (मी० सू० ३-३-१४) इस सूत्र से ज्ञात होता है कि इन छह प्रमाणों का प्रामाण्य उत्तरोत्तर कम होता जाता है। अर्थात् उत्तर प्रमाण की अपेक्षा पूर्व प्रमाण अधिक बलवान् रहता है। इसलिये ग्रन्थकार ने प्रथम श्रुति से प्रारम्भ किया है। विवरणाचार्य का दृष्टिकोण यह है कि मनन एवं निदिध्यासन को हम श्रवण के अंग मानते हैं, परन्तु वह अंगत्व मीमांसा के तृतीय अध्याय के शेषलक्षण से युक्त नहीं है। शेषत्व की सिद्धि के लिये श्रुत्यादि षट्प्रमाणों में से किसी प्रमाण की अपेक्षा होती है। परन्तु यहाँ पर श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या में से किसी का भी सम्भव नहीं है।

इस पर पूर्वपक्षी शंका करता है कि प्रकरण प्रमाण के द्वारा मनन एवं निदिध्यासन श्रवण में अंग हो सकते हैं।

ननु द्रष्टव्य इति दर्शनानुवादेन श्रवणे विहिते सति फलवत्तया श्रवणप्रकरणे तत्सन्निधावाम्नातयोर्मनन-निदिध्यासनयोः प्रयाजन्यायेन प्रकरणादेवाङ्गतेति चेत्। न। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' इत्यादिश्रुत्यन्तरे ध्यानस्य दर्शन-साधनत्वेनावगतस्याङ्गाकाङ्क्षायां प्रयाजन्यायेन श्रवण-मननयोरेवाङ्गतापत्तेः।

अर्थ—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इस श्रुति से दर्शन का अनुवाद कर श्रवण का विधान करने पर और उसके फलवान् होने से (क्योंकि श्रवण का फल आत्मदर्शन है) श्रवण प्रकरण में उसके सन्निध ही बताये गये मनन, निदिध्यासन को प्रयाजन्याय से अर्थात् प्रकरण-प्रमाण से अङ्गत्व है—ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं। क्योंकि 'उन्होंने ध्यान-योग से देखा' आदि अन्य श्रुति में दर्शन का साधन ध्यान है—यह प्रतीत होने पर उसके अङ्ग कौन-कौन हैं ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर प्रयाजन्याय से श्रवण और मनन में ही अङ्गत्व मानना पड़ेगा।

विवरण—मनन और निदिध्यासन में अङ्गत्व बोधन करानेवाली श्रवण-प्रकरण में श्रुति नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी ने आक्षेप किया कि दर्शन के उद्देश से श्रवण का विधान किया है और उसके समीप ही यदि मनन, निदिध्यासन कहे गये हैं तो प्रयाज-न्याय से (प्रयाजादिकों का स्वतन्त्र फल न होने से वे फलवान् दर्शपूर्णमास के अङ्ग होते हैं) फलवान् कर्मरूप श्रवण के वे अङ्ग हो जाते हैं। इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है—'ते ध्यानयोगानुगताः' इत्यादि श्रुति में आत्मदर्शन का साधन ध्यान बताया गया है। उसके अङ्गों की आकांक्षा उत्पन्न होने पर प्रयाजन्याय से ही श्रवण, मननादि अङ्ग होने लगेंगे। अर्थात् मनन, निदिध्यासनादि श्रवण क्रिया में अङ्ग हैं या ध्यान में अङ्ग हैं—यह निर्णय करने के लिये (विनिगमन करने के लिये) प्रयाजन्याय से अङ्गाङ्गिभाव निश्चित नहीं किया जा सकता।

अब षट्प्रमाणों में से क्रम और संख्या के सम्बन्ध में बताते हैं—

क्रमसमाख्ये च दूरनिरस्ते।

अर्थ—क्रम (स्थान) और समाख्या तो दूर ही रहीं।

विवरण—क्रम का अर्थ है—समानदेशता और समाख्या (यौगिक शब्द) का प्रकृत में सम्भव ही नहीं।

अब प्रयाज के सम्बन्ध में अङ्गत्व विचार क्यों किया ? यह बताकर दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य बताते हैं—

किञ्च प्रयाजादावङ्गत्वविचारः सप्रयोजनः। पूर्वपक्षे विकृतिषु न प्रयाजाद्यनुष्ठानम्, सिद्धान्ते तु तत्रापि तदनुष्ठानमिति। प्रकृते तु श्रवणं न कस्यचित्प्रकृतिः, येन मनन-निदिध्यासनयोस्तत्राप्यनुष्ठान-मङ्गत्वविचारफलं भवेत्। तस्मान्न तार्तीयशेषत्वं मनननिदिध्या-सनयोः।

अर्थ—इसके अतिरिक्त प्रयाजादि के सम्बन्ध में (प्रयाज, दर्शपूर्णमास में अङ्ग है या नहीं) विचार करने का प्रयोजन यह है कि यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है—दर्शपूर्ण-मास की विकृति में (विकृतियागों में) प्रयाज के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं। किन्तु सिद्धान्ती के मत से विकृतियाग में भी प्रयाजादि का अनुष्ठान आवश्यक है। प्रकृत में श्रवण किसी कर्म की प्रकृति तो नहीं है, किस कारण मनन, निदिध्यासन का श्रवण की विकृति में भी अनुष्ठान अवश्य होना ही चाहिये, इस तरह अङ्गत्व विचार फलप्रद होगा। अतः तृतीयाध्याय का शेषलक्षण (अंगलक्षण) मनन, निदिध्यासन में नहीं लग सकता।

विवरण—प्रयाजादिक दर्शपूर्णमास में अङ्ग हैं या नहीं—इस विचार का प्रयोजन यह है कि यदि प्रयाजादिक दर्शपूर्णमास में अङ्ग हों तो दर्शपूर्णमास की विकृति में उनका अनुष्ठान करना ही होगा, और यदि अङ्ग न हों तो विकृति में उनके अनुष्ठान की कोई

आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार श्रवण की विकृति का कहीं उल्लेख न होने से श्रवण-मनन के अङ्गाङ्गिभाव के विचार करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

तब मनन-निदिध्यासन का श्रवण के साथ कैसा सम्बन्ध है, सो बताते हैं—

किन्तु यथा घटादिकार्ये मृत्पिण्डादीनां प्रधानकारणता, चक्रादीनां सहकारि-कारणतेति प्राधान्याप्राधान्यव्यपदेशः, तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासनानामपीति मन्तव्यम्।

अर्थ—परन्तु जिस प्रकार घटादिकार्य की उत्पत्ति में मिट्टी के गोले की प्रधान-कारणता रहती है और चक्र-चीवरादि में सहकारिकारणता होती है, वैसे ही श्रवणमनन-निदिध्यासन में प्रधान-कारणता और सहकारिकारणता (अप्रधानकारणता) होती है।

विवरण—आत्मदर्शन में श्रवण, प्रधान कारण है और मनन-निदिध्यासन, सह-कारिकारण हैं।

इसमें विवरणाचार्य की सम्मति प्रदर्शित करते हैं—

सूचितं चैतद्विवरणाचार्यैः—'शक्तितात्पर्यविशिष्ट-शब्दावधारणं प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानेन कारणं भवति, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्। मनन-निदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणता-संस्कार-परिनिष्पन्न-तदेकाग्रवृत्ति-कार्यद्वारेण ब्रह्मानुभव-हेतुतां प्रति-पद्येते इति फलं प्रत्यव्यवहितकरणस्य तात्पर्यविशिष्टशब्दावधारणस्य व्यवहिते मनन-निदिध्यासने तदङ्गेऽङ्गीक्रियेते' इति।

अर्थ—विवरणाचार्य ने यह सूचित किया है कि 'शक्ति एवं तात्पर्य से विशिष्ट शब्द-ज्ञान, प्रमेय, (ब्रह्मात्मैक्यरूपवाक्यार्थ) के ज्ञान में साक्षात् कारण होता है। क्योंकि प्रमाण, प्रमेय के ज्ञान में साक्षात् कारण होता है। परन्तु मनन और निदिध्यासन 'चित्त' की प्रत्यगात्मश्रवण संस्कारों से निष्पन्न हुई ब्रह्मैकाग्रवृत्ति को कराकर ब्रह्मानुभव में कारण होते हैं। अतः फल (ब्रह्मात्मैक्यरूप वाक्यार्थज्ञान) में साक्षात्कारणभूत, शक्ति एवं तात्पर्य से विशिष्ट जो शब्दज्ञान, उसमें मनन-निदिध्यासन साक्षात्करण न होने से अङ्गरूप से स्वीकृत किये जाते हैं।

विवरण—ब्रह्मात्मैक्यरूपवाक्यार्थज्ञान में शक्ति तथा तात्पर्य से विशिष्ट शब्दज्ञान की अपेक्षा होती है, जिससे साक्षात् प्रमेयज्ञान होता है, मनन और निदिध्यासन, शब्द की अपेक्षा पराचीन (अप्रधान) कारण हैं, इसलिये उनका श्रवणाङ्गत्वेन स्वीकार करना चाहिये—ऐसा विवरणाचार्य के कहने का आशय है।

अब श्रवण में किसे अधिकार है?

श्रवणादिषु च मुमुक्षूणामधिकारः, काम्ये कर्मणि फलकामस्याधि-

कारित्वात् । मुमुक्षायां च नित्यानित्य-वस्तुविवेकस्येहामुत्रार्थ-फलभोग-विरागस्य शमदमोपरति-तितिक्षासमाधानश्रद्धानां च विनियोगः ।

अर्थ—श्रवणादिकों में अधिकार मुमुक्षुओं को ही होता है । क्योंकि काम्य कर्म में जो फलेप्सु हो उसे ही अधिकार होता है । नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इहलोक एवं परलोक के पदार्थों के फलोपभोग में विरक्ति, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा आदि का विनियोग (उपयोग) मुमुक्षा में (मुक्त होने की इच्छा में) होता है । अर्थात् उपयुक्त बातें मुमुक्षोपकारक होती हैं ।

विवरण—श्रवण आदि में सभी का अधिकार क्यों न माना जाय ? इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है—जिसे जिस फल की कामना हो उसी की तत्फलजनक (काम्य) कर्म में अधिकार होता है । जिसे मोक्षरूपफल अभीप्सित हो (जो मुमुक्षु हो) उसी का श्रवण में अधिकार होता है । अब सभी को मोक्षकामना क्यों नहीं होती ? इसके उत्तर में यह बताया जाता है कि ऊपर कही हुई मोक्षकामना में उपकारक नित्यानित्यवस्तुविवेकादि बातें सर्वसाधारण में उपलब्ध नहीं होतीं ।

शमादिकों के लक्षण बताते हैं—

अन्तरिन्द्रियनिग्रहः शमः । बहिरिन्द्रियनिग्रहो दमः । विक्षेपाभाव उपरतिः । शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनं तितिक्षा । चित्तैकाग्र्यं समाधानम् । गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा ।

अर्थ—अन्तःकरण की (वेदान्त प्रतिपादित पदार्थ से अतिरिक्त अन्यत्र) संसर्ग-निवृत्ति को शम कहते हैं । बाह्य इन्द्रियों के निग्रह को दम कहते हैं । (आन्तर या बाह्य इन्द्रियों की) अन्य विषयों में वृत्ति के उदय होने को विक्षेप कहते हैं, और वैसा न होने देने को उपरति कहते हैं । शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन करने को तितिक्षा कहते हैं । चित्त की एकाग्रता ही समाधान (सम्यक् आधान रखना) है । गुरुवचन एवं वेदान्त-शास्त्रवचनों पर विश्वास को श्रद्धा कहते हैं ।

अब उपरति शब्द के अर्थ में दो पक्षों को बताते हैं—

अत्रोपरमशब्देन संन्यासोऽभिधीयते, तथा च संन्यासिनामेव श्रवणाधिकार इति केचित्[1] । अपरे[2] तु उपरमशब्दस्य संन्यासवाचकत्वाभावाद्विक्षेपाभावमात्रस्य गृहस्थेष्वपि सम्भवात्, जनकादेरपि ब्रह्मविचारस्य श्रूयमाणत्वात्सर्वाश्रम-साधारणं श्रवणादि-विधानमित्याहुः ।

१. अत्र 'केचित्' पदेन भाष्यानुयायिनः सूच्यन्ते ।
२. 'अपरे तु' इत्यनेन वार्तिकानुयायिनः सूच्यन्ते ।

अर्थ—कुछ वेदान्तियों का मत है कि 'उपरम' शब्द से संन्यास का बोधन किया जाता है, अतः श्रवण में केवल संन्यासियों को ही अधिकार है। दूसरे कुछ वेदान्तियों का मत है कि 'उपरमशब्द' संन्यास का वाचक नहीं है किन्तु विक्षेपाभाव का वाचक है। और विक्षेपाभाव का होना तो गृहस्थों में सम्भव होने से एवं जनकादिक गृहस्थाश्रमी लोगों ने भी ब्रह्मविचार किया है—ऐसा श्रुत होने से श्रवण आदि में सब आश्रमियों को अधिकार है।

विवरण—यहाँ 'अपरे' पद से वाचस्पति मिश्र आदि वेदान्तियों का ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है।

शंका—सगुणोपासना से भी मोक्षफल प्राप्त होता है—इसमें 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' छान्दोग्य-श्रुति प्रमाण है। तब श्रवण से प्राप्त हुआ तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन क्यों बताया जाता है? इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—

[1]सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्य-द्वारा निर्विशेष-ब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः। तदुक्तम्—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेष-निरूपणैः॥ १॥
वशीकृते मनस्येषां सगुण-ब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥ २॥

अर्थ—सगुणोपासना भी चित्तैकाग्र्य के द्वारा निर्विशेष (निर्गुण) ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण होती है। कल्पतरुकार ने कहा है कि 'निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार करने में जो लोग असमर्थ हैं। उन मन्द (बुद्धिहीन) लोगों के लिये श्रुति ने सविशेष ब्रह्म का

---

१. श्रवणादीनां यथा ब्रह्मानुभवसाधनत्वं, तथैव सगुणोपासनस्यापि अस्ति। सगुणोपासनं नाम 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' इत्यादिना विहितमुपासनम्। सगुणोपासनस्य मानसक्रियारूपत्वात्, क्रियायाश्च अनुभवाऽहेतुत्वात् न तस्य निर्विशेषब्रह्मानुभवहेतुत्वमिति न मन्तव्यम्। सगुणोपासनस्य परम्परया ब्रह्मानुभवहेतुत्वम्। तदुक्तम्—'निर्विशेषं परं' ब्रह्म इति। ये मन्दाः दुर्वासनावासितान्तःकरणा वैराग्याद्यभावात् श्रवणादिसाधनहीनाः निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात् कर्तुमनीश्वरा अक्षमास्ते सविशेषनिरूपणैः सगुणब्रह्मोपासननिरूपणैः अनुकम्प्यन्ते अनुगृह्यन्ते।

'वशीकृते' इति पद्येन सगुणोपासनस्य फलं दर्शयति। एषां मन्दानां सगुणब्रह्मशीलनात् सगुणब्रह्मोपासनाभ्यासात् मनसि वशीकृते ब्रह्मणि एकाग्रे सति तदेव परं ब्रह्म अपेतोपाधिकल्पनम् तत् निरुपाधिकं सत् साक्षात् आविर्भवति।

निरूपण बड़ी अनुकम्पा (दया) से किया है। सगुण ब्रह्म के अभ्यास के द्वारा चित्त के वश होने पर उपाधिकल्पना से रहित वही निर्विशेष ब्रह्म साक्षात् प्रकट होता है।'

विवरण—ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत किये हुए कल्पतरु टीका के श्लोक 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १-१-२०) सूत्र के व्याख्यान में हैं।

जिन सगुणोपासकों को इस लोक में श्रवणादिकों के अभाव से साक्षात्कार नहीं हुआ, उन लोगों को कौन सी गति मिलती है ? इसका उत्तर देते हैं—

सगुणोपासकानां चार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गतानां तत्रैव श्रवणादुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह मोक्षः।

अर्थ—सगुणब्रह्मोपासक जो अर्चिरादिमार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, उन्हें वहीं पर (ब्रह्मलोक में ही) श्रवणादि द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होता है, और वे ब्रह्मदेव के साथ मोक्ष पाते हैं।

अब कर्म करनेवालों की गति बताते हैं—

कर्मिणां तु धूमादिमार्गेण पितृलोकं गतानामुपभोगेन कर्मक्षये सति पूर्वकृतसुकृतदुष्कृतानुसारेण ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु पुनरुत्पत्तिः। तथा च श्रुतिः—

'रमणीय-चरणा[१] रमणीयां योनिमापद्यन्ते, कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते' (छा० ५-१०-१) इति।

प्रतिषिद्धानुष्ठायिनां तु रौरवादि-नरकविशेषेषु तत्तत्पापोपचितं तीव्रदुःखमनुभूय श्व-शूकरादितिर्यग्योनिषु स्थावरादिषु चोत्पत्तिरित्यलं प्रसङ्गादागतप्रपञ्चेनेति।

अर्थ—कर्म करनेवालों को धूमादिमार्ग से पितृलोक में जाकर कर्मफलों का उपभोग लेने के पश्चात् कर्मक्षय होने पर पूर्वपुण्यानुरूप ब्रह्मादिस्थावरान्तपदार्थों में पुनर्जन्म प्राप्त होता है। इसी को छान्दोग्यश्रुति बता रही है—

"रमणीय आचरणवाले लोगों को रमणीय योनि प्राप्त होती है और पापचारी लोगों को, पापयोनि प्राप्त होती है।"

प्रतिषिद्ध कर्मों के आचरण करनेवालों को रौरवादिक नरकों में तत्तत् पापानुरूप तीव्र दुःखों का अनुभव होने पर कुत्ता, सूअर आदि प्राणियों की योनि में अथवा स्थावरशरीर में जन्म मिलता है। अस्तु, प्रसंगप्राप्त विचार को अब समाप्त किया जाता है।

---

१. रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माणः रमणीयां योनिम् ब्राह्मणादियोनिम्, कपूयचरणाः निन्दितकर्माणः। कपूयां योनिम् श्वशूकरादियोनिम्। आपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति।

विवरण—कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक शास्त्रविहित और दूसरे शास्त्रप्रतिषिद्ध। शास्त्रविहित कर्म करनेवालों का पितृलोकादि में गमन, वहाँ सुकृतोपभोग, पश्चात् पूर्वकर्मानुसार योनिप्राप्ति और शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म करनेवालों को नरकगत तीव्रदुःखानुभव, पश्चात् दुष्टयोनिप्राप्ति—इस प्रकार से गति बताई है।

किन्तु निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कार करनेवालों की ऐसी गति नहीं होती, उसे बताते हैं—

निर्गुण-ब्रह्मसाक्षात्कारवतस्तु न लोकान्तर-गमनम्, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० उ० ४।४।६) इति श्रुतेः। किन्तु यावत्प्रारब्धकर्मक्षयं सुखदुःखे अनुभूय पश्चादपवृज्यते।

अर्थ—जिसे निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ है वह जीव कहीं भी अन्य लोक में नहीं जाता, उसके 'प्राण' उत्क्रमण नहीं करते (ऊपर नहीं जाते) यह श्रुति प्रमाण है। प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने तक सुखदुःखानुभव लेकर वह मुक्त होता है।

विवरण—शंका—सगुणोपासक और निर्गुणोपासक दोनों में विद्यावत्त्व एक-सा होने के कारण सगुणोपासकों की तरह निर्गुणोपासकों की भी लोकान्तरगति माननी चाहिये। क्योंकि 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इस वचन के अनुसार लोकान्तरगति द्वारा ही ब्रह्मप्राप्ति बताई गई है।

समाधान—निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले को लोकान्तर में नहीं जाना पड़ता। क्योंकि वृहदारण्यक श्रुति कहती है कि 'ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार करनेवाले एवं कामनारहित हुए उस पुरुष के प्राण उत्क्रमण नहीं करते अर्थात् ऊर्ध्वगमन नहीं करते।' क्योंकि कामनारहित हुए उस पुरुष के कोई कर्म ही नहीं होने से गमन-क्रिया का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। गमन-क्रिया में कारण होते हैं कर्म। अतः कारणभूत कर्म के न होने से गमन नहीं होता। एवंच 'न तस्य प्राणाः' इस श्रुति ने उसके प्राणों की उत्क्रान्ति का निषेध किया है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस वचन से तो विद्या और ब्रह्मप्राप्ति की समकालता बताई गई है। अतः गन्तृ-गन्तव्य आदि का विभाग न रह जाने से लोकान्तरप्राप्तिपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति का होना उस निर्गुणोपासक के लिये नहीं है। उसके लिये तो विद्योदयसमकाल ही ब्रह्मप्राप्ति है।

शंका—विद्योदयसमकाल ही यदि ब्रह्मप्राप्ति है तो विद्योदयसमकाल में ही उस निर्गुणोपासक को विदेह-कैवल्य की प्राप्ति होनी चाहिये। क्योंकि विद्या के द्वारा अविद्या का जब नाश हो जाता है, तब अविद्या के कार्य जो शरीर आदि सुख आदि हैं उनका नाश भी अवश्यम्भावी है, क्योंकि उपादेय का नाश उपादान के नाश पर निर्भर होता है। निरुपादान हुए कार्य की स्थिति नहीं हो सकती। अतः विद्योदयसमकाल में ही विदेह-कैवल्य की प्राप्ति उसे होनी चाहिये।

समाधान—प्रारब्ध-कर्मों का क्षय होने तक सुख-दुःख आदि का अनुभव करने के पश्चात् उसे विदेह-कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् मुक्त हो जाता है। जिस

कर्म से जन्म, आयु, भोग प्राप्त होते हैं एवं विस्तृत होते हैं, उसी कर्म को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। यहाँ अनेक जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं उनमें पहिली जिज्ञासा यह है कि क्या एक कर्म, एकजन्म-प्राप्ति का कारण होता है या अनेकजन्मप्राप्ति का कारण होता है ?

दूसरी जिज्ञासा यह है कि क्या अनेक कर्म, अनेक जन्म पाने में कारण हैं, या एक जन्म के पाने में कारण हैं ? इनमें प्रथम पक्ष तो इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता कि अनादि काल से संचित हुए असंख्येय कर्मों में से किसी एक कर्म को एक जन्म-प्राप्ति का कारण यदि माना जाय तो अवशिष्ट कर्मों के और वर्तमान जन्म में अनुष्ठित किये जानेवाले कर्मों के फल का कोई क्रम नियत न होने से और भावि पाप आदि से अनुष्ठीयमान पुण्य का नाश संभव होने से पुण्यानुष्ठान के प्रति लोगों को विश्वास नहीं रहेगा। अतः प्रथम पक्ष उचित नहीं है। द्वितीय पक्ष इसलिये उचित नहीं है कि अनेक जन्मों में अनुष्ठित अनेक कर्मों में से एक कर्म को अनेक जन्मों का कारण (आरम्भ) यदि मानते हैं तो अवशिष्ट कर्मों के विपाक (फल) का काल न आ पाने से कर्मों की विफलता होगी, और उनकी विफलता होने से कोई भी उनका अनुष्ठान नहीं करेगा। अर्थात् कर्मानुष्ठान में किसी का विश्वास नहीं रहेगा। अतः द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि अनेक जन्म युगपत् तो हो नहीं सकते, वे तो क्रम से ही होंगे। क्रमिक होने पर प्रथम पक्ष में जो दोष बताये गये हैं, वे प्राप्त होंगे। अतः यही स्वीकार करना होगा कि जन्म और मरण के बीच में सम्पन्न किया गया पुण्यापुण्यकर्माशय-प्रचय, जो गुण-प्रधानभाव से अवस्थित रहता है वह मरण से अभिव्यक्त होता है। उससे जन्मादि लक्षण कार्य कर्तव्य रहने पर, वहीं पुण्यापुण्यकर्माशय प्रचय एकलोलीभाव को प्राप्त हुआ, एक जन्मरूप कार्य को ही पैदा करता है। अर्थात् अनेक कर्मों से एक जन्म होता है, यानी एक जन्म के पाने में अनेक कर्मों को कारण मानना चाहिये। यह स्वीकार करने से पहले-पहले पक्षों में जो दोष प्राप्त होते थे, वे अब उपस्थित नहीं हो सकेंगे। ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार होने पर भी प्रारब्धकर्म का क्षय होना उपभोग के बिना संभव नहीं। अतः उस अवस्था में भी देह आदि विद्यमान रहते ही हैं। निर्गुणोपासक को ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर उसके देह आदि की विद्यमानता अनुचित नहीं कही जा सकती। जैसे ज्ञान के द्वारा अज्ञान का विनाश होने पर भी सर्पभ्रम दूर होने जाने पर भी उसका संस्कार शेष रहता ही है, उस अवशिष्ट संस्कार के कारण ही भय, कम्प आदि किञ्चित् समय तक होते रहते हैं। अथवा दण्डसंयोग के न रहने पर भी चक्रभ्रमि के समान अविद्यालेश (अविद्या की सूक्ष्मावस्था) की अनुवृत्ति होने से देह आदि की भी अनुवृत्ति होना असम्भव नहीं है। जैसे याग के समाप्त हो जाने पर भी याग की सूक्ष्मावस्थारूप अपूर्व को यागनिष्ठसाधनता के निर्वाहक रूप में स्वीकार किया जाता है, वैसे ही अज्ञान के नष्ट होने पर भी उसकी सूक्ष्मावस्थारूप

लेश को देहादि प्रतीत्यनुकूलत्वेन स्वीकार करना पड़ता है। स्वर्गजनकतानिर्वाह श्रुति के समान यहाँ भी जीवन्मुक्त श्रुति के बल पर उपर्युक्त कथन का स्वीकार करना ही पड़ता है।

शंका—अज्ञान रूप उपादान के बिना देहादि की स्थिति कैसे होगी ?

समाधान—समवायिकारण के बिना भी विनश्यदवस्थ-कार्य की स्थिति जिस प्रकार रहती है, उसी प्रकार भुज्यमानकर्माभावसहकृत-अविद्यादि-उपादान कारण का नाश उस समय तक नहीं हुआ है, यह मानना चाहिये। अतः निर्गुणोपासक के देहादि की स्थिति रहने में कोई बाधक नहीं है। एवं च कार्यनाश के प्रति प्रतिबन्धकाभावसहकृत-उपादान-नाश को कारण मानना चाहिये। केवल उपादाननाश को नहीं।

शंका—अविद्या के रहते हुए उस निर्गुणोपासक को 'मुक्त' कैसे कहा जायगा ?

समाधान—अविद्या की कार्यजनन शक्ति के नष्ट होने से उस निर्गुणोपासक को 'मुक्त' कहा जाता है। अनारब्ध फलवाले कर्मों का तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है और आरब्ध फलवाले कर्मों का उपभोग से क्षय हो जाता है, तब देहस्थिति में कारणभूत कर्मों के न रहने से देहपात हो जाता है। देहपात होते ही मुक्ति हो जाती है। अर्थात् वही उसका चरम (अन्तिम) देह है, उसके बाद उसे देहधारण नहीं करना पड़ता।

अब निर्गुण तत्त्वसाक्षात्कार करनेवाले मनुष्यों के प्रारब्ध-कर्म शेष रहते हैं, यह तो श्रुति-स्मृति विरुद्ध है—ऐसी शंका कर उसका समाधान बताते हैं—

ननु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मु० ३-८) इत्यादिश्रुत्या। 'ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (भ० गी० ४-३७) इत्यादिस्मृत्या च ज्ञानस्य सकलकर्मक्षयहेतुत्वनिश्चये सति प्रारब्धकर्मावस्थानमनुपपन्नमिति चेत्। न। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६-१४-२) इत्यादिश्रुत्या नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इत्यादिस्मृत्या चोत्पादितकार्यकर्मव्यतिरिक्तानां सञ्चित[1]कर्मणामेव ज्ञानविनाशित्वावगमात्।

अर्थ—'उस परावर (ब्रह्म) का दर्शन होने पर इसके (जीव के) सब कर्मों का क्षय होता है' इस श्रुति में और 'ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्मसात् करता है' इस स्मृति में 'ज्ञान' को समस्त कर्मक्षयकारक निश्चित किया होने से 'प्रारब्धकर्म' शेष रहते हैं यह मानना अनुपपन्न है—ऐसा कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि 'जबतक उसका देहपात नहीं होता तभी तक विलम्ब है, देहपात होते ही वह सत्सम्पन्न हो जाता है' इत्यादि श्रुति से और 'अभुक्त कर्म का क्षय नहीं होता' इस स्मृति के देखने से प्रतीत होता है कि जिस

१. 'सञ्चित–क्रियमाणकर्मणा'–मिति पाठान्तरम्।

कर्म ने अपना कार्य उत्पन्न किया है ऐसे कर्म के अतिरिक्त समस्त सञ्चित-कर्मों का ज्ञान से नाश होता है।

विवरण—शंका—तत्त्वज्ञान को यदि कर्मनाशक माना जाता है, तो आरब्ध-फल-वाले कर्म का भी उसी से नाश मानना चाहिये। ऐसी स्थिति में निर्गुणोपासक की देह-स्थिति कैसे हो सकती है ? क्योंकि श्रुति-स्मृतियों में तत्त्वज्ञान को अविशेषेण कर्म-नाशक कहा गया है इसी शंका का उपपादन मुण्डकोपनिषद् ने 'क्षीयन्तेचास्य' के द्वारा किया है। उपनिषद् ने 'कर्माणि' यह सामान्यरूप से प्रयोग किया है। इसी तरह एक श्रुति और भी है—'तद् यथेषीका तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' इति। सभी कर्मों का नाश होना केवल श्रुति ने ही नहीं बताया है अपितु स्मृति ने भी 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' के द्वारा बताया है। अतः प्रारब्धकर्म भी कर्म होने के नाते उनका (प्रारब्धकर्म का) भी ज्ञान से नाश अवश्य ही होना चाहिये। अतः तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्धकर्म रह जाते हैं, यह कथन ठीक नहीं है।

समाधान—सिद्धान्ती भी श्रुति-स्मृति द्वारा उक्त आशंका का समाधान करता है। सिद्धान्ती का कहना है कि आचार्योपदेशजनिततत्त्वज्ञानसम्पन्न पुरुष, सदात्मस्वरूप हो जाता है। सदात्मस्वरूपसम्पत्ति की प्राप्ति में उसे उतना ही विलम्ब है कि जिस कर्म के कारण शरीर प्राप्त हुआ है, उसका उपभोग लेकर क्षय जवतक नहीं होता अर्थात् देहपात नहीं होता, वस देहपात होने तक का ही विलम्ब है। अर्थात् देहपात और सत्सम्पत्ति में कोई कालभेद नहीं है। एवंच—इस श्रुति ने मोक्षात्मक सत्सम्पत्ति में शरीरपात की ही अवधि बताई। उसी तरह स्मृति ने भी 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प-कोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' प्रारब्धकर्म को अवश्य भोक्तव्य बताया है। यदि सभी कर्मों को एकमात्र उपभोग से ही नाश्य माना जाय तो मोक्ष का कभी अवसर ही नहीं आवेगा। क्योंकि अनादि काल से प्रचित, अगणित, विविधविचित्र-विपाक निवर्तक कर्मों का उपभोग एक शरीर के द्वारा हो नहीं सकता। हाँ, कुछ कर्मों का विनाश उपभोग के द्वारा हो सकने पर भी अवशिष्ट रहे सञ्चित और क्रियमाण, जो क्रमशः बढ़ते जाते हैं उनका क्रमपूर्वक उपभोग करने के लिये शरीर-प्रवाह का रहना अवश्यंभावी है, तब उसका उच्छेद होना कभी भी सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि सभी कर्मों को ज्ञान-नाश्य मानने पर श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि में अवान्तर-तम, प्रभृति विद्वानों का तत्तद्देहपरिग्रह और परित्याग करना जो बताया गया है, वह उपपन्न नहीं हो सकेगा।

तीसरी बात यह है कि 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न' श्रुति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति में शरीरपातरूप जो अवधि बताई गई है, उसकी उपपत्ति नहीं लग सकेगी। क्योंकि सभी कर्मों का क्षय हो जाने पर देहपात की प्रतीक्षा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। 'तस्य तावदेव चिरम्' श्रुति का 'चिरत्व' परक अर्थ—करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि

अन्यश्रुतिवचन से प्राप्त 'चिरत्व' को उद्देश्य कर उपर्युक्त श्रुति के द्वारा 'देहपातावधिमात्र' का विधान किया जा रहा है। ऐसा न मानकर 'चिरत्व' रूप अवधिविशेष को यदि यह वाक्य बतावेगा तो 'वाक्यभेद' दोष होने लगेगा। अतः आरब्ध फलवाले कर्मों का विनाश उपभोग से और अनारब्ध फलवाले कर्मों का विनाश तत्त्वज्ञान से होता है, यह मानना चाहिये। 'उत्पादितकार्यकर्मव्यतिरिक्तानाम्' उत्पादितं कार्यंजात्यायुर्भोगलक्षणं येन तदुत्पादितकार्यं, तच्च तत्कर्म चेति तदुत्पादितकार्यकर्म, तद्व्यतिरिक्तानाम्। अर्थात् प्रारब्धकर्म के अतिरिक्त कर्मों का। जन्मान्तर में किये गये अनारब्ध फलवाले कर्मों को सञ्चितकर्म कहते हैं। वर्तमान जन्म में किये गये तथा किये जानेवाले अनारब्ध फलवाले कर्मों को क्रियमाण कर्म कहते हैं। एवंच संचित और क्रियमाण अनारब्ध फलवाले कर्मों का ही तत्त्वज्ञान से विनाश होता है।

जिन कर्मों के फलोन्मुख होने से जीव को प्रकृतजन्म प्राप्त हुआ और उस जन्म में ब्रह्मज्ञान हुआ, 'वे कर्म' दग्ध नहीं होते, तद्व्यतिरिक्त अन्य समस्त-कर्मों का ब्रह्मज्ञान से नाश होता है—यह ग्रन्थकार का आशय है।

सञ्चित कर्मों के प्रकार और उनका वर्गीकरण बताते हैं—

सञ्चितं द्विविधम्—सुकृतं दुष्कृतं चेति। तथा च श्रुतिः—'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति।

अर्थ—सञ्चित कर्म दो प्रकार का है—पुण्य और पाप, इस विषय में श्रुति इस प्रकार है—"उसके (ब्रह्मज्ञानी के) पुत्र को धनादि हिस्सा मिलता है, मित्रों को उसके सत्कृत्य (पुण्य) और शत्रुओं को पापकृत्य (पाप) मिलते हैं।

विवरण—अनारब्ध फलवाले संचित और क्रियमाण कर्मों में से ज्ञानी के मित्रों को सुकृत और उसके शत्रुओं को (निन्दकों को) पाप मिलता है—इस प्रकार से ज्ञानी के संचित और 'क्रियमाण' का वर्गीकरण है। यहाँ 'सञ्चित' शब्द 'क्रियमाण' का भी उपलक्षण है। 'साधुकृत्या' का अर्थ 'सुकृत' और 'पापकृत्या' का अर्थ 'दुष्कृत' है।

इस पर तार्किक शंका करता है—

ननु ब्रह्मज्ञानान्मूलाज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यप्रारब्धकर्मणोऽपि निवृत्तिः, कथं ज्ञानिनो देहधारणमुपपद्यते ? इति चेत्। न। अप्रतिबद्धज्ञानस्यैवाज्ञाननिवर्तकतया प्रारब्धकर्मरूप-प्रतिबन्धक-दशायामज्ञाननिवृत्तेरनङ्गीकारात्।

अर्थ—(शंका) ब्रह्मज्ञान से मूलभूत अज्ञान की निवृत्ति होने पर उस अज्ञान के कार्यरूप प्रारब्धकर्म की भी निवृत्ति होनी चाहिये। तब ज्ञानी सदेह कैसे रह सकता है? अर्थात् देहधारक कर्म कैसे अस्तित्व में रह सकेगा ? उसका देहपात ही होना चाहिये।

(समाधान) नहीं। जो ज्ञान अप्रतिबद्धफलक (ज्ञानफल जो मोक्ष, उसे अवश्य देनेवाला) होता है, वही अज्ञान-निवर्तक होने से जब तक प्रारब्धकर्मरूप प्रतिबन्ध रहता है तबतक उस अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, इस पक्ष का हम स्वीकार करते हैं।

विवरण—मोक्ष को ज्ञान का फल मानने पर उससे अज्ञान-निवृत्ति होनी ही चाहिये—इस पक्ष का स्वीकार करना चाहिये। तथापि इस प्रकार निवृत्ति होकर भी ज्ञान-क्षण में ही देहपात नहीं होता। इस कारण मोक्ष को ज्ञान का ऐकान्तिक फल नहीं कह सकते। केवल सञ्चितकर्म ही तत्कारणीभूत अज्ञान की निवृत्ति होने से नष्ट होते हैं। इसीलिये प्रवृत्तफलवाले कर्म (प्रारब्धकर्म) को ज्ञानफल (मोक्ष) का प्रतिबन्धक माना है। तथापि वे एकान्त-प्रतिबन्धक नहीं हैं। क्योंकि प्रारब्धकर्म का क्षय होने पर या देहपात के अनन्तर ज्ञानी को अन्यत्र कहीं गति नहीं है। इस प्रकार से ज्ञान में एकान्तफलप्रदत्व या प्रारब्ध कर्म में एकान्त-प्रतिबन्धकत्व वेदान्त ने माना नहीं है।

इस पर पुनः एक शंका—

नन्वेवमपि तत्त्वज्ञानादेकस्य मुक्तौ सर्वमुक्तिः स्यात्, अविद्याया एकत्वेन तन्निवृत्तौ क्वचिदपि संसारायोगादिति चेत्। न। इष्टापत्तेरित्येके। अपरे त्वेतद्दोषपरिहाराय 'इन्द्रो मायाभिः' इति बहुवचनश्रुत्यनुगृहीतमविद्याया नानात्वमङ्गीकर्तव्यमित्याहुः।

अर्थ—इस रीति से भी (प्रारब्धकर्म के क्षय के अनन्तर समस्त अज्ञान की निवृत्ति होने पर मुक्ति के मिलने से) एक को मोक्ष-प्राप्ति होने पर सभी को मुक्ति प्राप्त होगी। अविद्या (अज्ञान) के एक होने से उसकी निवृत्ति होने पर कहीं पर भी संसार का रहना अनुचित होगा। परन्तु एक पक्ष ऐसा भी है जो इसे इष्टापत्ति बतलाता है। (क्योंकि शुक, नारदादिकों के मुक्त होने पर हम मुक्त होते हों तो यह पक्ष हमें इष्ट ही है) किन्तु अन्य लोग इस दोष का परिमार्जन करने के लिये 'इन्द्र मायाओं से अनेक रूपों को धारण करता है' इस श्रुति में 'मायाभिः' बहुवचनान्त पद से अविद्या का बहुत्व स्वीकार किया जाय—ऐसा बताते हैं।

विवरण—इस शंका की जड़ (मूल) में 'एक जीववाद' और 'नाना जीववाद' है। 'एकजीववाद' के स्वीकार करने पर एक की मुक्ति होने से सब की मुक्ति होनी चाहिये, किन्तु शुक, नारदादिकों के मुक्त होने पर भी हम बन्धन में ही हैं—यह अनुभवसिद्ध होने से ग्रन्थकार ने 'नाना जीववाद' को बताया है। ऊपर उपाहृत श्रुति में 'मायाभिः' इस बहुवचनान्त पद के होने से ईश्वर की नानाविध (अनेक) अविद्याएँ मानी जाती हैं। जिसकी अविद्या निवृत्ति होगी वही मुक्त होगा। इस कारण 'एक जीववाद' पक्ष में होनेवाली अनवस्था अब नहीं होगी।

किन्तु नाना अविद्या के मानने में गौरव होने से लाघवार्थ तीसरा पक्ष बताया जाता है

अन्ये त्वेकैवाविद्या, तस्या एवाविद्याया जीवभेदेन ब्रह्मस्वरूपावरण-शक्तयो नाना । तथा च यस्य ब्रह्मज्ञानं, तस्य ब्रह्मस्वरूपावरण-शक्तिविशिष्टाविद्यानाशः, न त्वन्यं प्रति ब्रह्मस्वरूपावरण-शक्ति-विशिष्टाविद्यानाश इत्यभ्युपगमात् नैकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः ।

अर्थ–किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि अविद्या तो एक ही है, किन्तु उस अविद्या की भिन्न-भिन्न जीवों में ब्रह्मस्वरूप को आवृत करनेवाली नाना शक्तियों को स्वीकार करना चाहिये । यह मानने से जिसे ब्रह्मज्ञान होगा, केवल उसके ही ब्रह्मस्वरूपावरण-शक्तिविशिष्ट अविद्या का नाश होगा । अन्य के नहीं । ऐसा मानने पर एक की मुक्ति होने से सब की मुक्ति का अतिप्रसङ्ग नहीं होगा ।

विवरण–इस मत में अविद्या तो एक ही है केवल उसकी नाना शक्तियाँ स्वीकृत की गई हैं--इतना ही लाघव हुआ है । ग्रन्थकार ने इसी मत में अपनी सम्मति प्रदर्शित की है—

अत एव च 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (ब्र० सू० ३-३-३२) इत्यस्मिन्नधिकरणेऽधिकारि-पुरुषाणामुत्पन्न[1]तत्त्वज्ञानानामिन्द्रादीनां देहधारणानुपपत्तिमाङ्क्याधिकारापादक-प्रारब्धकर्मसमाप्त्यनन्तरं विदेहकैवल्यमिति सिद्धान्तितम् ।

अर्थ—इसीलिये 'यावदधिकार' इस अधिकरण में जिन्हें तत्त्वज्ञान हुआ है ऐसे भिन्न-भिन्न लोकपालनादि अधिकार पर आरूढ़ हुए पुरुषों को इन्द्रादिकों का देह धारण करना सम्भव नहीं—ऐसी आशंका कर तत्तद् अधिकार को प्राप्त करा देनेवाले प्रारब्धकर्म की परिसमाप्ति के अनन्तर उन्हें विदेह कैवल्य प्राप्त होता है—यह सिद्धान्त किया है ।

विवरण—ऊपर दिये गये इन्द्रादि के उदाहरण से दो बातें सिद्ध होती हैं ।

१—अज्ञान निवर्तक तत्त्वसाक्षात्कार के होने पर भी प्रारब्धकर्म के क्षय होने तक विदेहमुक्ति नहीं मिलती ।

२—जिस जीव की आवरण शक्ति का नाश होगा उस जीव की अविद्या का नाश होगा और केवल उसे ही मुक्ति मिलेगी, अन्य को नहीं ।

यह सिद्धान्त किसने किया है उसे बताते हैं—

तदुक्तमाचार्यवाचस्पतिमिश्रैः—

उपासनादि-संसिद्धि-तोषितेश्वर-चोदितम् ।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति ।

१. 'ब्रह्म'–इति पाठान्तरम् ।

अर्थ—आचार्य वाचस्पति मिश्र ने यह कहा है कि उपासना आदि की पूर्ण सिद्धि से सन्तुष्ट हुए ईश्वर के द्वारा निर्दिष्ट किये अधिकार को समाप्त कर वे ब्रह्मज्ञानी परमपद में प्रवेश पाते हैं।

इसी मत की समीचीनता बताते हैं :—

एतच्चैकमुक्तौ सर्वमुक्तिरिति पक्षे नोपपद्यते। तस्मादेकाविद्या-पक्षेऽपि प्रतिजीवमावरणभेदोपगमेन व्यवस्थोपपादनीया।

अर्थ—और वह (अपना-अपना अधिकार समाप्त कर परमपद में प्रवेश पाना) 'एक के मुक्त होने पर सब मुक्त होते हैं' इस मत में संघटित नहीं हो पाता। इसलिये अविद्या एक ही है—यह मानने पर भी प्रत्येक जीव में उसकी आवरण-शक्ति का भेद मानकर जीवों की मुक्ति की व्यवस्था लगानी चाहिए।

विवरण—इससे ग्रन्थकार को एक जीववाद पक्ष अभीष्ट नहीं है—यह स्पष्ट है।

अब प्रकृत प्रयोजनपरिच्छेद का उपसंहार करते हैं :—

तदेवं ब्रह्मज्ञानान्मोक्षः, स चानर्थ-निवृत्तिर्निरतिशय-ब्रह्मानन्दा-वाप्तिश्चेति सिद्धं प्रयोजनम्।

इति श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रदीक्षितविरचितायां वेदान्तपरिभाषा-यामष्टमः प्रयोजनपरिच्छेदः समाप्तः ॥ ८ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

—:०:—

अर्थ—तस्मात् इस रीति से ब्रह्मज्ञान के द्वारा 'मोक्ष' प्राप्त होता है और वह मोक्ष अर्थात् शोक, मोह, जरा, मरण इत्यादि अनर्थों की निवृत्ति एवं तारतम्यरहित ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होना ही वेदान्त का प्रयोजन है—यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रदीक्षितविरचित वेदान्तपरिभाषा नामक (वेदान्त प्रकरण) ग्रन्थ का आठवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।

कृपाकणमवाप्यैव येषां व्याख्या मया कृता।
तांस्तातचरणान् मूर्ध्ना नन्नमीति गजाननः॥
कणेहत्य प्रयत्नोऽस्य सरलीकरणे कृतः।
शिष्यक्षेत्रं समासाद्य गुरौ गुरु फलिष्यति॥

इति मुसलगाँवकरोपनामकश्रीगजाननशास्त्रिविरचिता
सविवरण-'प्रकाश' व्याख्या समाप्ता॥

—:०:—

पृष्ठक्रम के अनुसार चित्रपट द्वारा वेदान्त-परिभाषा का पुनरावलोकन ।
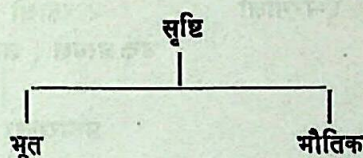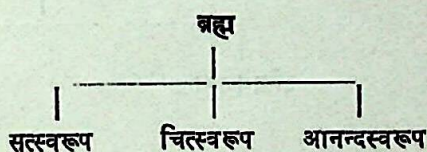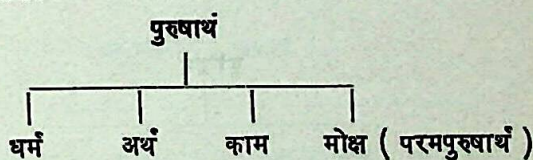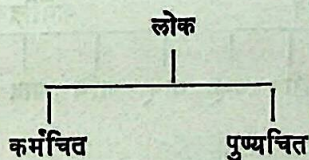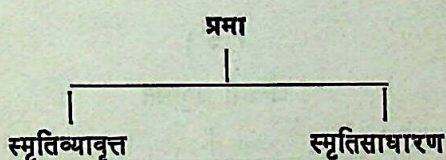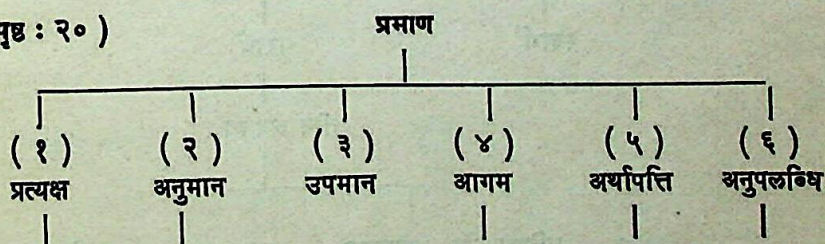
(१)

(पृष्ठ : ७६) प्रत्यक्ष (ज्ञानगत और विषयगत)

सविकल्पक निर्विकल्पक

(पृष्ठ : ८५) जीवसाक्षी ईश्वरसाक्षी जीवसाक्षी ईश्वरसाक्षी

उक्त प्रत्यक्ष (ज्ञानगत-विषयगत)

(पृष्ठ : १४२) प्रकारान्तर से दो भेद

इन्द्रियजन्य इन्द्रियाजन्य

(४)
(पृष्ठ : २६५)
आगम
पौरुषेय
अपौरुषेय
(५)
(पृष्ठ : २६७)
अर्थापत्ति
दृष्टार्थं
श्रुतार्थं
(पृष्ठ : २७१)
अभिधानानुपपत्ति
अभिहितानुपपत्ति
(६)
(पृष्ठ : ३००)
अनुपलब्धि (अभाव)
प्रागभाव
प्रध्वंसाभाव
अत्यन्ताभाव
अन्योन्याभाव
सोपाधिक
निरुपाधिक
(पृष्ठ : ३७)
चैतन्य
प्रमातृ
प्रमाण
विषय
(पृष्ठ : ५२)
ज्ञान
परोक्ष
अपरोक्ष
(पृष्ठ : ७४)
वृत्ति
संशय
निश्चय
गर्व
स्मरण
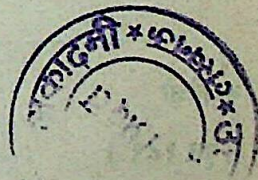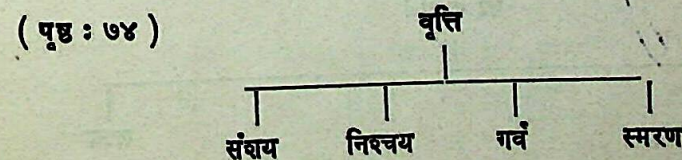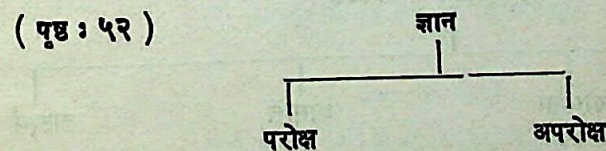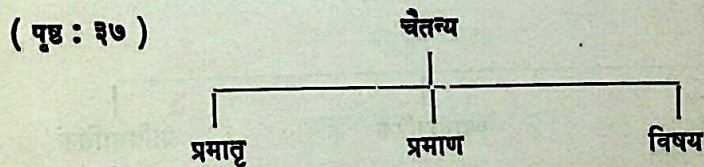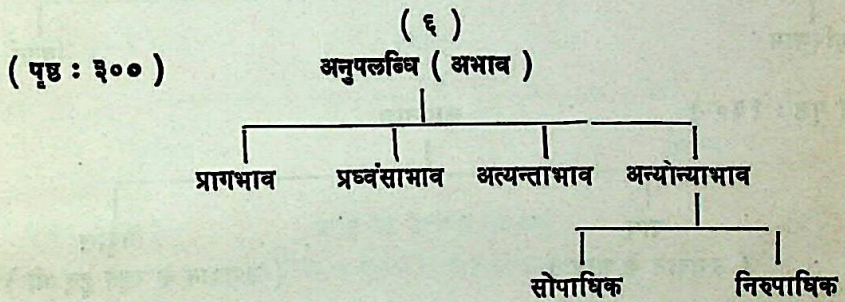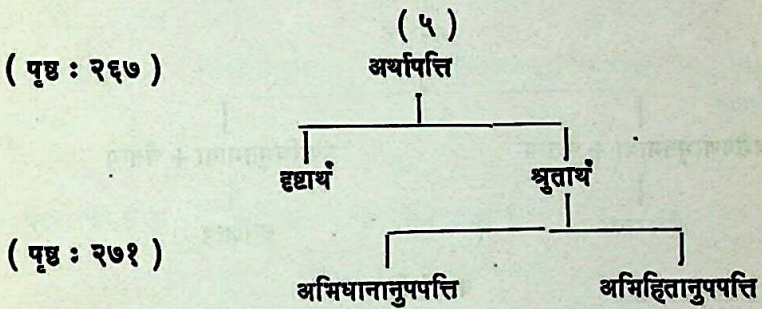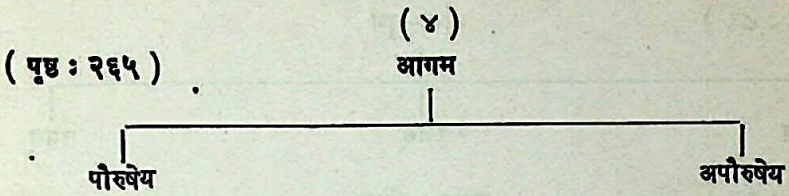
(पृष्ठ : ८९)
माया—गुण
सत्त्व
रजस्
तमस्
(पृष्ठ : ९२)
माया + चैतन्य
परमेश्वर
विशेषणीभूतमाया + चैतन्य
उपाधिभूतमाया + चैतन्य
ईश्वरत्व
साक्षित्व
(पृष्ठ : १०७)
कार्यापत्ति
परिणाम
विवर्त
(पृष्ठ : १३०)
कार्यनाश
बाध
(उपादान के साथ)
निवृत्ति
(उपादान के रहते हुए भी)
(पृष्ठ : १७६)
सत्ता
पारमार्थिक
व्यावहारिक
प्रातिभासिक
(पृष्ठ : १८७)
वाक्यार्थज्ञान में सहायक
आकांक्षा
योग्यता
आसत्ति
तात्पर्य
(पृष्ठ १८९)
पद के अर्थ
शक्य
लक्ष्य

(पृष्ठ २२१)
शक्ति
अभिधा
लक्षणा
(एक प्रकार)
(दूसरा प्रकार)
केवललक्षणा
लक्षितलक्षणा
जहल्लक्षणा,
अजहल्लक्षणा
जहदजहल्लक्षणा
(भागत्याग-
लक्षणा)
(पृष्ठ : ३२६)
प्रमाणों का प्रामाण्य
व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्त्व
पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्त्व
(पृष्ठ : ३२७)
लक्षण
स्वरूप
तटस्थ
(पृष्ठ : ३३४)
जगत् की उत्पत्ति का क्रम
परमेश्वर + माया + सहायक-प्राणिकर्म
सर्जन–संकल्प
त्रिगुणात्मक अपंचीकृत भूत
सत्त्वगुणविशिष्ट पंचभूतों के व्यतिक्रम से
पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ
आकाशादि पञ्चों के सम्मिलित सात्त्विक अंश से
मन
बुद्धि
अहंकार
चित्त
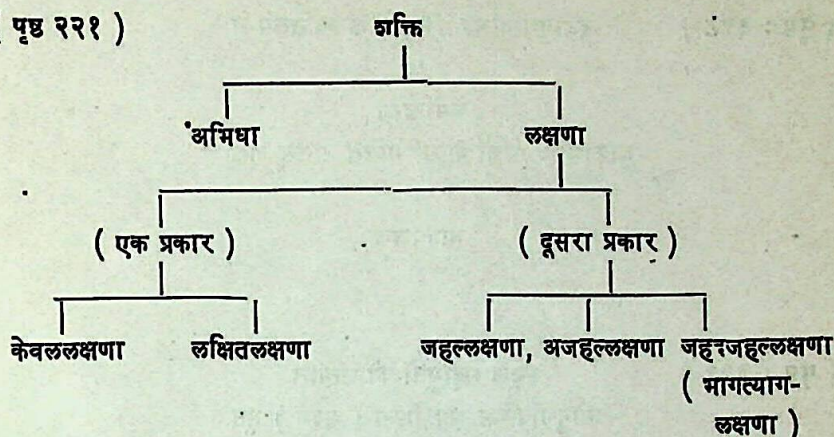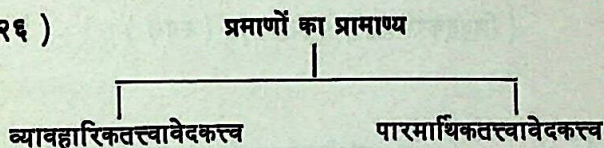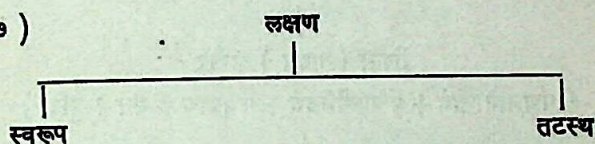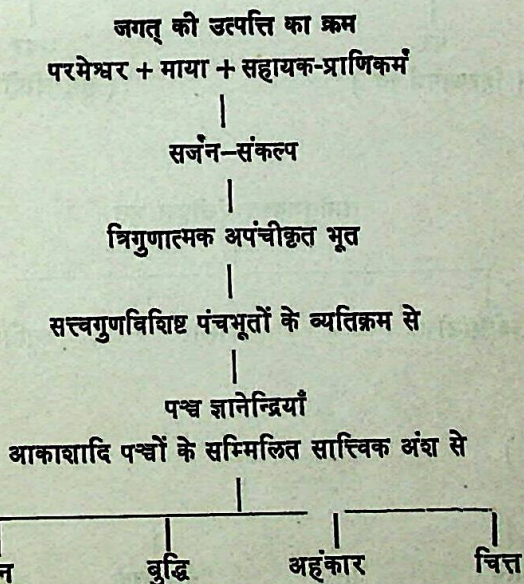
(पृष्ठ : ३३८)

रजोगुणविशिष्ट पंचभूतों के व्यतिक्रम से
|
कर्मेन्द्रियाँ

आकाशादि पांचों के सम्मिलित राजस् अंश से
|
वायुपंचक

(पृष्ठ : ३३९)

स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति

तमोगुणविशिष्ट अपञ्चीकृत (सूक्ष्म) भूत
|
(त्रिवृत्करणकृत) पंचीकृतभूत (स्थूल)

(पृष्ठ : ३४१)

अपंचीकृतभूत
|
लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर

(पंचज्ञानेन्द्रिय + पंचकर्मेन्द्रिय + पंचप्राण + मन + बुद्धि)

- पर (हिरण्यगर्भ का)
- अपर (हम लोगों का)

तमोगुणयुक्त पंचीकृत भूत

- ऊर्ध्वसप्तलोक
- सप्ताधोलोक
- चतुर्विधस्थूलशरीर

(पृष्ठ : ३४३)

प्रलय

- नित्य
- प्राकृत
- नैमित्तिक
- आत्यन्तिक

(पृष्ठ ३५६)
प्रतिबिम्बवाद (अनेक जीववाद)
(संक्षेपशारीरककार) चैतन्य
अविद्यात्मकमायाप्रतिबिम्बित ईश्वर
उपाध्यान्तःकरणप्रतिबिम्बित जीव
(विवरणकार) बिम्ब चैतन्य (ईश्वर)
(एक जीववाद के सिद्धान्त में) उपाध्यविद्याप्रतिबिम्बत जीव
(पृष्ठ ३६०)
जीव की तीन अवस्थाएँ
जाग्रत्
स्वप्न
सुषुप्ति
(पृष्ठ ३६१)
अन्तःकरणवृत्ति की आवश्यकता
अन्तःकरणवृत्ति
(एकमत) आवरणाभिभवार्थं
सम्बन्धार्थं (दूसरा मत)
(पृष्ठ ३७१)
जीवपरिमाणवाद
अणुपरिमाण
मध्यपरिमाण
विभुपरिमाण (सिद्धान्त)
(पृष्ठ ३८१)
प्रयोजन
मुख्य
गौण
सुख
दुःखाभाव
अन्यतरप्राप्ति
सातिशय
निरतिशय
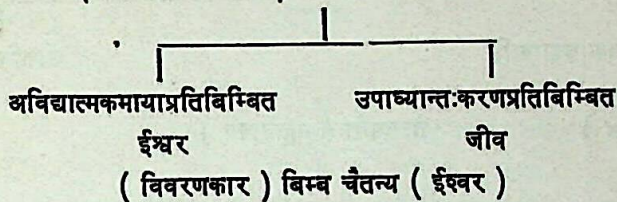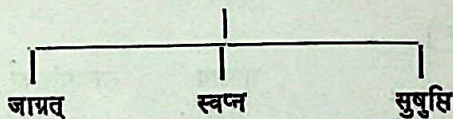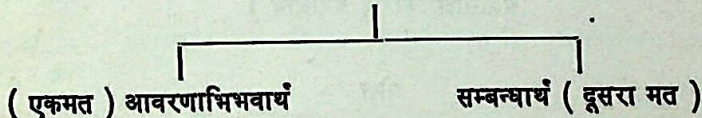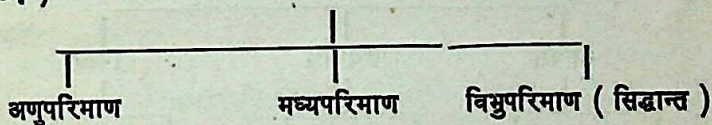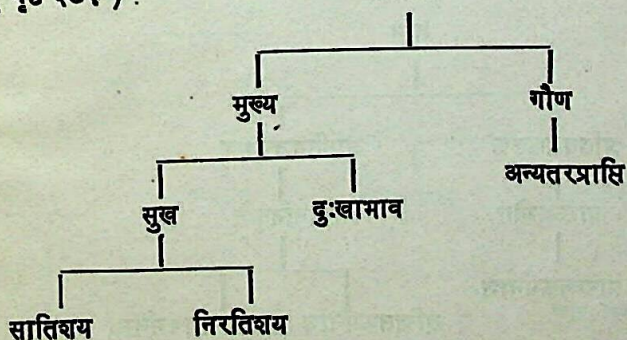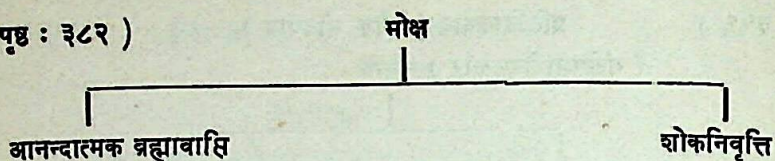
(पृष्ठ : ३८२)
मोक्ष
आनन्दात्मक ब्रह्मावाप्ति
शोकनिवृत्ति
(पृष्ठ : ३८४)
तत्त्वमसि (महावाक्य)
(पद्मपादाचार्य) अहं ब्रह्मास्मि (अपरोक्षज्ञान)
मोक्ष
(पृष्ठ : ३९०)
(वाचस्पतिमिश्र)
कर्म
पापक्षय
तत्त्वमसिका मनन-निदिध्यासन
सुसंस्कृत-अन्तःकरण (मन)
ब्रह्मसाक्षात्कार (ब्रह्मज्ञान)
मोक्ष
(पृष्ठ : ४०५)
कर्म
सञ्चित
क्रियमाण
प्रारब्ध
सुकृत
दुष्कृत
सुकृत
दुष्कृत
सुकृत
दुष्कृत
(पृष्ठ : ४०५)
ज्ञान
प्रतिबद्धफलक
अप्रतिबद्धफलक
प्रारब्धभोग
अज्ञाननिवृति
प्रारब्धकर्मनाश
सञ्चितकर्मनाश
क्रियमाणकर्मनाश
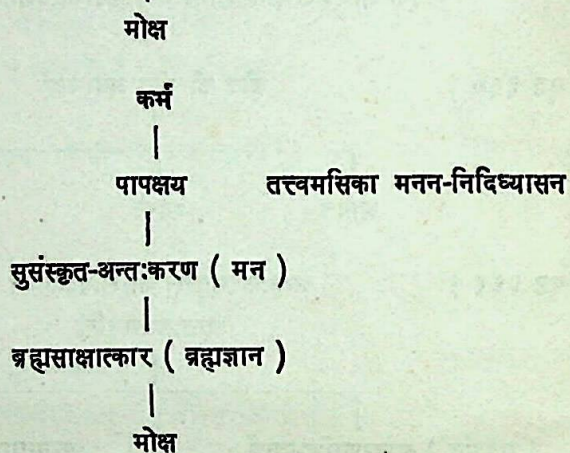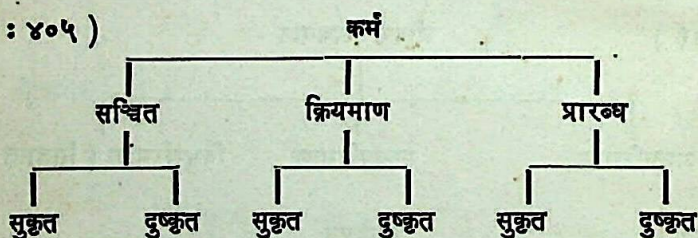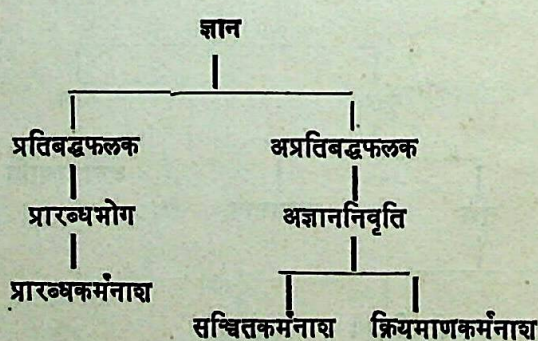
वेदान्त का प्रयोजन
(पृष्ठ : ४०८)
ब्रह्मज्ञान
मोक्ष (शोक-मोह-जरा-मरणात्मक अनर्थनिवृत्ति)
तथा
(निरतिशय ब्रह्मानन्द की प्राप्ति)
पुरुषार्थ पट्ट
पुरुषार्थ : १
धर्म
अर्थ
काम
मोक्ष
प्रमाण : २
प्रत्यक्ष
(पहला प्रकार)
अनुमान
उपमान
आगम
अर्थापत्ति
अनुपलब्धि
सविकल्पक
निर्विकल्पक
प्रत्यक्ष
(दूसरा प्रकार)
जीवसाक्षी
ईश्वरसाक्षी
दृष्टार्थापत्ति
श्रुतार्थापत्ति
अभिधानानुपपत्ति
अभिहितानुपपत्ति
स्वार्थ
परार्थ
प्रागभाव
प्रध्वंसाभाव
अत्यन्ताभाव
अन्योन्याभाव
सोपाधिक
निरुपाधिक

कार्यविनाश : ३
बाध
निवृत्ति
अविद्या : ४
तूलाविद्या
मूलाविद्या
सत्ता : ५
पारमार्थिक
व्यावहारिक
प्रातिभासिक
अन्तःकरण : ६
मन
बुद्धि
अहंकार
चित्त
प्रवृत्ति : ७
संवादि
विसंवादि
पदनिष्ठशक्ति : ८
अभिधा
लक्षणा
(एक प्रकार)
(दूसरा प्रकार)
केवललक्षणा
लक्षितलक्षणा
जहल्लक्षणा
अजहल्लक्षणा
जहदजहल्लक्षणा
एकवाक्यता : ९
पदैकवाक्यता
वाक्यैकवाक्यता

वाक्यजन्यज्ञान में सहायक : १०
आकांक्षा
योग्यता
आसत्ति
तात्पर्य
लक्षण : ११
स्वरूपलक्षण
तटस्थलक्षण
प्रलय : १२
नित्य
प्राकृत
नैमित्तिक
आत्यन्तिक
जीव की अवस्थाएँ : १३
जाग्रत्
स्वप्न
सुषुप्ति
प्रयोजन : १४
गौण
मुख्य
सुख : १५
सातिशय
निरतिशय
कर्म : १६
सुकृत
दुष्कृत
प्रारब्ध
संचित
क्रियमाण

ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन : १७
श्रवण
मनन
निदिध्यासन
साधन
शम
दम
उपरति
तितिक्षा
समाधान
श्रद्धा
अन्तःकरणवृत्ति का उपयोग : १८
आवरणभङ्गार्थं
सम्बन्धार्थं
चिदुपरागार्थं
वेदान्त-सम्मत-सृष्टि-क्रम
माया से उपहित परमेश्वर
शब्द-गुणक-आकाशतन्मात्र
शब्द स्पर्श. गु. वायुतन्मात्र
श. स्प. रूप. गु. अग्नितन्मात्र
श. स्प. रू. रस. गु. जलतन्मात्र
श. स्प. रू. र. गन्ध. गु. पृथ्वीतन्मात्र
व्यष्टिरूपतन्मात्र
समष्टिरूपतन्मात्र
सात्त्विक अंश
राजस अंश
तामस अंश
सात्त्विक अंश
राजस अंश
ज्ञानेन्द्रियाँ
कर्मेन्द्रियाँ
अन्तःकरण
वायु
श्रोत्र
त्वक्
चक्षु
जिह्वा
नासिका
मन
बुद्धि
अहंकार
चित्त
वाक्
पाणि
पाद
वायु
उपस्थ
प्राण
अपान
व्यान
उदान
समान

पञ्चीकृतभूत (स्थूल भूत)
आकाश
वायु
अग्नि
जल
पृथ्वी
लोक
स्थूलशरीर
ऊर्ध्वलोक
अधोलोक
जरायुज
अण्डज
स्वेदज
उद्भिज
भूमि
आकाश (अन्तरिक्ष)
स्वर्ग
महः
जन
तप
सत्य
अतल
वितल
सुतल
तलातल
रसातल
महातल
पाताल

वेदान्तपरिभाषागत-उद्धरण-संकेत-सूची

(वे० परि०)

उद्धरण	आकर ग्रन्थ	पृ० सं०
अंशिनः स्वांश०	चित्सुखी ८	१७२
अक्षमा भवतः केयं०	सुरेश्वरवार्तिक	३११
अजामेकां०	श्वेताश्वतर ४।५	६०
अन्नायं पुरुषः	बृहदारण्यक ४।३।८	३७२
अथ रथान् रथयोगान्	,, ४।३।१०	१२२
अधिष्ठानावशेषो हि नाशः	सुरेश्वरवार्तिक	३०४
अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः	श्लो. वा.	२१६
अन्तःकरणं...आपादयतीति	विवरण	३६६
अन्तःकरणवृत्तौ	विवरण	२४
अपि संराधने०	ब्र० सू० ३।२।२४	३८६
अभयं वै जनकप्राप्तोऽसि०	बृहदारण्यक ४।२।४	३८४
अस्ति भाति०	दृग्-दृश्यविवेक ६	३३३
अस्य महतो भूतस्य०	बृहदारण्यक २।४।१०	२५६
आत्मा वा अरे०	,, २।४।४	३६१
आनन्दो ब्रह्मेति०	तैत्तिरीय ३।६	३८१
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्	,, ३।६	३२७
आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं०	पद्मपादाचार्य पंचपादिका	३२८
इदं सर्वं यदयमात्मा०	बृहदारण्यक २।४।६; ४।५।७	३३२
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था०	कठोपनिषद् १।३।१०	३२
इन्द्रो मायाभिः	बृहदारण्यक २।५।१९	८६
इषे त्वा०	शुक्लयजुर्वेद १।१	२०४
उपासनादि०	वाचस्पतिमिश्र-भामती	
एकधा बहुधा	ब्र. वि. १२	३५६
एतस्यैवानन्दस्य०	बृहदारण्यक ४।३।२	३८१
एष नैमित्तिक०	पुराण	३४८
कषाये कर्मभिः	स्मृति	३६०
कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा०	बृहदारण्यक १।५।३	२७
कार्योपाधिरयं जीवः०	शुकरहस्योपनिषत् ३।१२	३५५
क्षरः सर्वाणि०	भगवद्गीता १५।१६	३७३
क्षीयन्ते चास्य०	मुण्डक २।२।८	३२३
चतुर्युगसहस्राणि	त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् ३।४	३४८
जगत्प्रतिष्ठा	विष्णुपुराण	३५१
तत्सत्यं स आत्मा	छान्दोग्य ६।८।७	८२

कतिपय परीक्षोपयोगी प्रकाशन

रसगङ्गाधरः । आचार्य बदरीनाथ कृत 'चन्द्रिका' संस्कृत टीका एवं आचार्य मदनमोहन झा कृत हिन्दी टीका सहित । १-३ भाग सम्पूर्ण १००-००
प्रथमाननपर्यन्त : प्रथम भाग २०-००
द्वितीयानन का उत्प्रेक्षानिरूपणान्त : द्वितीयभाग ४०-००
अतिशयोक्त्यलङ्कारादिसमाक्षिपर्यन्त : तृतीय भाग ४०-००
दशरूपकम् । धनिककृत 'अवलोक' संस्कृत टीका एवं डॉ० भोलाशंकर व्यास कृत 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका सहित १६-००
काव्यमीमांसा । 'प्रकाश' हिन्दी टीका सहित । डॉ० गङ्गासागर राय १८-००
काव्यालङ्कारः । रु[illegible] । नमिसाधु कृत संस्कृत टिप्पण सविमर्श 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित । श्री रामदेव शुक्ल १५-००
अलङ्कारानुशीलन । डॉ० राजवंशसहाय 'हीरा' २५-००
अलङ्कारशास्त्र की परम्परा । डॉ० राजवंशसहाय 'ही[illegible] ८-००
अलङ्कार मीमांसा । डॉ० राजवंशसहाय 'हीरा' ५-००
कौटिलीय-अर्थशास्त्रम् । हिन्दीव्याख्योपेतम् । वाचस्पति गैरोला ५०-००
अलङ्कार-सार-मञ्जरी । सान्वय परीक्षोपयोगि हिन्दी व्याख्या सहित । म० म० पण्डितराज श्री गोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी' २-००
काव्यमीमांसा । परीक्षोपयोगि संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकारः—पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी । १-५ अध्याय ३-५०
नैषधीयचरितम् । 'चन्द्रकला' सं० हि० व्याख्या । शेषराजशर्मा । १-६ सर्ग २५-००
स्वप्नवासवदत्तं । 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या । [illegible]राजशर्मा रेग्मी: ६-००
भट्टिमहाकाव्यम् । 'काव्यमर्मविमर्शिका' संस्कृत हिन्दी व्याख्योपेत[illegible] । नवीन परिवर्द्धित संस्करण । म० म० श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनके[illegible]री' प्रथम भाग ७-०० द्वितीय भाग ८-००, तृतीय भाग ८-००
निरुक्त । १-७ अध्याय । विवेचनात्मक विस्तृत हिन्दी व्याख्या, भूमिकादि सहित । व्याख्याकार—प्रो० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' १६-००
पुराणपर्यालोचनम् । डॉ० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी । प्रथम : [illegible]त्मक भाग ३०-००
द्वितीय : [illegible]पक भाग २०-००
भक्तिरत्नावली । डॉ० श्रीकृ[illegible] [illegible]पाठी १५-००
काव्यप्रकाशः । 'शशिकला' हिन्दी व्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह २५-००
कुवलयानन्दः । 'अलङ्कारसुरभि' हिन्दी व्याख्या । डॉ० भोलाशंकरव्यास २०-००
साहित्यदर्पणम् । 'शशिकला' हिन्दी व्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह १-६ परिच्छेद २२-५० ७-१० परिच्छेद १२-५० सम्पूर्ण ३५-००
ध्वन्यालोकः । अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' संस्कृत टीका एवं आचार्य जगन्नाथ पाठक कृत 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या । प्र० उद्योत १०-०० सम्पूर्ण ३५-००

सर्वविध पुस्तक प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन, चौक, पो० बा० नं० ६९, वाराणसी-२२१००१